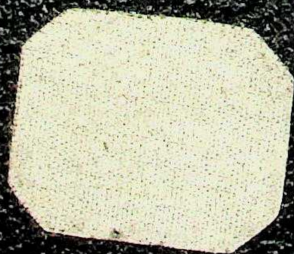


DARSHNIK TREMASIK

APRIL-OCT 1976-77 G.K.U.

वर्ष २२, अंक २, अप्रैल १९७६

वर्ष २२, अंक २, अप्रैल १९७६

संपादक : यशदेव शल्य

दार्शनिक त्रैमासिक

विषय सूची

वार्षिक मूल्य : १५.००

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् ।



दार्शनिक त्रैमासिक

वर्ष २२ | अप्रैल १९७६ | अङ्क २

भारतीय कलादृष्टि

विद्यानिवास मिश्र

भारतीय कलादृष्टि के बारे में बात शुरू करने के पहले भारतीय भाषादृष्टि और भारतीय कलादृष्टि के मुख्य आधारों की चर्चा बहुत आवश्यक है, क्योंकि वाग्व्यापार निरपेक्ष नहीं है, वाक् ही समस्त विद्याओं और कलाओं को जोड़ने वाला सूत्र है। वाक् केवल भाषाव्यापार नहीं है, वह समस्त सर्जनात्मक व्यापारमात्र के लिए उपलक्षण है। यही कारण है कि चाहे चित्रकला हो, शिल्पकला हो, संगीतकला हो, नाट्यकला हो, काव्य हो—समस्त कलाओं की अधिष्ठात्री देवी एक ही है, वह है सरस्वती जो सारस्वत साधना की प्रेरणा का स्रोत है, और दूसरी ओर गहरे और आध्यात्मिक स्तर पर अव्यक्त सृष्टि के उन्मीलन की साकार प्रतिमा है। यद्यपि ग्रीक और भारतीय दोनों चिन्तनों में अमूर्तता की ओर जाने की प्रवृत्ति बहुत प्रबल रही पर भारतीय चिन्तन में प्रत्येक सर्जनात्मक क्षेत्र में अमूर्तता का आग्रह और भी अधिक प्रबल रहा है। भारतीय शब्दशास्त्र तो यहाँ तक जाता है कि 'ज्ञान के पूर्व शब्द है और ऐसा कोई भी अनुभव-गोचर ज्ञान नहीं है जो शब्द से बँधे बिना प्रतीत होता हो।' शब्द से यहाँ श्रवणगोचर शब्द का तात्पर्य नहीं है, शब्द से तात्पर्य श्रवणगोचर शब्दों के स्फोटात्मक और बुद्धि में स्थित संस्कार के रूप में वर्तमान शब्द के अमूर्त आकार से है। यहाँ के आध्यात्मिक चिन्तन में भी नाद और प्रकाश में तादात्म्य माना गया है, कुमारस्वामी ने ठीक ही कहा है कि भारतीय मन्त्रसाधना के सबसे श्रेष्ठ गायत्री मन्त्र में सूर्य का ध्यान प्रकाश और नाद को एकात्म करने वाले देवता के रूप में है, और यह आकस्मिक नहीं है कि 'सूर्य' शब्द जिन दो धातुओं से व्युत्पन्न माना गया है वे नाद और प्रकाश वाचक हैं। एक प्रकार से नाम और रूप ही सृष्टि का पर्याय है, नाम सूत्र है, रूप विस्तार है। नाम प्रतीतियों की अविच्छिन्न शृंखला है, रूप प्रतीति का एक गृहीत क्षण। नाम

सूक्ष्म है, रूप स्थूल। इस नामरूपात्मक प्रपंच के साथ विभिन्न प्रकार की कलासृष्टियों को जोड़ते हुए भारतीय चिन्तकों ने निरन्तर नामसे रूप के उन्मीलित होने पर बल दिया है और रूप की प्रत्येक अभिव्यक्ति में अनभिव्यक्त नाम को किसी-न-किसी रूप में अभिव्यक्त देखने का प्रयत्न किया है। साहित्यशास्त्र में ध्वनिसिद्धान्त, नाट्यशास्त्र में रससिद्धान्त, कलाशास्त्र में रेखासिद्धान्त, संगीतशास्त्र में रागसिद्धान्त इसी प्रकार की खोजों के परिणाम हैं।

भारतीय कलादृष्टि में भारतीय भाषादृष्टि की अमूर्तता के अलावा एक दूसरी चीज़ और है, वह है योग की धारणा। योग के दो अर्थ हैं, एक तो है जुड़ना व्यष्टि-चित्त का समष्टि-चित्त से; आज की भाषा में, व्यक्ति का समाज से। पर भारतीय पदावली के अनुसार, व्यक्ति का निर्व्यक्ति से, देह का विदेह से और कलाकार का कला के सहृदय भावक से जुड़ना, सब कुछ का इस एक से, निर्विशेषरूप समग्र का विशेषरूप असमग्र से, और सबसे अधिक सार्थक रूप में जुड़ना स्वयं अपनी सिसृक्षारूप उस कालिका से जो अपनी निजता के शव के ऊपर खड़ी होती है। दूसरा है अपनी चित्तवृत्तियों को बाहर से खींच कर भीतर लाना और फिर भीतर के प्रकाश से न केवल अपनी इन्द्रियों का बाह्य शरीर को, बल्कि आसपास के पूरे परिवेश को आलोकित करना। इसीलिए भारतीय कला में सौन्दर्य की कल्पना अंग-सौष्ठव पर या व्यायाम के अभ्यास से प्राप्त अंगों के सुगठित कसाव पर बिल्कुल ध्यान नहीं देती। वह जिस सौन्दर्य को अपना ध्येय बनाती है वह भीतर के अनुशासन से ही नियन्त्रित है। यदि उसमें कुछ अतिरंजनाएँ हैं, पाश्चात्य वस्तुवादी दृष्टि से कुछ अवास्तविक लगने वाली गहरी या उभरी रेखाएँ हैं तो उसका कारण वास्तविक पहचान में कमी नहीं, भीतरी वास्तविकता की सही पहचान है, जिसके आगे जो कला में दृश्य होता है वह प्रत्यग् दृश्य से कुछ अलग ही जाता है, क्योंकि वह दृश्य नहीं रहता, वह उसी क्षण द्रष्टा और दृश्य दोनों से अभिन्न हो जाता है। योग की धारणा का मुख्य उद्देश्य यही है कि चित्तवृत्तियों के निरोध और शुद्ध रूप से अपने वास्तविक स्वरूप के ध्यान के द्वारा विषयों का संस्कार ऐसा किया जाय कि वे विषय न रह जांय, विषयी बन जांय, बन्धन न बन सकें। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि भारत में शरीर से अलग कोई अध्यात्म नहीं है। यदि अध्यात्म है तो वह शरीर को आलोकित करके उस आलोकित शरीर में है। किन्तु यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि अभिनव गुप्तपादाचार्य जैसे भारतीय विचारक कलाबोध को योग के समकक्ष मानते हुए भी योग के द्वारा प्राप्त समाधि के अनुभव से अलग मानते हैं। वे किसी एक को छोटा और दूसरे को बड़ा नहीं मानते, दोनों के उद्देश्य में अन्तर मानते हैं, योग-प्राप्त समाधि का उद्देश्य एक महत्तर चैतन्यप्रवाह के प्रति अपने को विशेष भाव से सौंप देना होता है, जबकि कलासमाधि का उद्देश्य कला के अनुभव करने वाले में समस्त अतद्रूप वस्तुओं का पूर्णरूप से विलयन होता है। योगसमाधि में अनुभविता महत्तर चैतन्यप्रवाह का अंग बन जाता है, कलासमाधि में जो कुछ भी अनुभविता से अलग है वह अलग न रहकर पूरा वस्तुजगत् अनुभविता में ही विलीन हो जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि कलासृष्टि लौकिक अनुभव का तिरस्कार नहीं करती, लौकिक अनुभव को ही कलानुभव में परिणत करती है। इस प्रकार प्राचीन भारतीय कलादृष्टि (हम यहाँ मध्ययुगीन

भक्ति या भक्तिकाव्य या भक्तिकाव्य से प्रभावित कला की बात नहीं कर रहे हैं) विषय का निषेध नहीं करती, वह विषय को विभाव के रूप में देखती है। प्रकृति को उद्दीपन विभाव मानना प्रकृति का कोई अपमान करना नहीं है, जैसाकि आचार्य शुक्ल ने पश्चिमी चिन्तन के प्रभाव में समझा था, क्योंकि उद्दीपन होकर भी है तो विभाव ही—सामान्य रूप भाव को विशेष बनाने वाला गत्यात्मक व्यापार। वह जड़ नहीं बल्कि सुषुप्त को, अचल को, स्थिर को, स्पन्दित करने वाला, विचलित करने वाला, पर्युत्सुक करने वाला और अंकुरित करने वाला व्यापार है।

कला की अवधारणा उपर्युक्त दोनों अवधारणाओं का सहज परिणाम है, यह एक ओर ब्रह्मानन्द सहोदर अनुभव होने के नाते अलौकिक अनुभव है ब्रह्मानन्द नहीं, क्योंकि ब्रह्मानन्द के अनुभव की तरह यह शब्दातीत नहीं, यह शब्दार्थ के अनुभव के साथ अनुस्यूत अनुभव है, दूसरी ओर यह विषय-सम्पृक्त होने के कारण, अर्थात् निरन्तर भिन्न-भिन्न प्रकार के ऐन्द्रिय और मानस अनुभवों में स्पन्दित होने के कारण, लौकिक अनुभवों का एक विलक्षण अमूर्तीकरण है। जिन लोगों ने इस सिद्धान्त को केवल कुछ गिनायी गयी शृंगार आदि कोटियों तक सीमित माना है वे भारतीय रागबोध के बारे में प्रायः दुराग्रही हो गये हैं। इस सिद्धान्त का महत्त्व बौद्धिक अमूर्तीकरण को सर्जनात्मक आयाम देने में है नकि कोटियों को गिनाने में या कोटियों की परिधि में रागबोध को बाँधने में। इसके साधारणीकरण वाले पक्ष को इसीलिए प्रायः ग़लत समझा गया है और इसीलिए प्राचीन भारतीय साहित्य या प्राचीन भारतीय कला का भी मूल्यांकन बहुत ग़लत ढंग से किया गया है। जिन लोगों ने साधारणीकरण का अर्थ यह लिया है कि उसमें व्यक्ति की विशेषता का तिरोभाव हो जाता है और टाइप का निर्माण होता है वे भारतीय साहित्य या भारतीय कला में केवल आदर्श या प्रतिमान की पुनरुक्ति ही देखते रहते हैं। साधारणीकरण का प्रयोजन राम को रामत्व से अलग करके नायक बनाना नहीं है बल्कि अभिनेता के द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले रामत्व को सबका रामत्व बनाना है। साधारणीकरण के सन्दर्भ में यह भी जोड़ना आवश्यक है कि यह साधारणीकरण एक विशेष प्रकार की प्रतिभा के द्वारा सम्भव होता है। यह प्रतिभा न तो इलहाम है, न सामान्य बुद्धि। वह निरन्तर काव्य के अभ्यास या कला के अभ्यास से उद्भूत होने वाला संस्कार है। इसलिए यह संस्कार खण्डता को तोड़ता है, खण्ड को नहीं तोड़ता, खण्ड को तो अखण्ड से जोड़ता है। इसीलिए प्राचीन काव्य या कला में स्थूल दृश्य का महत्त्व उतना नहीं है जितना कि प्रातिभ दृश्य का है, अर्थात् उसमें न तो हू-ब-हू अंकन को महत्त्व है न आवेगमय चित्रण को, उसमें रूमानियत का भी अभाव है और याथातथ्य का भी। साथ ही उसमें कथा होते हुए भी कथा पर बल नहीं है, पात्र होते हुए भी पात्र पर बल नहीं है, बल है एक ही कथा और एक ही पात्र में नये रूप में झंकृत होने वाले भाव पर, अर्थात् इसको प्रमुखता देने का अर्थ यही है कि वही रामायण, वही महाभारत की कथा, वही राम, रावण और युधिष्ठिर-दुर्योधन जैसे पात्र बार-बार रचना में आते हैं और इससे प्रभावित होकर रामायण और महाभारत फिर रचे जाते हैं और राम, रावण और युधिष्ठिर-दुर्योधन भी पुनर्जन्म लेते हैं, अर्थात् न कथा पुरानी पड़ती है न पात्र। रस—यह नाम जातीय बोध के बारम्बार नये होने के अनुभव का है, रस एक

न-चुकने वाली प्रक्रिया है, वही स्थायी भाव का संचारणात्मक रूप है, वह सनातन का प्रवहमान रूप है। भारतीय कलादृष्टि के बारे में विचार करते समय इसी प्रकार की रस-दृष्टि प्रासंगिक है। रूढ़िबद्ध वर्गरूपायित, रस-विवेचन महज़ एक बौद्धिक तमाशा है। उसका अपना मज़ा अलग है, इसे इनकार नहीं किया जा सकता, पर उस विवेचन को भारतीय साहित्य या कला के मानदण्ड के रूप में स्वीकार करना भारतीय चिन्तन की अवमानना करना होगा।

भारतीय कला की जो आधारभूत अवधारणाएँ ऊपर स्थापित की गयी हैं उनके अलावा एक चौथी अवधारणा है तान्त्रिक दृष्टि से उद्भूत और हम उसी को अधिक विस्तार से समझने की कोशिश करेंगे, क्योंकि यह अवधारणा अभी तक अपेक्षाकृत कम प्रकाश में आयी है।

भारतीय परिसर में कला के शब्दार्थ पर विचार करते समय शक्ति और शिव को अलग नहीं रखा जा सकता, क्योंकि कला का जो व्यापक अर्थ है वह शिव और शक्ति की साधना से ही निकला है। एक प्रकार से यह कहना चाहिए कि न केवल कला की बल्कि अन्य भारतीय विद्याओं की उत्पत्ति भी शिव की ही परम्परा से मानी गयी है। शिव आदि गुरु हैं समस्त साधनाओं के और इसीलिए भारत में प्रत्येक साधना का क्षेत्र इस आदि गुरु के रूप के द्वारा एक-दूसरे से परिणत है। चित्रकला में, नृत्यकला में, संगीत में, शिल्प में, स्थापत्य में, योग में, तन्त्र में, काव्य में, नाट्य में और दर्शन में एक-दूसरे की अपेक्षा रहती है और इसी से प्रत्येक साधना में एक-समान अनुशासन पर बल दिया जाता है। यह अनुशासन केवल शरीर का नहीं बल्कि मन का भी होता है और अधिक गहराई में जाकर मन के कारणभूत अहं का भी होता है। स्टेला क्रेमरिश के अनुसार कला का स्थान बुद्धि से ऊपर और महत् के नीचे है।

"कला महत् से उद्भूत होती है और बुद्धि में अन्ततः परिणत होती है। फलतः अहं या व्यक्तित्व अपनी सीमाओं में कला के व्यक्तित्व को ग्रहण मात्र करता है, किन्तु कला की रचना-प्रक्रिया में उसका कोई हाथ नहीं होता। वह व्यक्तित्व, कलाकार, जब अपनी रचना पूर्ण कर चुकता है तब जाकर अपने में स्रष्टृत्व की पहचान कर पाता है। भारत की सर्जनात्मक प्रतिभा के लिए जगत् वस्तु-रूप नहीं है बल्कि आत्म-वस्तुरूप है। जो कुछ भी इसका अंश कला-चक्षु द्वारा दृष्ट होता है उसमें उस दृष्ट अंश के साथ-साथ वह दृष्टि भी सन्निविष्ट रहती है जिससे कि वह देखा जाता है। इस दृष्टि को दृष्ट से अलग करने की बात नहीं सोची जा सकती।" (ट्रेडिशन्स इन इण्डियन आर्ट)

इसी बात को तान्त्रिकों ने और उनसे शिवतत्त्व को ग्रहण करके दर्शन की स्थापना करने वाले प्रत्यभिज्ञावादियों ने उद्घोषित किया है। तान्त्रिकों के मत में छत्तीस तत्त्व होते हैं और उसमें मन, बुद्धि, अहंकार और अन्तःकरण इन सबके मूल में कला-शक्ति कही गयी है :

सर्वकर्त्तृत्वरूपा वै क्रियाशक्तिः कलाभवत्।

अर्थात् सर्जन-शक्ति ही कला है और कला से भी ऊपर स्थान है स्वतन्त्र आनन्द-शक्ति का और उसके ऊपर स्थान है शिव का। एक प्रकार से जिस तरह रूप, रस, गन्ध, स्पर्श,

और शब्द अपनी तत्तद् ज्ञानेन्द्रियों में समाते हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ मन में, मन-बुद्धि अभिमान में, अभिमान अन्तःकरण में, उसी प्रकार मनुष्य का, जीव का, अन्तःकरण कला में अपनी सत्ता प्राप्त करता है और कला भी अपना मूल शक्ति में और शक्ति अपना अस्तित्व शिव में प्राप्त करती है। रसवाद के प्रवर्तक अभिनवगुप्त ने भी :

यदुल्मीनशक्त्येव विश्वमुन्मीलति क्षणात् ।
स्वात्मायतनविश्रान्तां तां वन्दे प्रतिभां शिवाम् ।।

(लोचन, प्रथम उद्योत)

इस श्लोक में प्रतिभा की जो परिभाषा दी है वह भी कला, शक्ति और शिव को एक सूत्र में बाँधती है।

इस परम्परा को समझना, यानी भारतीय कला को समझने की चेष्टा करना, आज की स्थिति में जबकि कला के बारे में कोई स्पष्ट आधार अपने पास नहीं है, और भी अधिक आवश्यक है। पाश्चात्य मान्यताएँ असत्य हैं इसलिए निरसनीय हैं, यह कोई मूढ़ग्राही ही कहेगा पर उन मान्यताओं की आधारभूमि किसी न किसी हद तक हम से विच्छिन्न ज़रूर है। इसलिए उनको अपनी भूमि में रोपने के पहले यह ज़रूर जाँच लेना आवश्यक हो जाता है कि क्या इस भूमि में वह पनप भी सकेंगी ?

दृष्टान्त के तौर पर एक मौलिक भेद की बात ले लीजिये। यह नहीं है कि पाश्चात्य कला में शिव की, पर-जन-हित की बात या मानव-कल्याण की बात सन्निहित न हो। जो मौलिक अन्तर है वह यह है कि शिव उनके यहाँ कला में बाहर से आते हैं, कला ही में उनका अधिष्ठान नहीं होता, जबकि ठीक इसके विपरीत हमारे यहाँ न केवल कला, बल्कि कलासृष्टि का अधिष्ठान, मानव-मन और उसका भी निलय मानव-शरीर और उसके परिसर, इन सभी में शिव का अधिष्ठान माना गया है। इस मौलिक भेद का परिणाम यह होता है कि पाश्चात्य कला जब अपने उत्कर्ष पर होती है तब अपने को किसी महान् प्रयोजन के लिए अर्पित कर देने के लिए छटपटाहट-सी उसमें होने लगती है और अहंकार संघर्ष करने लगता है; जबकि हमारे यहाँ अहंकार की सुषुप्ति पर ही कला की पीठिका बनायी गयी है। कलाकार अर्पित होकर ही कलाकार बनता है, कलाकार बनने के बाद वह अर्पित नहीं होता। इस तरह वहाँ कला के क्षेत्र में भी व्यष्टि और समष्टि के झगड़े प्रत्येक युग में एक-न-एक रूप में उठते रहते हैं।

हमारे यहाँ ऐसे झगड़ों की गुंजाइश ही नहीं है, क्योंकि कला व्यष्टि और समष्टि को जोड़ने वाली सन्धि-रेखा है और कला का उद्भव ही समष्टि के अभिप्राय को व्यष्टि का रूप देने के लिए होता है, दूसरे शब्दों में, व्यष्टि की आकांक्षा को महत् का आकार देने के लिए होता है। इसलिए आज के सन्धि-युग में जब सह-अस्तित्व के नाम पर प्राच्य और प्रतीच्य सम्बन्धों को एक करने की बात की जाती है, जब एक-दूसरे से आदान-प्रदान की बात कही जाती है, तब सही दृष्टि रखने की और जतलाने की आवश्यकता और अधिक तीव्र हो जाती है।

इन दोनों संस्कृतियों में भेद प्रायः यह कहा जाता है कि एक भौतिक है तो दूसरी आध्यात्मिक है, एक शरीर को महत्त्व देती है दूसरी आत्मा को, इसलिए एक ऐहिक है और दूसरी पारलौकिक। तत्त्वतः इस प्रकार का विभाजन असंगत है, क्योंकि भौतिक और आध्यात्मिक दोनों को अलग प्रकोष्ठ के रूप में देखना यह चीज़ ही भारत के लिए और भारत की कला के लिए अकल्पनीय है। भारतीय कला या भारतीय साधना मोक्ष की जो बात करती है और मोक्ष को ही परम पुरुषार्थ मानती है वह इस उद्देश्य से नहीं कि इस शरीर को छोड़कर वह उसे प्राप्त करे, बल्कि वह कला केवल इस शरीर के अन्दर-ही-अन्दर ऐसा रस प्रवाहित करे जो इस शरीर के श्वास-प्रश्वास को चराचर विश्व के श्वास-प्रश्वास से एकाकार कर सके।

पश्चिम में स्पिरिट (अध्यातम) शरीर से अलग है और शरीर, याने यह रक्त और मांस, ये उस अध्यातम की प्राप्ति में बाधक हैं। सही माने में अध्यातम पर, शरीर के मूल्य पर, बल देना ही अभारतीय कल्पना है। हमारे यहाँ तो यह माना गया है कि 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च देहे व्यवस्थितम्' (परशुराम कल्पसूत्र) अर्थात् आनन्द ही ब्रह्म का रूप है और वह मनुष्य की देह में अवस्थित है। मनुष्य उसको नये सिरे से नहीं प्राप्त करता बल्कि उसको कुछ पाशों से, कुछ सीमाओं से और कुछ कुण्ठाओं से जब भूल जाता है तब 'वह आनन्द उसी का स्वरूप है' यह उसे फिर से प्रत्यभिज्ञान करना पड़ता है। हमारे यहाँ जो परम पुरुषार्थ है वह इसी आत्मस्वरूप का प्रत्यभिज्ञान है, या दूसरे शब्दों में 'स्वविमर्शः पुरुषार्थः' (परशुराम कल्पसूत्र)। वस्तुतः भेद यह है कि एक संस्कृति विश्लेष पर जीती है, दूसरी संश्लेष पर। एक हरएक चीज़ को विवेचनपूर्वक अलग-अलग देखने का अभ्यास करती है और दूसरी विविक्त रूप से पृथक् पदार्थों को जोड़ने में जीवन की उपलब्धि मानती है। एक के लिए कला अभिव्यक्ति है, दूसरे के लिए कला साक्षात्कार है, स्व-संवित् है। एक के लिए ईश्वर इसलिए अगोचर है कि वह अपने से दूर है और दूसरे के लिए इसलिए अगोचर है कि वह अपने में ही लीन है।

हो सकता है कि जो शुद्ध भारतीय परम्परा कही जानी चाहिए वह अनेक प्रभावों एवं दुष्प्रभावों के कारण आज बहुत कुछ संकर हो गयी हो और उस संकर रूप को ही अब हम शुद्ध भारतीय समझने की नादानी करने लगे हों, पर आज की युग-सन्ध्या हमसे गहन आत्म-चिन्तन मांगती है। हम सोचें और अपनी परम्परा से इस दृढ़ भावना का व्रत लें कि 'सर्वं वेद्यं हव्यमिन्द्रियाणि स्रुवः, शक्तयो ज्वालाः स्वात्मा शिवः पावकः स्वयमेव होता।' (परशुराम कल्पसूत्र) अर्थात् अपने-आप होता बनें और अपने अन्तःस्थ शिव की अग्नि में उसकी शक्तियों की ज्वालाओं को अपनी समस्त इन्द्रियों की स्रुवाओं से समस्त वेद्य वस्तुओं की आहुति देकर धधकाएँ, तब हम अपने को शिवमय बना सकेंगे।'

कला, शक्ति और शिव के परस्पर सम्बन्ध को लेकर नयी काव्यमय कल्पनाएँ, नये प्रतीक और नये ध्यान हमारे यहाँ बने हैं। 'कला' शब्द के कई अर्थ हैं। चन्द्रमा के सोलहवें अंश को भी कला कहते हैं और चन्द्रमा की पहली और अदृश्य कला, जिसका नाम शास्त्रों में अमृता है और शिव के भाल पर अवस्थित रहती है, उसको भी। यह कला बांकी होती है

और भौतिक दृष्टि से प्रायः अदृश्य होती है। कला समय का भी एक माप है, कला शिल्प-रचना आदि को भी कहते हैं और उसके चौसठ भेद गिनाये गये हैं।

कला, जैसाकि ऊपर बताया गया है, शिव की क्रिया-शक्ति भी कही जाती है। वैसे जिस धातु से कला शब्द की व्युत्पत्ति है उसका अर्थ है बनाना, जोड़ना, सुन्दर रूप देना। पराशक्ति कला की सूक्ष्म वृत्ति होने के कारण निदात्मिका कही जाती है और शिव से संयुक्त होने पर आनन्दात्मिका हो जाने पर चित्-कला कही जाती है और उसका एक ध्यान ऐसा भी है कि इच्छा-शक्ति शूल है, क्रिया-शक्ति कमल है, ज्ञान-शक्ति शंख है, अहंकार का कारण पुस्तक है और सृष्टि, स्थिति और प्रलय उनके तीन लोचनों में चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि की ज्योति के रूप में अवस्थित हैं और पांच आवरणों के अपसारण से प्रकट संविद् के प्रकाश से वे आलोकित हैं, आनन्द ही उनका चरणकमल है और निष्कलंक चन्द्र-मण्डल उनका छत्र है, चन्द्र की अमृत-कला ही उनके भाल की चित्-कला है (परशुराम कल्पसूत्र)। शिवजी उस चित्-कला के संयोग से आनन्दमय बनते हैं। वे स्वयं निस्पन्द हैं, शक्ति ही उनमें स्पन्दन लाती है और शक्ति के संयोग से ही वे नृत्य की सृष्टि करते हैं, तन्त्र की दीक्षा देते हैं, योग-शिक्षा देते हैं और मनुष्य के श्मशान सरीखे उजड़े हुए हृदय में, जिसमें उसकी सकल अर्हताएँ जलकर क्षार हो चुकी हों, आनन्द-नर्तन करते हैं। शक्ति अपने अनेक प्रकार के सम्मोहनों के द्वारा साधक को उस गह्वर की ओर, अन्तःकरण की उस गहराई की ओर, खींचती जाती है जहाँ शिव का निवास होता है। कला ही शक्ति के सम्मोहन का वाहन बनती है। इस प्रकार कला की प्रयोजकता शिव-सान्निध्य, और अन्त में शिवरूपता लाने में, ही है, क्योंकि वह शिव की एक अवान्तर दशा है। यहाँ पर सहज ही में यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या भारत के समस्त कलाकार शैव हैं और क्या बौद्ध और जैन गुफाओं और मन्दिरों की कला भारतीय नहीं है? इसका उत्तर बहुत ही स्पष्ट है : 'शिव' यह नाम उपलक्षण है और इसमें सन्देह नहीं कि जो भारत की आदि कला है वह शैव विचारधारा से ही अनुप्राणित है। उसके अलावा भारत के प्रत्येक दर्शन की चिन्तन-पद्धति में बहुरूपता होते हुए भी एक ऐसी एकार्थता है, जो विभिन्न प्रकार की उपासना करने वालों या विभिन्न प्रकार की दार्शनिक विचारसरणि अपनाने वालों को एक अनुशासन में बाँध लेती है। उस अनुशासन को हम यदि शिवमय कहें तो कोई असंगति न होगी, क्योंकि शिव का अर्थ है वह परम तत्त्व जो प्रत्येक मनुष्य के हृदय में शून्य रूप में, आनन्द के रूप में, अर्हत् के रूप में, बुद्ध के रूप में, विष्णु के रूप में या और भी किसी रूप में प्रवहमान है। कोई उसके एक क्षण को मूल्य देता है, कोई उसकी क्षमता को, कोई उसकी व्यापकता को, पर सभी अपना उद्धार, अपना मोक्ष अपने इस शरीर और मन के साधन के द्वारा उसी में पाते हैं :

'तं ह लब्ध्वा आनन्दी भवति' (तैत्तिरीय उपनिषद्)

उसी को पाकर हम आनन्दवान् होते हैं और वह आनन्द न रहे तो सांस खींचना और सांस छोड़ना भी दुर्भर हो जाय :

को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्

(तैत्तिरीय उपनिषद्)

जो अभय चाहत हों वे इस आनन्द को प्राप्त करें।

इसी सिलसिले में कला के बारे में आधुनिक युग के एक बहुत बड़े विचारक टामस मान का अभिमत भी तुलना की दृष्टि से जानना अप्रासंगिक न होगा। टामस मान ने अपने 'दि आर्टिस्ट ऐण्ड सोसाइटी' शीर्षक निबन्ध में यह स्वीकार किया है कि "कला शक्ति नहीं है, वह केवल एक राहत है, वह जीवन की गम्भीरता का खेल खेलती है और पूर्णता की प्राप्ति के लिए मनुष्य के शाश्वत प्रयत्न को आकार देती है। एक प्रकार से वह मनुष्य की सहचरी है। कला सत् के साथ बँधी है, उसकी जड़ करुणा में है, करुणा जो बुद्धि से भी अधिक प्रेम के समीप है। कला यदि हमें हँसाती है तो हमारी किसी चीज़ की खिल्ली उड़ाने के लिए नहीं, वह हँसी ऐसी प्रफुल्लता की अभिव्यक्ति है जिसमें घृणा और अज्ञान घुल जाते हैं और जो हमें उन्मुक्त कर देती है, पर उन्मुक्त करके भी हमें एक-दूसरे से मिलाती है। यद्यपि वह जन्म लेती है एकान्त में पर उसका कार्य एक-दूसरे को जोड़ना ही होता है, पर यह सब होते हुए भी कला कभी भी मनुष्य के भाग्य पर अपने प्रभाव के बारे में मुगालता नहीं रखती, वह निम्न प्रवृत्तियों की निन्दा करके भी कभी पाप की प्रगति को रोकने में कृतकार्य नहीं रही है।" टामस मान के इस अभिमत में आधुनिक युग और विशेष रूप से पश्चिम की कला सम्बन्धी धारणा बहुत स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई है। जिस प्रफुल्लता को वे अन्तिम ध्येय मान कर चलते हैं वह प्रफुल्लता प्राच्यों की आनन्द-परिकल्पना से कहीं दूर है, क्योंकि उस प्रफुल्लता की उद्भव-भूमि, अर्थात् कलाकार का हृदय, अहं से अविच्छिन्न रहता है। कभी-कभी तो वह अहं इतना स्फीत हो जाता है, विशेष रूप से उन लोगों में जो उधार ली हुई संस्कृति के बल पर धूमावृत समाज में चमकना चाहते हैं और जो इस मुगालते में बराबर पड़े रहते हैं कि 'नया तो मेरा युग है, मेरी प्रकृति है, तथा सबसे नया मैं हूँ' (तारसप्तक, नरेश का वक्तव्य) या जिन्हें अपनी दुर्बलता का या अपनी अक्षमता का ज्ञान होते हुए भी अपने मन को सन्तोष देते हुए अपने इस तर्क को बहुत बड़ा करके रखने की आवश्यकता होती है कि राग वही रहने पर भी रागात्मक सम्बन्धों की प्रणालियाँ बदल गयी हैं और कवि का क्षेत्र रागात्मक सम्बन्धों का क्षेत्र होने के कारण इस परिवर्तन पर, कवि-कर्म पर, बहुत गहरा असर पड़ा है। इन लोगों को व्यक्ति-सत्य और वस्तु-सत्य की उलझन बराबर सताती रहती है और उस उलझन में ही बहुधा ये प्रतिभाशाली होकर भी अपना सन्तुलन खो देते हैं। इसी से वे कला के मूल धर्म शिव को भूल कर सच्चाई, स्वस्थता, ईमान और आस्था की बात उभारने लगते हैं। इस प्रक्रिया में जो खतरा निहित है उसको देखकर ही गेटे ने यह दो-टूक बात कही थी कि हो सकता है किसी कलाकृति का कोई नैतिक प्रभाव हो, पर कलाकार से नैतिक प्रयोजन की माँग करना उसके कला धर्म को ही चौपट करना है। गेटे के कहने का अभिप्राय केवल यही है कि कलाकार की एक मर्यादा होती है, वह मर्यादा है विनम्रता की। उसे जो कुछ भी कहना चाहिए वह मसीहा के तौर पर नहीं और उसे नैतिक, सामाजिक या राजनीतिक क्षेत्रों का दावा नहीं करना चाहिए। जबतक कला कलाकार को यह बोध न करा सके कि वह अकिंचन है और स्वयं कलासृष्टि की महिमा का भी साझीदार वह किसी भी प्रकार नहीं है, तबतक कला ऊँचे उठा नहीं सकती। इस बात की ओर पश्चिम में तो लोगों का ध्यान गया है पर हमारे

अपने देश के पश्चिम-वादियों ने अभी इस पर ध्यान नहीं दिया है। पश्चिम में यह बात महसूस की जाने लगी है कि वहाँ की प्रतिभा का क्षेत्र अब ऊसर और वीरान पड़ने लगा है क्योंकि आज का औसत कलाकार अपने से विच्छिन्न हो गया है। वह इस कारण बाहर-बाहर की बातें करता है। लारेन्स वाण्डर पोस्ट ने अपने 'दि डार्क आई इन अफ्रीका' शीर्षक लेख में बहुत पैनी दृष्टि से इस बहकाव पर विचार करते हुए लिखा था कि मलय भाषा में 'माता केलप' एक शब्द है जिसका अर्थ है "घनी दृष्टि" और वह उनके लिए प्रयुक्त होता है जो शासन की तथाकथित अच्छाई और सुव्यवस्था के विरुद्ध एकाएक बाग़ी हो उठते हैं और यह कहा जाता है कि उनकी आँखों में अन्धकार उतर आया है। यही अन्धकार अफ्रीका के माऊ-माऊ आन्दोलन में भी उतरा दिखायी पड़ता है। मैं समझता हूँ कि योरोपियन की अपनी दृष्टि भी इस अन्धकार से आवृत है और उसके भीतर की ज्योति, दान्ते के शब्दों में जीवन के निविड़ वन में उद्भूत होने वाली सहज अग्नि, आज बुझ गयी है और अन्दर-बाहर दोनों ओर अन्धकार उमड़ता चला आ रहा है। योरोपियन यदि अफ्रीका में और दूसरे देशों में ऐसी घटनाओं को उकसा रहे हैं, उसका कुछ कारण यह है कि वे स्वयं अपने में ऐसे संघर्ष को जन्म दे चुके हैं। रिफार्मेशन (पुनरुद्धार) युग के अनन्तर औसत योरोपियन स्वयं अपने-आप से अनवरत और तीव्रतर युद्ध करता आ रहा है और स्थिति ऐसी आ गई है कि वह अपने ही प्रतिबिम्ब को अपना विरोधी मानने लगा है और विरोधी मानकर उसे नष्ट करने की कोशिश उसकी ओर से जारी है। अफ्रीका हम योरोपियनों के अन्तःकरण का एक जादूभरा दर्पण है जिसको हम आक्रोश से तोड़ने में लगे हुए हैं।

वैसे लारेंस की यह बात योरोपीय जीवन के केवल एक पहलू—श्वेत अभिमान—को लेकर कही गयी है पर यह लागू होती है समूचे पश्चिमी जीवन-दर्शन पर। यह जानकर बहुत ही सुख होता है कि अपनी इस रिक्तता का ज्ञान पश्चिम के मनीषी कर रहे हैं और वे अनुभव करने लगे हैं कि 'कला की सृष्टि मनुष्य को परिपूर्ण बनाने के लिए और उनके अन्तःकरण की मुक्ति के लिए हुई है'। (पानियेर)

काश यह बात हमारे देश के अधिकांश पश्चिममुख कलाकार और साहित्यकार भी समझ पाते! ये लोग बौद्धिक स्तर के परे शुद्ध आनन्द को नहीं समझ पाते और रस का वास्तविक अभिप्राय नहीं समझ पाते, इसीलिए वे इसे "बहुत नाकाफ़ी" समझते हैं। उनकी कला-साधना "ज़िन्दगी, अनुभूति और विश्वास का तकाज़ा" बनने में ही अपनी सार्थकता पाती है। वे नहीं समझते कि कला केवल एक पुकार है—

या ते तनुर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि संतता शिवं तां कुरु मौत्क्रमी। (प्रश्न उपनिषद्।)

तुम्हारा शरीर जो तुम्हारी वाणी में, तुम्हारी श्रुति में, तुम्हारी दृष्टि में और तुम्हारे मन में प्रतिष्ठित है उसको शिवमय करो। इसके बाहर उछल-कूद करने की ज़रूरत नहीं है।

हमारे यहाँ कला की स्थिति गंगा के समकक्ष है, जो जीवन-दायिनी है और जो सतत प्रवहमान है, चन्द्र-कला के समकक्ष है जो अमावस के अन्धकार को चीरकर शिव के भाल में उदित होती है, उस नयन-शिखा के समकक्ष भी है जो विश्व का संहार करने की क्षमता

रखते हुए भी मुँदी रहती है और जो कायिक वासना—काम—को इंगित मात्र से क्षार करके अनंग कर देती है। कला का आसन कमल है, जिसके विकास से दिन का प्रकाश होता है और जिसके मकरन्द में ब्रह्म-द्रव बसता है, जिसकी जड़ विष्णु की नाभि में जाती है। कला की देवी सरस्वती का काम ही है, तानसेन के शब्दों में, 'तेरे तौ सरस्वती घट-घट पूर रही, घरायों वाक बानी'।

यहाँ हो सकता है कोई कहे कि कला का संघर्ष समाज के संघर्षों से एकदम कोई अलग चीज़ नहीं हो सकता और कला की कोशिश यही होनी चाहिए कि सामाजिक यथार्थ के प्रति अधिक-से-अधिक जागरूक रहा जाय और वैज्ञानिक तरीके से समाज को समझा जाय और कला में इस प्रकार की बेसुधी या सूफी शब्दावली के अनुसार हाल की आवश्यकता पर बल नहीं दिया जाय।

इसका सीधा-सा उत्तर यही होगा कि जबतक कलाकार वस्तु-सत्य और व्यक्ति-सत्य को अलग-अलग देखता है तबतक वह तन्मयता की बात नहीं समझ सकता। जबतक वह अपनी कला-दृष्टि में अपने दृश्य के प्रति ऐसी एकाग्रता नहीं लाता जैसी कि बाण बनाने वाला बाण बनाते समय बाण की नोक में ला सकता है या जैसी निशाना लगाने वाला अपने लक्ष्य में ला सकता है, तबतक वह इस तथ्य को समझ ही नहीं सकता कि सच्चे कलाकार के लिए प्रत्येक तथ्य सत्य है, वह उसके लिए मात्र तथ्य रूप में नहीं रह सकता। कलाकार जो कुछ देखता है उसमें उसकी दृष्टि भी, पर उसकी होकर नहीं, अविभाज्य रूप से शामिल रहती है और उसका देखा हुआ सत्य न तो वस्तु-सत्य होता है न व्यक्ति-सत्य, वह होता है एक समग्र जाति का सत्य। कला, जैसाकि निबन्ध के प्रारम्भिक अंश में कहा जा चुका है, महत् से उद्भूत होती है; महत् जो बुद्धि से ऊपर है। इसीलिए कला की दृष्टि को बोधगम्य बनाया जाय और एक प्रकार से बुद्धि में परिणत कराया जाय वहाँ तक तो बात ठीक है और समझ में आ सकती है पर उसको बुद्धि से प्रेरित रखा जाय यह उसके हित में नहीं है। भट्टनायक ने हृदय-दर्पण में कहा है कि—

काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक्

काव्य से रस लेने वाले सभी होते हैं, किन्तु सभी उससे ज्ञान या आदेश नहीं लेते। रस लेने का अर्थ ही होता है अपनी समस्त संवेदना को, अपने समग्र अनुभव को पुनर्जन्म देना, और इस पुनर्जन्म के क्षण की उपलब्धि मनुष्य की सबसे ऊँची उपलब्धि होती है। जो अनुभव बहुत ही विनम्र ढंग से कलाकार द्वारा अपनी कला के माध्यम से रखा जाता है वह इसलिए प्रभावकारी होता है कि वह किसी आकस्मिक घटना का फल नहीं होता बल्कि कलाकार के युग की राष्ट्रीय चेतना के सहज संस्कारों से निकलता है। इसकी पुष्टि करते हुए इमर्सन ने कहा है कि ललित कलाओं का जन्म कभी भी किन्हीं आकस्मिक कारणों से नहीं होता प्रत्युत वे उन जातियों की सहज वासना की द्रुति से उमड़ती हैं। रसवाद से जो लोग घबड़ाते हैं या अपने अस्तित्व के बारे में उसकी स्थिति से शंकालु होते हैं उन्हें यह भी स्मरण करना चाहिए कि रसवाद केवल विशुद्ध साहित्यिक आधारभूमि पर नहीं खड़ा हुआ। सदियों के दार्शनिक आलोडन-विलोडन के अनन्तर तन्त्र, प्रत्यभिज्ञा, वेदान्त, वज्रयान,

पांचरात्र, इन तमाम विचारधाराओं के परस्पर संघात से वह बना और उसने सबसे अधिक इस बात पर बल दिया कि सामाजिक, अभिनेता, कलाकार और अभिनेय इन चारों को एक रेखा पर लाने वाली संज्ञा ही कला है। साहित्य का अभिव्यक्तिवाद और अन्य कलाओं का रेखावाद यह प्रतिपादित करते हैं कि जो कुछ भी ये अवयव एक-दूसरे को उपकृत करने वाले दीख रहे हैं उनसे वह भिन्न है, वह ऐसा लावण्य है जो उनके द्वारा केवल प्रतीयमान है, अभिधेय नहीं।

उदाहरण के तौर पर खजुराहो का एक मन्दिर लीजिए। आप उसकी एक-एक प्रतिमा में अलग-अलग सौंदर्य निहारें, आपको नहीं रोकेगा, पर उनके अलग-अलग सौंदर्य में ही आप कला का प्रयोजन फलितार्थ मान बैठें तो आप खजुराहो के कलाकार के साथ अन्याय करेंगे। पूरा मन्दिर ही ईश्वर का विग्रह है और ईश्वर को प्राप्त करने वाली साधना का विग्रह है। यह साधना नैरन्तर्य और क्रमबद्धता में विश्वास करती है, उस साधना में अपार्थिव सौंदर्य का सम्मोहन है, पार्थिव प्रेम का विभ्रम है, लोक-उल्लास को व्यक्त करने वाला नृत्य-गान है, विद्याधर और इन सबके ऊपर वह आमलक है, जिसके ऊपर अमृतकुम्भ रखा रहता है और उस अमृतकुम्भ को भेद कर साधक की ऊर्ध्वगामी आकांक्षा ऊपर चली जाती है, गर्भगृह के शिखर को महामण्डप और अर्द्धमण्डप के शिखरों से मिलाने वाली रेखा या मुख्य शिखर तक पहुँचने की कोशिश करने वाले उन शृंगों को बाँधने वाली रेखा, या गतिशील आनन्द को मोड़ देने वाली अंगरेखा, इन सभी द्वारा संकेतित पदार्थ एक है, इन सभी के पीछे काम करने वाली शक्ति एक है, यह एकार्थता अलग नहीं की जा सकती, दृष्टि-भेद तभी होता है जब उन्हें कोई अलग करके देखता है। ये रेखाएँ अपने में अत्यन्त सुन्दर और मोहक होते हुए भी प्रयोजक हैं, प्रयोज्य नहीं। इसी प्रकार साहित्य में भाषा और भाव दोनों प्रयोजक ही होते हैं, उनसे प्रयुक्त होने वाला पदार्थ उनके किस अंश में है इसको नहीं बतलाया जा सकता, क्योंकि वह पदार्थ जितना इन प्रयोजकों में है उतना ही वह इन प्रयोजकों के आस्वादन करने वाले सहृदयों में भी है।

दूसरा उदाहरण आप पश्चिम की किसी कलाकृति से लीजिए। लियोनार्दो द विन्सी, माइकेल एंजिलो, रैम्ब्रां, सेज़ां, किसी की भी कोई कृति यदि आप लें, उसमें यह स्पष्ट रूप से पायेंगे कि शक्ति बहुत है, रचना-सौष्ठव अद्भुत है, पर उन सब में वह चीज़ बहुत कम है जिसको खोजने के लिए उनके रूप के बाहर सोचने की ज़रूरत पड़े। उनमें जो कुछ है वह स्थूल इन्द्रिय-गोचर है, हद-से-हद मनोगोचर है पर कोई मनसातीत तत्त्व उनमें नहीं है। शायद इसलिए कि उन सभी का कला के प्रति दृष्टिकोण एक दूसरी चेतना से प्रेरित था जो कला को आत्म-अभिव्यक्ति से अधिक दूर ले जाने के बारे में नहीं सोच सकती थी। आत्म-साक्षात्कार उनके लिए आत्मविश्लेषण था। इन दोनों उदाहरणों को एक-साथ देने का तात्पर्य यह है कि जो स्थान कला को हमारी परम्परा में प्राप्त है वह पश्चिम की परम्परा में प्राप्त स्थान से बहुत कुछ भिन्न है और उस पर आज भी बल देने की उतनी ही ज़रूरत है जितनी कल थी, क्योंकि हम आने वाली पीढ़ी के लिए उनके परमानन्द का क्षण यदि न रचे होंगे तो हमारा कलाकार अयथार्थ होगा। हम यदि अपने कलाकार को

शिव रूप में अपनी कला में प्रतिष्ठित न करेंगे तो हम न अपने को जीवित रख सकेंगे न अपनी जाति को। यही नहीं, भारतीय कलादृष्टि आज समूचे विश्व के लिए प्रासंगिक हो गयी है, क्योंकि यही दृष्टि सबसे अधिक व्यापक और सबसे अधिक गत्यात्मक दृष्टि के रूप में धीरे-धीरे समस्त प्रबुद्ध-वर्ग को प्रभावित करती जा रही है। यह बात दर्प की नहीं, कर्त्तव्य-बोध के प्रति गम्भीर जागरूकता की है।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

नीति के सापेक्ष ग्रौर निरपेक्ष तत्त्व

सागरमल जैन

नीति की सापेक्षता ग्रौर निरपेक्षता का प्रश्न अति प्राचीन काल से एक विवादास्पद विषय रहा है। महाभारत, स्मृति ग्रन्थ एवं ग्रीक दार्शनिक साहित्य में इस सम्बन्ध में पर्याप्त चिन्तन हुग्रा है ग्रौर ग्राजतक विचारक इस प्रश्न को सुलझाने में लगे हुए हैं। वर्तमान युग में समाज-वैज्ञानिक सापेक्षतावाद, मनोवैज्ञानिक सापेक्षतावाद ग्रौर तार्किक भाववादी सापेक्षतावाद ग्रादि चिन्तन-धाराएँ नीति को सापेक्ष मानती हैं। उनके ग्रनुसार नैतिक मान-दण्ड ग्रौर नैतिक मूल्यांकन सापेक्ष हैं। वे यह मानते हैं कि किसी कर्म की नैतिकता देश, काल, व्यक्ति ग्रौर परिस्थिति के परिवर्तित होने से परिवर्तित हो सकती है। ग्रर्थात् जो कर्म एक देश में नैतिक माना जाता है वह दूसरे देश में ग्रनैतिक माना जा सकता है; जो ग्राचार किसी युग में नैतिक माना जाता था वही दूसरे युग में ग्रनैतिक माना जा सकता है; इसी प्रकार जो कर्म एक व्यक्ति के लिए एक परिस्थिति में नैतिक हो सकता है वही दूसरी परिस्थिति में ग्रनैतिक हो सकता है। दूसरे शब्दों में, नैतिक नियम, नैतिक मूल्यांकन ग्रौर नैतिक निर्णय सापेक्ष हैं। देश, काल, समाज, व्यक्ति ग्रौर परिस्थिति के तथ्य उन्हें प्रभावित करते हैं। चाहे हम नैतिक मानदण्ड ग्रौर नैतिक निर्णय को समाज-सापेक्ष मानें या उन्हें वैयक्तिक मनोभावों की ग्रभिव्यक्ति कहें, उनकी सापेक्षिकता में कोई ग्रन्तर नहीं होता है। संक्षेप में, सापेक्षतावादियों के ग्रनुसार नैतिक नियम सार्वकालिक, सार्वदेशिक ग्रौर सार्वजनिक नहीं हैं। इसके विपरीत निरपेक्षतावादियों का कहना है कि नैतिक मानक ग्रौर नैतिक नियम ग्रपरिवर्तनीय, सार्वकालिक, सार्वदेशिक, सार्वजनिक ग्रौर ग्रपरिवर्तनीय हैं, ग्रर्थात् नैतिक ग्रौर ग्रनैतिक के बीच एक ऐसी कठोर विभाजक रेखा है जो ग्रनुल्लंघनीय हैं; नैतिक कभी भी ग्रनैतिक नहीं हो सकता ग्रौर ग्रनैतिक कभी भी नैतिक नहीं हो सकता। नैतिक नियम देश, काल, समाज, व्यक्ति ग्रौर परिस्थिति से निरपेक्ष हैं। वे शाश्वत सत्य हैं। नैतिक जीवन में ग्रपवाद ग्रौर ग्रापद्धर्म के लिए कोई स्थान नहीं है। वस्तुतः नीति के सन्दर्भ में एकांत सापेक्षवाद ग्रौर एकांत निरपेक्षवाद दोनों ही उचित नहीं हैं। वे ग्रांशिक सत्य तो हैं लेकिन नीति के सम्पूर्ण स्वरूप को स्पष्ट कर पाने में समर्थ नहीं हैं। दोनों की ग्रपनी कुछ कमियाँ हैं।

नीति में सापेक्षता ग्रौर निरपेक्षता दोनों का क्या ग्रौर किस रूप में स्थान है, यह जानने के लिए हमें नीति के विविध पक्षों को समझ लेना होगा। सर्वप्रथम नीति का एक बाह्य पक्ष होता है ग्रौर दूसरा ग्रान्तरिक पक्ष होता है, ग्रर्थात् एक ग्रोर ग्राचरण होता है तो दूसरी ग्रोर ग्राचरण की प्रेरक ग्रौर निर्देशक चेतना होती है। एक ग्रोर नैतिक ग्रादर्श या साध्य होता है ग्रौर दूसरी ग्रोर उस साध्य की प्राप्ति के साधन या नियम होते हैं। इसी प्रकार

हमारे नैतिक निर्णय भी दो प्रकार के होते हैं, एक वे जिन्हें हम स्वयं के सन्दर्भ में देते हैं दूसरे वे जिन्हें हम दूसरों के सम्बन्ध में देते हैं। साथ ही ऐसे अनेक सिद्धान्त होते हैं जिनके आधार पर नैतिक निर्णय दिये जाते हैं।

जहाँ तक नैतिकता के बाह्य पक्ष, अर्थात् आचरण या कर्म का सम्बन्ध है, वह निरपेक्ष नहीं हो सकता; सर्वप्रथम तो व्यक्ति जिस विश्व में आचरण करता है वह आपेक्षिकता से युक्त है। जो कर्म हम करते हैं और उसके जो परिणाम निष्पन्न होते हैं वे मुख्यत: हमारे संकल्प पर निर्भर न होकर उन परिस्थितियों पर निर्भर होते हैं जिनमें हम जीवन जीते हैं। बाह्य जगत् पर व्यक्ति की इच्छाएँ नहीं अपितु परिस्थितियाँ शासन करती हैं। पुनः, चाहे मानवीय संकल्प को स्वतन्त्र मान भी लिया जाय किन्तु मानवीय आचरण को स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता है, वह आंतर और बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर होता है। अत: मानवीय कर्म का सम्पादन और उनके निष्पन्न परिणाम दोनों ही देश, काल और परिस्थिति पर निर्भर होंगे। कोई भी कर्म देश, काल, व्यक्ति, समाज और परिस्थिति से निरपेक्ष नहीं होगा। भारतीय चिन्तन की जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराएँ इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार करती हैं कि कर्म की नैतिकता निरपेक्ष नहीं है। प्रशमरति में उमास्वाति का कथन है कि एकांत रूप से न तो कोई कर्म आचरणीय होता है और न एकांत रूप से अनाचरणीय होता है, इसका आधार देश, काल, व्यक्ति, अवस्था (परिस्थिति), मनःस्थिति आदि होते हैं।[1] महाभारत भी कहता है—धर्म-अधर्म देश-काल पर निर्भर होते हैं। जो हिंसा, अनृत आदि कर्म अधर्म कहे जाते हैं वे ही कभी धर्म बन जाते हैं।[2] पुनः, नैतिक मूल्यांकन और नैतिक निर्णय उन सिद्धान्तों और परिस्थितियों पर निर्भर करते हैं जिनमें वे दिये जाते हैं। सर्वप्रथम तो नैतिक मूल्यांकन व्यक्ति और परिस्थिति से निरपेक्ष होकर नहीं किया जा सकता, क्योंकि व्यक्ति जिस समाज में जीवन जीता है वह विविधताओं से युक्त है, समाज में व्यक्ति की अपनी योग्यताओं एवं क्षमताओं के आधार पर एक निश्चित स्थिति होती है और उसी स्थिति के अनुसार उसके कर्त्तव्य एवं दायित्व होते हैं, अत: वैयक्तिक दायित्वों और कर्त्तव्यों में विविधता होती है। गीता का वर्णाश्रम धर्म का सिद्धांत और ब्रेडले का 'मेरा स्थान और उसके कर्त्तव्य' का सिद्धान्त एक सापेक्षिक नैतिकता की धारणा को प्रस्तुत करते हैं। ब्रैडले के शब्दों में : "प्रत्येक कर्म के अनेक पक्ष होते हैं और अनेक सम्बन्ध होते हैं, साथ ही वह अनेक गुणों से युक्त होता है और उस पर विचार करने के अनेक दृष्टिकोण होते हैं।"[3] अत: हमें सामाजिक सन्दर्भ में आचरण का मूल्यांकन सापेक्ष रूप में ही करना होगा। विश्व में ऐसा कोई एक सर्वमान्य सिद्धांत नहीं है जो हमारे निर्णयों का आधार बन सके। कुछ प्रसंगों में हम अपने नैतिक निर्णय निष्पन्न कर्म-

१. देशं कालं पुरुषमवस्थामुपधात शुद्धपरिणामान्।
प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्यं नैकान्तात्कल्प्यते कल्प्यम्॥ —प्रशमरति १४६

२. स एव धर्मः सोऽधर्मो देश-काले प्रतिष्ठितः।
आदानमनृतं हिंसा धर्मोह्यवस्थिक स्मृतः॥ —महाभारत शान्ति पर्व ६३।११

3. Ethical Studies, p. 196.

परिणाम पर देते हैं तो कुछ प्रसंगों में कर्म के वांछित या अग्रावलोकित परिणाम पर, और कभी कर्म के प्रेरक के आधार पर भी नैतिक निर्णय दिये जाते हैं। अतः कर्म के बाह्य स्वरूप और उसके सन्दर्भ में होने वाले नैतिक मूल्यांकन तथा नैतिक निर्णय निरपेक्ष नहीं हो सकते, उन्हें सापेक्ष ही मानना होगा। पुनः, कर्म या आचरण किसी आदर्श या लक्ष्य का साधन होता है और साधन अनेक हो सकते हैं। लक्ष्य या आदर्श के एक होने पर भी उसकी प्राप्ति के लिए साधकों की अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार अनेक मार्ग सुझाये जा सकते हैं, अतः आचरण-विविधता एक स्वाभाविक तथ्य है। दो भिन्न सन्दर्भों में परस्पर विपरीत दिखाई देने वाले मार्ग भी अपने लक्ष्य की अपेक्षा से उचित माने जा सकते हैं, अतः ब्रैडले का यह कथन समुचित ही होगा कि 'जबतक नीति (अर्थात् नैतिक साधन) में विविधता नहीं होगी, कोई नैतिकता ही नहीं होगी; वह नीति जो सापेक्ष नहीं है, व्यर्थ है।"[4] पुनः, जब हम दूसरे व्यक्तियों के आचरण पर कोई नैतिक निर्णय देते हैं तो हमारे सामने कर्म का बाह्य स्वरूप ही होता है अतः दूसरे व्यक्तियों के आचरण के सम्बन्ध में हमारे मूल्यांकन और निर्णय सापेक्ष ही हो सकते हैं। आप उसके मनोभावों के प्रत्यक्ष द्रष्टा नहीं होते हैं और इसलिए उसके आचरण के मूल्यांकन में आपको निरपेक्ष निर्णय देने का कोई अधिकार ही नहीं होता है क्योंकि आपका निर्णय केवल घटित परिणामों पर ही होता है। अतः यह निश्चय ही सत्य है कि कर्म के बाह्य पक्ष या व्यावहारिक पक्ष की नैतिकता और उसके सन्दर्भ में दिये जाने वाले नैतिक निर्णय दोनों ही सापेक्ष होंगे। वे नैतिक सिद्धान्त जो नीति और नैतिक आचरण को परिस्थिति-निरपेक्ष मानते हैं वे शून्य में विचरण करते हैं और नीति के यथार्थ स्वरूप को स्पष्ट कर पाने में समर्थ नहीं होते हैं।

किन्तु नीति को एकांत रूप से सापेक्ष मानना भी खतरे से खाली नहीं है। (१) सर्वप्रथम नैतिक सापेक्षतावाद व्यक्ति और समाज की विविधता पर तो दृष्टि डालता है किन्तु उस विविधता में अनुस्यूत एकता की उपेक्षा करता है। वह दैशिक, कालिक, सामाजिक और वैयक्तिक असमानता को ही एकमात्र सत्य मानता है। (२) दूसरे, वह साध्य या आदर्श की अपेक्षा साधनों पर अधिक बल देता है, जबकि साधनों का मूल्य स्वयं उस साध्य पर आश्रित होता है जिसके वे साधन हैं। (३) तीसरे, सापेक्षतावाद कर्म के बाह्य स्वरूप को ही उसका सर्वस्व मान लेता है उनके आन्तरिक पक्ष या कर्म के मानस-पक्ष की उपेक्षा करता है जबकि कर्म की प्रेरक भावना का भी नैतिक दृष्टि से समान मूल्य है। (४) चौथे, नैतिक सापेक्षतावाद संकल्प-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त के विरोध में जाता है। यदि नीति के निर्धारक तत्त्व बाह्य हैं तो फिर हमारी संकल्प की स्वतन्त्रता का कोई अधिक महत्त्व नहीं रहता है। सापेक्षतावाद के अनुसार नीति का नियामक तत्त्व देश-कालगत परिस्थितियाँ एवं सामाजिक तथ्य हैं, वैयक्तिक चेतना नहीं। किन्तु ऐसी स्थिति में संकल्प-स्वातन्त्र्य का क्या अर्थ रह जायेगा, यह विचारणीय है। संकल्प को सापेक्ष मानने का अर्थ उसकी स्वतन्त्रता को सीमित करना है। (५) पांचवें, नीति के सन्दर्भ में सापेक्षतावाद हमें अनिवार्यतः आत्मनिष्ठतावाद की ओर ले जाता है। लेकिन आत्मनिष्ठतावाद

4. Ethical Studies, p. 189.

में आकर नैतिक नियम अपना समस्त स्थायित्व और वस्तुगत आधार खो देते हैं। नैतिक जीवन में समरूपता और वस्तुनिष्ठता का अभाव होता है तथा नैतिकता का ढाँचा अस्त-व्यस्त हो जाता है। (६) छठे, हम यह भी कह सकते हैं कि सापेक्षतावाद में नैतिकता का शरीर तो बचा रहता है किन्तु प्राण चले जाते हैं। उसमें विषय सामग्री तो रहती है किन्तु आकार नहीं होता है। क्योंकि निरपेक्षता नैतिकता की आत्मा है। (७) सापेक्षतावाद में नैतिक मानक की एकरूपता समाप्त हो जाती है, एक सार्वभौम मानदण्ड का अभाव होता है अतः नैतिक निर्णय देने में व्यक्ति को वैसी ही कठिनाई अनुभव होती है जैसी उस ग्राहक को होती है जिसे प्रत्येक दुकान पर भिन्न-भिन्न माप मिलते हों। पुनः, नैतिक परिस्थिति स्वयं एक ऐसा जटिल तथ्य है जिसमें जनसाधारण के लिए बिना किसी स्पष्ट सार्वभौम निर्देशक सिद्धान्त के यह तय कर पाना कठिन है कि उस परिस्थिति में क्या नैतिक है और क्या अनैतिक है ? अतः नीति में किसी निरपेक्ष तत्त्व की अवधारणा करना भी आवश्यक है। इस सम्बन्ध में जॉन ड्युई का दृष्टिकोण अधिक संगतिपूर्ण जान पड़ता है।[५] वे यह मानते हैं कि वे परिस्थितियाँ, जिनमें नैतिक आदर्शों की सिद्धि की जाती है, सदैव परिवर्तनशील हैं और नैतिक नियमों, नैतिक कर्त्तव्यों और नैतिक मूल्यांकनों के लिए इन परिवर्तनशील परिस्थितियों के साथ समायोजन करना आवश्यक होता है। किन्तु यह मान लेना मूर्खतापूर्ण ही होगा कि नैतिक सिद्धान्त इतने सापेक्षिक हैं कि किसी सामाजिक स्थिति में उनमें कोई नियामक शक्ति ही नहीं होती है। शुभ की विषय-वस्तु बदल सकती है किन्तु शुभ का आकार नहीं; दूसरे शब्दों में, नैतिकता का शरीर परिवर्तनशील है किन्तु नैतिकता की आत्मा नहीं। नैतिकता का विशेष स्वरूप समय-समय पर वैसे-वैसे बदलता रहता है जैसे-जैसे सामाजिक या सांस्कृतिक स्तर और परिस्थिति बदलती रहती है, किन्तु नैतिकता का सामान्य स्वरूप स्थिर रहता है। नैतिक नियमों में अपवाद या आपद्धर्म का निश्चित ही स्थान है और अनेक स्थितियों में अपवाद-मार्ग का आचरण ही नैतिक होता है। फिर भी हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि अपवाद कभी भी सामान्य नियम का स्थान नहीं ले पाते हैं। निरपेक्षतावाद के सन्दर्भ में यह एक भ्रान्ति है कि वह सभी नैतिक नियमों को निरपेक्ष मानता है। निरपेक्षतावाद सभी नियमों की सार्वभौमिकता सिद्ध नहीं करता, वह केवल मौलिक नियमों की सार्वभौमिकता ही सिद्ध करता है।

वस्तुतः नीति की वास्तविक प्रकृति को समझने के लिए निरपेक्षतावाद और सापेक्षतावाद दोनों ही अपेक्षित हैं। नीति का कौनसा पक्ष सापेक्ष होता है और कौनसा पक्ष निरपेक्ष होता है इसे निम्नांकित रूप में समझा जा सकता है : (१) संकल्प की नैतिकता निरपेक्ष होती है और आचरण की नैतिकता सापेक्ष होती है। हिंसा का संकल्प कभी नैतिक नहीं होता यद्यपि हिंसा का कर्म सदैव अनैतिक हो यह आवश्यक नहीं। नीति में जब संकल्प की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया जाता है तो फिर हमें यह कहने का अधिकार नहीं रहता है कि संकल्प सापेक्ष है, अतः संकल्प की नैतिकता सापेक्ष नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में, कर्म का जो मानसिक पक्ष है, बौद्धिक पक्ष है, वह निरपेक्ष हो सकता है किन्तु कर्म का जो

५. देखिये—कन्टेम्पोरेरी इथिकल थ्योरीज—हिल, पृ० १६३।

व्यावहारिक पक्ष है, आचरणात्मक पक्ष है, वह सापेक्ष है। अर्थात् मनोमूलक नीति निरपेक्ष होगी और आचरणमूलक नीति सापेक्ष होगी। संकल्प का क्षेत्र, प्रज्ञा का क्षेत्र, एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ चेतना या प्रज्ञा ही सर्वोच्च शासक है। अन्तस् में व्यक्ति स्वयं अपना शासक है, वहाँ परिस्थितियों या समाज का शासन नहीं है, अतः इस क्षेत्र में नीनि की निरपेक्षता सम्भव है। अनासक्त कर्म का दर्शन इसी सिद्धान्त पर स्थित है क्योंकि अनेक स्थितियों में कर्म का बाह्यात्मक रूप कर्त्ता के मनोभावों का यथार्थ परिचायक नहीं होता। अतः यह माना जा सकता है कि मनोवृत्यात्मक या भावनात्मक नीति निरपेक्ष होगी किन्तु आचरणात्मक या व्यवहारात्मक नीति सापेक्ष होगी। यही कारण था कि जैन दर्शन में नैश्चयिक नैतिकता को निरपेक्ष और व्यावहारिक नैतिकता को सापेक्ष माना गया। (२) दूसरे, साध्यात्मक नीति या नैतिक आदर्श निरपेक्ष होता है किन्तु साधनपरक नीति सापेक्ष होती है। दूसरे शब्दों में, जो सर्वोच्च शुभ है वह निरपेक्ष है किन्तु उस सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति के जो नियम या मार्ग हैं वे सापेक्ष हैं। क्योंकि एक ही साध्य की प्राप्ति के अनेक साधन हो सकते हैं। पुनः, वैयक्तिक रुचियों, क्षमताओं और स्थितियों की भिन्नता के आधार पर सभी के लिए समान नियमों का प्रतिपादन सम्भव नहीं है। अतः साध्य-परक नीति को या नैतिक साध्य को निरपेक्ष और साधनपरक नीति को सापेक्ष मानना ही एक यथार्थ दृष्टिकोण हो सकता है। (३) तीसरे, नैतिक नियमों में कुछ नियम मौलिक होते हैं और कुछ नियम उन मौलिक नियमों के सहायक होते हैं, उदाहरणार्थ, भारतीय परम्परा में सामान्य धर्म और विशेष धर्म (वर्णाश्रम धर्म) ऐसा वर्गीकरण हमें मिलता है। जैन परम्परा में भी एक ऐसा ही वर्गीकरण मूलगुण और उत्तरगुण नाम से है। यहाँ हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि साधारणतया सामान्य या मूलभूत नियम ही निरपेक्ष एवं अपरिवर्तनीय माने जा सकते हैं, विशेष नियम तो सापेक्ष एवं परिवर्तनीय ही होते हैं। यद्यपि हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि अनेक स्थितियों में सामान्य नियमों के भी अपवाद हो सकते हैं और वे नैतिक भी हो सकते हैं, फिर भी यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि अपवाद को कभी भी नियम का स्थान नहीं दिया जा सकता है। यहाँ एक बात जो विचारणीय है वह यह कि मौलिक नियमों की निरपेक्षता उनकी अपरिवर्तनशीलता या उनके स्थायित्व के आधार पर ही है, साध्य की अपेक्षा से वे सापेक्ष हो सकते हैं।

जो नैतिक विचारधाराएँ मात्र निरपेक्षतावाद को स्वीकार करती हैं वे यथार्थ की भूमिका को भूलकर मात्र आदर्श की ओर देखती हैं। वे नैतिक आदर्श को तो प्रस्तुत कर देती हैं किन्तु उस मार्ग का निर्धारण करने में सफल नहीं हो पातीं जो उस साध्य एवं आदर्श तक ले जाता है, क्योंकि नैतिक आचरण एवं व्यवहार तो परिस्थिति-सापेक्ष होता है। नैतिकता एक लक्ष्योन्मुख गति है। लेकिन यदि उस गति में व्यक्ति की दृष्टि मात्र उस यथार्थ भूमिका तक ही, जिसमें वह खड़ा है, सीमित है तो वह कभी भी लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता, वह पथभ्रष्ट हो सकता है। दूसरी ओर वह व्यक्ति, जो गन्तव्य की ओर तो देख रहा है किन्तु उस मार्ग को नहीं देख रहा है जिसमें वह गति कर रहा है, मार्ग में ठोकर खाता है और कण्टकों से अपने को पद-विद्ध कर लेता है। जिस प्रकार चलने के उपक्रम में हमारा काम न तो मात्र सामने देखने से चलता है और न मात्र नीचे देखने से चलता है उसी प्रकार नैतिक

प्रगति में हमारा काम न तो मात्र निरपेक्ष दृष्टि से चलता है और न मात्र सापेक्ष दृष्टि से चलता है । निरपेक्षतावाद उस स्थिति की उपेक्षा कर देता है जिसमें व्यक्ति खड़ा है जबकि सापेक्षतावाद उस आदर्श या साध्य की उपेक्षा करता है जोकि गन्तव्य है । इसी प्रकार निरपेक्षतावाद सामाजिक नीति की उपेक्षा कर मात्र वैयक्तिक नीति पर बल देता है, किन्तु व्यक्ति समाज-निरपेक्ष नहीं हो सकता । पुनः, निरपेक्षतावादी नीति में साध्य की सिद्धि ही प्रमुख होती है किन्तु वह साधन उपेक्षित बना रहता है जिसके विना साध्य की सिद्धि सम्भव नहीं है । अतः सम्यक् नैतिक जीवन के लिए नीति में सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों तत्त्वों की अवधारणा को स्वीकार करना आवश्यक है ।

हमीदिया महाविद्यालय, भोपाल

रसेल के वर्णन-सिद्धान्त की स्ट्रासन द्वारा आलोचना

जगदीशसहाय श्रीवास्तव

बर्ट्रण्ड रसेल ने सर्वप्रथम **साक्षात् ज्ञान** (नॉलिज बाइ अक्वेण्टेन्स) एवं **वर्णनात्मक ज्ञान** (नॉलिज बाइ डिस्क्रिप्शन) में भेद किया। साक्षात् ज्ञान वह ज्ञान है जिसमें हमें किसी विषय की **अपरोक्ष अभिज्ञता** (डाइरेक्ट अवेयरनेस) प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए, सामने रखी गयी मेज़ के रंग का ज्ञान या बाहर सड़क पर दौड़ती कार की आवाज़ का ज्ञान साक्षात् ज्ञान कहा जायगा। इस परिभाषा के अनुसार हमें साक्षात् ज्ञान केवल इन्द्रिय-प्रदत्तों (सेन्स डेटा) का ही हो सकता है, वस्तुओं का नहीं। इसके विपरीत, वर्णनात्मक ज्ञान में हमें किसी व्यक्ति या वस्तु का साक्षात् ज्ञान न होकर उसके विषय में केवल किसी तथ्य का ही ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए हम लोगों में से किसी ने भी जूलियस सीज़र को नहीं देखा है किन्तु उसके विषय में हमें बहुत-से तथ्यों की जानकारी है, जैसे : उसने रुबिकार्न नदी को पार किया, ब्रूटस के द्वारा उसकी हत्या हुई, इत्यादि। इन तथ्यों को समझने के लिए जूलियस सीज़र का साक्षात् ज्ञान होना कोई आवश्यक नहीं है। वर्णनात्मक ज्ञान साक्षात् ज्ञान से स्वतन्त्र होता है।

रसेल ने दो प्रकार के वर्णनों का उल्लेख किया है : **निश्चित वर्णन** (डेफिनिट डिस्क्रिप्शन) और **अनिश्चित वर्णन** (इण्डेफिनिट डिस्क्रिप्शन)। निश्चित वर्णन का स्वरूप होता है : "वह अमुक" (दि सो एण्ड सो) तथा अनिश्चित वर्णन का स्वरूप होता है : "एक अमुक" (ए सो एण्ड सो)।[२] निश्चित वर्णन का तात्पर्य यह है कि एक ऐसी विशेषता है जो **एक और केवल एक** वस्तु पर ही लागू होती है जैसे : "फ्रान्स के वर्तमान नरेश"। इसके विपरीत, अनिश्चित वर्णन का अर्थ यह है कि एक ऐसी विशेषता है जो **कम से कम एक** वस्तु या व्यक्ति पर लागू होती है, जैसे : "एक कवि की हत्या की गई"। प्रस्तुत लेख में हम केवल निश्चित वर्णनों के विश्लेषण पर ही विचार करेंगे क्योंकि रसेल के निश्चित वर्णनों के विश्लेषण पर ही स्ट्रॉसन ने अपनी आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं।

रसेल ने निश्चित वर्णन का विश्लेषण करते हुए कहा है कि ऐसी प्रतिज्ञप्तियाँ, जिनमें निश्चित वर्णन शामिल होते हैं, उद्देश्य-विधेय रूप प्रतिज्ञप्तियाँ न होकर तार्किक दृष्टि से असंगत वाक्य ही होते हैं। 'फ्रान्स का वर्तमान नरेश बुद्धिमान है' इस प्रतिज्ञप्ति में "फ्रान्स का वर्तमान नरेश" एक निश्चित वर्णन है। "फ्रान्स का वर्तमान नरेश" व्याकरणिक उद्देश्य

१. रसेल, प्रॉब्लम्स ऑव फ़िलॉसॉफ़ी, अध्याय ४।
२. रसेल, इण्ट्रोडक्शन टू मैथेमेटिकल फ़िलॉसॉफ़ी, पृ० १७२।

भले ही हो पर वह तार्किक उद्देश्य (लॉजिकल सब्जेक्ट) कभी नहीं हो सकता। "फ्रान्स का वर्तमान नरेश" कोई संज्ञा नहीं है; यह किसी व्यक्ति का नाम न होकर उसका केवल वर्णन ही है। उपर्युक्त प्रतिज्ञप्ति तब भी सार्थक होगी जबकि फ्रान्स का कोई वर्तमान नरेश न हो। यह प्रतिज्ञप्ति किसी व्यक्ति-विशेष के विषय में न होकर केवल एक विशेषता के विषय में ही है, चाहे वह विशेषता किसी व्यक्ति के भीतर पायी जाती हो अथवा नहीं पायी जाती हो। रसेल के अनुसार यदि उपर्युक्त निश्चित वर्णन का तार्किक विश्लेषण किया जाय तो उसका निम्न स्वरूप होगा :—

(१) कम-से-कम एक व्यक्ति फ्रान्स का नरेश है।

(२) अधिक-से-अधिक एक व्यक्ति फ्रान्स का नरेश है।

(३) जो व्यक्ति फ्रान्स का नरेश है वह बुद्धिमान भी है।

यदि उपर्युक्त प्रतिज्ञप्तियों में एक भी सत्य है तो सम्पूर्ण प्रतिज्ञप्ति असत्य कही जायगी। उक्त वर्णनात्मक प्रतिज्ञप्ति के विश्लेषण की प्रमुख बात यह है कि रसेल के अनुसार किसी प्रतिज्ञप्ति की "अस्तित्वात्मक पूर्वमान्यता" (एक्जिस्टेंशल प्रिसपोज़ीशन) उस प्रतिज्ञप्ति का अभिन्न अंग होती है। अतः यदि किसी प्रतिज्ञप्ति की अस्तित्वात्मक पूर्वमान्यता असत्य है तो सम्पूर्ण प्रतिज्ञप्ति ही असत्य मान ली जायगी। रसेल द्वि-मूल्य (टू वैल्यूड) तर्कशास्त्र में विश्वास करते थे : उनके अनुसार कोई प्रतिज्ञप्ति या तो सत्य होगी या असत्य, इसकी कोई तीसरी सम्भावना नहीं है। इसके विपरीत, स्ट्रासन के अनुसार किसी प्रतिज्ञप्ति की "अस्तित्वात्मक पूर्वमान्यता" उसका अभिन्न अंग न होकर केवल उसकी पूर्व-कल्पना ही होती है। ये पूर्वकल्पनाएँ 'निर्देशात्मक स्वरूप' की (डाइरेक्टिव) होती हैं जो किसी प्रत्ययेतर विश्व (एक्स्ट्रा-कॉन्सेप्चुअल वर्ल्ड) के किसी पक्ष का उद्‌घाटन करती हैं। यदि ये पूर्वकल्पनाएँ असत्य हैं तो कोई **अभिकथन** (असर्शन) ही नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में उक्त प्रतिज्ञप्ति के सत्य अथवा असत्य होने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। उदाहरण के लिए जब हम कथन करते हैं कि 'फ्रान्स का वर्तमान नरेश बुद्धिमान है' तो रसेल के अनुसार, यदि फ्रान्स का कोई वर्तमान नरेश नहीं है तो उक्त वाक्य असत्य माना जायगा पर स्ट्रासन के अनुसार चूँकि फ्रान्स का कोई वर्तमान नरेश नहीं है, उक्त वाक्य के यथार्थ अथवा असत्य होने का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि रसेल और स्ट्रासन के बीच "पूर्व-कल्पनाओं" को लेकर जो विवाद खड़ा हुआ है उसमें किसकी बात अधिक सही है। प्रस्तुत लेख में इसी समस्या का विश्लेषण किया गया है तथा एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने की चेष्टा की गई है।

पूर्वकल्पनाएँ किसी अभिकथन की प्रागपेक्षाएँ हैं

जब कोई अभिकथन किया जाता है तो उसके तीन पक्षों या आयामों में विभेद किया जा सकता है : प्रथम, अभिकथन का **सम्पादन** (पर्फार्मेन्स) या **उच्चारण** (अटरेन्स); द्वितीय, अभिकथन की **परिस्थिति** या निश्चित **सन्दर्भ या प्रसंग** (कांटेक्स्ट) तथा तृतीय, वक्ता की

मानसिक अवस्था (मेण्टल स्टेट) जिसमें अभिकथन किया जाता है। वक्ता की मानसिक स्थिति विश्वास, अविश्वास, अनुमोदन या अननुमोदन की हो सकती है। उच्चारण, परिस्थिति एवं वक्ता की मानसिक अवस्था किसी अभिकथन की प्रागपेक्षाएँ हैं। भाषा की रूढ़ियों के अनुसार यदि हमें किसी अभिकथन के उच्चारण और सन्दर्भ ज्ञात हैं तो वक्ता की मानसिक अवस्था का अनुमान भली-भाँति किया जा सकता है। उदाहरण के लिए : विषैली वस्तुओं के वर्णन के प्रसंग से यदि कोई व्यक्ति कहता है कि "कुकुरमुत्ता विषैला होता है" तो इस अभिकथन का उच्चारण जिस परिस्थिति में हुआ है उसके आधार पर कोई भी व्यक्ति अनुमान कर सकता है कि जिस व्यक्ति ने उक्त कथन का प्रयोग किया वह उस कथन में विश्वास करता है। किन्तु कल्पना कीजिए कि जो व्यक्ति यह कहता है कि कुकुरमुत्ता विषैला होता है, वही व्यक्ति यदि यह कहे कि वह इस कथन में विश्वास नहीं करता तो इसका अर्थ यही समझा जायगा कि उस व्यक्ति ने आत्म-व्याघातक बात कही है। दूसरे शब्दों में : हम यह भी कह सकते हैं कि किसी अभिकथन का प्रयोग ही नहीं किया गया क्योंकि किसी अभिकथन की जितनी प्रागपेक्षाएँ हैं उनकी संतुष्टि नहीं की गई। किसी अभिकथन की प्रागपेक्षाओं की संतुष्टि के बिना अभिकथन का व्यापार ही पूर्ण नहीं माना जायगा। प्रागपेक्षाओं की सन्तुष्टि किसी अभिकथन की अनिवार्य शर्त है।

रसेल के वर्णन-सिद्धान्त में पूर्वकल्पनाओं का महत्त्व

किसी अभिकथन और उसकी पूर्वकल्पनाओं के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर समसामयिक दर्शन में पर्याप्त विवाद खड़ा हुआ है। इस सम्बन्ध में फ्रेगे, रसेल एवं स्ट्रासन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(१) दार्शनिक **फ्रेगे** के अनुसार किसी अभिकथन एवं उसकी पूर्वकल्पनाओं के बीच **बाह्य-सम्बन्ध** पाया जाता है। चूँकि पूर्वकल्पनाएँ किसी अभिकथन की प्रागपेक्षाएँ हैं अतः वे न तो सत्य होती हैं और न असत्य ही। अब प्रश्न यह है कि किसी अभिकथन की प्रागपेक्षाएँ या पूर्व-कल्पनाएँ क्या हैं? इस प्रश्न के उत्तर में फ्रेगे कहते हैं कि कोई प्रतिज्ञप्ति अभिकथन का रूप तभी ग्रहण कर सकती है जबकि इसके भीतर आने वाली सरल या यौगिक संज्ञाओं से निर्देश (रेफरेन्स) पाया जाता हो।[3] मान लिया कि यह पूर्व-कल्पना **ख** है जो अभिकथन **क** के अर्थ (सेन्स) को निर्धारित करती है। अब, फ्रेगे के अनुसार ख क का तार्किक परिणाम नहीं है। उन्हीं के शब्दों में : **ख का अर्थ क के अर्थ का अभिन्न अंग नहीं है।** किसी पूर्वकल्पना और अभिकथन के बीच बाह्य सम्बन्ध का यही अर्थ है।

(२) दार्शनिक **रसेल** के अनुसार किसी अभिकथन और उसकी पूर्व-कल्पनाओं के बीच **आन्तरिक** अथवा अंगी-अंग का सम्बन्ध पाया जाता है। दूसरे शब्दों में, पूर्व-कल्पना अभिकथन का अभिन्न अंग होती है। उदाहरण के लिए, जब कोई व्यक्ति कहता है कि 'फ्रान्स का वर्तमान नरेश बुद्धिमान है' तो रसेल के अनुसार :

३. फ्रेगे, सेन्स और नॉमिनेटम, सं० ब्लैक एवं गीच, पृ० ६६।

(i) यह एक सार्थक कथन है,

(ii) किसी व्यक्ति का यह कथन तभी सत्य माना जायगा जबकि वर्तमान में फ्रान्स का एक और केवल एक नरेश हो और वह साथ-साथ बुद्धिमान भी हो।

(iii) यदि कोई व्यक्ति वर्तमान में इस वाक्य का उच्चारण करता है तो वह वाक्य या तो यथार्थ होगा अथवा अयथार्थ।

(iv) उपर्युक्त अभिकथन की अस्तित्वात्मक पूर्व-कल्पना उस अभिकथन का अनिवार्य अंग होगी।

कुछ अन्य दार्शनिकों के अनुसार किसी अभिकथन और उसकी पूर्व-कल्पनाओं के बीच **मनोवैज्ञानिक विश्वास** या **अविश्वास** का सम्बन्ध है। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि किसी अभिकथन और उसकी पूर्व-कल्पनाओं के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या में विश्वास और अविश्वास का कोई प्रासंगिक महत्त्व नहीं है।

(३) दार्शनिक **स्ट्रासन** के अनुसार कोई पूर्व-कल्पना अपने अभिकथन से **भाषा के नियमों** के द्वारा सम्बद्ध होती है। कोई अभिकथन पूर्व-कल्पना को तार्किक रूप से आपादित तो नहीं करता पर सन्दर्भात्मक या प्रासंगिक रूप में उसे अवश्य आपादित करता है। उनके बीच तार्किक आपादन (लॉजिकल इम्प्लिकेशन) का सम्बन्ध न होकर केवल सन्दर्भात्मक आपादन (कण्टेक्स्चुअल इम्प्लिकेशन) का ही सम्बन्ध पाया जाता है। स्ट्रासन के इस सिद्धान्त को ठीक प्रकार समझने के लिए इस पर विस्तारपूर्वक विचार करना आवश्यक है।

रसेल के वर्णन-सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए स्ट्रासन ने "**व्यञ्जक**" (एक्सप्रेशन) और "**वाक्य**" (सेंटेन्स) इन शब्दों का एक विशिष्ट अर्थ में प्रयोग किया है। अनन्यतः निर्देशक शब्द-समूह या निश्चित वर्णन को उसने "व्यञ्जक" के रूप में लिया है तथा वह वाक्य जो किसी अनन्यतः निर्देशक शब्द-समूह से प्रारम्भ होता है उनकी भाषा में "वाक्य" के रूप में स्वीकार किया गया। आगे चलकर अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए स्ट्रासन[४] ने ($अ_1$) "वाक्य", ($अ_2$) "वाक्य का प्रयोग" तथा ($अ_3$) "वाक्य का उच्चारण" में भेद किया। इसी प्रकार इसी की संगति में ($ब_1$) "अभिव्यञ्जक" ($ब_2$) "अभिव्यञ्जक का प्रयोग" तथा ($ब_3$) "अभिव्यञ्जक का उच्चारण" में भेद किया। उदाहरण के लिए 'फ्रान्स का नरेश बुद्धिमान है' इस वाक्य को लिया जाय। इस वाक्य का उच्चारण सत्रहवीं शताब्दी से लेकर फ्रान्स के प्रत्येक नरेश के शासन-काल में किया गया। इस वाक्य का उच्चारण तब भी किया गया जब फ्रान्स से राज-तन्त्र समाप्त हो चुका। यहाँ हम कह सकते हैं कि एक ही "वाक्य" का उच्चारण भिन्न-भिन्न अवसरों पर किया गया। यही "वाक्य" है। अब मान लीजिए कि एक व्यक्ति ने उपर्युक्त वाक्य का उच्चारण लुई चौदहवें के शासन-काल में किया तथा दूसरे व्यक्ति ने उसी वाक्य का उच्चारण लुई पन्द्रहवें के शासन-काल में किया। यह स्वाभाविक है कि दोनों व्यक्तियों ने भिन्न-भिन्न नरेशों के विषय में वाक्य का प्रयोग किया तथा प्रथम व्यक्ति ने वाक्य के प्रयोग में **सत्य**

४. **स्ट्रासन, पी० एफ०; "ऑन रेफरिङ्ग", माइण्ड, LIX, नं० २३५ जुलाई १९५०।**

अभिकथन किया एवं द्वितीय व्यक्ति ने वाक्य के प्रयोग में **असत्य अभिकथन** किया। उपर्युक्त उदाहरण से यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि किसी वाक्य के उच्चारण से हमारा क्या तात्पर्य है। इस विचार-विमर्श से स्ट्रासन ने दो महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले :

(१) कोई "वाक्य" स्वतः न तो सत्य होता है और न असत्य। असत्य या असत्यता "वाक्य के प्रयोग" की ही विशेषताएँ हैं।

(२) कोई वाक्य स्वतः किसी "व्यक्ति" या "वस्तु" के विषय में नहीं होता क्योंकि एक ही वाक्य भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों या वस्तुओं के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। किसी "वाक्य का प्रयोग" ही किसी "व्यक्ति" या "वस्तु" के विषय में हो सकता है।

इन दोनों निष्कर्षों को संयुक्त कर स्ट्रासन कहते हैं कि **अर्थ "वाक्य" का फलन होता है** तथा **वर्णन, उल्लेखन, निर्देशन अथवा यथार्थता** या **अयथार्थता "वाक्यों के प्रयोग" के फलन होते हैं।** किसी अभिव्यञ्जक के अर्थ का तादात्म्य उस व्यक्ति या वस्तु से नहीं किया जा सकता जिसका निर्देश करने के लिए किसी विशेष अवसर पर उसका प्रयोग किया जा सकता है। यही बात वाक्यों के अर्थ पर भी लागू होती है। किसी अभिव्यञ्जक या वाक्य के अर्थ से हमारा तात्पर्य उन सामान्य नियमों, आदतों या रूढ़ियों से है जो विभिन्न अवसरों पर अभिव्यञ्जकों या वाक्यों के प्रयोग को शासित करते हैं और जिनके आधार पर कोई अभिव्यञ्जक **निर्देश** या कोई वाक्य **अभिकथन** करता है। स्ट्रासन के अनुसार सार्थकता आर सत्यता या असत्यता के प्रश्न एक-दूसरे से भिन्न हैं। सार्थकता का सम्बन्ध वाक्यों से है पर सत्यता या असत्यता का प्रश्न वाक्यों के प्रयोग से है।

रसेल के वर्णन-सिद्धान्त की त्रुटियाँ

रसेल के वर्णन-सिद्धान्त की प्रथम त्रुटि के विषय में पहले ही वर्णन किया गया कि उसने किसी तर्क-शास्त्र की अस्तित्वात्मक पूर्व-कल्पना को प्रतिज्ञप्ति का अभिन्न अंग माना जो स्ट्रासन के अनुसार ग़लत है। रसेल की दूसरी त्रुटि यह थी कि उसने निर्देशन (रेफ़रिंग) या उल्लेख (मेन्शनिंग) का अर्थ के साथ तादात्म्य स्थापित किया। उसने अभिव्यञ्जक (ब$_1$) और अभिव्यञ्जक के प्रयोग (ब$_2$) के बीच अन्तर स्पष्ट नहीं किया। **अभिव्यञ्जक केवल अर्थ प्रकट करता है; वह निर्देशन या उल्लेख का कार्य नहीं करता।** अभिव्यञ्जक का प्रयोग ही निर्देशन करता है। रसेल ने समझा कि यदि कोई अनन्यतः निर्देशक अभिव्यञ्जक है तो उसका अर्थ वह व्यक्ति या वस्तु होगा जिसके लिए उस अभिव्यञ्जक का प्रयोग किया जा सकता है। इस आधार पर ही "तार्किक व्यक्तिवाचक संज्ञाओं" (लॉजिकली प्रापर नेम्स) का आविष्कार किया गया। स्ट्रासन के अनुसार यह ग़लत है। किसी अभिव्यञ्जक का अर्थ भाषा के नियमों, आदतों और रूढ़ियों के द्वारा निर्धारित किया जाता है किन्तु वे व्यक्ति या वस्तुएँ, जिनकी ओर संकेत करने के लिए किसी अभिव्यञ्जक का उपयोग किया जाता है, वे **उसके प्रयोग** (यूस) द्वारा निर्धारित की जाती हैं। यही बात वाक्यों पर भी लागू होती है। कोई वाक्य किसी व्यक्ति या वस्तु के विषय में नहीं होता; उसका निश्चित

प्रयोग ही किसी व्यक्ति या वस्तु का संकेत कर सकता है। इसी प्रकार कोई वाक्य न सत्य होता है और न असत्य ही। उसकी सत्यता या असत्यता उसके निश्चित प्रयोग द्वारा निर्धारित की जाती है। स्ट्रासन के अनुसार निर्देशन के नियम व गुणारोपण के नियम पृथक् होते हैं; उनके बीच भेद न करने के कारण ही दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

रसेल द्वारा अपने वर्णन-सिद्धान्त की प्रतिरक्षा

जिस प्रकार स्ट्रासन ने रसेल के वर्णन-सिद्धान्त की आलोचना की है उसी प्रकार रसेल ने उसकी प्रतिरक्षा करने की भी कोशिश[५] की है। उसके अनुसार वर्णन की समस्या व अहंकेन्द्रिकता (इगोसेण्ट्रिसिटी) की समस्या एक-दूसरे से पृथक् हैं जिन्हें एक-दूसरे के साथ सम्मिलित नहीं किया जा सकता, जैसा स्ट्रासन ने किया है। यदि 'फ्रान्स के वर्तमान नरेश बुद्धिमान हैं' में वर्तमान के स्थान पर "१९०५ में" लिखा गया होता तो शायद स्ट्रासन को वर्णन-सिद्धान्त की आलोचना करने का अवसर ही न मिला होता। यदि कोई शब्द अहंकेन्द्रिक नहीं है तो जान-बूझकर उसे अहंकेन्द्रिक बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है। दूसरी बात यह है कि किसी समस्या की वैज्ञानिक व्याख्या के लिए आवश्यक है कि अहंकेन्द्रिक तत्त्व को कम से कम स्थान दिया जाय, किन्तु स्ट्रासन ने ठीक इसी पर विशेष बल दिया है।

स्ट्रासन के अनुसार "फ्रान्स के वर्तमान नरेश बुद्धिमान हैं" न तो सत्य है और न असत्य क्योंकि फ्रान्स में रजतन्त्र है ही नहीं। इसकी आलोचना करते हुए रसेल कहते हैं कि मान लीजिए कि एक ऐसा देश है जिसमें यह कानून है कि ऐसा कोई व्यक्ति सरकारी पद का अधिकारी नहीं हो सकता जो यह असत्य समझता हो कि 'ब्रह्माण्ड के नियन्ता बुद्धिमान हैं'। यहाँ कोई नास्तिक स्ट्रासन के सिद्धान्त का नाजायज़ फायदा उठाते हुए घोषित कर सकता है कि वह उपर्युक्त वाक्य को असत्य नहीं समझता अतः वह सरकारी पद के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता। रसेल के अनुसार कोई वाक्य या तो सत्य होगा या असत्य। मेरी समझ में स्ट्रासन की अपेक्षा रसेल का विश्लेषण अधिक तर्कसंगत है क्योंकि यह कहना कि कोई वाक्य न तो सत्य है और न असत्य, ठीक नहीं लगता।

रसेल ने स्ट्रासन के व्यक्तिवाचक संज्ञाओं विषयक विचार की भी आलोचना की है। स्ट्रासन "तर्कतः व्यक्तिवाचक संज्ञाओं" में विश्वास नहीं करते। उनके अनुसार रसेल ने "लॉजिकली प्रॉपर नेम्स" में इसलिए विश्वास किया कि उन्होंने निर्देशन, उल्लेख तथा अर्थ में स्पष्टतः भेद नहीं किया। "पद" निर्देशन का कार्य नहीं करते; "पदों के प्रयोग" ही निर्देशन का कार्य करते हैं। पर रसेल इस बात से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार "लॉजिकली प्रॉपर नेम्स" का अर्थ ही निर्देशन है और उसका निर्देशन ही अर्थ है। यहाँ अर्थ और निर्देशन दोनों एक ही हैं। रसेल के अनुसार यदि भाषा में इस प्रकार के "लॉजिकली प्रॉपर नेम्स" न हों तो भाषा का तथ्य-जगत् के साथ कोई सम्बन्ध ही स्थापित

५. रसेल, माइ फ़िलॉसॉफिकल डिवलपमेण्ट, अध्याय १८, भाग ३।

नहीं किया जा सकता । यदि भाषा ग्रौर तथ्य के बीच इस प्रकार का सम्बन्ध न हो तो निदर्शनात्मक (ग्रॉस्टेन्सिव) परिभाषा का कोई ग्रर्थ ही नहीं रह जायेगा । ग्राखिरकार हम "नीले" ग्रौर "लाल" के ग्रर्थ को किस प्रकार जानते हैं ? यदि किसी व्यक्ति के जीवन में "नीला" ग्रौर "पीला" से साक्षात्कार नहीं हुग्रा है तो वह इन शब्दों का ग्रर्थ कभी भी नहीं समझ सकता । केवल "वर्णनों" के प्रयोग से ही इनका वास्तविक ग्रर्थ नहीं समझाया जा सकता । ग्रतः स्ट्रासन का यह कथन कि "लॉजिकली प्रॉपर नेम्स" हैं ही नहीं, ठीक नहीं है ।

प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद



अशुभ की समस्या पर दोतरफा दृष्टिकोण

जे० फाइस

भूमिका

अशुभ की समस्या पर पुनः चिंतन करना शायद बहुतों को एक व्यर्थ प्रयास प्रतीत होगा। भारतीय परम्परा में "सर्वं दुःखम्" की अनुभूति से ही दर्शनशास्त्र की उत्पत्ति हुई। आचार्यों ने इस पर जो गूढ़ अनुसंधान किया है क्या हम उसमें और कुछ जोड़ने की आशा कर सकते हैं? वास्तव में उस समस्या के सन्दर्भ में दर्शन उत्पन्न हुआ तो इसलिए कि वह एक मूलभूत समस्या है, भूतकाल की ही नहीं बल्कि सब कालों की। फिर यदि दार्शनिक को जीवन से सम्बन्धित प्रश्नों पर विचार करना हो तो अवश्य ही उसे दुःख और पाप को ध्यान में रखना पड़ेगा।

फिर आधुनिक विचारक का कर्त्तव्य है कि वह परम्परा द्वारा प्रस्तुत किये हुए समाधानों को समझे। कभी-कभी ऐसा होता है कि जो एक नया आविष्कार प्रतीत होता है वास्तव में वह बहुत पहले भी ज्ञात था। उदाहरणार्थ विश्लेषणात्मक दर्शन बताता है कि स्वतोविरोध तर्क की दृष्टि से शब्दों का एक निरर्थक संयोग होने के कारण किसी सम्भव या असम्भव बात का बोध नहीं देता है। ऐसा लगता है कि मध्यकालीन तत्त्व-मीमांसक उसी अन्तर्दृष्टि से प्रेरित हुए जब उन्होंने ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता के सन्दर्भ में लिखा कि: "स्वतोविरोधी बातें ईश्वर के लिए असम्भव हैं, इससे बढ़कर यह कहना अधिक उचित होगा कि ऐसी बातें ही असम्भव हैं।"[1] पूर्वजों की प्रज्ञा से परिचित होना वही प्रज्ञा का एक प्रमाण होगा। परन्तु वह दार्शनिक नहीं होता जो परम्परागत उत्तरों का मूल्यांकन नहीं करता।

क्या हमारी खोज से एक नया समाधान निकलने की कोई आशा है? डुप्रे जैसे एक जटिल विचारक यदि स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार करते हैं कि अशुभ की समस्या का मेरा अपना कोई हल नहीं है,[2] तो हम क्या कहें? कई अस्तित्ववादियों का दावा है कि अशुभ की समस्या का कोई विषय नहीं, बल्कि रहस्य ही है। उनसे प्रभावित होकर फादर कोंगार अशुभ की छानबीन करने के बाद समस्या की सीमा तक पहुँचते हैं जिसके पार

1. J. Hick. *Evil and the God of Love*, Collins, London, 1961; p. 301, और वहीं पर उद्धृत : Thomas Aquinas, *Sumrna Theologica*, I, 25, 3.
2. L. Dupre, *The Other Dimension: a Search for the Meaning of Religious Attitudes*, Doubleday, New York, 1972; p. 391.

अशुभ का रहस्यमय क्षेत्र विस्तृत रहता है।[3] ऐसी स्थिति में क्या इस विषय के लिए हमारी ओर से कोई नयी देन हो सकती है ? एक पुराने प्रश्न को एक नये सन्दर्भ में उठाने से उसका एक नया पहलू दिखायी पड़ता है। जिस नयी दिशा की ओर हम संकेत करना चाहते हैं वह आजकल का सांस्कृतिक और विशेष करके धार्मिक अनेकत्व है। अशुभ-समस्या का धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध है इसे मैं अब कुछ स्पष्ट करना चाहूँगा।

पश्चिमी विचारक को सामान्य रूप से और ईसाई को विशेष रूप से उस भ्रम से सावधान रखना पड़ेगा जिसके अनुसार "धर्म" और "ईश्वरवाद" समानार्थक हैं। बौद्धधर्म, कम-से-कम अपने आरम्भिक रूप में, इस भ्रान्ति का स्पष्ट प्रतिवाद है। हिन्दु धर्म इष्ट देव की भक्ति के अलावा निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान द्वारा भी मुक्ति प्राप्त करने की सम्भावना स्वीकार करता है। फिर धर्मों की विविधता के बावजूद उन सब का एक सामान्य लक्षण भी है। तिलिख के शब्दों में, "धर्म का तात्पर्य परम मूल्यों की चिन्ता है।"[४] धर्म का कोई समानार्थक है तो वह है पूर्ण जीवन-स्थिति के लिए सार्थकता की खोज। यदि बात ऐसी हो तो कौन नहीं देखता है कि धर्म के लिए अशुभ की चिन्ता करना अनिवार्य है ? अवश्य ही अशुभ अभावात्मक मूल्य है, परन्तु अशुभ की चिन्ता शुभ की आशा से ही प्रेरित होती है; और शुभ सब भावात्मक मूल्यों का सारांश है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अशुभ दर्शन और धर्म दोनों का विषय है। अनेक दार्शनिकों को धर्म का दर्शन पर प्रभाव नापसन्द लगेगा। धर्मनिरपेक्ष युग में दर्शन को भी धर्म से निरपेक्ष होना आवश्यक है। क्या दर्शन धर्म से पृथक् रह सकेगा, यही प्रश्न है। दोनों का लक्ष्य मिलता-जुलता है : दर्शन जीवन-अर्थ पर चिन्तन करता है और धर्म परम मूल्यों की चिन्ता करता है। फिर धर्म मानव का एक पहलू मात्र नहीं है, बल्कि उसके सब पहलुओं का एक पहलू है।[५] यदि दर्शन मानव पर विचार करना चाहता है तो, क्या वह धर्म की उपेक्षा कर सकेगा ? दर्शन-धर्म के सम्बन्ध के प्रति जो विरोध होता है उसका आधार दर्शन का तर्क से और धर्म का अनुभूति से समीकरण है। हम पूछ सकते हैं : क्या तर्क का विषय अनुभूति नहीं है ? फलतः धर्म भी दर्शन का विषय हो सकता है।

यद्यपि दर्शन पर धर्म का प्रभाव अनिवार्य है लेकिन धर्म का दर्शन में हस्तक्षेप अनुचित होगा। मेरा तात्पर्य यह है कि दर्शदशास्त्र में शब्दप्रमाण का कोई स्थान नहीं हो सकता है। फिर भी, इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता है कि दर्शन के क्षेत्र से श्रुति या बाइबिल-

3. Y. Congar, 'The Problem of Evil' in J. Bivort de la Saudee, *God, Man and the Universe. A Christian Answer to Modern Materialism*, Burns & Oates, London, 1954; p. 393-421.
4. "Religion is ultimate concern".
5. F. Degraeve, in *New Catholic Encyclopedia*, McGraw-Hill, New York, 1967,; article 'Religion, Comparative Study of .....', p. 253 : "Religion is not so much one of man's acts or attitudes as a dimension of his every act and attitude".

ग्रन्थ का बहिष्कार करना होगा। इस प्रसंग में हमें केवल यह प्रभेद करना पड़ेगा : मूलभूत धार्मिक ग्रन्थों का प्रयोग शब्द-प्रमाण के रूप में नहीं बल्कि अनुभूति के रूप में ही किया जा सकता है। उन ग्रन्थों के ख़ज़ाने में मानव-जाति का धार्मिक अनुभव सुरक्षित रहता है। फिर, सब दर्शन तर्क या अनुमान के अलावा अनुभव या प्रत्यक्ष को भी यथार्थ प्रमाण मानते हैं, परन्तु शब्द-प्रमाण स्वीकार करने में मतभेद होता है। धार्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति विभिन्न परम्पराओं में भिन्न होती है। उस धार्मिक विविधता से दर्शनों की विविधता उत्पन्न हुई। अशुभ-समस्या का नया प्रसंग आजकल का सांस्कृतिक अनेकत्व है। अशुभ-समस्या को पुनः उठाने का कारण यह है कि भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से उस पर चिन्तन किया जाय। इसके विषय में वाद-विवाद से बढ़कर धर्मों और दर्शनों का संवाद ही उचित होगा।

अशुभ की वास्तविकता

अशुभ के विषय में महत्त्व का एक प्रश्न यह है कि उसकी वस्तुगत कोटि क्या है? इसके उत्तर में केवल दो विकल्प सम्भव प्रतीत होते हैं : अशुभ या तो वास्तव है या मात्र आभास। किन्तु दोनों स्थितियों में हमारा अशुभ का अनुभव एक ही है : अपने सब रूपों में, चाहे शारीरिक या आध्यात्मिक, चाहे भौतिक या नैतिक, कुछ कर्म हमें अनुचित, अप्रिय, एक शब्द में········अशुभ लगते हैं। उपर्युक्त दूसरा विकल्प, अर्थात् अशुभ की अवस्तुता का विकल्प, मानने पर वास्तविकता और अनुभव का विरोध होगा। पहले विकल्प, अर्थात् अशुभ की अपनी वास्तविकता है, में तथ्य और अनुभव में संगति होगी। चुनाव कितना स्पष्ट क्यों न हो फिर भी अशुभ के सन्दर्भ में अनेक विचारक अनुभव-विरोधी तत्त्वमीमांसा अधिक पसन्द करते हैं। इसका सबसे प्रसिद्ध उदाहरण शायद अद्वैतवेदान्त होगा जिसके अनुसार दुःखमय संसार व्यावहारिक दृष्टिकोण से अस्तित्व रखता है, किन्तु परमार्थतः यह माया ही है। आगे चलकर हम इस बात की जांच करना चाहेंगे कि कहाँ तक अशुभ के समाधान में भिन्न-भिन्न दर्शन किसी-न-किसी प्रकार से अद्वैत के समान दो-तरफा दृष्टिकोण अपनाते हैं?

अपनी "इविल एण्ड दि गॉड ऑफ लव" नामक रचना में[१] जॉन हिक हमारे उपर्युक्त दो विकल्पों के सदृश यह भेद करते हैं : अशुभ की तत्त्वमीमांसा और उसका अनुभव। तत्त्वमीमांसीय अशुभ को शुभ का अभाव मात्र कह सकते हैं; इसके बावजूद अनुभव के लिए अशुभ भावात्मक ही है। इस विषय में हिक महोदय ठीक ही भाषायी विश्लेषण के इस दावे की आलोचना करते हैं कि शुभ-अशुभ दोनों में वास्तव में प्रभेद नहीं है। एक अशुभ को शुभ की न्यूनता मात्र मानता है। इसके विपरीत दूसरा कोई यह कहेगा कि शुभ अशुभ की न्यूनता मात्र है। पहले का आशावाद और दूसरे का दुःखवाद, दोनों केवल परस्पर विरोधी "भाषायी अनुशंसाएँ" मात्र हैं। अवश्य ही, अंग्रेज़ी भाषा नहीं तो हिन्दी उस दृष्टि की सहायता करती है : 'अ-शुभ' संज्ञा निषेधात्मक उपसर्ग 'अ' और 'शुभ'

१. पादटिप्पणी ६ में उद्धृत, पृ० ६१ इत्यादि।

संज्ञा के संयोग से संश्लिष्ट है। लेकिन भाषा का ध्यान किये बिना, क्या अशुभ केवल शुभ का अभाव कहला सकता है ? क्या घृणा प्रेम की कमी ही है ? किसी व्यक्ति के प्रति प्रेम का अभाव तटस्थता मात्र होता है। लेकिन द्वेष उस व्यक्ति के प्रति एक बिल्कुल सत्य भावना है जिसे हम पूर्ण रूप से भावात्मक कह सकते थे यदि द्वेष अशुभ अनुभूति नहीं होता। द्वेष अभावात्मक भावना होने के बावजूद प्रेम का अभाव ही नहीं है। उसी तरह अहिंसा-सद्गुण हिंसापाप का अभाव मात्र नहीं हो सकता है। अहिंसा को तो पड़ौसी की लापरवाही नहीं बल्कि उसकी निःस्वार्थ सेवा समझा जाता है। भाषायी विश्लेषण 'तत्त्वगीमांसा' कहलाना अस्वीकार करेगा। परन्तु उसका अशुभ को कम शुभ कहना उस तत्त्वमीमांसा के समान है जो किसी दूसरी दृष्टि से अशुभ के अस्तित्व की उपेक्षा करती है। ह्यूम ने जब दुःख के बदले कम सुख रखने का प्रस्ताव किया तब वे भाषायी अनुशंसा के अग्रदूत थे। बेर्गसॉन उसका सीधा प्रतिवाद करते हैं, यह कहकर कि "दुःख एक भयंकर तथ्य है और अशुभ की परिभाषा, माना कि वह शुभ का अभाव मात्र है, उपयुक्त नहीं है और इसलिए ऐसे आशावाद का कोई उचित कारण नहीं है।"[७]

थोमसवाद

हम अभी एक ऐसी तत्त्वमीमांसा की चर्चा कर चुके हैं जो भाषायी विश्लेषण के समान अशुभ को शुभ का अभाव मानता है। पश्चिमी परम्परा में थोमसवाद इसका स्पष्ट उदाहरण है। वास्तव में उसका अशुभ-सम्बन्धी मत संत औगुस्तीन से प्राप्त हुआ है। सिद्धान्त की यह ऐतिहासिक उत्पत्ति उसे समझने के लिए सहायता दे सकती है, लेकिन पहले उसका प्रतिपादन देना उचित होगा।[८] थोमसवादी तत्त्वमीमांसा का मूल सिद्धांत है कि सत् और शुभ अभिन्न हैं अर्थात् जो जिस सीमा तक सत् है वह उस सीमा तक, अपनी सत्ता के अनुसार, शुभ ही होगा। इस मूलभूत सिद्धान्त का पहला निहितार्थ अशुभ-असत् का तादात्म्य ही है। इससे हम यह निष्कर्ष नहीं निकालें कि अशुभ का कोई अस्तित्व नहीं है। अशुभ वास्तविक है, लेकिन उसकी जो वास्तविकता है वह अशुभ की अपनी नहीं है। थोमसवादी के अनुसार अशुभ वास्तविक है, वह इस अर्थ में कि वह किसी ऐसे तत्त्व का आश्रय लेता है जो स्वयं ही सत् और शुभ दोनों है। इस तत्त्व में कोई कमी, अर्थात् सत् का अभाव जो है, वही अशुभ है। उदाहरणार्थ, रोग को लें : रोग शरीर की दुर्बलता है। दुर्बलता अवश्य ही वास्तविक है, लेकिन स्पष्ट रूप से दुर्बलता शरीर की एक विशेष स्थिति मात्र है। दूसरे शब्दों में, शरीर की अनुपस्थिति में रोग का भी अस्तित्व नहीं रहेगा। संक्षेप में, अशुभ कोई आधारभूत तत्त्व नहीं है। वास्तविक होते हुए भी अशुभ केवल दूसरे तत्त्व पर ही आधारित होता है। अशुभ है तो इसलिए कि

7. H. Bergson, *The Two Sources of Morality and of Religion*, Doubleday, New York, 1957; p. 261 : "No, suffering is a terrible reality, and it is mere unwarrantable optimism to define evil *a priori* . as a lesser good".
8. R. Jolivet, 'Evil', *New Catholic Encyclopedia*,

शुभ या सत् है। मोटे तौर से यही थोमसवादी अशुभ की तत्त्वमीमांसा है। थोमसवाद सत्-असत् का सिद्धान्त होने से भाषायी विश्लेषण से पूर्णतः पृथक् रहता है। इसलिए उसका 'अशुभ = शुभ का अभाव" का सिद्धान्त किसी भाषायी अनुशंसा की अभिव्यक्ति नहीं है बल्कि वास्तविक स्थिति का "दर्शन" है। यहाँ पर हमें अशुभ-सिद्धान्त की ऐतिहासिक उत्पत्ति याद रखनी पड़ती है। अशुभ को असत् कहने से संत औगुस्तीन मानीवाद का खण्डन करना चाहते थे। मानी शुभ-अशुभ के द्वैत को मौलिक मानते हैं, उनके अनुसार अशुभ शुभ के सदृश सत् है। इसके विपरीत संत औगुस्तीन मूल कारण को "एकमेवाद्वितीयम्" मानकर अशुभ को परम तत्त्व का स्तर देने को अस्वीकार करते हैं। उनके दृष्टिकोण में अशुभ की सत्ता नहीं हो सकती, कारण, प्रत्येक सत्ता एकमात्र मूल कारण से पैदा होती है। फिर, मूल कारण शुभ ही है : जो उससे सृष्ट होता है वह या तो शुभ ही होगा या एकदम नहीं होगा। असत् परन्तु वास्तविक अशुभ की उत्पत्ति कहाँ से हुई, इस प्रश्न को संत औगुस्तीन मानव-पाप द्वारा हल करते हैं। यहाँ हमारे पास इस समाधान की जाँच करने को स्थान नहीं है। किन्तु इतने में यह स्पष्ट है कि उनके अनुसार सृष्टिकर्ता अशुभ का स्रोत नहीं हो सकता।

सब कोई उपर्युक्त सिद्धान्त से सहमत होंगे इसमें सन्देह हो सकता है। अशुभ असत् मात्र है, इसे सिद्ध करने के लिए कौन-सा प्रमाण मिलता है ? स्पष्ट रूप से अशुभ की तत्त्वमीमांसा एकेश्वरवाद का एक निष्कर्ष ही है। एकेश्वरवाद को, अर्थात् एक ही भले सृष्टिकर्ता को, यदि हम स्वीकार करें तो निगमन मात्र के आधार पर उस मूल सिद्धान्त से अशुभ-असत् के तादात्म्य को भी निकाल सकेंगे। संत औगुस्तीन द्वारा प्रस्तुत मानीवादी द्वैत का खण्डन ऐसे निगमन का एक उदाहरण है। अब मान लीजिए हम उनकी तर्कणा को युक्ति-संगत मानें, फिर भी हम एकेश्वरवाद के लिए प्रमाण माँग सकते हैं। संत औगुस्तीन, और सामान्य रूप से मध्यकालीन थोमसवादी, अपने पूरे दर्शन को उसके आन्तरिक सामंजस्य के बल पर सिद्ध करेंगे। लेकिन तर्कसंगति से बढ़कर दर्शन की प्रेरणा महत्त्व की है। इस उदाहरण में पूर्वोक्त तत्त्वमीमांसा यहूदी-ईसाई एकेश्वरवादी आस्था से प्रेरित है। अवश्य ही धार्मिक अनुभूति कोई प्रमाण नहीं है, कम-से-कम उस पारिभाषिक शब्द के आधुनिक अर्थ में नहीं है। लेकिन निश्चित रूप से धार्मिक अनुभव परम्परागत अर्थ में एक "प्रमाण" है। उसी आधार पर हमें थोमसवादी अशुभ-सम्बन्धी सिद्धान्त का ध्यान रखना पड़ेगा।

साथ-ही-साथ हमें उसकी आलोचना भी करनी होगी। ऐसा लगता है कि जो तत्त्व-मीमांसा अशुभ-असत् का तादात्म्य मानती है वह अनुभव की विरोधी नहीं तो अनुभव से असंबद्ध अवश्य है। शाब्दिक अर्थ में वह एक अति-लौकिक (मैटा-फिजिकल) दर्शन है। अशुभ अनुभव के दृष्टिकोण से कितना भी भावात्मक तथ्य क्यों न हो, वह शुद्ध बौद्धिक दृष्टि से असत् मात्र कहलाता है। थोमसवाद के आधार-वाक्यों से सहमत होते हुए भी मैं उससे इसी विषय में असंतुष्ट रहता हूँ : अर्थात् "सत्" और "वास्तविक" का भेद। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार जोलिवेत जैसे एक समकालीन थोमसवादी यह दावा

करते हैं कि अशुभ-असत् का तादात्म्य अशुभ-अवास्तविक के बराबर नहीं है।[९] उनके अनुसार, जो अनुभव के दृष्टिकोण से भावात्मक तथ्य प्रतीत होता है उसे तत्त्वमीमांसा के दृष्टिकोण से भी सत् और वास्तविक दोनों होना चाहिए ऐसा नहीं है।

अनुभव और तत्त्वमीमांसा का यह विरोध पूर्वोक्त दो-तरफा दृष्टिकोण का एक और उदाहरण है। फिर भी इस पहलू से थोमसवाद अद्वैतवेदान्त के अनुरूप नहीं है। दूसरी बातों को छोड़कर, अद्वैती के लिए दुःखमय संसार पारमार्थिक दृष्टि से आभास मात्र है। यद्यपि आभास अवास्तविक नहीं है, लेकिन सत् भी नहीं है। थोमसवाद अशुभ को असत् कहने के बावजूद उसे वास्तविक मानता है। अशुभ को किसी दृष्टिकोण से भी आभास मात्र कहना या उसे वास्तविक अनुभव का तथ्य मानना, इन दोनों में बहुत अन्तर है। फिर अद्वैत के लिए संसार ही अशुभ है, थोमसवाद के लिए जगत् अशुभ का आधार मात्र है। शायद दोनों का मतभेद अशुभ से बढ़कर शुभ के विषय में अधिक होगा। एक "शुभ" को "संसार से मुक्ति" मानता है और दूसरा संसार को ही शुभ मानता है।

यथार्थ एकवाद

श्री अरविन्द ने अपने दर्शन का नाम 'यथार्थ एकवाद", "सच्चा अद्वैत" रखा है। उसके सन्दर्भ में वे अशुभ की समस्या का इस तरह प्रतिपादन करते हैं: अद्वैतवाद की कठिनाई ईश्वरवाद की कठिनाई से बढ़कर है। कारण, द्वैतवाद का ईश्वर तो केवल दूसरों के लिए ही बुराई का स्रोत होता है एकवाद का परम ब्रह्म अपने आप में ही अशुभ को उत्पन्न करता है। ईश्वरवादी को अपने शुभ सृष्टिकर्त्ता का उससे उत्पन्न सृष्टि के अशुभ से सामंजस्य करना होता है। तब जो अशुभ विश्व में मिलता है वह ईश्वर से भिन्न तत्त्व में रहता है। एकवादी को न तो केवल इस बात की व्याख्या देनी है कि आनन्दमय ब्रह्म से कैसे दुःख पैदा हुआ, उसे यह भी समझाना पड़ता है कि दुःखमय संसार ब्रह्म से अभिन्न तत्त्व कैसे हो सकता है? श्री अरविन्द के शब्दों में: "तब यह प्रश्न नहीं रह जाता कि ईश्वर ने अपने सृष्ट भूतों के लिए ऐसे कष्ट और अशुभ की रचना कैसे की जो स्वयं उसके लिए सम्भव नहीं है और फलस्वरूप जिनसे वह अस्पृष्ट है, बल्कि प्रश्न यह उठता है कि उस एकमेवाद्वितीय अनन्त सत्-चित्-आनन्द ने अपने अन्दर उस चीज़ को कैसे आने दिया जो आनन्द नहीं है, जो उसका सुनिश्चित नकार ही प्रतीत होती है।"[१०] हिक ने जब लिखा कि "अशुभ की समस्या देवत्व की सब प्रकार की धारणाओं के लिए चुनौती नहीं है,"[११] तो उनका अभिप्राय केवल ईश्वरवादी धारणा के विषय में था। स्पष्ट रूप से वे एकवाद के सम्बन्ध में श्री अरविन्द द्वारा उठाई हुई कठिनाई से परिचित नहीं थे।

९. पादटिप्पणी ८ में उद्धृत लेख, पृ० ६६५ : "While this implies that evil is non-being it does not imply that evil is nonexisting".

१०. श्री अरविन्द, "दिव्य जीवन", प्रथम खण्ड, श्री अरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी, १६७०; पृ० १११।

११. ऊपर उद्धृत, पृ० ४।

अपनी समस्या का श्री अरविन्द समाधान भी करते हैं। उनका दृष्टिकोण चेतना का है। उनके अनुसार, सुख-दुःख का और दूसरे द्वन्द्वों का केवल व्यष्टि के लिए अर्थ हो सकता है। कारण, व्यष्टि की चेतना पृथक्कारी है। जहाँ दूसरे तत्त्व मुझसे भिन्न दिखायी पड़ते हैं वहीं पर सुख-दुःख में निहित 'मेरे अनुकूल' या 'मेरे प्रतिकूल' होना सार्थक हो सकता है। इसके विपरीत, समष्टि के दृष्टिकोण से पृथक्-पृथक् तत्त्वों का प्रतिरोध ग़ायब हो जाता है। जो चेतना सर्वव्यापी समष्टि से मेल खाती है उसके लिए अनुकूल-प्रतिकूल निरर्थक हो जाता है। सम्पूर्णता की दृष्टि से सब कुछ भलाई प्रतीत होता है: दुःख अगर किसी पृथक् व्यष्टि को कष्ट दे तो समष्टि को वह सुख ही पैदा करेगा। अहंकार और ममत्व के अभाव में मेरे विरुद्ध कुछ नहीं हो सकता है, मुझसे कुछ नहीं खींच लिया जा सकता है। सुख-दुःख से परे जाने का एकमात्र मार्ग समष्टि रूपी चैतन्य में विलीन हो जाना है। एकवाद में अशुभ की समस्या अधिक जटिल प्रतीत होती है; फिर एकवाद में उसका एक सन्तोषजनक समाधान भी मिलता है।

जो अशुभ-समस्या का समाधान ऊपर दिया गया है वह चेतना के दृष्टिकोण से था। तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से श्री अरविन्द अशुभ की व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं: "असत् एक गुप्त सत् है, निश्चेतना एक गुप्त चेतना है, असंवेदनशीलता .... प्रसुप्त आनन्द है।"[१२] अशुभ यदि शुभ का एक छिपा हुआ रूप है तो वास्तव में वह शुभ का विरोधी तत्त्व नहीं है। अशुभ का अस्तित्व बिल्कुल नहीं है, यह उपर्युक्त उद्धरण का तात्पर्य नहीं है। फिर अशुभ कोई परम तत्त्व नहीं है, और इसलिए केवल दूसरे तत्त्व, अर्थात् शुभ, पर आधारित रहता है: यह "सच्चे अद्वैत" में निहित अशुभ विषयक सिद्धान्त है। वास्तव में तत्त्वमीमांसा के दृष्टिकोण से श्री अरविन्द के मत की ऊपर वर्णित थोमसवाद से तुलना की जा सकती है। दोनों के लिए अशुभ की वास्तविकता है, किन्तु स्वाधीन सत्ता नहीं है।

गुप्त शुभ-रूपी अशुभ इस सिद्धान्त का एक विशेष प्रयोग है, जिसे आर० एस० मिश्र ने "अनन्तम् का तर्क" कहा है।[१३] इसके अनुसार परम ब्रह्म में असंगति के बिना पारस्परिक विरोधों का सम्पात हो सकता है। सत्-चित्-आनन्द में असत्, अचेतन और दुःख भी हो सकते हैं, कारण असत् गुप्त सत् मात्र है, अचेतन गुप्त चेतना और दुःख गुप्त आनन्द है। इससे श्री अरविन्द के विकासवादी निष्कर्ष जैसा निकलता है। असत् आदि यदि गुप्त सत् आदि हैं तो असत् से सत्, अचेतना से चेतना, प्रकृति से पुरुष का विकसित होना सम्भव प्रतीत होता है। वास्तव में अव्यक्त स्थिति ही अभिव्यक्त स्थिति की शर्त है। निवर्तन (इन्वोल्यूशन) का विवर्तन (एवोल्यूशन) से पहले आना अनिवार्य है। इसके फलस्वरूप विकास न तो केवल सम्भव है, वह आवश्यक भी है।

श्री अरविन्द-दर्शन के इस प्रतिपादन से हमारा दावा सिद्ध हो जाता है, अर्थात् कि अशुभ-समस्या का समाधान प्रायः दोतरफा दृष्टिकोण के आधार पर प्रस्तुत किया जाता

१२. "दिव्य जीवन", प्रथम खण्ड, पृ० ३३७।
13. R. S. Misra, *The Integral Advaitism of Sri Aurobindo*, Banaras Hindu University, Banaras, 1957.

है। पहले श्री अरविन्द की तत्त्वमीमांसा लीजिए। जो असत् आदि सत् आदि के गुप्त रूप हैं वह ब्रह्म की अव्यक्त स्थिति है, असत् से सत् विकसित हो जाना ब्रह्म का व्यक्त रूप है। ठीक इसी प्रकार शुभ-अशुभ या आनन्द और दुःख सच्चिदानन्द की क्रमशः विवर्तन और निवर्तन की अवस्थाएँ हैं। फिर ये दोनों समान रूप से ब्रह्म की दशाएँ नहीं हैं; नहीं तो अशुभ शुभ के समान सत्ता होता। अशुभ को ही गुप्त शुभ कहने से (किन्तु इसके विपरीत नहीं, अर्थात्, शुभ गुप्त अशुभ है ऐसा नहीं) श्री अरविन्द अशुभ को गौण मानते हैं। विकास के सिलसिले में अशुभ केवल एक परिवर्ती अवस्था है। अशुभ अन्ततः पूर्ण शुभ में लुप्त हो जायगा। इस प्रतिज्ञा के पुष्टिकरण के लिए चेतना का साक्ष्य मिलता है। श्री अरविन्द का दर्शन तो उनकी साधना का अनुवाद ही है। अवश्य ही मनुष्य अशुभ का अनुभव करता है। लेकिन इसका कारण यह है कि वह पृथक्कारी चैतन्य है। साधना के फलस्वरूप यदि वह विश्वव्यापी चैतन्य को प्राप्त करे तो पारस्परिक विरोधी तत्त्वों के साथ-साथ सुख-दुःख-विरोधी अनुभव भी समाप्त हो जाएँगे और आनन्द का उदय होगा। इसलिए चेतना के दृष्टिकोण से भी श्री अरविन्द का अशुभ का समाधान दोतरफा दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया जाता हैं, अर्थात् पृथक्कारी चेतना और विश्वव्यापी चेतना के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से।

अशुभ से शुभ

अशुभ की समस्या के विषय में अब हम सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी वैज्ञानिक और दार्शनिक तेयार दि शार्द का विचार प्रस्तुत करना चाहेंगे।[१४] उनकी दृष्टि की एक विशेषता यह है कि वे अशुभ को अनिवार्य मानते हैं। उनके अनुसार, विश्व निर्विकार होने के विपरीत विकासमूलक तत्त्व है। विश्व-विकास की दिशा अनेकत्व से एकीकरण की ओर होती है। इसलिए अनेकता विकासमूलक विश्व के ढाँचे में मूलभूत है। फिर अनेकत्व, एकता का अभाव होने के कारण, अशुभ ही है। यह संक्षेप में तेयार के अनुसार अशुभ-तथ्य की व्याख्या है। उसमें एक विचित्र बात यह है कि वे न केवल भौतिक दोष, प्राणियों के दर्द और चेतन जीवों के दुःख को अनिवार्य समझते हैं बल्कि नैतिक अशुभ को भी। पाप स्वतन्त्र क्रिया होते हुए भी कैसे अपरिहार्य हो सकता है, यह आलोचना का विषय हुआ। फिर तेयार स्वीकार करते हैं कि विश्व में बुराई की अधिकता दिखायी पड़ती है। अशुभ विश्व-विकास की एक अनिवार्य शर्त तो है, दूसरे, अशुभ आवश्यकता से अधिक मात्रा में मिलता है। इस तथ्य के आधार पर तेयार आदि-पाप की परिकल्पना करते हैं जिसके फलस्वरूप अशुभ तो नहीं किन्तु उसकी अधिकता उत्पन्न हुई। आश्चर्य की बात है कि तेयार तथ्यों के अवलोकन की प्रणाली अपनाकर एक धार्मिक निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

अशुभ को अनिवार्य मानते हुए भी तेयार कई समकालीन अस्तित्ववादियों के निराशावाद को स्वीकार नहीं करते हैं। वे तो अशुभ की वास्तविकता पूर्ण रूप से पहचानते हैं,

14. P. Teilhard de Chardin, *The Phenomenon of Man*, Collins, London, 1959; pp. 311–13.

लेकिन उस घोर समस्या का समाधान भी प्रस्तुत करते हैं।[१५] वे अशुभ के वर्गों का यह प्रभेद करते हैं : एक ओर से प्रगति का अशुभ अर्थात् जिसके फलस्वरूप विकास आगे बढ़ता है, और दूसरी ओर से अवनति का अशुभ, अर्थात् जो बिल्कुल अभावात्मक प्रतीत होता है। यह दूसरा वर्ग वास्तविक अशुभ है : उसी को तेयार हल करने की कोशिश करते हैं। सामान्य रूप से उनका समाधान निम्न प्रकार है : अशुभ कितना भी विनाशक क्यों न हो, वह अधिक शुभ का सहायक होता है। दूसरे शब्दों में, सब बुराइयों का, हाँ मृत्यु का भी—जिसे तेयार "बुराइयों का सारतत्त्व" कहते हैं—उन सब का शुभ में परिणाम होगा। परिणाम-कर्ता को तेयार ईश्वर ही मानते हैं। वे उनकी तुलना एक कलाकार से करते हैं। उदाहरणार्थ, जैसे मूर्तिकार पत्थर की त्रुटि से ही एक अधिक सुन्दर कलाकृति बनाता है, वैसे ही सृष्टिकर्ता हमारी त्रुटियों का प्रयोग करके उनमें से हमारे लिए भलाई पैदा करता है। यह एक तुलना मात्र है, और आगे हमें इसका विशेष उपयोग देना पड़ेगा। बहुत पहले संत औगुस्तीन ने इसके सदृश "सौन्दर्य का समाधान" प्रस्तुत किया था : रंगीन चित्र में छाया, काली होने पर भी, चित्र का सौन्दर्य बढ़ाती है। दोनों का समाधान, संत औगुस्तीन का और तेयार का, आस्था का आश्रय लेता है।

तेयार अपने सामान्य सिद्धान्त के दो मुख्य प्रयोग देते हैं। हो सकता है कि अशुभ से उच्चतर श्रेणी का शुभ उत्पन्न होगा। "उच्चतर श्रेणी" का अर्थ है कि भौतिक हानि से आध्यात्मिक लाभ की उत्पत्ति। महापुरुषों की जीवनियाँ इस बात के अनेक उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। उदाहरणार्थ : श्री राम इसलिए उदारता, धैर्य और सहनशक्ति की साकार मूर्ति हुए कि उन्हें निर्वासन का कष्ट उठाना पड़ा। या गौतम रोग, बुढ़ापे और मृत्यु का सामना करने से ही प्रबोध की खोज में चले। हर एक को यह मालूम है कि प्रतिरोध से हमें प्रेरणा मिलती है। लेकिन पूर्वोक्त उदाहरण में जो शुभ अशुभ से निकलता है वह आध्यात्मिक होने के बावजूद, अनुभव का विषय है। इसके विपरीत अशुभ प्रायः बिना किसी अनुभूत शुभ-फल के होता है। सच पूछा जाय तो सामान्यतः अशुभ इसी प्रकार का है। हाल में जो भयंकर भूकम्प चीन देश में हुआ, इससे कौनसा आध्यात्मिक लाभ पैदा हुआ ? या दूसरे उदाहरणों को छोड़कर, मृत्यु से, जो अनिवार्य रूप से सब प्राणियों का भाग्य है, उससे कौनसा आध्यात्मिक हित सिद्ध होता है ? उसमें से कोई अनुभूत भला नहीं उत्पन्न होता है, इसे तेयार स्वीकार करते हैं; किन्तु उनमें से बिल्कुल कोई भला नहीं मिलता, इसी को वे अस्वीकार करते हैं। आखिर मौत—"अशुभ का सारतत्त्व"—का लक्ष्य क्या है ? तेयार की दृष्टि में मृत्यु द्वारा मनुष्य ईश्वर की सहभागिता के योग्य बन जाता है। जिस बात से हम संयुक्त हो जाते हैं, उसी में हम विलीन भी होते हैं, जैसे प्रेम में हम अपने-आपको भूल जाते हैं। मृत्यु द्वारा मनुष्य शून्य जैसा हो जाता है, जिसके फलस्वरूप परम सत्ता से संयुक्त होने के लिए तैयार बनता है। इसलिए अधिकतम अशुभ से उत्तम शुभ उत्पन्न होगा। लेकिन यह इहलोक में अनुभव की बात नहीं है।

15. *Le Milieu Divin*, Collins, London, 1960; pp. 58-70.

स्पष्टतः तेयार द्वारा प्रस्तुत अशुभ-समस्या के समाधान में भी दोतरफा दृष्टिकोण है। या तो मूल्यों के दो वर्ग, अर्थात् भौतिक और आध्यात्मिक, दोतरफा दृष्टिकोण का आधार देते हैं, या दोतरफा दृष्टिकोण एक ओर से इहलोक और दूसरी ओर से परलोक-परक है। फिर, दूसरे दर्शन के विपरीत, यहाँ किसी दृष्टिकोण से भी अशुभ को न तो असत् न अवास्तविक समझा जाता है। हम देख चुके हैं कि तेयार अशुभ की अनिवार्यता पर बल देते हैं। अशुभ के सन्दर्भ में तेयार का सिद्धान्त भाग्यवादी नहीं, यथार्थवादी है। आध्यात्मिक मूल्य प्राप्त करने पर भी, भौतिक मूल्य का विनाश एक यथार्थ मूल्य का विनाश है। तेयार के इस आशय को सन्तोषचन्द्र सेनगुप्त के शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि "जिस दुःख का मैं वास्तविक अशुभ जैसा अनुभव करता हूँ उसमें मेरे लिए कोई क्षतिपूर्ति नहीं है, वह मेरे लिए एक यथार्थ पराजय लगता है।"[१६]

फिर, क्या तेयार के समाधान के लिए कोई प्रमाण मिलता है? पहले उदाहरण में, अर्थात् अशुभ से अनुभूत शुभ की प्राप्ति विषयक, उसकी पुष्टि के लिए हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि वास्तव में मूल्यों का मापक्रम होता है, कि भौतिक मूल्यों से आध्यात्मिक मूल्य उत्कृष्टतर हैं। फिर अनुभव से हमें ज्ञात है कि दुःख से उच्चतर सुख उत्पन्न हो सकता है: जिस आदमी ने दुःख-भोग किया वह करुण और दयालु व्यक्ति होगा। तेयार के इस समाधान को भौतिकवादी तो नहीं, फिर भी नास्तिक स्वीकार करेगा। तेयार का दूसरा समाधान, अर्थात् परलोक में अशुभ के बदले शुभ की प्राप्ति, इसे नास्तिक भी स्वीकार नहीं कर सकेगा। कारण, अमरता के अलावा इसमें भले ईश्वर और मुक्तिदाता पर विश्वास भी आवश्यक है। किन्तु इस धार्मिक आस्था की तर्कसंगति सिद्ध की जा सकती है। और अशुभ की परलोक में क्षतिपूर्ति अनुभव के परे होते हुए भी शायद अनुभव से विरुद्ध नहीं है। जो भी हो, हमारा लक्ष्य यहाँ इस सिद्धान्त का पुष्टिकरण नहीं है। पारलौकिक शुभ पर भरोसा इस दृष्टि की, कि अशुभ परम सत्ता नहीं हो सकता है, अभिव्यक्ति ही है। इहलोक में वास्तविक होने पर भी परलोक में अशुभ बना नहीं रहेगा, शुभ में ही उसका परिणाम होगा।

उपसंहार

इस निबन्ध में हमने अशुभ-समस्या के सन्दर्भ में विशेषकर तीन दर्शनों की चर्चा की: थोमसवाद, श्री अरविन्द का "सच्चा अद्वैत" और तेयार दि शार्दें की धार्मिक आस्था से प्रेरित दृष्टि। इन तीनों में दोतरफा दृष्टिकोण है। थोमसवादी अनुभव के दृष्टिकोण से अशुभ को वास्तविक मानकर, तत्त्वमीमांसा के दृष्टिकोण से उसे असत् कहता है। श्री अरविन्द के अनुसार पृथक्कारी चेतना अशुभ का अनुभव करती है, सर्वव्यापी चेतना परम आनन्द को प्राप्त करती है। तेयार की दृष्टि में इहलोक में अशुभ अनिवार्य तो है, किन्तु उससे परलोक में शुभ उत्पन्न होगा। इन तीनों का सामान्य लक्षण यह है कि वे

16. S. C. Sengupta, *An Enquiry into the Existence of God*, Visva Bharati, Santiniketan, 1959, p. 132.

एक ओर से अशुभ को वास्तविक मानते हैं; (अद्वैत-वेदान्त की हम यहाँ उपेक्षा करते हैं, जिसके लिए अशुभ आभास मात्र है) दूसरी ओर से ये तीनों अशुभ को परम सत्ता मानने से इन्कार करते हैं। अशुभ-समस्या के विषय में इन भिन्न-भिन्न दर्शनों की सहमति निःसन्देह एक उल्लेखनीय बात है।

इसमें निहित तात्पर्य मानव का अशुभ के प्रति भाव है, अर्थात् मानव अपने स्वभाव से प्रेरित होकर अशुभ के परे होना चाहता है, दुःखातीत होने की निरन्तर आशा करता है। "अ-शुभ" संज्ञा का अभावात्मक रूप इस विरोध की अभिव्यक्ति करता है। भाषायी-विश्लेषण का प्रस्ताव, अर्थात् अशुभ को कम शुभ कहा जाय, इस सामान्य अनुभव के प्रतिकूल है जो अशुभ को विरोधी मानता है। जो कोई दर्शन अशुभ पर दोतरफा दृष्टिकोण अपनाता है वह चिंतन द्वारा अशुभ पर विजयी होने की कोशिश करता है। यदि हम विचार में अशुभ के परे हो सकते हैं तो वास्तव में भी हम उस पर विजय प्राप्त कर सकेंगे। इसके विपरीत निराशावाद अशुभ को परम सत्ता मानकर उसे केवल एक दृष्टिकोण से देखता है, अर्थात् अशुभ मात्र के रूप में। फिर हार स्वीकार करने से निराशावाद मानव के मूलभूत भाव, अर्थात् शुभ की अभीप्सा, का है, अशुभ प्रथम स्थान पर एक मानव-समस्या है, केवल गौण रूप से ईश्वर-अस्तित्व के विरुद्ध एक आपत्ति। वास्तव में अनेकों ने ईश्वर को अशुभ की परीक्षा द्वारा ही पाया है। ईश्वर-समस्या के विषय में मतभेद तो हो सकता है, मानव-समस्या के सन्दर्भ में पूर्वोक्त तीन दर्शन सहमत ही हैं। यह सहमति भिन्न-भिन्न दर्शनों के बीच में संवाद का क्षेत्र हो सकता है।

संत अलबर्ट कालेज, रांची

पुस्तक-समीक्षा

धर्मदर्शन—प्राच्य एवं पाश्चात्य :

ले० वाई० मसीह, प्रकाशक : भारती भवन, पटना-४, १९७३, मू० २०-००, पृ० सं० ६३५

६३५ पृष्ठों के इस विस्तृत ग्रन्थ में विद्वान लेखक ने पाश्चात्य और भारतीय धर्मदर्शन की लगभग सभी महत्त्वपूर्ण समस्याओं का आलोचनात्मक विवेचन तथा विश्लेषण किया है। इन गहन समस्याओं पर विचार करते समय लेखक ने किसी विशेष धर्म का खण्डन या समर्थन न करके जिस तटस्थ एवं निष्पक्ष दृष्टिकोण का परिचय दिया है वह निश्चय ही प्रशंसनीय है। आज अंग्रेज़ी में धर्मदर्शन पर जो पुस्तकें उपलब्ध हैं उनमें से अधिकतर ईसाई धर्म की मान्यताओं का समर्थन करने के उद्देश्य से लिखी गयी हैं। परन्तु प्रोफ़ेसर मसीह की प्रस्तुत पुस्तक किसी धर्म विशेष की स्थापना के दुराग्रह से मुक्त है, अतः धर्म-सम्बन्धी दार्शनिक समस्याओं में रुचि रखने वाले धार्मिक दृष्टि से तटस्थ पाठकों के लिए यह विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध हो सकती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस पुस्तक का उद्देश्य पाठकों को किसी धर्म-विशेष के सिद्धान्तों से परिचित कराना नहीं है अपितु उन मूल दार्शनिक समस्याओं से अवगत कराना है जिनका सम्बन्ध धर्म तथा उसकी आधारभूत मान्यताओं से है। सम्भवतः यह कहना अनुचित न होगा कि अपने इस उद्देश्य में लेखक को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। पुस्तक की विस्तृत विषय-सूची पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि लेखक ने उन सभी दार्शनिक समस्याओं के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं जिनका धर्मदर्श की दृष्टि से महत्त्व है। इसी कारण पुस्तक का आकार बहुत बढ़ गया है, किन्तु फिर भी आज की महँगाई को देखते हुए इसका मूल्य—बीस रुपये—अधिक नहीं है।

प्रस्तुत पुस्तक की समीक्षा को मैं दो भागों में विभक्त करना चाहूँगा। प्रथम भाग में मैं धर्मदर्शन सम्बन्धी उन मूल समस्याओं पर संक्षेप में अपने विचार प्रस्तुत करूँगा जिनका लेखक ने इस पुस्तक में विवेचन किया है। द्वितीय भाग में मैं प्रस्तुत पुस्तक में प्रयुक्त लेखक की भाषा तथा वाक्यरचना पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करूँगा।

१. विषय-वस्तु

जैसाकि ऊपर संकेत किया गया है, विषयवस्तु की दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। लेखक ने इस पुस्तक को बीस अध्यायों में विभक्त किया है और धर्मदर्शन की परिभाषा, धर्म का स्वरूप, धार्मिक ज्ञान, आदिम धर्म, ईश्वर का स्वरूप और उसके अस्तित्व सम्बन्धी प्रमाण, अशुभ की समस्या, पुनर्जन्म और आत्मा की अमरता, ईश्वर की मनोवैज्ञानिक व्याख्या, उपासना, समाधिमूलक धर्म, सर्वधर्म-समन्वय, मानवता-

वाद आदि धर्मदर्शन सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण विषयों पर अपने विचार प्रकट किये हैं। इससे प्रस्तुत पुस्तक की विषयवस्तु की व्यापकता स्वतःस्पष्ट हो जाती है। लेखक ने धर्मदर्शन सम्बन्धी उपर्युक्त समस्याओं के विषय में अनेक प्राचीन तथा समकालीन महान् दार्शनिकों के मतों का प्रसंगानुसार उल्लेख किया है जिससे पाठक के ज्ञान में पर्याप्त वृद्धि होती है।

प्रथम अध्याय में लेखक ने धर्मदर्शन की परिभाषा, ईश्वरदर्शन की अपेक्षा धर्मदर्शन की व्यापकता और नैतिक आचरण तथा धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। धर्मदर्शन की परिभाषा करते हुए उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि किसी धर्म-विशेष के खण्डन-मण्डन से तटस्थ और केवल तर्कबुद्धि पर आधारित होने के कारण धर्मदर्शन ईश्वरदर्शन अथवा थिओलाजी से भिन्न तथा उसकी अपेक्षा अधिक व्यापक है। इन दोनों को एक ही मान लेना बहुत बड़ी भूल होगी, क्योंकि धर्मदर्शन के विपरीत ईश्वर-दर्शन किसी विशेष धर्म का अनिवार्यतः समर्थन करता है और ईश्वर की सत्ता में विश्वास करना अनिवार्य मानता है। वस्तुतः लेखक का यह मत उचित ही प्रतीत होता है कि धर्म-दर्शन ईश्वरदर्शन की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक तथा तर्कनिष्ठ होता है। परन्तु उनकी इस मान्यता से सम्भवतः सभी दार्शनिक सहमत नहीं होंगे कि "धर्म और ईश्वर से सम्बद्ध पुराणकथाएँ हमारे संशयों को दूर कर देती हैं, हमारे नैतिक मार्गों को प्रशस्त कर देती हैं और नैतिक जीवन बिताने में हमारी सहायक बन जाती हैं।" (पृ० १६)। यद्यपि लेखक ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि नीतिशास्त्र धर्म तथा ईश्वरवाद से भिन्न एवं स्वतन्त्र है, फिर भी नैतिक आचरण के लिए धर्म को अनिवार्य मानते हुए वे कहते हैं कि "आचार-आदर्श को धर्म की शरण लेनी पड़ती है और उसे ऐसे ईश्वर की कल्पना करनी पड़ती है जिसमें सम्पूर्ण जीवन के सभी आदर्शों का पूर्णतया साकारीकरण हो।....व्यावहारिक रूप में आचार बहुत कुछ धर्म पर निर्भर रहता है और इसी बात को ध्यान में रखकर हमने कहा है कि नीति का अन्तिम लक्ष्य धर्म-प्राप्ति में पूर्ण हो जाता है।" (पृ० २५–२६) परन्तु धर्म तथा नैतिकता के सम्बन्ध में लेखक की उपर्युक्त मान्यता का औचित्य मुझे संदिग्ध ही प्रतीत होता है, क्योंकि मेरे विचार में शुभाचरण के लिए धर्म अथवा ईश्वर में आस्था रखना अनिवार्य नहीं है।

द्वितीय अध्याय में लेखक ने 'धर्म' का स्वरूप और उद्देश्य स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। वे धर्म की उन सभी परम्परागत परिभाषाओं को अस्वीकार करते हैं जिनके अनुसार धर्म के लिए ईश्वर का होना अनिवार्य माना गया है। इसी आधार पर उन्होंने जार्ज गैलोवे द्वारा दी गयी धर्म की परिभाषा को अनुचित माना है। धर्म के लिए ईश्वर को अनिवार्य मानने वाली परिभाषाओं के विरुद्ध लेखक की मुख्य आपत्ति यह है कि इनके अनुसार जैन, बौद्ध, वेदान्त आदि ऐसे धर्मों को 'धर्म' नहीं माना जा सकता जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते। परन्तु सामान्यतः इन्हें धर्म के रूप में स्वीकार किया जाता है, अतः धर्म की ऐसी परिभाषा देना आवश्यक है जिसमें ये अनीश्वरवादी धर्म भी सम्मिलित किये जा सकें। लेखक धर्म को आदर्शपूर्ण विषय के प्रति दृढ़ आस्था से उत्पन्न मानवीय अभिवृत्ति मानते हैं जिसके लिए ईश्वर में विश्वास रखना अनिवार्य नहीं है। धर्म के स्वरूप के सम्बन्ध में अपने इसी मत को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि "धर्म एक

सर्वव्यापक अभिवृत्ति है जो आदर्शपूर्ण विषय के प्रति आस्था से उत्पन्न होती है और जो उपासना या समाधि के द्वारा आत्मबन्धनात्मक व्यापार में अभिव्यक्त होती है।" (पृ० ४९) इसी परिभाषा के आधार पर लेखक ने सभी धर्मों को दो वर्गों में विभाजित किया है—एक उपासनामूलक तथा दूसरा समाधिमूलक। उपासनामूलक धर्मों के लिए ईश्वर तथा उसकी उपासना आवश्यक है, किन्तु समाधिमूलक धर्मों के लिए साधक से परे किसी दैवी सत्ता को स्वीकार नहीं किया जाता। इसी आधार पर इन दोनों प्रकार के धर्मों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लेखक ने कहा है कि "उपासनामूलक धर्म वह है जिसमें किसी आराध्य वस्तु या देवता का रहना अनिवार्य है।....उपासनामूलक के विपरीत समाधिमूलक धर्म हैं। इनमें जैन, बौद्ध तथा अद्वैतवादी वेदान्त धर्म गिने जा सकते हैं। यहाँ धार्मिक के परे अथवा स्वतन्त्र कोई आराध्य वस्तु नहीं होती।....जब यहाँ कोई आराध्य देवी-देवता नहीं होते तो इनकी उपासना भी नहीं होती और न इनके दर्शन की ही अपेक्षा की जा सकती है।" (पृ० ५१) यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रोफेसर मसीह धर्म को ज्ञान एवं तर्क का विषय न मानकर केवल आस्था का विषय ही मानते हैं, अतः उनके विचार में धर्म को सत्य अथवा असत्य कहना निरर्थक है। उनके शब्दों में, "धर्म या तो प्रत्येक व्यक्ति के लिए कल्याणकारी होते हैं या उसके लिए असहायक होते हैं।" (पृ० ५६)। इस प्रकार लेखक के मतानुसार धर्मदर्शन की दृष्टि से कोई भी धर्म सत्य या असत्य नहीं, अपितु केवल उपयुक्त अथवा अनुपयुक्त ही हो सकता है। धर्म के विषय में उनका यह मत उचित ही प्रतीत होता है, किन्तु मेरे लिए उनके इस विचार से सहमत होना कठिन है कि धर्म एक 'सर्वव्यापक' अभिवृत्ति है। इसका कारण यह है कि बहुत-से व्यक्ति ईश्वर की भाँति धर्म में भी आस्था नहीं रखते। स्वयं लेखक ने मानवतावाद तथा धर्मनिरपेक्षवाद पर विचार करते हुए इस तथ्य को स्वीकार किया है।

तीसरे अध्याय में लेखक ने धार्मिक वाक्यों की सार्थकता और सत्यता के विषय में उन सिद्धान्तों पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया है जिनका प्रतिपादन भाषा-विश्लेषण सम्बन्धी समकालीन पाश्चात्य दर्शन में किया गया है। इन सिद्धान्तों में ए० जे० एयर का सत्यापनीयता-सिद्धान्त, कार्ल पापर तथा ऐंटोनी फ्ल्यू का असत्यापनीयता-सिद्धान्त, आर० एम० हेयर का 'ब्लिक-सिद्धान्त', पाल तिलिक का प्रतीक-सिद्धान्त, आर० बी० ब्रेथवेट का धार्मिक वाक्यों को नैतिक वाक्यों के समकक्ष मानने का सिद्धान्त, डब्ल्यू० एफ० त्सूरदेग का 'सम्प्रत्यय' का सिद्धान्त आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। लेखक ने इन सभी सिद्धान्तों की विस्तारपूर्वक व्याख्या करके इनके गुण-दोषों की आलोचनात्मक दृष्टि से परीक्षा की है। प्रस्तुत समीक्षा में इन सब सिद्धान्तों तथा इनके विषय में लेखक के मत की विस्तृत चर्चा करना सम्भव नहीं है। यहाँ केवल इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि धार्मिक वाक्यों की सार्थकता एवं सत्यता के विषय में अन्य सभी सिद्धान्तों को अस्वीकार करते हुए लेखक ने पाल तिलिक के प्रतीक-सिद्धान्त का समर्थन किया है। वे तिलिक के इस मत को स्वीकार करते हैं कि धार्मिक कथन संज्ञानात्मक अथवा वास्तविक सत्ताओं के बोधक न होकर केवल प्रतीकात्मक ही होते हैं। धार्मिक वाक्यों की संज्ञानात्मकता को अस्वीकार करते हुए पुस्तक के प्राक्कथन में ही लेखक ने स्पष्ट कहा है कि

"पाश्चात्य परम्परागत ईश्वरवादियों का यह मत कि ईश्वरवादी प्रकथन संज्ञानात्मक हैं, सही नहीं माना जा सकता है।....मेरी समझ में ईश्वरवादी प्रकथन वस्तुत: अर्धमनो-वैज्ञानिक, आत्मकथात्मक, देवकथात्मक हैं।... ईश्वरवादी प्रकथन जबकि संज्ञानात्मक नहीं हैं तो उन्हें संज्ञानात्मक समझना ही भूल है और यदि वे संज्ञानात्मक न हों तो उनके प्रति उठायी गयी अनुभववादी आपत्ति भी निराधार सिद्ध होगी।" लेखक का यह निश्चित मत है कि ईश्वर, शैतान, स्वर्ग, नरक आदि को वास्तविक सत्ताएँ मानकर इनसे सम्बन्धित धार्मिक वाक्यों को संज्ञानात्मक—अर्थात् ज्ञान का विषय—समझना बहुत बड़ी भूल है। धार्मिक कथनों का मनुष्य के लिए केवल मनोवैज्ञानिक महत्त्व है, अत: उन्हें वर्णनात्मक अथवा तथ्यात्मक वाक्यों की भाँति सत्य या असत्य नहीं माना जा सकता। लेखक ने अपनी इस मान्यता को प्रस्तुत पुस्तक में अनेक स्थानों पर स्पष्ट किया है। उदाहरणार्थ धार्मिक कथनों को संज्ञानात्मक मानने वाले ईश्वरवादी पाश्चात्य दार्शनिकों के मत की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा है कि "जान हिक और उनके समान धर्म-दार्शनिकों की ग़लती है कि वे समझते हैं कि स्वर्ग-नरक, ईश्वर-शैतान इत्यादि वास्तविक सत्ताएँ हैं। ये केवल आलम्बन प्रतीक हैं जिनके द्वारा मानव अपने को पाशविकता के स्तर से उठाकर देवता बना सकता है।" (पृ० १३८)। वस्तुत: प्रोफेसर मसीह धार्मिक वाक्यों को मनुष्य की विशेष अभिवृत्ति के बोधक मानते हैं, इसी कारण उनके मतानुसार इन अभिवृत्यात्मक वाक्यों को सत्य अथवा असत्य नहीं कहा जा सकता। परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा कि वे इन वाक्यों को निरर्थक या महत्त्वहीन मानते हैं। धार्मिक भाषा की विशेष सार्थकता और उसके महत्त्व को स्वीकार करते हुए वे कहते हैं कि "धर्म-भाषा, धर्म-युक्ति और धर्म-व्यापार का काम है कि अपने में और दूसरों में धार्मिक भाव को उभारा जाय। अत:, धार्मिक प्रकथन सत्य-असत्य नहीं होते, बल्कि आत्मभावोद्रेकी अथवा परभावोद्रेकी होते हैं।" (पृ० ५०) धार्मिक वाक्यों के सम्बन्ध में लेखक का उपर्युक्त मत मुझे उचित एवं युक्तिसंगत प्रतीत होता है। हमारे दैनिक जीवन में धार्मिक प्रक्रियाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि धार्मिक भाषा का मुख्य उद्देश्य किन्हीं तथ्यों का तटस्थ वर्णन करना नहीं अपितु कुछ विशेष संवेगों को अभिव्यक्त और उत्पन्न करना ही होता है। इस दृष्टि से धार्मिक वाक्यों को मनुष्य के लिए निरर्थक अथवा महत्त्वहीन न मानकर मूलत: संवेगात्मक, आत्मकथात्मक और प्रतीकात्मक ही माना जा सकता है।

चौथे अध्याय में आदिम धर्म और पांचवें तथा छटे अध्यायों में ईश्वर सम्बन्धी कुछ प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। आदिम धर्म के अन्तर्गत लेखक ने 'टेबू', 'माना', 'टोटेम', 'सर्वात्मवाद' आदि का उल्लेख किया है। उनके अनुसार आदिम धर्म भावनाप्रधान था और "इसमें जादू, विज्ञान, कला, दर्शन इत्यादि अनेक बातें एकसाथ मिली हुई देखी जाती हैं।" (पृ० १६५)। आदिम धर्म के पश्चात् लेखक ने अनेकेश्वर-वाद, एकेश्वरवाद, द्वैतवाद, सर्वेश्वरवाद, निमित्तेश्वरवाद, विकल्पेश्वरवाद आदि ईश्वर-विषयक मुख्य सिद्धान्तों और उनकी प्रमुख कठिनाइयों पर विचार किया है। उन्होंने अनेक युक्तियों द्वारा यह भली-भाँति स्पष्ट किया है कि इनमें से किसी भी सिद्धान्त को स्वीकार

करने के फलस्वरूप बहुत-सी जटिल दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनका पूर्णतया सन्तोषजनक समाधान लगभग असम्भव है। यहाँ स्थानाभाव के कारण उपर्युक्त ईश्वरविषयक सिद्धान्तों की दार्शनिक कठिनाइयों का उल्लेख करना सम्भव नहीं है। परन्तु इस प्रसंग में मैं एक छोटी-सी भाषा-सम्बन्धी त्रुटि की ओर संकेत कर देना आवश्यक समझता हूँ। लेखक ने 'एकेश्वरवाद' के साथ-साथ इसी सिद्धान्त के लिए 'केवलैकेश्वरवाद' और 'निमित्तेश्वरवाद' के साथ-साथ इसी सिद्धान्त के लिए 'केवलनिमित्तेश्वरवाद' का प्रयोग किया है जिससे सामान्य पाठक अनावश्यक भ्रम में पड़ सकता है। वह यह समझने की भूल कर सकता है कि 'एकेश्वरवाद' तथा 'केवलैकेश्वरवाद' दो अलग-अलग सिद्धान्त हैं। इसी प्रकार वह 'निमित्तेश्वरवाद' तथा 'केवलनिमित्तेश्वरवाद' को दो पृथक्-पृथक् सिद्धान्त समझने की भूल कर सकता है। यदि लेखक इन सिद्धान्तों के लिए क्रमशः 'एकेश्वरवाद' तथा 'निमित्तेश्वरवाद' का ही प्रयोग करते तो साधारण पाठक उपर्युक्त भ्रम से बच सकता था।

सातवें से दसवें अध्याय तक चार अध्यायों में ईश्वर के अस्तित्व के परम्परागत प्रमाणों तथा उनकी मुख्य कठिनाइयों का विवेचन किया गया है। लेखक ने सत्तामूलक, सृष्टि-रचना सम्बन्धी, कारणमूलक, प्रयोजनमूलक, नैतिकता सम्बन्धी तथा धार्मिक अनुभूति-सम्बन्धी परम्परागत प्रमाणों की विस्तारपूर्वक व्याख्या करते हुए प्रत्येक प्रमाण की विशेष समस्याओं का उल्लेख किया है। इन सभी प्रमाणों तथा इनकी कठिनाइयों पर युक्तिसंगत रूप से विचार करने के पश्चात् लेखक ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इनमें से कोई भी प्रमाण वास्तव में ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित नहीं कर सकता। उनके विचार में इन सब प्रमाणों की असफलता का मूल कारण यह है कि ईश्वर कोई वास्तविक सत्ता नहीं है जिसे तर्क द्वारा प्रमाणित किया जा सके। इस दृष्टि से इन प्रमाणों को ईश्वरवादियों का निरर्थक प्रयास मानते हुए उन्होंने लिखा है कि "ईश्वरवादियों की ईश्वर सम्बन्धी युक्तियाँ ठोस तार्किक आधारों पर नहीं टिकी हुई हैं।....ईश्वर का अस्तित्व न तो प्रमाणित हो सकता है और न असत्य ही सिद्ध किया जा सकता है। अतः ईश्वर का अस्तित्व पूर्णतया असंज्ञानात्मक हो जाता है, क्योंकि जिसे न सत्य और न असत्य ठहराया जा सके उसे असंज्ञानात्मक कहा जाता है।" (पृ० २४२, २४३)। इस प्रसंग में लेखक ने सत्तामूलक प्रमाण के विरुद्ध जी० एन० फिण्डले की विशेष युक्तियों का सविस्तार उल्लेख किया है और साथ ही यह भी स्पष्ट किया है कि पापर, फ्ल्यू आदि भाषाविश्लेषणवादियों के असत्यापनीयता-सिद्धान्त के आधार पर ईश्वर-सम्बन्धी वाक्य निरर्थक सिद्ध होते हैं। वस्तुतः मुझे लेखक का यह निष्कर्ष उचित ही प्रतीत होता है कि कोई वास्तविक सत्ता न होने के कारण ईश्वर तर्क का विषय नहीं हो सकता और इसी कारण उसके अस्तित्व को प्रमाणों अथवा युक्तियों द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

ग्यारहवें अध्याय में ईश्वर के विशिष्ट गुणों तथा उनसे उत्पन्न कठिनाइयों पर और बारहवें अध्याय में अशुभ की समस्या तथा संकल्प-स्वातन्त्र्य की समस्या पर सविस्तर विचार किया गया है। ईश्वरवादियों का मत है कि ईश्वर में सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता, सर्वश्रेष्ठता, सर्वव्यापकता, व्यक्तित्वपूर्णता, नित्यता आदि गुण पाये जाते हैं और ये गुण ही

उसे भक्तों के लिए उपास्य बनाते हैं। लेखक ने युक्तिसंगत रूप से यह स्पष्ट किया है कि इनमें से किसी भी गुण को ईश्वर का वास्तविक गुण मान लेने के फलस्वरूप अनेक दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनका सन्तोषजनक समाधान लगभग असम्भव है। उनके मतानुसार इस सम्बन्ध में "हमारी असफलता का मुख्य कारण यही है कि हमने यह मान लिया था कि ये ईश्वरीय गुण किसी वास्तविक सत्ता के वर्णनात्मक गुण हैं। परन्तु न तो ईश्वर की ही अनुभवजन्य वास्तविक सत्ता माना जा सकता है और न ये उसके वर्णनात्मक गुण माने जा सकते हैं। इसका समाधान इसी में है कि हम ईश्वर की सत्ता को तथ्यात्मक न समझें और ईश्वरीय गुणों को सम्प्रत्ययात्मक प्रकथनों के आधार पर स्पष्ट करें।" (पृ० ३४३) वस्तुत: उपर्युक्त गुणों को किसी वास्तविक सत्ता के तथ्यात्मक गुण मान लेने के कारण एक और गम्भीर दार्शनिक समस्या भी उत्पन्न हो जाती है और वह है ईश्वरवाद के आधार पर विश्व में उपस्थित अशुभ की व्याख्या करने की समस्या। ईश्वरवादियों के समक्ष जटिल प्रश्न यह है कि यदि ईश्वर इस विश्व का रचयिता है और वह सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वश्रेष्ठ अथवा शुभ है तो इस संसार में अशुभ या बुराई क्यों है। लेखक ने सबल युक्तियों द्वारा यह स्पष्ट किया है कि इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए ईश्वरवादियों ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है वे सभी तार्किक दृष्टि से असन्तोषजनक हैं। संकल्प-स्वातन्त्र्य की मान्यता के आधार पर भी उपर्युक्त प्रश्न का कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया जा सकता। वस्तुत: इस सम्बन्ध में लेखक का यह निष्कर्ष उचित ही है कि ईश्वरवादी अशुभ की समस्या का समुचित एवं सन्तोषप्रद समाधान प्रस्तुत नहीं कर सके।

तेरहवें अध्याय में मनुष्य की अमरता के विचार तथा उससे उत्पन्न दार्शनिक कठिनाइयों की चर्चा की गयी है। अधिकतर ईश्वरवादी यह मानते हैं कि मृत्यु के पश्चात् भी मनुष्य का जीवन समाप्त नहीं होता। इस मान्यता को अस्वीकार करते हुए लेखक ने स्पष्ट कहा है कि "मर जाना और फिर अमर होना ये परस्पर विरोधी बातें मालूम होती हैं।.... प्रत्येक व्यक्ति के लिए मृत्यु की अवस्था में हमारा जगत् बदलता नहीं है, प्रत्युत समाप्त हो जाता है।....अत:, व्यष्टि की अमरता की आशा रखना व्यर्थ है। इसलिए, अमरता जीवन के बाद नहीं, वरन् इसी जीवन को अमर बनाने में होती है।" (पृ० ३८६, ३९०, ४००) स्पष्ट है कि प्रोफेसर मसीह ईश्वर की सत्ता की भाँति आत्मा की अमरता में भी विश्वास नहीं करते। सम्भवत: वे 'सामाजिक अमरता' को स्वीकार करते हैं जिसके अनुसार व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त भी उसके महान् विचार एवं आदर्श सदैव समाज में उपस्थित रहते हैं। इसी दृष्टि से भगवान बुद्ध, ईसा, महात्मा गाँधी आदि महापुरुष 'अमर' माने जा सकते हैं।

चौदहवें अध्याय में फ्रायड, युंग आदि मनोविज्ञानवेत्ताओं द्वारा ईश्वर के अस्तित्व में मनुष्य के विश्वास की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। लेखक ने विस्तारपूर्वक यह बताया है कि सिगमंड फ्रायड के मतानुसार ईश्वर का प्रत्यय एक भ्रम अथवा कल्पित विचार मात्र है जिसे मनुष्य ने अपनी दुर्बलता एवं असहाय अवस्था के फलस्वरूप जन्म

दिया है और उसका यह भ्रम तबतक बना रहेगा जब तक वह शिशु की भाँति अपने आप को नितांत असहाय समझता रहेगा। ईश्वर के विषय में फ्रायड के इस मत को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि "ईश्वर मानसिक कल्पना है और उसमें विश्वास रखना बचपना है। यह ईश्वरवाद तबतक रहेगा जबतक मानव अपने मानसिक इतिहास के सम्बन्ध में अज्ञान में पड़ा रहेगा।" और फिर "जबतक मानव निःसहाय एवं निर्बल रहकर अन्य शक्तियों पर निर्भर रहेगा तबतक उसे ईश्वर के अस्तित्व की आवश्यकता पड़ती रहेगी।" (पृ० ४१३) परन्तु लेखक ने ईश्वर में मनुष्य के विश्वास की मनोवैज्ञानिक व्याख्या को फ्रायड की कल्पना मात्र कहकर अस्वीकार कर दिया है। इस व्याख्या की आलोचना करते हुए वे कहते हैं कि "ईश्वरवाद की व्याख्या में वस्तुतः फ्रायड ने अपनी कल्पना को पूरी छूट दे दी है जिसके कारण उनकी सम्पूर्ण व्याख्या काल्पनिक बन गयी है।" (पृ० ४१५) परन्तु फ्रायड की व्याख्या के विरुद्ध लेखक की उपर्युक्त आपत्ति पूर्णतया उचित प्रतीत नहीं होती, क्योंकि इस व्याख्या में पर्याप्त सत्य विद्यमान है। हमारा व्यावहारिक अनुभव इस बात का साक्षी है कि मनुष्य अपनी दुर्बलता और असहाय अवस्था से विवश होकर ही ईश्वर तथा अन्य दैवी शक्तियों की कल्पना करता है और फिर इन कल्पित शक्तियों के प्रति अपना जीवन समर्पित करके इनके अवलम्ब का मिथ्या आश्वासन प्राप्त करता है। ऐसी स्थिति में फ्रायड द्वारा की गयी ईश्वर के अस्तित्व की मनोवैज्ञानिक व्याख्या को कोरी कल्पना कहकर अस्वीकार करना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

पन्द्रहवें से सत्रहवें अध्याय तक तीन अध्यायों में लेखक ने भारतीय धर्मदर्शन के मूल सिद्धान्तों का सविस्तर विवेचन किया है। हिन्दू धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि "परिनिष्ठित हिन्दू धर्म में अज्ञान, कर्मसिद्धान्त, आवागमन तथा मोक्ष की प्रधानता है और मोक्ष-प्राप्ति के लिए समाधि तथा समाधितुल्य भक्ति को मुख्य माना गया है।" (पृ० ४५१) लेखक का विचार है कि हिन्दू धर्म के उपर्युक्त चार सिद्धान्तों को 'अनार्य सिद्धान्त' कहा जा सकता है, क्योंकि ये शुद्ध रूप में ऋग्वेद में प्राप्त नहीं होते। (देखिये पृ० ४५२) यही कारण है कि लेखक ने हिन्दू धर्म को पूर्णतः 'वैदिक धर्म' नहीं माना। वे हिन्दू धर्म को अनार्यों तथा आर्यों के विचारों का संगम मानते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि "मेरी समझ में हिन्दू धर्म में आर्य-अनार्य, होम-बलि, यज्ञ, समाधि इत्यादि का सम्मिश्रण है।....वस्तुतः देखा जाय तो हिन्दू-धर्म आर्य-अनार्य, वैदिक तथा प्राग्वैदिक और अनेक धर्मों का सन्तुलित संगम है।" (पृ० ४५८, ४६२) भारतीय धर्मदर्शन के प्रसंग में लेखक ने सिंधु-सभ्यता की आधारभूत मान्यताओं, वेदों के प्रवृत्तिमार्ग, वर्णाश्रमधर्म, उपनिषदों के निवृत्तिमार्ग, गीता के समन्वयात्मक दर्शन तथा षड्दर्शनों के मूल सिद्धान्तों की विस्तारपूर्वक चर्चा की है। वे भारतीय धर्मदर्शन को मुख्यतः अनीश्वरवादी तथा समाधिमूलक मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में, "भारतीय धर्मदर्शन के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि धर्म का सार तत्त्व समाधिमूलक धर्म में ही पाया जाता है और ईश्वरवाद को भी इसी समाधिमूलक धर्म के अन्तर्गत लाया जा सकता है।" (पृ० ४६७) जैसाकि पहले ही बताया जा चुका है, लेखक ने जैन-धर्म, बौद्ध-धर्म तथा अद्वैत वेदान्त इन तीनों को 'समाधिमूलक धर्म' माना है। उनका विचार

है कि इन तीनों धर्मों में ईश्वरोपासना के लिए कोई स्थान नहीं है और इनमें 'समाधि' को विशेष महत्त्व दिया गया है जिसके अन्तर्गत ध्यान, साधना, ज्ञान, श्रद्धा आदि का समावेश होता है। यह सत्य है कि लगभग सभी विचारक जैन-धर्म तथा बौद्ध-धर्म को 'धर्म' के रूप में स्वीकार करते हैं, किन्तु शंकर के अद्वैत वेदान्त को 'धर्म' की संज्ञा देने का औचित्य कुछ संदिग्ध ही प्रतीत होता है। अधिकतर दार्शनिक अद्वैत वेदान्त को 'धर्म' न मानकर 'विशुद्ध दर्शन' के रूप में ही स्वीकार करते हैं। हाँ, कुछ विचारक लेखक के इस मत से अवश्य सहमत हैं कि भारतीय धर्मदर्शन मूलत: निरीश्वरवादी है, अत: उसमें ईश्वरोपासना के लिए कोई स्थान नहीं है। उदाहरणार्थ जैन तथा बौद्ध धर्म ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते, इसी कारण इन धर्मों में साधक के लिए ईश्वराराधना की आवश्यकता को स्वीकार नहीं किया गया। इसी प्रकार, अधिकतर भारतीय दर्शन भी ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। इसी आधार पर भारतीय दार्शनिक चिंतन को मुख्यत: निरीश्वरवादी मानते हुए लेखक ने कहा है कि "वस्तुत: भारतीय धर्मवाद में अनीश्वरवादी समाधिमूलक धर्म ही को प्रधान स्थान दिया गया है।····न तो परम सत्ता को ईश्वर के रूप में माना गया है और न जीवों के अज्ञान में पड़ने के लिए किसी ईश्वर का हाथ दिखाई देता है। अत:, अधिकांश दार्शनिक चिंतन में अज्ञान-निवारण के लिए ईश्वर की आराधना आवश्यक नहीं बतायी गयी है। प्राय: बताया गया है कि स्वयं जीव अपनी शक्ति और अदम्य प्रयास से अपनी मुक्ति प्राप्त कर सकता है। अत: भारतीय धर्मदर्शन मूलत: अनीश्वरवादी है।" (पृ० ४७६, ४८४) परन्तु भारतीय धर्मदर्शन को निरीश्वरवादी मानते हुए भी लेखक ने उसे अनध्यात्मवादी नहीं माना। इसका कारण सम्भवत: यह है कि भारतीय धर्मदर्शन में मानव-जीवन के लिए जड़वाद को कोई महत्त्व नहीं दिया गया।

अट्ठारहवें अध्याय में लेखक ने सर्वधर्मसमन्वय की समस्या पर विचार किया है। सर्वधर्मसमन्वय का अर्थ है सभी धर्मों में सौहार्द्र एवं तर्कसंगत एकता की स्थापना करना। धर्मदार्शनिकों के समक्ष जटिल प्रश्न यह है कि क्या वास्तव में ऐसा समन्वय सम्भव है। इस सम्बन्ध में एकाधिपत्य-सिद्धान्त, एक धर्मतत्त्व-सिद्धान्त आदि जिन प्रमुख सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है लेखक ने उनकी आलोचनात्मक परीक्षा की है। इन सिद्धान्तों को अस्वीकार करते हुए लेखक ने यह निष्कर्ष निकाला है कि धर्मों में परस्पर मौलिक मतभेद होने के कारण बौद्धिक अथवा तार्किक दृष्टि से सर्वधर्मसमन्वय सम्भव नहीं है। अपने इस मत को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—"यदि कहा जाय कि विभिन्न धर्म एक ही धार्मिक तत्त्व को विभिन्न नाम से पुकारते हैं तो इसका अभिप्राय होता है कि इन धर्मों में अन्तर्निहित दृष्टियाँ अवास्तविक हैं। यदि ये विभिन्न धार्मिक दृष्टियाँ अवास्तविक हों तो इनके सामंजस्य से क्या लाभ? परन्तु यदि इन विभिन्न दृष्टियों को हटा दिया जाय तो क्या कोई धर्मविशेष संरक्षित रह पाता है? अत:, यदि विभिन्न धार्मिक दृष्टियाँ सही मान ली जाएँ तो इनका तर्कसंगत समाहार नहीं हो सकता और यदि इनकी विभिन्नता को गौण तथा आकस्मिक कहकर ठुकरा दिया जाय तो सभी परम्परागत धर्मों का विलयन हो जाता है।" (पृ० ५९६) इस प्रकार लेखक के मतानुसार तार्किक अथवा बौद्धिक दृष्टि से सभी धर्मों में सौहार्द्र तथा सामंजस्य की सम्भावना बहुत कम है। मानव-

सभ्यता का इतिहास तथा हमारा व्यावहारिक अनुभव इस बात का साक्षी है कि भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायियों में ही नहीं, अपितु एक ही धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायियों में भी तीव्र धार्मिक मतभेद पाया जाता है। हिन्दू धर्म, इस्लाम तथा ईसाई धर्म इस धार्मिक संघर्ष और मतभेद के स्पष्ट उदाहरण हैं। ऐसी स्थिति में लेखक का यह प्रश्न उचित और युक्तिसंगत ही है कि "जहाँ धर्म के नाम वध र्मावलम्बियों के बीच इतना भेदभाव बना हुआ है वहाँ क्या वे एक-दूसरे की बात सुन सकते हैं?" (पृ० ५६६) वस्तुतः भावना-प्रधान होने के कारण सभी धर्म मानव-जाति में एकता और मैत्री स्थापित करने में असफल रहे हैं। परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि लेखक विभिन्न धर्मावलम्बियों में संघर्ष को अनिवार्य मानते हैं। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि यदि सभी व्यक्ति धर्म को निष्ठा अथवा आस्था का विषय मानकर एक-दूसरे की धार्मिक निष्ठा का समादर करें तो विभिन्न धर्मों के अनुयायियों में भी सौहार्द्र सम्भव है। इस आधार पर विभिन्न धर्मावलम्बियों में धार्मिक सौहार्द्र की सम्भावना को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि "यदि व्यक्ति को ज्ञात हो जाय कि धर्म निष्ठा का विषय है नकि वैज्ञानिक जानकारी का, तो वह समझ जायगा कि सभी को एक-दूसरे की निष्ठा का आदर करना चाहिए। इसलिए यदि सभी एक-दूसरे की धार्मिक निष्ठा का समादर करेंगे तो वे सर्वमुक्ति अथवा सर्वकल्याण कर पायेंगे। अतः, ज्ञान के कारण ही धार्मिक निष्ठा को संज्ञान समझकर हम आपस में झगड़ते हैं और यदि हमें निष्ठा के भावात्मक एवं अचेतन आधार का ज्ञान हो जाय तो आपस में हमारे बीच धार्मिक सद्भाव सम्भव हो सकता है। सभी धर्मों के समादर से धर्मसौहार्द्र या धर्म का संयुक्त राष्ट्र स्थापित हो सकेगा।" (पृ० ५०८) एक आदर्श के रूप में लेखक की उपर्युक्त मान्यता निश्चय ही प्रशंसनीय है, किन्तु इस बात की सम्भावना लगभग नगण्य ही है कि मानव-जाति कभी वास्तव में इस महान आदर्श के अनुरूप आचरण कर सकेगी।

उन्नीसवें अध्याय में लेखक ने मानवतावाद तथा धर्मनिरपेक्षतावाद का विवेचन किया है और बीसवें अर्थात् अन्तिम अध्याय में विश्वव्यापी धर्मदर्शन के सम्बन्ध में अपना मत प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि मानवतावाद तथा धर्मनिरपेक्षतावाद दोनों मानव-जीवन में ईश्वर एवं धर्म को कोई महत्त्व नहीं देते। इस सम्बन्ध में उन्होंने विशेषतः जान ड्यूई, कोर्लिस लामॉन्ट तथा जवाहरलाल नेहरू के निरीश्वरवादी एवं धर्मनिरपेक्ष विचारों का उल्लेख किया है। इन सभी विचारकों के मतानुसार मनुष्य को काल्पनिक दैवी-शक्तियों के मिथ्या अवलम्ब को छोड़कर स्वयं अपने परिश्रम तथा वैज्ञानिक विधि द्वारा अपना उत्थान और विकास करना चाहिए। आधुनिक वैज्ञानिक मानवतावाद की मुख्य विशेषता यह है कि वह ईश्वर तथा अन्य दैवी शक्तियों की सत्ता को अस्वीकार करके मनुष्य द्वारा मनुष्य के कल्याण को सर्वाधिक महत्त्व देता है। मानवतावाद के इसी निरीश्वरवादी तथा धर्मनिरपेक्ष स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लेखक ने कहा है कि "वर्तमान युग में मानवतावाद को 'प्रकृतिवाद' एवं 'वैज्ञानिक' संज्ञा दी गयी है जिसमें किसी भी प्रकार की अलौकिकता तथा आधिदैविकता को स्थान नहीं दिया गया है।....मानवतावाद के अनुसार मानव को अपनी शक्तियों पर भरोसा रखना चाहिए। अपनी बुद्धि के द्वारा

वैज्ञानिक विधि की मदद लेकर मानव अपनी प्रगति कर सकता है और अपनी सुषुप्त एवं अनुद्घाटित शक्तियों का विकास कर सकता है।....मानवतावाद के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास तथा अपना हित अन्य व्यक्तियों के कल्याण और परहित और सेवा-कार्य के माध्यम से प्राप्त कर सकता है।" (पृ० ६०२, ६११, ६१२) मानवतावादियों का कथन है कि यह मानवतावाद ही वर्तमान वैज्ञानिक युग में सम्पूर्ण विश्व का वास्तविक धर्म हो सकता है और उनका यह मत उचित ही प्रतीत होता है। यहाँ लेखक के विचारों में एक गम्भीर असंगति और आत्मविरोध की ओर संकेत कर देना आवश्यक है। उनका मत है कि परम्परागत भारतीय विचारधारा उपर्युक्त मानवतावाद के विपरीत है, क्योंकि "इस विचारधारा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति समाज से विमुख होकर समाधि द्वारा अपना पूर्ण विकास कर सकता है।" (पृ० ६१२) परन्तु लेखक के इस कथन का औचित्य संदिग्ध ही प्रतीत होता है। अपने उपर्युक्त मत के विपरीत पन्द्रहवें अध्याय में उन्होंने स्वयं यह स्वीकार किया है कि भारतीय विचारधारा में लोकसंग्रह अथवा लोककल्याण का बहुत महत्त्व है। इस अध्याय में लोककल्याण को आर्य-संस्कृति के अनुरूप बताते हुए वे कहते हैं कि "लोकसंग्रह का लक्ष्य आर्य-जीवन और आर्य-संस्कृति से अवश्य मेल खाता है। इसलिए कहा जा सकता है कि गीता के लोकसंग्रह का सिद्धान्त आर्य तथा वैदिक है, नकि अनार्य तथा प्राग्वैदिक।" (पृ० ४६५) इस उद्धरण से स्पष्ट है कि लेखक के मतानुसार लोककल्याण का विचार भारत की प्राचीनतम वैदिक विचारधारा के साथ अनिर्यतःवा सम्बद्ध है। इसके अतिरिक्त सत्रहवें अध्याय में बोधिसत्वों के महान आदर्श का उल्लेख करते हुए लेखक ने स्पष्ट कहा है कि इन महापुरुषों का एकमात्र लक्ष्य लोककल्याण ही होता है। बोधिसत्वों के इस महान लक्ष्य का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि "बोधिसत्व वे अरहत हैं जो अपनी निर्वाणगति को स्थगित कर लेते हैं और तबतक महा-परिनिर्वाणगति को नहीं प्राप्त करना चाहते जबतक सब जीवों को निर्वाण के प्रति अभि-मुख नहीं कर दें। इन्हें पूर्ण ज्ञान तथा प्रज्ञा पा लेने पर भी अनेक जन्म इसलिए लेने पड़ते हैं कि ये जीवों को दुःखनिवृत्ति-मार्ग बताएँ, उसका निर्देश करें और लोककल्याण में निरत रहें।" (पृ० ५४७) इन सब उदाहरणों से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि परम्परागत भारतीय विचारधारा मानवतावाद के विरुद्ध नहीं है और उसे मानवतावाद के विपरीत बताकर लेखक ने स्वयं अपने ही पूर्वकथित मत का खण्डन किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने मानवतावाद के विरुद्ध जो विशेष आपत्ति उठायी है वह भी उचित और युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती। उनका कथन है कि मानवतावाद केवल सैद्धान्तिक अथवा बौद्धिक विचारधारा है, अतः वह हृदयस्पर्शी न होने के कारण जीवन के लिए प्रेरणादायक नहीं हो सकती। इस दृष्टि से उन्होंने मानव-जीवन के लिए ईश्वरवाद को मानवतावाद की अपेक्षा अधिक उपयोगी माना है। इन दोनों सिद्धान्तों की तुलना करते हुए वे कहते हैं कि "मानवतावाद की तुलना में ईश्वरवाद की सबसे बड़ी विशेषता इसी बात में है कि ईश्वर के नाम पर वासनाओं की, स्वार्थ की और बुरी आदतों की आहुति दी जा सकती है। अतः, मानवतावाद कोरी बुद्धि और चेतनमय कल्पना पर आधृत रहने के कारण हृदयस्पर्शी नहीं रह पाया है। यही मानवतावाद की कमी है।" (पृ० ६२०) परन्तु मुझे

लेखक की यह मान्यता संदिग्ध ही प्रतीत होती है कि तर्क एवं बुद्धि पर आधारित विचार-धारा हृदयस्पर्शी और मानव-जीवन के लिए प्रेरणादायक नहीं हो सकती। सम्भवतः यह कहना अनुचित न होगा कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रसार के साथ-साथ धीरे-धीरे ईश्वरवाद तथा परम्परागत धर्म का प्रभाव कम होगा और अंततः मानवतावाद ही मनुष्य का समुचित मार्गदर्शन कर सकेगा।

२. भाषा-शैली

प्रस्तुत पुस्तक की विषयवस्तु के विवेचन के पश्चात् अब इसमें प्रयुक्त भाषा-शैली पर विचार करना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में मुझे खेदपूर्वक लिखना पड़ रहा है कि प्रस्तुत पुस्तक में विराम-चिह्नों के प्रयोग, मुद्रण, वाक्य-विन्यास तथा कुछ विशेष शब्दों के प्रयोग से सम्बन्धित बहुत-सी अशुद्धियाँ रह गयी हैं जिनके फलस्वरूप पुस्तक की गरिमा कम हो जाती है। जहाँ तक विराम-चिह्नों का सम्बन्ध है, लेखक ने अर्धविराम का अनावश्यक तथा भ्रामक प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ 'अब', 'पर', 'अतः', 'तो', 'किन्तु', 'इसलिए', 'फिर' आदि शब्दों पर प्रायः अर्धविराम लगा दिया गया है जो निश्चिय ही अनुचित और भ्रामक है। पुस्तक का कोई भी पृष्ठ पढ़कर इस अशुद्धि को देखा जा सकता है, अतः इस सम्बन्ध में किसी विशेष पृष्ठ का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। अर्धविराम के अतिरिक्त कोलन, सेमीकोलन तथा डैश का प्रयोग भी सर्वत्र समुचित प्रकार से नहीं किया गया। विराम-चिह्नों के अशुद्ध प्रयोग के साथ-साथ मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियाँ भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती हैं। उदाहरणार्थ प्राक्कथन में 'प्रश्रय' के स्थान पर 'प्राश्रय' छपा है। इसी प्रकार पृष्ठ तीन पर 'समाज' के स्थान पर 'सामाज', 'इसलिये' के स्थान पर 'इनलिये', पृष्ठ चार पर 'उसके' के स्थान पर 'उनके', पृष्ठ नौ पर 'मुक्तिप्राप्ति' के स्थान पर 'मुक्तिप्राति', पृष्ठ चालीस पर 'आस्था' के स्थान पर 'अवस्था' छपा है। इसी प्रकार की अन्य मुद्रण-सम्बन्धी अशुद्धियाँ भी पुस्तक में कहीं-कहीं देखी जा सकती हैं, किन्तु यहाँ इन सबका उल्लेख करना सम्भव नहीं है। इन अशुद्धियों के अतिरिक्त कुछ विशेष शब्दों का अशुद्ध प्रयोग भी बहुत खटकता है।

उपर्युक्त अशुद्धियों के अतिरिक्त प्रस्तुत पुस्तक में अनेक स्थानों पर वाक्यरचना सम्बन्धी कुछ अशुद्धियाँ भी विद्यमान हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित वाक्य विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं—"यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि संज्ञानात्मक युक्तियों के आधार पर कोई स्वतन्त्र सत्ता की स्थापना नहीं की जाती है, अपितु ऐसी युक्तियाँ अपनी धार्मिक अभिवृत्ति बनाए रखने और दूसरे प्रकार की अन्य धार्मिक अभिवृत्तियों को दूर करने के ही लिए काम में लाई जाती हैं।" (पृ० ५०) इस वाक्य में 'कोई' शब्द के स्थान पर 'किसी' शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिए था। इसी प्रकार 'नहीं की जाती' के पश्चात् 'है' सहायक क्रिया अनावश्यक है। लेखक ने निषेधात्मक वाक्यों में 'है' का प्रायः प्रयोग किया है जो उचित प्रतीत नहीं होता। फिर उपर्युक्त वाक्य में 'दूर करने के ही लिए' के स्थान पर यदि 'दूर करने के लिए ही' लिखा जाता तो अधिक उपयुक्त होता। इस प्रकार के वाक्यरचनादोष पुस्तक में अनेक स्थानों पर देखे जा सकते हैं। कभी-कभी किसी अनुपयुक्त शब्द के प्रयोग

के कारण सामान्य पाठक के लिए कुछ वाक्यों का अर्थ समझना ही बहुत कठिन हो जाता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित दो वाक्य प्रस्तुत हैं—"धार्मिक प्रतीक अतीत का प्रतिनिधित्व अवश्य करता है, पर यह अतीत को निरीक्षणीय वस्तुओं के तल पर नहीं ले आ सकता। अतीत कभी आनुभविक विश्व का कोई अंग नहीं बन सकता है।" (पृ० ११७) इन वाक्यों में साधारण पाठक के लिए 'अतीत' शब्द का प्रयोग बहुत ही भ्रामक है। सामान्यत: इस शब्द का प्रयोग 'भूतकाल' के अर्थ में ही किया जाता है, किन्तु लेखक ने उपर्युक्त वाक्यों में इस शब्द का प्रयोग 'विश्वातीत सत्ता' के अर्थ में किया है जो बहुत भ्रामक है। कुछ वाक्यों में अंग्रेज़ी के शब्दों का अनावश्यक प्रयोग भी बहुत खटकता है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित दो वाक्य द्रष्टव्य हैं—"इसलिए हम कह सकते हैं कि उपासना-मूलक और समाधिमूलक धर्मों के द्वारा धर्म के भिन्न-भिन्न फंक्शन हो सकते हैं।" (पृ० ६७) "परन्तु, यदि ईश्वर इस विश्व को पूर्वस्थित मैटर से उत्पन्न करता है तो ईश्वर पूर्ण न होकर अपूर्ण हो जाता है।" (पृ० २१५) इन वाक्यों में यदि 'फंक्शन' तथा 'मैटर' के स्थान पर क्रमश: 'कार्य' और 'उपादान' का प्रयोग किया जाता तो अधिक उपयुक्त होता। अनुपयुक्त स्थान पर शब्दों के प्रयोग के कारण कुछ वाक्य बहुत विचित्र लगते हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित वाक्य देखिये—फिर भी, उपनिषदों की है विशेषता इनका मोक्ष-सिद्धान्त और यह मोक्ष-सिद्धान्त वेदों के सिद्धान्त से नितान्त भिन्न है।" (पृ० ४५९) यह समझना कठिन नहीं है कि इस वाक्य में 'है' का प्रयोग उपयुक्त स्थान पर नहीं किया गया। इस प्रकार के कुछ अन्य वाक्य भी पुस्तक में यत्र-तत्र देखे जा सकते हैं। ये सब अशुद्धियाँ भाषा के सौष्ठव को निश्चय ही घटाती हैं।

परन्तु उपर्युक्त भाषा-सम्बन्धी दोषों के होते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि लेखक का हिन्दी भाषा पर अच्छा अधिकार है। इसी कारण उन्होंने उर्दू-मिश्रित 'हिन्दुस्तानी' का प्रयोग न करके संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का ही प्रयोग किया है जो मेरे विचार में श्लाध्य और अनुकरणीय है। सब मिलाकर यह पुस्तक धर्मदर्शन के छात्रों के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध हो सकती है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इस विषय पर अभीत क हिन्दी में बहुत कम पुस्तकें उपलब्ध हैं, अत: प्रस्तुत पुस्तक लिखकर लेखक ने हिन्दी भाषा की इस कमी को दूर करने का जो प्रयास किया है वह निश्चय ही प्रशंसनीय है और इसके लिए वे बधायी के पात्र हैं। मैं आशा करता हूँ कि इस पुस्तक की कमियों को इसके द्वितीय संस्करण में दूर किया जा सकेगा।

वेदप्रकाश वर्मा
दिल्ली विश्वविद्यालय

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के प्रकाशन

१.	अनुभववाद	सं. यशदेव शल्य	७.००
२.	समकालीन दार्शनिक समस्याएँ	सं. यशदेव शल्य	२०.००
३.	दार्शनिक विश्लेषण	ले. यशदेव शल्य	२०.००
४.	विषय और आत्म	ले. यशदेव शल्य	२०.००
५.	समकालीन भारतीय दर्शन	सं. के. सच्चिदानन्द मूर्ति	२०.००
६.	भारतीय मनोविज्ञान	सं. नारायण शास्त्री द्राविड़	१५.००
७.	अपोहसिद्धि, अनुवाद एवं व्याख्या	गोविन्दचन्द्र पाण्डे	३.००
८.	न्यायबिन्दु, अनुवाद एवं व्याख्या	गोविन्दचन्द्र पाण्डे	८.००
९.	नृतत्त्व तथा समाजदर्शन (८ खंड)	सं. दयाकृष्ण, गोविन्दचन्द्र पाण्डे, यशदेव शल्य	५८.००

श्री यशदेव शल्य द्वारा अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के लिए डी३१, बापूनगर जयपुर से संपादित तथा प्रकाशित एवं जयपुर मान प्रिंटर्स, बाण वालों का दरवाज़ा, चौड़ा रास्ता, जयपुर से मुद्रित ।

वर्ष २२, अंक ३, जुलाई १९७७

संपादक : यशदेव शल्य

वर्ष २२, अंक ३, जुलाई १९७९

दार्शनिक त्रैमासिक

पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ में २५–२८ सितम्बर, १९७८ को आयोजित परिषद् के २१ वें अधिवेशन की कार्यवाही

विषय सूची

वार्षिक मूल्य : १५.००

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् ।

दार्शनिक त्रैमासिक

वर्ष २२ जुलाई १९७६ अङ्क ३

अद्वैतवाद एवं विज्ञानवाद*

रमाकांत त्रिपाठी

बौद्ध दर्शन एवं उपनिषद्-दर्शन के सम्बन्ध में कई प्रकार की धारणाएँ प्रचलित हैं। एक मत यह है कि बौद्ध दर्शन या तो उपनिषद्-दर्शन के समान है या उसी परम्परा पर आश्रित है। दूसरा मत यह है कि बौद्ध दर्शन एक नितांत भिन्न परम्परा है। कुछ लोगों का कहना है कि बौद्धों के शून्यवाद ने शंकराचार्य के अद्वैतवाद को प्रभावित किया है। कुछ अन्य लोगों का मत है कि शंकर का अद्वैतवाद बौद्धों के विज्ञानवाद के समीप है। इसके साथ ही यह भी एक तथ्य है कि शंकर ने शून्यवाद और विज्ञानवाद दोनों का खण्डन किया है। विज्ञानवाद के खण्डन को लेकर श्चरबात्स्की ने तो शंकर पर यह आरोप लगाया है कि विज्ञानवाद के विरुद्ध शंकर ने जिन तर्कों का प्रयोग किया है उनको वे स्वयं नहीं मानते और वे इस बात को छिपाते हैं कि विज्ञानवाद और अद्वैतवेदांत में बहुत कम भेद है।[1] ऐसी स्थिति में अद्वैतवेदांत और विज्ञानवाद के सम्बन्ध पर विचार करना आवश्यक जान पड़ता है :

(१)

यह सत्य है कि अद्वैतवाद की तरह शून्यवाद और विज्ञानवाद दोनों निरपेक्ष तत्त्ववादी दर्शन हैं। दोनों में परमार्थ सत्य और संवृति सत्य का भेद किया गया है और दोनों यह स्वीकार करते हैं कि परमतत्त्व भाषा और विचार के परे है तथा अनुभवगम्य है। परन्तु विज्ञानवादी शून्यवाद का खण्डन करता है और कहता है कि यद्यपि बाह्यार्थ का निषेध किया

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ में २५–२८ सितम्बर, १९७६ में आयोजित २१ वें वार्षिक अधिवेशन के अध्यक्ष पद से भाषण।

१. द्रष्टव्य कंसेप्शन ऑफ बुद्धिस्ट निर्वाण, श्चरबात्स्की, भारतीय विद्या प्रकाशन, पृ० ६३, पाद टिप्पणी।

जा सकता है किन्तु चैतन्य या विज्ञान का निषेध नहीं किया जा सकता है क्योंकि सर्वशून्यता के सिद्धान्त में कोई निषेधक नहीं रह जाता है। यहाँ पर विज्ञानवाद अद्वैत वेदांत के बहुत समीप आता हुआ-सा जान पड़ता है—दोनों चैतन्य को परमतत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं और बाह्य जगत् को मिथ्या मानते हैं। फिर भी शंकराचार्य विज्ञानवाद का खण्डन करते हैं। अतः यहाँ हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि शंकराचार्य द्वारा विज्ञानवाद का खण्डन कहाँ तक यथार्थ है और कहाँ तक दोनों दर्शनों में भेद किया जा सकता है ?

संक्षेप में, शंकराचार्य ने विज्ञानवाद का खण्डन इस प्रकार किया है[२] :

(१) बाह्यार्थ का निषेध नहीं किया जा सकता क्योंकि वह प्रत्येक ज्ञान में उपलब्ध है।
(२) विज्ञान को ज्ञाता और ज्ञेय दोनों मानना ठीक नहीं है।
(३) यह कहना कि विज्ञान ही बहिर्वत् आभासित होता है, सिद्ध करता है कि बाह्य वस्तु भी है, नहीं तो 'बहिर्वत्' का कोई अर्थ ही नहीं होगा।
(४) विज्ञान की उत्पत्ति बिना बाह्यार्थ के नहीं हो सकती है।
(५) स्वप्न और जाग्रत अवस्था का भेद बाह्यार्थ को स्वीकार करने से ही हो सकता है।

इन सब तर्कों का सार यह है कि बिना बाह्यार्थ के ज्ञान नहीं हो सकता है और स्वसंवेदन का सिद्धान्त ग़लत है।

विज्ञानवादी व्यवहारतः बाह्यार्थ मानते हैं परन्तु परमार्थतः केवल विज्ञान की सत्ता मानते हैं। उनका कहना है कि बिना बाह्यार्थ के भी विज्ञान और बाह्यार्थाभास हो सकता है, जैसे स्वप्न में होता है। यहाँ पर विज्ञानवादी भूल जाते हैं कि स्वप्न में बाह्यार्थाभास के लिए जाग्रत के बाह्यार्थ अनुभव की आवश्यकता होती है। जिसे कभी बाह्यार्थ का अनुभव न हो उसे स्वप्न में भी बाह्यार्थ का अनुभव नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि स्वप्न के मिथ्यात्व का ज्ञान जाग्रत के बाह्यार्थ के अनुभव से होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जाग्रतावस्था, जिसमें बाह्यार्थ का अनुभव होता है, स्वप्न से अधिक प्रामाणिक है, नहीं तो स्वप्न का जाग्रत से बाध नहीं होता। इसी से स्वप्न के आधार पर जाग्रतावस्था के बाह्यार्थ का निषेध नहीं किया जा सकता। जाग्रत कालिक रज्जु-सर्प भ्रम में सर्प को वेदांती और विज्ञानवादी दोनों काल्पनिक या मानसिक मानते हैं परन्तु उसका बाध बाह्यार्थ रज्जु को मानने से ही हो सकता है। रज्जु को भी विज्ञान मात्र मानने से सर्प का बाध नहीं हो सकता है। व्यवहार-दशा में हमको जो ज्ञान का स्वरूप प्राप्त होता है उसी आधार पर हमको परमार्थ को समझना होगा। व्यवहार में बाह्यार्थ है और ज्ञान तज्जन्य है। इसमें हम मात्र इतना ही अर्थ निकालना चाहते हैं कि ज्ञान वस्तु-तन्त्र है, ज्ञान के लिए वस्तु आवश्यक है, यह नहीं कि बाह्य वस्तु आवश्यक है। यदि हम ज्ञान के इस व्यावहारिक रूप को लेकर न चलेंगे तो फिर हमको ज्ञान का स्वरूप कहाँ से प्राप्त होगा ? व्यवहार से यह कभी सिद्ध नहीं होता कि ज्ञान के लिए वस्तु आवश्यक नहीं है, फिर विज्ञानवादी कहाँ से यह सिद्धान्त निकालता है कि ज्ञान के लिए वस्तु आवश्यक नहीं है ?

२. ब्र. सू. शांकर भाष्य–II. ii. २८.

ज्ञान के लिए वस्तु की आवश्यकता है, इस पक्ष में कुछ अन्य तर्क भी दिये जा सकते हैं। यदि विज्ञान के लिए वस्तु आवश्यक नहीं है तो क्यों नहीं मन में आने वाले सभी विज्ञानों (उदाहरणार्थ कल्पना आदि) को भी ज्ञान माना जाता है? अर्थात् ज्ञान-रूप विज्ञान में और कल्पना-रूप विज्ञान में भेद कैसे किया जायगा? विज्ञान तो दोनों हैं। बर्कले ने संवेदन और कल्पना में केवल स्पष्टता के आधार पर भेद किया है, परन्तु यह भेद केवल मात्रा का है, इससे प्रकार का भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसी से कांट ने ज्ञान (अनुभव) और विचार (विज्ञान) में भेद किया। अनुभव बिना वस्तु के नहीं हो सकता है। हेगेल ने जब विचार और वस्तु के एक होने का ऐलान किया तो वह भी कांट के तर्क को भूल गया। विज्ञानवाद तो कम से कम व्यवहार और परमार्थ का भेद करता है परन्तु पाश्चात्य दार्शनिक तो यह भी नहीं करते जिससे उनकी बात बिल्कुल समझ में नहीं आती। यह आपत्ति कि शंकराचार्य भी जब स्वयं जगत् को मिथ्या मानते हैं तो फिर विज्ञानवादी से यह आग्रह क्यों करते हैं कि बाह्यार्थ है ही, ठीक नहीं है। व्यावहारिक जगत् में जो ज्ञान हमको उपलब्ध है उसी के आधार पर हम ज्ञान और ज्ञानाभास का भेद कर सकते हैं। यदि हम व्यवहार में प्राप्त अनुभव को लेकर नहीं चलते तो हमको ज्ञान और भ्रम का उदाहरण ही नहीं मिलेगा और तब हम ज्ञान और भ्रम के विषय में जो कुछ कहेंगे वह सर्वथा काल्पनिक होगा। पाश्चात्य दार्शनिकों का ही नहीं बल्कि विज्ञानवाद और शून्यवाद का भी यह बहुत बड़ा दोष है कि वे व्यावहारिक ज्ञान और ज्ञानाभास का विश्लेषण करके ज्ञान और ज्ञानाभास के स्वरूप को निश्चित नहीं करते। शंकराचार्य की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि वे साधारण अनुभव का विश्लेषण करके ज्ञान और भ्रम के स्वरूप का निरूपण करते हैं और व्यवहार और परमार्थ में संगति दिखाते हैं। ज्ञान जैसे व्यवहार में वस्तुतन्त्र है वैसे ही परमार्थ में भी है। विज्ञानवाद और शून्यवाद में यह संगति नहीं मिलती है। व्यवहार में जो बाधित है वह मिथ्या है, वैसे ही परमार्थ में भी जो बाधित है वह मिथ्या है और जो अबाधित है वह सत्य है। पाश्चात्य दार्शनिक, विशेष कर बुद्धिवादी लोग, अनुभव के आधार पर न चलकर केवल बौद्धिक विकल्पों के आधार पर दार्शनिक महल खड़ा करते हैं। तथाकथित अनुभववादी इस काल्पनिक सिद्धान्त को लेकर चलते हैं कि बिना अनुभव के बुद्धि कोरी पटिया है। इस सिद्धान्त के लिए वे अनुभव का आधार देने की चिन्ता नहीं करते। दर्शन में हमको साधारण अनुभव को लेकर ऊपर उठना है क्योंकि वहीं सत्यासत्य का दृष्टान्त हमको मिलता है। शंकराचार्य जगत् को मिथ्या कहते हैं परन्तु ऐसा कहते समय वे ज्ञान की वस्तुतन्त्रता को नहीं छोड़ते। वे यह दिखाते हैं कि भ्रम के लिए अधिष्ठान की आवश्यकता होती है, परमार्थतः अधिष्ठान के ज्ञान के आधार पर ही जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। विज्ञानवादी और शून्यवादी ऐसा नहीं करते।

केवल यही नहीं कि दर्शन को आनुभविक आधार प्राप्त होना चाहिए बल्कि यह भी आवश्यक है कि दर्शन ज्ञानात्मक अनुभव का विश्लेषण करे न कि किसी भी अनुभव का। इसी कारण दर्शन में भ्रम का विश्लेषण करना आवश्यक होता है क्योंकि भ्रम एक ज्ञानात्मक अनुभव है और उसके विश्लेषण से सत्य और असत्य दोनों के स्वरूप का पता

चलता है। जो बाधित है वह मिथ्या और जो अबाधित है वह सत्य। दर्शन सत्य की खोज होने के कारण ज्ञानात्मक अनुभव का ही विश्लेषण करता है। सत्य ज्ञान से ही मिलता है, इच्छा, कल्पना, वेदना आदि के अनुभव से नहीं।

ऊपर यह दिखाया गया है कि बिना वस्तु को स्वीकार किये ज्ञान और ज्ञानेतर मानसिक क्रिया का भेद नहीं किया जा सकता। अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि विज्ञान वस्तु से उत्पन्न होता है या दूसरे विज्ञान से। विज्ञानवादी का कहना है कि एक विज्ञान दूसरे विज्ञान से उत्पन्न होता है और यह क्रिया क्षण-क्षण चलती रहती है। विज्ञान के अन्तिम कारण को आलय विज्ञान कहा गया है, जो स्वयं भी एक विज्ञान ही है कोई विज्ञानेतर तत्त्व नहीं। आलय विज्ञान के अविद्या-ग्रसित होने के कारण उससे उत्पन्न विज्ञान विज्ञान-रूप में आभासित नहीं होकर बाह्यार्थ के रूप में आभासित होता है। परिनिष्पन्नावस्था में जब अविद्या का नाश हो जाता है तब केवल शुद्ध विज्ञान रह जाता है। यही परम तत्त्व है। इसमें द्वैत नहीं रहता।

विज्ञानवाद के इस सिद्धान्त में कई कठिनाइयाँ जान पड़ती हैं। एक तो यह कि हमको कोई अनुभव ऐसा नहीं है जिसमें विज्ञान ही विज्ञान को उत्पन्न करता हो। कल्पना और स्वप्न बिना बाह्यार्थ के उत्पन्न जान पड़ते हैं परन्तु विचार करके देखा जाय तो जान पड़ेगा कि कल्पना और स्वप्न में पाये जाने वाले सभी विज्ञान जाग्रत अवस्था के बाह्यार्थ से उत्पन्न विज्ञान होते हैं। विज्ञान की उत्पत्ति के विषय में एक दूसरा प्रश्न भी विचारणीय है। विज्ञान में दो अंश होते हैं—आकार और चैतन्य। प्रश्न उठता है कि दोनों उत्पन्न होते हैं या एक ही। विज्ञानवादी पूरे विज्ञान, अर्थात् चैतन्य और आकार दोनों की उत्पत्ति मानते हैं। परन्तु क्या चैतन्य को एक उत्पन्न वस्तु माना जा सकता है? यदि ऐसा है तब तो परिनिष्पन्न को भी क्षणिक और अनित्य मानना पड़ेगा, उत्पत्तिशील होने से। क्षणिकवादी बौद्ध को ऐसा मानना चाहिए, परन्तु परम तत्त्व को अनित्य मानने पर प्रश्न होगा कि परिनिष्पन्न विज्ञान का आकार क्या होता है? वह विज्ञान किस प्रकार के विज्ञान को उत्पन्न करता है? प्रत्येक विज्ञान में आकार होता है और वह अर्थ-क्रियाकारी होता है। यदि परिनिष्पन्न में आकार नहीं है और वह अर्थ-क्रियाकारी नहीं है तो वह विज्ञान नहीं कहा जा सकता। यहाँ पर बौद्ध घपले में पड़ जाते हैं और मौन की शरण लेते हैं। परन्तु कुछ विद्वान झट से परिनिष्पन्न या शुद्ध चैतन्य की तुलना वेदांत के शुद्ध चैतन्य से करने लग जाते हैं। यह एक भारी भूल जान पड़ती है। अद्वैतवेदांत भी सभी प्रकार की सृष्टि या रचना का आधार चैतन्य को मानता है परन्तु स्वयं चैतन्य को उत्पन्न या विकारवान् नहीं मानता। चैतन्य कूटस्थ है और सृष्टि केवल विवर्त मात्र है। चैतन्य परिवर्तन-शून्य है, चैतन्याश्रित अविद्या सृष्टि करती है और केवल जड़ तत्त्व की सृष्टि करती है। बर्कले ने जड़ तत्त्व का खण्डन किया और कहा कि विज्ञानों की उत्पत्ति ईश्वर करता है। परन्तु विज्ञान चैतन्येतर होने से क्या जड़ तत्त्व नहीं हो जाता? यह कठिनाई विज्ञानवाद में नहीं है क्योंकि विज्ञानवाद में विज्ञान और चैतन्य एक ही हैं। विज्ञान आकारवान् चैतन्य है।

बौद्ध विज्ञानवादी ही नहीं अपितु पाश्चात्य विज्ञानवादी भी सहोपलम्भ नियम को चट्टान के समान दृढ़ समझते हैं। उनका कहना है कि ज्ञान-निरपेक्ष वस्तु की प्राप्ति किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं की जा सकती है। वास्तव में यह सिद्ध करना कठिन ज्ञान पड़ता है कि वस्तु ज्ञान-निरपेक्ष है। वस्तु सदा ज्ञान के साथ ही प्राप्त होती है। विज्ञान वस्तु-निरपेक्ष हो सकता है परन्तु वस्तु विज्ञान-निरपेक्ष कैसे होगी? यदि यह सत्य है तो ज्ञान को वस्तुतन्त्र कहना अर्थहीन हो जायगा। वेदांती यद्यपि व्यावहारिक जगत् को मिथ्या कहता है फिर भी व्यावहारिक अवस्था में भी ज्ञान को वस्तु-तंत्र कहता है अथवा वस्तु को ज्ञान-निरपेक्ष मानता है। अतः प्रश्न है कि क्या वेदांत वस्तु को ज्ञान-निरपेक्ष सिद्ध कर सकता है? यह सत्य है कि हम सीधे ही यह नहीं कह सकते कि अमुक वस्तु अमुक ज्ञान से स्वतन्त्र है, क्योंकि यदि ज्ञान ही नहीं है तो हम 'अमुक वस्तु' कैसे कहेंगे? फिर भी वेदांत में वस्तु की अज्ञातावस्था या ज्ञान-निरपेक्षता सिद्ध करने का एक उपाय है।

वेदांती का यह कहना है कि प्रत्येक वस्तु उसका ज्ञान होने के पहले अज्ञात रहती है क्योंकि ज्ञान वस्तु-विषयक अज्ञान का निवारण करता है। ज्ञान के पहले वस्तु अज्ञान से आच्छादित रहती है, अज्ञान को हटाकर ज्ञान उसको प्रकाशित करता है। इससे सिद्ध होता है कि वस्तु ज्ञान-निरपेक्ष है। यदि ज्ञान के पहले कोई वस्तु है ही नहीं तो किस वस्तु का ज्ञान उत्पन्न होगा? ज्ञात होने के पहले वस्तु अवश्य ही अज्ञात रूप से रहनी चाहिए। यह बात रज्जु-सर्प के दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाती है। जब हम सर्प देखते हैं तो रज्जु अज्ञात रहती है और जब भ्रम का बोध होता है तब हम यही कहते हैं कि रज्जु वहाँ थी परन्तु उसका ज्ञान न होकर मुझे सर्प दिखाई पड़ा। अर्थात् रज्जु सर्पवत् दिखाई पड़ा। जो वस्तु सर्पवत् दिखाई पड़ी थी वह वास्तव में रज्जु थी। इसका अर्थ यह हुआ कि जब हमको रज्जु का ज्ञान नहीं रहता है तब भी रज्जु वहाँ रहती है, अर्थात् रज्जु ज्ञान-निरपेक्ष है। यदि ऐसा न होता तो हम यह कैसे कह सकते थे कि हमको रज्जु का अज्ञान रहा और वही सर्पवत् दिखाई पड़ी? यदि यह कहें कि ज्ञान के ही समय रज्जु की उत्पत्ति होती है तो हम यह कैसे कह सकेंगे कि रज्जु ही सर्पवत् दिखाई पड़ी? यदि अधिष्ठानरूप रज्जु का अस्तित्व अज्ञातरूप में नहीं स्वीकार किया जायगा तो किसके ज्ञान से सर्प का ज्ञान बाधित होगा? प्रो० मूर्ति ने भ्रम सम्बन्धी विज्ञानवादी दृष्टिकोण को इस प्रकार रखा है[3]: उनका कहना है कि भ्रम और उसके बाध को विज्ञानवादी दूसरे प्रकार से समझाता है। विज्ञानवादी के अनुसार बाध का स्वरूप यह नहीं है कि यह सर्प नहीं है रज्जु है, बल्कि यह है कि सर्प बाह्यार्थ नहीं है, अर्थात् सर्प की इदंता या बाह्यार्थता मिथ्या है न कि सर्प-विज्ञान। विज्ञानरूप में सर्प सत्य है, बाह्यार्थ रूप में मिथ्या। यदि विज्ञानवादी भ्रम के बाध की यही व्याख्या करता है तो हम पूछेंगे कि बाध के समय क्या हम यह कहते हैं कि यह सर्प नहीं है या यह कहते हैं कि सर्प यह नहीं है? स्पष्ट है कि हम यह कभी नहीं कहते हैं कि सर्प यह नहीं है, सदा हम यही कहते हैं कि यह सर्प नहीं है। अर्थात् हम सर्प के मिथ्यात्व का अनुभव करते हैं न कि यह के मिथ्यात्व का। इस प्रकार विज्ञानवादी का भ्रम-विश्लेषण सर्वथा कृत्रिम मालूम पड़ता है, साधारण अनुभव से सर्वथा भिन्न और दूर।

३. द सेन्ट्रल फिलासफ़ी आफ़ बौद्धिज्म, टी० आर० वी० मूर्ति, पृ० ३२३।

विज्ञानवाद के एक दूसरे सिद्धान्त को भी लेकर भ्रम उत्पन्न होता है, वह है स्वसंवेदन का सिद्धान्त। स्वसंवेदन को बहुत-से लोग वेदांत का स्वप्रकाश समझते हैं। यह एक भ्रम है। विज्ञानवादी का यह कहना है कि विज्ञान साकार होता है। अतः प्रत्येक विज्ञान स्वयं अपने को जानना है किसी बाह्य वस्तु को नहीं। इस प्रकार ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीनों एक ही में रहते हैं। विज्ञान केवल आकार नहीं है, वह चैतन्याकार है, अतः उसमें स्व-संवेदनता है। विज्ञान यदि निराकार चैतन्य होता तब भी उसमें स्वसंवेदनता नहीं होती। अतः स्वसंवेदनता के लिए विज्ञान में आकार और चैतन्य दोनों होना आवश्यक है। विज्ञानवादी का स्वसंवेदन का सिद्धान्त अद्वैत सिद्धान्त से ही नहीं बल्कि मीमांसा के सिद्धांत से भी भिन्न है। भाट्ट मीमांसा में अहं प्रत्यय प्रत्येक ज्ञान के साथ लगा रहता है। आत्मा विषय और विषयी दोनों है या जड़ बोधात्मक है। ज्ञान का स्वरूप है 'मैं घट को जानता हूँ'। ज्ञान स्वप्रकाश नहीं है, उसका ज्ञान वस्तु की प्रकटता के आधार पर अवलम्बित एक अनुमान है। आत्मा और वस्तु दोनों स्वतन्त्र हैं। प्रभाकर का मत भिन्न है। उसका कहना है कि ज्ञान उत्पन्न होने पर आत्मा और विषय दोनों का ज्ञान होता है। अर्थात् ज्ञान का रूप है त्रिपुटी ज्ञान। ये आत्मा को जड़ मानते हैं परन्तु ज्ञान को स्व-प्रकाश। कुमारिल के समान वे भी ज्ञान को बाह्यार्थजन्य मानते हैं। इस प्रकार अहं प्रत्यय के ज्ञान का सहचर होते हुए भी कुमारिल का सिद्धान्त और ज्ञान के स्व-प्रकाश होते हुए भी प्रभाकर का सिद्धान्त स्वसंवेदन सिद्धान्त से भिन्न है।

स्व-संवेदन का सिद्धान्त अद्वैत के स्वप्रकाश के सिद्धान्त से भिन्न है। सर्वप्रथम हमको यह ध्यान में रखना चाहिए कि वेदांत में स्वप्रकाश और ज्ञान में भेद किया जाता है। शुद्ध चैतन्य प्रकाशस्वरूप-ज्ञानस्वरूप नहीं क्योंकि ज्ञान अंतःकरण की एक वृत्ति है जो आती-जाती रहती है। शुद्ध चैतन्य सर्वदा समान रूप से प्रकाश है। अंतःकरण शुद्ध चैतन्य आत्मा पर अध्यस्त है। इसलिए चैतन्य के प्रकाश से प्रकाशित होकर अंतःकरण वृत्ति भी, जो जड़ है, प्रकाशित होकर वस्तु को प्रकाशित करती है। केवल चैतन्य ही स्व-प्रकाश है परन्तु अध्यस्त होने के कारण अंतःकरण वृत्ति भी चैतन्य के समान स्वप्रकाश मालूम पड़ती है। इसी से स्वप्रकाश की परिभाषा देते हुए कहा गया है—अवेद्यत्वे सति अपरोक्ष व्यवहार योग्यत्वम्। चैतन्य कभी भी विषय के समान जाना नहीं जा सकता है, इसी से उपनिषद् में कहा है—विज्ञातारं अरे केन विजानीयात्। अर्थात् चैतन्य, जो साक्षात् अपरोक्ष हैं, उसे वस्तु के समान नहीं जाना जा सकता, नहीं तो चैतन्य भी दृश्य या जड़ हो जायगा। इसी से उसे अवेद्य कहा गया है, किन्तु अवेद्य होते हुए भी वह साक्षात् अपरोक्ष है। वस्तु की अपरोक्षता सोपाधिक है, साक्षात् नहीं। स्वप्रकाश चैतन्य में विषयत्व का कोई अंश नहीं है। शुद्ध चैतन्य न विषय हो सकता है न विषयी। विषयी तो अंतःकरण होता है और वह भी इसलिए कि वह चैतन्य पर अध्यस्त है। इन बातों को ध्यान में रखने से यह स्पष्ट हो जायगा कि स्वसंवेदन का सिद्धान्त स्वप्रकाश के सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न है। स्वसंवेदन-सिद्धान्त की यह मान्यता कि ज्ञान को पर-प्रकाश की आवश्यकता नहीं है, ठीक है क्योंकि यदि ज्ञान परतः प्रकाशित है तो वह ज्ञान न होकर विषय हो जायगा और वस्तु को प्रकाशित न कर सकेगा। इस प्रकार अनवस्था प्रसंग उपस्थित हो जायगा। स्वसंवेदन के सिद्धान्त में

विज्ञान आकारवान् है अतः उसे शुद्ध चैतन्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शुद्ध चैतन्य निराकार होता है। इस प्रसंग में बौद्धों के लिए एक कठिन प्रश्न यह उठता है कि स्वसंवेदनता क्या परिकल्पित और परतन्त्र विज्ञान में ही पायी जाती है या परिनिष्पन्न में भी ? यदि परिनिष्पन्न विज्ञान भी विज्ञान है तो उसमें स्वसंवेदनता होनी चाहिए और यदि उसमें स्वसंवेदनता है तो अवश्य ही वह शुद्ध चैतन्य नहीं है। यदि परिनिष्पन्न में स्वसंवेदनता नहीं है तो वह विज्ञान नहीं कहा जा सकता।

यहाँ पर एक और प्रश्न पर विचार करके लेख का उपसंहार किया जायगा। अंग्रेज़ी का शब्द आइडियलिज़्म एक भ्रामक शब्द है। योगाचार एक प्रत्ययवादी या विज्ञानवादी दर्शन है अतः उसे आइडियलिज़्म कहा जाता है परन्तु साथ ही वेदांत को भी आइडियलिज़्म कहा जाता है। इससे भ्रम उत्पन्न होता है। अद्वैत वेदांत इस अर्थ में आइडियलिज़्म है कि उसके अनुसार अन्तिम तत्त्व चैतन्य है और जो कुछ जड़ है (केवल बाह्यार्थ ही नहीं बल्कि अंतःकरणवृत्ति और प्रत्यय भी) मिथ्या है। विचित्र बात यह है कि पाश्चात्य आइडियलिज़्म में प्रत्ययों को जड़ या मिथ्या नहीं कहा जाता। परन्तु प्रत्यय यदि दृश्य हैं तो क्यों न उनको भी जड़ कहा जाय ? दूसरी बात यह है कि अद्वैत वेदांत आइडियलिज़्म के इस सिद्धान्त को कदापि नहीं मानता कि वस्तु ज्ञानतन्त्र है। उसके अनुसार व्यवहारतः और परमार्थतः दोनों दृष्टियों से ज्ञान वस्तुतन्त्र है, वस्तु चाहे जगत् की वस्तु हो या सबका अधिष्ठान ब्रह्म। इस दृष्टि से वेदांत वस्तुवादी ठहरता है। ज्ञान वस्तुतन्त्र है यद्यपि जिसे हम ज्ञान मानते हैं वह शुद्ध रूप से ज्ञान नहीं है क्योंकि वह निरुपाधिक नहीं होता। उसमें नाम-रूप, या कांट के शब्दों में देशकाल और बुद्धि-व्यापार, मिश्रित रहता है। शुद्ध ज्ञान तो केवल ब्रह्म-ज्ञान है क्योंकि वह निरुपाधिक होता है। आत्मा या ब्रह्म साक्षात् अपरोक्ष है। उस ज्ञान पर आवरण है और उस आवरण को हटाना मात्र हमारा ध्येय होता है।

दर्शन यदि सत्य की खोज है तो उसे निरन्तर ज्ञान के स्वरूप को ध्यान में रखकर चलना होगा। ज्ञान वस्तुतन्त्र है। अद्वैत वेदांत की यह विशेषता है कि वह ज्ञान के इस स्वरूप को स्वीकार करते हुए भी चैतन्येतर या जड़ तत्त्व का निषेध करने में सफल होता है। ज्ञान को वस्तुतन्त्र स्वीकार कर लेने पर भी यह आवश्यक नहीं है कि जो साधारण ज्ञान है उसे शुद्ध ज्ञान मान लिया जाय। साधारण ज्ञान से प्राप्त ज्ञान के स्वरूप को हम ग्रहण करते हैं न कि उसकी यथार्थता को। दूसरी बात यह है कि ज्ञान को वस्तुतन्त्र बनाने के लिए यह जरूरी नहीं है कि हम बाह्यार्थ को ही स्वीकार करें। वस्तु आत्मा भी हो सकती है यद्यपि वह बिषय नहीं है, वह अविषय रूप से अपरोक्ष है। विज्ञानवाद ज्ञान के उपर्युक्त स्वरूप को मानकर नहीं चलता। इसलिए उसके द्वारा दी गई भ्रम की व्याख्या और परमतत्त्व के स्वरूप को हम सन्तोषजनक नहीं पाते। परमतत्त्व की प्राप्ति के लिए केवल बाह्यार्थ का निषेध ही पर्याप्त नहीं है विज्ञान या वृत्तियों का निषेध भी जरूरी है। बल्कि यह भी देखना आवश्यक है कि वह निषेध ज्ञान के स्वरूप को ध्यान में रखकर किया जाता है कि नहीं और जिस वृत्ति या विज्ञान से उसका निषेध होता है उसका भी निषेध होता है कि नहीं। माध्यमिक भी जगत् को मिथ्या कहता है और सभी दृष्टियों का निषेध करता है परन्तु ज्ञान के स्वरूप को ध्यान में न रखने के कारण वह सर्व शून्यम् के निष्कर्ष

पर पहुँचता है। अद्वैत वेदांत में इस बात पर बल दिया गया है कि ज्ञानात्मक निषेध के लिए अधिष्ठान की अनिवार्यता होती है। परन्तु इस अनिवार्यता को न विज्ञानवाद स्वीकार करता है और न शून्यवाद। इसी से यद्यपि ये दर्शन अद्वैतवाद के समीप पहुँचते जाते हैं फिर भी वे पूर्णरूप से या समुचित रूप से अद्वैतवादी नहीं हो पाते।

ऊपर बताये हुए अद्वैत वेदांत के ज्ञानात्मक दृष्टिकोण को दृष्टि में रखा जाय तो यह मानना पड़ेगा कि शंकराचार्य द्वारा दी गई विज्ञानवाद की आलोचना उचित है और अद्वैत वेदांत और विज्ञानवाद में समानता होते हुए भी पर्याप्त भेद है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। ज्ञान को वस्तुतन्त्र मानना आवश्यक है क्योंकि ऐसा न करने से न तो ज्ञान का स्वरूप समझ में आ सकता है, न अज्ञान का।

हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

तात्त्विक प्राथमिकता**

सुरेशचन्द्र

प्रोफ़ेसर स्ट्रासन के मतानुसार व्यक्तियों तथा भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व तात्त्विक रूप से प्राथमिक है।[1] ध्वनि, गंध और रस आदि ऐसे विशेष हैं जिनके अस्तित्त्व को तात्त्विक रूप से प्राथमिक या मौलिक नहीं कहा जा सकता। अतः इस प्रकार के सभी विशेष गौण या आश्रित हैं। स्ट्रासन ने तात्त्विक प्राथमिकता का प्रश्न विशेषों के 'अभिज्ञान' द्वारा हल करने का प्रयत्न किया है। किसी वर्ग का विशेष तत्त्वतः प्रथम या मौलिक है यदि उस वर्ग के विशेष का अभिज्ञान किसी अन्य वर्ग के विशेष पर निर्भर नहीं करता। क्योंकि व्यक्तियों तथा भौतिक वस्तुओं का अभिज्ञान किसी अन्य वर्ग के विशेषों के अभिज्ञान से स्वतन्त्र है अतः ये ऐसे विशेष हैं जो तात्त्विक आधार पर प्रथम हैं। ध्वनि, गंध तथा स्वाद आदि ऐसे विशेष हैं जिनका अभिज्ञान भौतिक वस्तुओं तथा व्यक्तियों के अभिज्ञान पर आधारित है, अतः ये ऐसे विशेष हैं जिनका अस्तित्व आश्रित है। स्ट्रासन के मतानुसार जो विशेष अभिज्ञान में आश्रित हैं वे सभी विशेष पुनरभिज्ञान में भी आश्रित हैं। ध्वनि, गंध तथा स्वाद आदि का स्वतन्त्र रूप से पुनरभिज्ञान नहीं हो सकता। इन विशेषों का पुनरभिज्ञान व्यक्तियों तथा भौतिक वस्तुओं पर आधारित है। प्रस्तुत लेख में मैंने स्ट्रासन के तात्त्विक मौलिकता सम्बन्धी इन विचारों का खण्डन करने की चेष्टा की है। मैं स्ट्रासन के इस विचार से असहमत नहीं हूँ कि 'अभिज्ञान' और 'पुनरभिज्ञान' दो ऐसे प्रत्यय हैं जिनकी सहायता से तात्त्विक मौलिकता का प्रश्न हल किया जा सकता है। मैं केवल इस विचार से असहमत हूँ कि ध्वनि, गंध तथा स्वाद आदि का अस्तित्त्व केवल गौण या आश्रित अस्तित्त्व है। मैंने प्रस्तुत लेख में यह दिखलाने की चेष्टा की है कि स्ट्रासन ने जो तर्क ध्वनियों को गौण सिद्ध करने के लिए दिये हैं वे तर्क किसी भी भौतिक वस्तु के सम्बन्ध में भी दिये जा सकते हैं।

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ में २५–२८ सितम्बर, १९७६ में आयोजित २१ वें वार्षिक अधिवेशन में तत्त्वज्ञान एवं ज्ञानमीमांसा विभाग के अध्यक्ष पद से भाषण।

* प्रस्तुत लेख मेरे एक अन्य विस्तृत लेख "स्केप्टीसिज़्म, आइडेंटिटी एण्ड इंटरप्टेड एक्ज़िस्टेंस" के अंतिम अंश पर आधारित है। उक्त लेख मेरी पुस्तक आइडेंटिटी एण्ड थाट एक्सपेरीमेंट का एक अंश है। यह पुस्तक भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला से शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली है।

१. इंडिविडुअल्स, प्रथम अध्याय।

अपने विचारों की पुष्टि हेतु स्ट्रासन ऐसे जगत् की कल्पना करते हैं जिसमें केवल ध्वनियों का अस्तित्त्व है, किसी भी अन्य वर्ग के विशेष का अस्तित्त्व नहीं—न अन्य आश्रित विशेष का और न किसी भौतिक विशेष का। ध्वनि जगत् में एक ध्वनि दूसरी ध्वनि से संख्यात्मक रूप से भिन्न हो सकती है। परन्तु क्या ध्वनि-जगत् की ध्वनियों को लेकर संख्यात्मक तादात्म्य तथा लक्षणात्मक तादात्म्य में भी भेद किया जा सकता है? कल्पना कीजिये कि किसी व्यक्ति में केवल श्रवण-शक्ति है और उस व्यक्ति की भौतिक देह नहीं है, क्योंकि भौतिक देह होने पर देश तथा काल दोनों की अवस्था माननी होगी। ध्वनि-जगत् केवल काल-जगत् है, वह जगत् दैशिकता से रहित है। ध्वनि-जगत् का व्यक्ति ध्वनियों को सुनने में सफल है, वह व्यक्ति एक के बाद दूसरी ध्वनियाँ सुन रहा है। परन्तु यह किस प्रकार की सफलता है? क्या दो भिन्न ध्वनियों में, जो दो भिन्न समयों पर सुनी गईं, संख्यात्मक तादात्म्य हो सकता है? उन ध्वनियों में लक्षणात्मक तादात्म्य हो सकता है, परन्तु क्या संख्यात्मक तादात्म्य भी हो सकता है? स्ट्रासन के मतानुसार ध्वनि-जगत् की भिन्न-भिन्न ध्वनियों में संख्यात्मक भेद सम्भव है, कि मैं इस समय वह ध्वनि नहीं सुन रहा हूँ जो मैं कुछ समय पूर्व सुन रहा था। उन ध्वनियों में लक्षणात्मक तादात्म्य हो सकता है, कि इस ध्वनि का वही लक्षण है जो ध्वनि मैंने कुछ समय पूर्व सुनी थी। परन्तु मैं यह नहीं कह सकता कि मैं इस समय वही ध्वनि (संख्यात्मक रूप से वही ध्वनि) सुन रहा हूँ जैसी कि कुछ समय पूर्व सुन रहा था। ध्वनि-जगत् की ध्वनियों में संख्यात्मक तादात्म्य होना असम्भव है।

अब हमारे वास्तविक जगत् में आयें। हमारा वास्तविक जगत् ध्वनि-जगत् से कितना भिन्न है? वास्तविक जगत् में प्रत्येक व्यक्ति के पास एक भौतिक देह है। उस देह के द्वारा वह अन्य व्यक्तियों तथा भौतिक वस्तुओं से सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। उसमें न केवल श्रवण-शक्ति है, वह स्पर्श भी कर सकता है, सूँघ भी सकता है और वस्तुओं को देखने तथा स्वाद लेने की क्षमता भी रखता है। इस वास्तविक जगत् में, स्ट्रासन के मतानुसार, दो भिन्न ध्वनियों में तादात्म्य की सम्भावना मानने में झिझक नहीं होनी चाहिये। वास्तविक जगत् की ध्वनियों के सम्बन्ध में हम लक्षणात्मक तादात्म्य तथा संख्यात्मक तादात्म्य में भेद कर सकते हैं। दो भिन्न ध्वनियों में संख्यात्मक तादात्म्य होने के लिए यह अनिवार्य है कि हम ऐसी ध्वनियों की सत्ता स्वीकार करें जिनको हम नहीं सुनते, ऐसी ध्वनियाँ जिनका किसी देश-काल में अस्तित्त्व है परन्तु उस देश-काल में किसी श्रोता का अस्तित्त्व नहीं है। ध्वनियों के संख्यात्मक तादात्म्य के लिए अनसुनी ध्वनियों की कल्पना अनिवार्य है।

यहाँ समस्या है कि अनसुनी ध्वनियों के अस्तित्व में किस आधार पर विश्वास किया जाय? स्ट्रासन हमारा ध्यान वास्तविक स्थिति की ओर आकृष्ट करते हैं: एक ढोलकी ढोल बजा रहा है। मैं दूर खड़ा उसके हाथ को ढोल पर पड़ते देख रहा हूँ। मैंने ढोल से उत्पन्न एक विशेष ध्वनि को जैसे ही सुनना आरम्भ किया कि अन्य ध्वनियाँ मेरे कानों में गूंज उठीं। जिस विशेष ध्वनि को मैंने सुनना आरम्भ किया था उस ध्वनि पर से मेरा ध्यान हट गया। अन्य ध्वनियों में वह ध्वनि डूब गई, परन्तु मैं फिर भी ढोलकी का हाथ ढोल पर पड़ते देख रहा हूँ, अतः मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि ढोलकी ने ढोल बजाना

बंद नहीं किया। अगला निष्कर्ष स्पष्ट है। यदि ढोल का बजना बंद नहीं हुआ है तो ध्वनियों का उत्पन्न होना भी बंद नहीं हुआ है; वह ध्वनि जिसे कि मैं इस समय सुनने में असमर्थ हूँ किन्तु जिसे मैंने कुछ समय पूर्व सुना था, जिन ध्वनियों में मेरी पूर्व परिचित ध्वनि डूब गई थी, वे ध्वनियाँ अब समाप्त हो गई हैं, पूर्व ध्वनि फिर से उभर आयी है, मैं उसे फिर से सुन रहा हूँ।[२]

क्या कोई भी व्यक्ति किसी ध्वनि विशेष को दुबारा सुनने में सफल होगा यदि वह व्यक्ति यह मान कर चले कि अनसुनी ध्वनि का अस्तित्त्व नहीं है। क्या ध्वनियों के पुनरभिज्ञान हेतु उनके अनसुने अस्तित्त्व से इन्कार किया जा सकता है? परन्तु अनसुनी ध्वनियों का अस्तित्त्व किस आधार पर माना जा सकता है? क्या अनसुनी ध्वनियों के अस्तित्त्व हेतु ऐसे जगत् में कोई आधार है जहाँ न ढोल हों, न ढोलकी, अर्थात् न व्यक्ति हों और न ही भौतिक वस्तुएँ? अनसुनी ध्वनियों का अस्तित्त्व, उनका पुनरभिज्ञान, स्ट्रासन के मतानुसार केवल उस जगत् में सम्भव है जिसमें भौतिक वस्तुएँ हों, जहाँ देश तथा काल दोनों स्थितियों का अस्तित्त्व हो। ध्वनियों का संख्यात्मक तादात्म्य भौतिक वस्तुओं तथा व्यक्तियों पर निर्भर है।

ध्वनि-जगत् की वास्तविक जगत् से तुलना करके स्ट्रासन ने बहुत से निष्कर्ष निकाल लिये हैं। उन सब निष्कर्षों में से दो निष्कर्ष हमारी समस्या के लिए उल्लेखनीय हैं। प्रथम निष्कर्ष है—केवल गुण अथवा लक्षण के आधार पर दो भिन्न विशेषों में संख्यात्मक तादात्म्य असम्भव है। ध्वनि-जगत् की ध्वनियों में लक्षणात्मक तादात्म्य पाया जाता है, संख्यात्मक तादात्म्य नहीं। इससे सिद्ध होता है कि लक्षण ऐसी कसौटी नहीं है जिसके आधार पर हम संख्यात्मक तादात्म्य तक पहुँच सकें। द्वितीय निष्कर्ष है—ध्वनियों का संख्यात्मक तादात्म्य अथवा उनका पुनरभिज्ञान उसी स्थिति में सम्भव है जब हम भौतिक वस्तुओं तथा व्यक्तियों का अस्तित्त्व स्वीकार कर लें। स्ट्रासन का निष्कर्ष स्पष्ट है—ध्वनियों को तात्त्विक प्राथमिकता नहीं दी जा सकती।

स्ट्रासन के प्रथम निष्कर्ष पर मैं अधिक समय व्यतीत नहीं करना चाहता। यह बात सत्य है कि केवल लक्षण वह कसौटी नहीं जिसके आधार पर हम ध्वनि-जगत् की ध्वनियों में तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित कर सकें। परन्तु स्ट्रासन ने इन ध्वनियों के तादात्म्य के लिए कोई अन्य कसौटी भी प्रस्तुत नहीं की। ध्वनि-जगत् की कल्पना एक ऐसे जगत् की कल्पना है जहाँ के विशेषों में संख्यात्मक तादात्म्य हो ही नहीं सकता। परन्तु यदि इन विशेषों को किसी भी कसौटी के अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता, कोई भी ऐसा उपाय नहीं कि दो भिन्न ध्वनियों को एक माना जा सके, तब फिर हम लक्षणा की कसौटी को भी दोष नहीं दे सकते। किसी एक कसौटी को दोष तभी दिया जा सकता है जब कोई अन्य कसौटी दोष-रहित हो। जहाँ सभी कसौटियाँ बेकार हों वहाँ किसी एक कसौटी पर आक्षेप नहीं किया जा सकता।

२. वहीं, पृष्ठ ७२-७३।

इस सन्दर्भ में केवल यह प्रश्न उठ सकता है कि लक्षण की कसौटी ध्वनि-जगत् में बेकार सिद्ध क्यों हुई ? इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि ध्वनि-जगत् में दो भिन्न ध्वनियों में लक्षणात्मक तादात्म्य है। फिर हमें संख्यात्मक तादात्म्य क्यों नहीं मिलता ? इस प्रश्न का उत्तर सीधा है। ध्वनि-जगत् ऐसा जगत् है ही नहीं जहाँ के विशेषों में संख्यात्मक तादात्म्य सम्भव हो। इस असम्भवता का कारण है ध्वनि-जगत् में विविधता का अभाव। विशेषों में तादात्म्य की सम्भावना, उनके पुनरभिज्ञान की सम्भावना, उनकी विविधता पर आधारित है। यह विचार सिद्ध करने के लिए हमें स्ट्रासन के द्वितीय निष्कर्ष की ओर जाना होगा।

स्ट्रासन के द्वितीय निष्कर्ष के विरोध में मैं एक ऐसे जगत् की कल्पना करना आवश्यक समझता हूँ जिसमें केवल एक ही प्रकार की भौतिक वस्तु का अस्तित्त्व हो। जिस प्रकार स्ट्रासन ने ध्वनि-जगत् की कल्पना की है मैं ढोल-जगत् की कल्पना करना चाहूँगा, एक ऐसा जगत् जिसमें केवल ढोल ही ढोल हों। यदि कोई दार्शनिक चाहे तो वह कोई अन्य भौतिक वस्तु ले सकता है, वह वृक्ष-जगत् अथवा काग-जगत् की कल्पना कर सकता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि उस काल्पनिक जगत् में केवल एक ही वर्ग के विशेष हों। अन्य भौतिक अथवा अभौतिक विशेषों को स्थान न दिया जाय।

ढोल-जगत्, जिसकी कल्पना मैं कर रहा हूँ, ऐसे ढोलों का जगत् है जहाँ के ढोल केवल एक ही उपादान के बने हुए हैं। हमारे वास्तविक जगत् के ढोलों को बनाने में विभिन्न प्रकार की सामग्री का प्रयोग किया जाता है, जैसे पशु की खाल, काष्ठ और रज्जु आदि। परन्तु काल्पनिक ढोल-जगत् के ढोल केवल एक ही उपादान से निर्मित हैं। यदि हम ढोलों के निर्माण-हेतु एक से अधिक उपादान का उपयोग करेंगे तब ढोल-जगत् की विशुद्धता नष्ट हो जायगी, हमारे ढोल-जगत् में एक से अधिक भौतिक वस्तुओं का पदार्पण हो जायगा। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि क्या ऐसे ढोल जो केवल एक ही उपादान से निर्मित हैं, ध्वनि उत्पन्न करने में असफल रहेंगे ? परन्तु यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि 'ध्वनि' एक आश्रित विशेष है अतः ढोल-जगत् में उसका अस्तित्त्व निषिद्ध है। एक विशुद्ध ढोल-जगत् में ध्वनि, गंध तथा स्वाद आदि किसी भी आश्रित विशेष का अस्तित्त्व निषिद्ध है। ढोल-जगत् में दिन के समय सूर्य उदय नहीं होता, न रात्रि में चाँद और तारे दिखाई देते हैं। आकाश में उड़ने वाले पक्षी और पृथ्वी पर चलने वाले कोई भी जीव-जन्तु नहीं हैं। हमारे वास्तविक जगत् के सुन्दर मनोरम दृश्य—पेड़-पौधे, नदी-नाले और पहाड़ों के दृश्य, ढोल-जगत् इन सभी दृश्यों से शून्य है। जो दृश्य विभिन्न प्रकार के विशेषों के मिश्रण से उत्पन्न होते हैं उन्हें ढोल-जगत् में स्थान नहीं। एक ढोल-प्रदेश दूसरे ढोल-प्रदेश से लक्षणात्मक रूप से भी भिन्न नहीं हो सकता क्योंकि लक्षणात्मक भेद भी आश्रित विशेषों का जन्मदाता है।

हमारे कल्पित ढोल-जगत् में दो ढोलकी प्रवेश करते हैं। ढोलकियों का प्रवेश निषिद्ध नहीं है क्योंकि स्ट्रासन के विचार से दो वर्ग के विशेष तात्त्विक रूप से मौलिक हैं—भौतिक वस्तुएँ तथा व्यक्ति। क्योंकि स्ट्रासन अनेकत्ववादी हैं अतः ढोलकियों की संख्या कम से कम दो होनी चाहिये। केवल ध्यान रहे कि इन ढोलकियों की देह का निर्माण उसी भौतिक

पदार्थ से होना चाहिए जिससे ढोलों का निर्माण हुआ है। इन ढोलकियों को श्रवण-शक्ति, स्पर्श-शक्ति, गंध-शक्ति अथवा स्वाद-शक्ति आदि देना बेकार है क्योंकि ये शक्तियाँ देने से आश्रित विशेषों के प्रवेश का भय उत्पन्न हो जाता है। किन्तु इन ढोलकियों को दृष्टि-क्षमता तो देनी ही होगी। यदि दृष्टि-क्षमता भी छीन ली जायगी तब फिर ढोलों का ज्ञान और पुनरभिज्ञान असम्भव हो जायगा। दृष्टि-क्षमता से ही प्रकाश का प्रश्न उत्पन्न हो जाता है। यदि हम सूर्य, चन्द्र अथवा बिजली के बल्ब का प्रकाश नहीं दे सकते तब किसी अन्य प्रकार का प्रकाश देना होगा। प्रकाश सभी ढोल-प्रदेशों में एक-सा ही होना चाहिये। रात और दिन का अन्तर रहने में कोई हानि नहीं क्योंकि दिन का अर्थ केवल इतना है कि प्रकाश हो रहा है।

ढोलकियों का स्थान ढोल हैं, और वे जिधर भी देखने की चेष्टा करते हैं ढोल ही ढोल देखते हैं। जिस भाँति स्ट्रासन के ध्वनि-जगत् में केवल ध्वनियाँ ही सुनाई देती हैं, अन्य कुछ नहीं, हमारे ढोल-जगत् में केवल ढोल ही दिखाई देते हैं, अन्य कुछ नहीं। हमारे ढोल-जगत् में जब रात्रि का प्रवेश होता है ढोलकी सोने चले जाते हैं। परन्तु हमारे ढोलकियों को एक रोग है—निद्रा-गमन। निद्रा अथवा निद्रा-गमन कोई ऐसे दोष नहीं कि ढोलकियों को व्यक्ति न समझा जाय। निद्रावस्था में एक ढोलकी उठकर किसी अन्य ढोल-प्रदेश में चला जाता है। प्रातः जब उसकी नींद टूटती है तब वह अपने साथी को अपने पास नहीं पाता। उसके मन में प्रश्न उठते हैं—क्या यह वही ढोल है जिस पर वह कल रात सोया था? क्या, जिन ढोलों से वह घिरा हुआ है वे वही ढोल हैं जिन्हें वह कल देख चुका था? क्या उसका बन्धु निद्रावस्था में किसी दूसरे ढोल-प्रदेश में चला गया है? ये सभी प्रश्न स्वाभाविक हैं, क्योंकि हमारे ढोलकी के पास स्वयं की देह को छोड़कर अन्य कोई भी सम्पत्ति नहीं है। जब ढोलकी एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है तब कोई पद-चिह्न अथवा किसी अन्य प्रकार का चिह्न तथा गंध आदि पीछे नहीं छोड़ जाता जिसके आधार पर उसका अपना या अपने साथी का पथ निर्धारित हो सके। पद-चिह्न अथवा गंध आदि आश्रित विशेष हैं अतः उनका अस्तित्व ढोल-जगत् की विशुद्धता नष्ट कर देगा।

हमारे ढोलकी के मन में जो संशय उत्पन्न होते हैं क्या उन संशयों का कोई समाधान भी है? क्या उसके पास कोई प्रमाण है कि वह कह सके कि वह कल रात किसी अन्य ढोल पर सोया था? क्या उसके पास कोई ऐसा मापदण्ड है जिसके आधार पर वह कह सके कि वह इस समय किसी अन्य ढोल-प्रदेश में मौजूद है? क्या ढोलकी संशय-विहीन होकर कह सकता है कि निद्रावस्था में उसने अपना पुराना स्थान छोड़ दिया है और उसका मित्र अभी भी पुराने स्थान पर ही होगा? क्या ढोलकी के पास कोई कसौटी है जिसके आधार पर वह कह सके कि जिन ढोलों को वह इस समय देख रहा है वे वही ढोल हैं अथवा अन्य, जिन्हें वह कल भी देख चुका था? परन्तु यदि हमारे ढोलकी के पास कोई भी ऐसी कसौटी, कोई भी ऐसा प्रमाण, कोई भी ऐसा मापदण्ड, नहीं है जिसकी सहायता से वह अपने संशयों का निवारण कर सके, तब उसके संशय किस स्वभाव के हैं?...स्ट्रासन के मतानुसार वे सभी संशय अवास्तविक हैं जिनका निवारण असम्भव हो।...दार्शनिक

संशयवादी जिस प्रकार के संशय व्यक्त करता है वे अवास्तविक संशय हैं, क्योंकि इन संशयों का निवारण नहीं हो सकता। क्या हमारा ढोलकी दार्शनिक है? क्या कोई संशय केवल इसी आधार पर अवास्तविक हो जायगा कि उसके निवारण का मार्ग नहीं पाया जाता?

कल्पना कीजिये कि हमारा ढोलकी अपने मित्र की खोज में निकलता है। वह किस दिशा में जाय? ढोल-जगत् दिशा-शून्य जगत् है, उसमें पूर्व, पश्चिम तथा उत्तर, दक्षिण नहीं हो सकते। ढोलकी के पास दिशा-सूचक यन्त्र भी नहीं हो सकते, क्योंकि दिशा-सूचक यन्त्र ढोल-जगत् की विशुद्धता को नष्ट कर देंगे। उसकी अवस्था उस सागर में फँसे मल्लाह की भाँति है जिसके पास न दिशा-सूचक यन्त्र है और न ही आकाश में चाँद-तारे। ऐसी स्थिति में ढोलकी किधर जाय? उसे उधर ही जाना है जहाँ उसकी नाक उसे रास्ता बतलाये। परन्तु क्या उसकी नाक यह भी बतला सकती है कि उसे अमुक ढोलों का अभिज्ञान हो चुका है और अब नवीन ढोलों का अभिज्ञान होना है? क्या ढोलकी ऐसी स्थिति में है कि उसे किसी ढोल का पुनरभिज्ञान हो सके? कल्पना कीजिये कि वह अपनी नाक की सीध पर किसी एक ढोल को केन्द्र बनाकर उस ढोल की दिशा में चल देता है। कुछ पग चलने के बाद पीछे मुड़ता है। पीछे मुड़ने से उसे उन सभी ढोलों का पुनरभिज्ञान हो जायगा जिनका कि उसे मुड़ने से पूर्व अभिज्ञान था। परन्तु इस बात का क्या प्रमाण है कि मुड़कर दोबारा उसकी नाक उसी रेखा पर आ गयी है जिस रेखा पर मुड़ने से पहले थी? यदि ढोलकी की नाक अन्य रेखा पर है तब उसकी नाक के सामने वे ढोल नहीं हो सकते जिन्हें वह पहले देख चुका है।

किसी ढोल के पुनरभिज्ञान हेतु उपर्युक्त कठिनाइयों में पड़ने की आवश्यकता नहीं है, एक सीधी विधि है। मान लीजिये कि ढोलकी एक ढोल को केन्द्र बना कर उसकी ओर देख रहा है। अब वह कुछ क्षणों के लिए नेत्र बंद कर लेता है और नेत्र फिर खोल देता है। क्योंकि समय कुछ ही क्षणों का है अतः इतने कम समय में ढोलकी के लिए अपनी नाक पर काबू पाना कठिन काम न होगा। यदि यह मान लिया जाय कि कुछ क्षणों तक कोई व्यक्ति अपनी नाक पर काबू पा सकता है तब इसमें कोई भी संदेह नहीं रह जाता कि ढोलकी को एक ढोल का पुनरभिज्ञान हो गया है। वह इस समय वही ढोल देख रहा है जिसे कुछ समय पूर्व देख चुका था।

परन्तु इस आँख-मिचौनी के खेल का क्या उपयोग? क्या आँख-मिचौनी का खेल यह सिद्ध कर सकता है कि ढोलकी इस समय जो ढोल देख रहा है उस ढोल का पहले देखे ढोल से संख्यात्मक तादात्म्य है? दो भिन्न ढोलों में संख्यात्मक तादात्म्य तभी सम्भव हो सकता है जबकि उनका अस्तित्त्व एक ही देश-काल में हो। जो ढोल इस समय देखा जा रहा है उसकी एक देश-काल-अवस्था है, जो ढोल पहले देखा जा चुका है उसकी दूसरी देश-काल-अवस्था है। यदि ये दो भिन्न देश-काल-अवस्थाएँ एक ही बृहद् देश-काल की अवस्थाएँ नहीं हैं तब फिर जो ढोल एक देश-काल-अवस्था में देखा गया वह उस ढोल से संख्यात्मक तादात्म्य नहीं रखता जिसे किसी अन्य देश-काल-अवस्था में देखा गया था।

निष्कर्ष स्पष्ट है—ढोलकी किसी ढोल के सम्बन्ध में संख्यात्मक तादात्म्य की सम्भावना इसी आधार पर कायम कर सकता है कि उसके ढोल-जगत् के ढोल एक ही बृहत् देश-काल के सूत्र में बंधे हुए हैं। परन्तु ढोलकी यह किस आधार पर मान सकता है कि उसके ढोल-जगत् के ढोल एक ही देश-काल के अंग हैं ? यह मानने के लिए उसे कुछ (सभी नहीं) ढोलों के पुनरभिज्ञान की सम्भावना माननी होगी। स्ट्रासन के मतानुसार, यदि किसी जगत् को किसी भी भौतिक वस्तु का पुनरभिज्ञान होना असम्भव है तब फिर वह जगत् ऐसी वस्तुओं से नहीं बना जिसे एक ही बृहत् देश-काल-जगत् माना जाय।[3] निष्कर्ष स्पष्ट है—यदि ढोल-जगत् के ढोलों में कोई भी ऐसे ढोल नहीं हैं जिनका पुनरभिज्ञान हो सके तब फिर ढोल-जगत् के भिन्न-भिन्न ढोलों को एक ही बृहत् देश-काल के सूत्र में नहीं बाँधा जा सकता। परन्तु किसी ढोल का पुनरभिज्ञान उसी अवस्था में हो सकता है जबकि यह मान लिया जाय कि ढोल-जगत् के ढोल एक ही बृहत् देश-काल के अंग हैं। यहाँ स्पष्ट रूप से दुश्चक्र उत्पन्न हो जाता है। पुनरभिज्ञान की सम्भावना एक बृहत् देश-काल-अवस्था पर आधारित है। परन्तु बृहत् देश-काल-अवस्था स्वयं ही पुनरभिज्ञान की सम्भावना पर आधारित है।

प्रश्न यह है कि ढोलकी किस प्रकार भिन्न ढोलों को एक क्रम-बद्ध देश-काल द्वारा एकीकृत जगत् में बाँधने में सफल होगा ? मान लें कि ढोलकी को किसी एक ढोल का सीधे प्रत्यक्ष से अभिज्ञान हो जाता है। वह उस ढोल को केन्द्र-बिन्दु बनाकर अन्य ढोलों को एकीकृत करने की चेष्टा करता है, अन्य ढोलों को उसी देश-काल के सूत्र में बाँधने की चेष्टा करता है जिस देश-काल का एक अंग केन्द्र-बिन्दु है। परन्तु वह अन्य ढोलों को केन्द्र-बिन्दु ढोल से किस भाँति सम्बन्धित करेगा ? ढोल-जगत् में वे साधन उपलब्ध नहीं हैं जो ऐसे कार्यों के लिए हमारे वास्तविक जगत् में उपलब्ध हैं। मान लिया जाय कि ढोलकी ऐसे प्रत्ययों का उपयोग कर सकता है जैसे कि 'वाम पक्ष' तथा 'दक्षिण पक्ष'। ढोलकी अपने दृष्टि-क्षेत्र में कुछ ढोलों को केन्द्र-बिन्दु-ढोल के वाम-पक्ष में पाता है और अन्य ढोलों को दक्षिण पक्ष में। परन्तु इसी विधि में दोष है, क्योंकि पलक झपकते ही पुराने केन्द्र-बिन्दु के बदल जाने की सम्भावना है। ढोलों को एक क्रम-बद्ध एकीकृत जगत् में लाने के लिये केन्द्र-बिन्दु का स्थायी होना आवश्यक है। यदि समय-समय पर नवीन केन्द्र-बिन्दु बनते रहें तब फिर ढोलकी का उद्देश्य विफल हो जायगा।

मानलें कि ढोलकी एक ढोल पर 'तीर' का निशान बना देता है अथवा कुछ ढोलों को एकत्रित करके उनका 'स्तूप' बना देता है। इस तीर अथवा स्तूप के सहारे वह एक स्थायी केन्द्र-बिन्दु की रचना करता है। जब एक स्थायी केन्द्र-बिन्दु की रचना हो गई तब अन्य ढोलों को स्थायी केन्द्र-बिन्दु से सम्बन्धित करने में कोई कठिनाई नहीं रह जाती। परन्तु केन्द्र-बिन्दु को स्थायी बनाने की ऐसी कोई भी प्रक्रिया ढोल-जगत् की विशुद्धता नष्ट कर देगी। ढोल-जगत् में किसी भी तीर, स्तूप आदि का प्रवेश निषिद्ध है क्योंकि ये सब विशेष आश्रित या गौण हैं।

३. वहीं, पृष्ठ–३५।

ढोलकी ढोलों को एक क्रम-बद्ध जगत् में लाने में असफल क्यों है ? वह एक ऐसे जगत् की रचना क्यों नहीं कर पाता जिसके ढोल एक ही देश-काल के अंग हों ? ढोलों के पुनरभिज्ञान-हेतु उसके पास साधन क्यों उपलब्ध नहीं हैं ? क्या वह इस कारण असफल है कि ढोल-जगत् में उसका अस्तित्त्व राबिन्सन क्रूसो के अस्तित्त्व की तरह है ? वह अपने-आप को अकेला पाता है। परन्तु ढोलकी की असफलता का कारण यह नहीं है कि वह ढोल-जगत् में राबिन्सन क्रूसो की भाँति असहाय है। कारण यह है कि ढोलकी का ढोल-जगत् राबिन्सन क्रूसो के जगत् से भिन्न स्वभाव का है। राबिन्सन क्रूसो का जगत् हमारा वास्तविक जगत् है जहाँ विशेषों की विविधता है। ढोलों का पुनरभिज्ञान केवल इसीलिये नहीं हो पाता क्योंकि ढोल-जगत् में विशेषों की विविधता नहीं है। यदि हम ढोल-जगत् में अन्य वर्ग के विशेषों को स्थान दे दें तब फिर ढोलों का पुनरभिज्ञान सम्भव हो जायगा। हमारे वास्तविक जगत् में ढोलों का पुनरभिज्ञान सम्भव है, क्योंकि वास्तविक जगत् में विशेषों की विविधता है, इस जगत् में केवल ढोल ही ढोल नहीं हैं। किन्तु हमारे वास्तविक जगत् में ढोलों का पुनरभिज्ञान सम्भव होने का यह तात्पर्य नहीं कि विशुद्ध ढोल-जगत् में भी उनका पुनरभिज्ञान सम्भव हो जायगा।

अब स्ट्रासन के ध्वनि-जगत् में आ जाइये। क्या ध्वनियों से सम्बन्धित पुनरभिज्ञान की कठिनाइयाँ केवल इसी कारण नहीं हैं कि ध्वनि-जगत् विशेषों की विविधता से शून्य है ? ध्वनि-जगत् में कुछ अन्य गौण कहे जाने वाले विशेषों का प्रवेश करके देखिये। कल्पना कीजिये कि ध्वनि-जगत् में गंध तथा स्वाद आदि भी हैं। ध्वनि-जगत् का व्यक्ति न केवल श्रवण-शक्ति रखता है, उसमें सूँघने तथा स्वाद की भी क्षमता है। परन्तु यदि हम ध्वनि-जगत् में गंध तथा स्वाद आदि का प्रवेश भी कर देते हैं तब स्ट्रासन की ध्वनि-सम्बन्धी युक्तियाँ बेकार सिद्ध होंगी। कल्पना कीजिये कि मैंने एक ध्वनि को सुनना आरम्भ कर दिया है। कुछ क्षणों के बाद ही एक मोहक गंध ने मुझे आकर्षित कर लिया। गंध का आकर्षण मुझे कुछ क्षणों के लिए ध्वनि से अलग कर देता है। परन्तु जैसे ही गंध का आकर्षण कम होता है मैं वही ध्वनि फिर से सुनने लगता हूँ। क्या मैं इस स्थिति में नहीं हूँ कि कह सकूँ कि मैं इस समय वही ध्वनि सुन रहा हूँ जिसे पहले सुन चुका था ?

ध्वनियों के पुनरभिज्ञान के सम्बन्ध में दो बातें द्रष्टव्य हैं। पहली बात, दोनों ध्वनियों में—वह जो गंध के आकर्षण से पूर्व सुनी गई और वह जो गंध के आकर्षण के बाद सुनी गई—लक्षणात्मक तादात्म्य है। दूसरी बात, ध्वनि के सुनने में विघ्न अन्य ध्वनियों ने नहीं डाला, उस विघ्न का कारण गंध है। यदि उक्त दो ध्वनियों में लक्षणात्मक तादात्म्य नहीं होता, अथवा किसी ध्वनि के सुनने में अन्य ध्वनियाँ बाधाएँ डालतीं, तब मेरे पास ऐसा आधार नहीं रह जाता कि कह सकूँ कि मैं अब वही ध्वनि सुन रहा हूँ जिसे पहले भी सुन चुका था। क्योंकि ध्वनि सुनने में बाधा गंध द्वारा उत्पन्न हुई है अतः मैं ऐसी स्थिति में हूँ कि कह सकूँ 'यदि यह गंध बाधा नहीं डालती तब मैं उसी ध्वनि को इस समय भी सुनता रहता'। अतः जब मैंने फिर से ध्वनि सुनी तब मैं इस स्थिति में हूँ कि कह सकूँ "इस समय मैं वही ध्वनि सुन रहा हूँ जिसे मैंने कुछ समय पूर्व सुनना आरम्भ कर दिया था।" स्ट्रासन का यह विचार सत्य है कि एक ध्वनि को सुनने में यदि बाधा अन्य ध्वनियाँ

डालती हैं तब फिर हम ध्वनियों के लक्षणात्मक तादात्म्य से ऊपर नहीं उठ सकते। ध्वनि-जगत् में किसी ध्वनि को सुनने में बाधा केवल अन्य ध्वनियां ही उत्पन्न कर सकती हैं, अतः ध्वनि-जगत् की ध्वनियों का पुनरभिज्ञान असम्भव है। परन्तु यदि किसी ध्वनि के सुनने में बाधा गंध द्वारा उत्पन्न होती है तब स्थिति बदल जाती है। क्या ध्वनि सुनने में गंध बाधा उत्पन्न नहीं कर सकती ?

स्ट्रासन के मतानुसार, ध्वनियों का पुनरभिज्ञान अनिवार्य रूप से भौतिक वस्तुओं पर आधारित है। केवल ऐसे जगत् में, जहाँ भौतिक वस्तुओं का अस्तित्त्व है, हम 'अनसुनी ध्वनियों' की कल्पना कर सकते हैं, और जब तक अनसुनी ध्वनियों की कल्पना नहीं हो सकती ध्वनियों का पुनरभिज्ञान भी नहीं हो सकता। परन्तु ध्वनियों के पुनरभिज्ञान हेतु भौतिक वस्तुओं का अस्तित्त्व अनिवार्य नहीं है। किसी विशेष के पुनरभिज्ञान हेतु केवल उस विशेष से सम्बन्धित 'बाधा' का विश्लेषण आवश्यक है। पुनरभिज्ञान की सम्भावना बाधा की विशेषता पर निर्भर है। हम किसी ध्वनि के पुनरभिज्ञान हेतु गंध को आधार बना लेते हैं। इसी प्रकार गंध के पुनरभिज्ञान-हेतु ध्वनि को आधार बना लेते हैं। कल्पना कीजिये : मुझे एक मोहक गंध आकृष्ट करती है। जैसे ही मेरा ध्यान गंध की ओर जाता है, कोई ध्वनि बाधा डाल देती है। ध्वनि का आकर्षण समाप्त होते ही मैं फिर से वही गंध सूँघने लगता हूँ। यहाँ गंध सूँघने में बाधा अन्य गंधों ने नहीं डाली, यह बाधा ध्वनि ने डाली है। यही विश्लेषण स्वाद पर भी लागू होता है। मैं स्वाद ले रहा हूँ। परन्तु कुछ क्षणों के लिए ध्वनि अथवा गंध मेरे स्वाद में बाधा डाल देती है। जैसे ही बाधक आकर्षण समाप्त हुआ मैं फिर से वही स्वाद लेने लगता हूँ।

स्ट्रासन के मतानुसार, 'अभिज्ञान' और 'पुनरभिज्ञान' दो ऐसे प्रत्यय हैं जिनके आधार पर मैं ऐसे जगत् की रचना कर सकता हूँ जिसके विशेष एक ही क्रम में बंधे हुए हैं। जब तक भौतिक वस्तुओं का अस्तित्त्व नहीं माना जाता ऐसा जगत् असम्भव है जिसके विशेषों का पुनरभिज्ञान हो सके। स्ट्रासन ने ध्वनि-जगत् की रचना यह दिखलाने के लिए की कि जिस जगत् में भौतिक वस्तुएँ नहीं वहाँ के विशेषों का पुनरभिज्ञान सम्भव नहीं। वे निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि भौतिक वस्तुओं की तात्त्विक मौलिकता है, ध्वनियाँ केवल आश्रित विशेष हैं। परन्तु जो युक्तियाँ ध्वनि-जगत् पर लागू होती हैं वे ही ढोल-जगत्, वृक्ष-जगत् अथवा काग-जगत् पर भी लागू होती हैं। ढोल, वृक्ष तथा काग आदि भौतिक वस्तुएँ हैं। क्या ढोल-जगत् के ढोल केवल आश्रित विशेष हैं क्योंकि उनका पुनरभिज्ञान असम्भव है ? क्या वृक्ष-जगत् के वृक्ष केवल आश्रित विशेष हैं क्योंकि उनका पुनरभिज्ञान असम्भव है ? किसी विशेष का हमारे वास्तविक जगत् में पुनरभिज्ञान सम्भव होने से यह सिद्ध नहीं होता कि उसका पुनरभिज्ञान सभी संभाव्य जगतों में भी सम्भव है।

यह सत्य है कि विशुद्ध ध्वनि-जगत् में पुनरभिज्ञान का कोई भी उपयोग नहीं। परन्तु एक ऐसे जगत् की रचना सम्भव है जिस जगत् में एक भी भौतिक वस्तु का अस्तित्त्व नहीं, फिर भी पुनरभिज्ञान सम्भव है। ध्वनि, गंध तथा स्वाद आदि को एकत्रित करके एक ऐसे जगत् की रचना की जा सकती है जिसमें अभिज्ञान तथा पुनरभिज्ञान दोनों ही प्रत्ययों का उपयोग होगा। क्या ऐसे जगत् की रचना यह सिद्ध नहीं कर देती कि ध्वनियाँ, गंध और

स्वाद आदि केवल आश्रित विशेष नहीं हैं ? ये सभी विशेषों में तात्त्विक रूप से मौलिक हैं ? स्ट्रासन की जो युक्तियों ध्वनियों, गंधों और स्वादों को आश्रित सिद्ध करती हैं वे ही ढोलों, वृक्षों तथा पक्षियों को भी आश्रित सिद्ध करने में प्रयुक्त की जा सकती हैं ।

केवल एक बर्ग के विशेषों द्वारा जिस जगत् की रचना की जायगी (चाहे वह वर्ग भौतिक विशेषों का हो अथवा अभौति विशेषों का) उस जगत् के विशेषों का पुनरभिज्ञान असम्भव-सा लगता है ।

शब्दावली

तात्त्विक मौलिकता	—	Ontological Priority
मौलिक विशेष	—	Primary or Basic Particular
व्युत्पादित विशेष	—	Derivative or Secondary Particulars
अभिज्ञान	—	Identification
पुनरभिज्ञान	—	Reidentification
प्रत्यय	—	Concept
लक्षणात्मक तादात्म्य	—	Qualitative Identity
सांख्यात्मक तादात्म्य	—	Numerical Identity
निद्रा-गमन	—	Sleep-Walking
केन्द्र-बिन्दु	—	Point of Reference
दृष्टि-क्षेत्र	—	Visual Field

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला

तर्क के वाक्यों का एक विश्लेषण*

विजयकुमार भारद्वाज

न्याय के प्रमाण-शास्त्र में तर्क की भूमिका का व्याप्तिग्रह के उपायों में विशेष महत्त्व है। नव्यायिकों ने इस धारणा को भिन्न-भिन्न ढंग से समझने का प्रयत्न किया है। यह बात प्राचीन न्याय और नव्य न्याय दोनों पर लागू होती है। न्याय सूत्रकार से लेकर बीसवीं शताब्दी में सुरेन्द्र बारलिंगे तक के न्याय के इतिहास के अनुशीलन से तर्क के विश्लेषण के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें प्रधान रूप से सामने आती हैं :—

(१) तर्क के उदाहरणों के विषय में यदि कोई मतभेद है तो वह नगण्य के बराबर है। जो उदाहरण दिये गये हैं वे इस प्रकार के हैं :—

(क–१) 'यदि निर्दिष्ट स्थल पर आग (जो आँखों से ओझल है) नहीं होती, तो वहाँ धुआँ भी नहीं होता।'

(क–२) 'यदि यहाँ घड़ा होता, तो वह (भूतल की तरह) दिखाई भी देता।'

(२) जहाँ भी तर्क का लक्षण, उदाहरण, अथवा विश्लेषण दिया गया है वह साधारणतया व्याप्ति अथवा व्याप्तिग्रह के प्रसंग में ही आया है। और

(३) इसी प्रसंग में तर्क की भूमिका का विवरण मिलता है। तर्क को एक ओर विपक्षबाधक कहा गया है और दूसरी ओर व्यभिचार-शंका के अपनयनार्थ उसका प्रयोग किया गया है। स्पष्ट है कि तर्क के ये दोनों व्यापार अलग-अलग प्रकार के हैं, यद्यपि इन दोनों में कुछ-न-कुछ सम्बन्ध अवश्य सम्भव है। उदाहरणतः विपक्षी अपनी बात और न्याय का उद्घाटन व्यभिचार शंका से कर सकता है। तर्क की इन दोनों भूमिकाओं में जो भी सम्बन्ध हो वह मेरे विचार में केवल तर्कशास्त्रीय अर्थात् तार्किक सम्बन्ध नहीं होगा।

(४) यदि तर्क विपक्षबाधक है और व्यभिचार-शंका के अपनयनार्थ इसका प्रयोग किया जाता है तो स्पष्ट है कि इसका ज्ञानात्मक होना अनिवार्य है। कदाचित् इसी आधार पर तर्क को सम्भावनात्मक ज्ञान विशेष कहा गया है। यदि प्रमा और ज्ञान में भेद किया जाय तथा प्रमा को ज्ञान का एक प्रकार माना जाय तो तर्क प्रमात्मक है अथवा नहीं है, इस प्रश्न को खुला नहीं रखा जा सकता,

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ में २५–२८ सितम्बर, १९७६ में आयोजित २१ वें वार्षिक अधिवेशन में तर्क एवं वैज्ञानिक पद्धति विभाग के अध्यक्ष पद से भाषण।

क्योंकि उस स्थिति में तर्क की प्रमात्मकता के निषेध से उसकी ज्ञानात्मकता का निषेध फलित नहीं होता।

इस लेख में मैं न्याय में उपलब्ध तर्क की धारणा पर विचार करना चाहूँगा। इस सम्बन्ध में पहले मैं उसके स्वरूप का विश्लेषण करूँगा और तत्पश्चात् प्रमाणशास्त्र में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका की व्याख्या करूँगा।

ऊपर दिये गए तर्क के उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि तर्क का आकार कुछ इस प्रकार के वाक्य के आकार की तरह है :—

(क) 'यदि धुआँ वह्निव्यभिचारी होता, तो वह वह्निजन्य भी नहीं होता।' व्याकरण की दृष्टि से यह वाक्य दो वाक्यों से बना है जिन्हें 'यदि' और 'तो' के सम्बन्ध से जोड़ा गया है। प्रश्न उठता है कि इस प्रकार के वाक्य में 'यदि'-वाक्य का 'तो'-वाक्य से क्या सम्बन्ध है? यह उल्लेखनीय है कि 'यदि-तो' के सम्बन्ध से जुड़े वाक्य अनेक प्रकार के हो सकते हैं। उन सभी प्रकार के 'यदि-तो' वाक्यों का विश्लेषण करना इस लेख के बाहर की बात है। तथापि मैं यहाँ 'यदि-तो' वाक्यों के तीन प्रकारों का उल्लेख करना चाहता हूँ, क्योंकि अनेकानेक तर्क-शास्त्रियों ने तर्क के आकार वाले वाक्यों को दो अन्य प्रकार के यदि—तो वाक्यों से उलझा दिया है। मेरा दावा है कि तर्क के आकार वाले यदि-तो वाक्य अपने आप में अलग प्रकार के वाक्य हैं और उन्हें किसी अन्य प्रकार के यदि-तो वाक्यों से व्यामिश्रित कर देना एक भूल है। तर्क वाक्यों का अपना स्वरूप किस प्रकार से लक्षित किया जाय यह विश्लेषण की प्रक्रिया के साथ-साथ स्पष्ट हो जायेगा।

कुछ 'यदि-तो' वाक्यों को उचित रूप से सत्यव्यापारात्मक कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ इस वाक्य को ही लीजिये :

(ख) 'यदि इस स्थल पर धुआँ है तो आग भी है।'
सत्यव्यापारात्मक दृष्टि से यह वाक्य इस वाक्य के समतुल्य है

(ग) 'या तो इस स्थल पर धुआँ नहीं है अथवा यहाँ आग है।'
इस वाक्य के सत्य होने के लिये यह पर्याप्त है कि

(घ) 'इस स्थल पर धुआँ है'
यह वाक्य असत्य हो, अथवा

(ङ) 'इस स्थल पर आग है'
यह वाक्य सत्य हो।। इन दोनों शर्तों में से किसी एक शर्त के पूरा होने की स्थिति में (ख) वाक्य सत्य माना जायगा। अब यदि यह कहा जाय कि ($क_3$) वाक्य उस प्रकार के 'यदि-तो' वाक्यों में से है जो सच्चे रूप से सत्य-व्यापारात्मक वाक्य हैं तो ($क_3$) वाक्य उस स्थिति में भी सत्य होगा जब या तो

(च) 'धुआँ वह्निव्यभिचारी है'
यह वाक्य असत्य हो, अथवा

(छ) 'धुआँ वह्निजन्य नहीं है'
यह वाक्य सत्य हो। स्पष्ट है कि तर्क के ($क_3$) वाक्य को पेश करने वाले व्यक्ति को यह कदापि अभिप्रेत नहीं है कि (च) के असत्य होने अथवा (छ) के सत्य होने की स्थिति में ($क_3$) वाक्य को सत्य माना जाय। वह तो ($क_3$) वाक्य में उपलब्ध 'यदि' और 'तो' के सम्बन्ध को सत्यव्यापारात्मक आपादन (मेटीरिअल इम्प्लीकेशन) के सम्बन्ध से कहीं अधिक गहरा सम्बन्ध मानता है। उसके विचार में, और उसका यह कहना उचित भी जान पड़ता है कि,

(ज) 'यह असत्य है कि (च) सत्य है किन्तु (छ) सत्य नहीं है।'
यह वाक्य ($क_3$) वाक्य से निगमित होता है, परन्तु उसका उल्टा नहीं। हमारे मित्र को यह मानने की आवश्यकता नहीं कि तर्क के ($क_3$) वाक्य में (च) और (छ) उपवाक्यों में जो सम्बन्ध है वह विश्लेषणात्मक सम्बन्ध है। उदाहरणतः इस वाक्य में

(झ) 'यदि वह लाल है तो वह रंगीन भी है'
'यदि' और 'तो' उपवाक्यों में जो सम्बन्ध है वह विश्लेषणात्मक सम्बन्ध है। इस प्रकार की मान्यता रखने वाले हमारे मित्र की धारणा उचित ही जान पड़ती है, क्योंकि ($क_3$) वाक्य की सत्यता का निर्धारण केवल शब्दार्थ को समझने और तार्किक नियमों को लागू करने मात्र से ही नहीं होता; उसकी सत्यता को जानने के लिए तथ्यों के अवलोकन की आवश्यकता रहती है।

($क_3$) के अतिरिक्त एक अन्य वाक्य को लीजिये :

(ञ) 'यदि धुआँ वह्निव्यभिचारी होता तो वह वह्निजन्य भी होता'
मान लें कि ($क_3$) और (ञ) दोनों ही सत्यव्यापारात्मक 'यदि-तो' प्रकार के वाक्य हैं। उस स्थिति में ($क_3$) और (ञ) ये दोनों वाक्य तर्कतः संगत होंगे। इसके विपरीत, जो व्यक्ति तर्क का ($क_3$) वाक्य पेश करता है उसे (ञ) वाक्य कदापि सत्य स्वीकार नहीं होगा। उसकी दृष्टि में ($क_3$) और (ञ) वाक्यों का तर्कतः संगत होना तो क्या वे तो परस्पर विरोधी हैं। यदि ($क_3$) सत्य है तो (ञ) बहिष्कृत हो जाता है और यदि (ञ) सत्य है तो ($क_3$) सत्य नहीं हो सकता। इन युक्तियों के आधार पर यह बात सिद्ध होती है कि तर्क के ($क_3$) प्रकार के वाक्यों को यदि-तो के सत्य-व्यापारात्मक वाक्यों के साथ सम्मिश्रित करना एक भूल है।

कभी-कभी तर्क के ($क_3$) प्रकार के वाक्यों को व्याप्ति-वाक्यों के समतुल्य माना गया है। व्याप्ति वाक्यों का आकार कुछ इस प्रकार का होता है :

(त) 'जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ आग भी है',
उदाहरणतः रसोईघर में।

अथवा

(थ) 'जहाँ-जहाँ आग नहीं है वहाँ धुआँ भी नहीं है'

उदाहरणतः जलाशय में।

(त) और (थ) ये दोनों वाक्य व्याप्ति वाक्यों के उदारहण हैं। (त) वाक्य अन्वयव्याप्ति का और (थ) वाक्य व्यतिरेकव्याप्ति का उदाहरण है। इन्हें हम नियमात्मक सामान्य वाक्य (नोमोलाजिकल जेनरलाईज़ेशंज़) अथवा नियमरूप (ला लाइक) वाक्य कहेंगे। इनके विपरीत, न्याय प्रमाणशास्त्र में संयोगात्मक सामान्य वाक्यों (एकसीडेन्टल जेनरलाइज़ेशंज़) को भी पहचाना गया है और उन्हें नियम-रूप वाक्यों से भिन्न किया गया है। इस प्रकार के संयोगात्मक सामान्य वाक्यों का एक उदाहरण यह है :—

(द) 'जो भी मैत्रेयी की सन्तान होगी वह श्याम वर्ण ही होगी।'

(त) अथवा (थ) और (द) वाक्यों में जो भेद है और इन वाक्यों का तर्क के ($क_3$) प्रकार के वाक्यों के साथ क्या सम्बन्ध है, इस बात की चर्चा मैं बाद में करूँगा। सम्प्रति इतना कहना पर्याप्त है कि यदि–तो प्रकार के सभी वाक्य न तो केवल तर्क-वाक्य ही होते हैं और न वे केवल व्याप्ति-वाक्य होते हैं।

हाँ तो कुछ प्रमाणशास्त्रियों ने तर्क के ($क_3$) प्रकार के वाक्यों को व्याप्ति के (त) अथवा (थ) प्रकार के वाक्यों से कुछ इस प्रकार सम्बद्ध माना है कि (क) प्रकार के वाक्य (त) अथवा (थ) प्रकार के वाक्यों का तार्किक आकार प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि व्याप्ति-वाक्यों का आकार दरअसल तर्क-वाक्यों का ही आकार है। यदि हम इस मत को मान लें तो यह कहना ही होगा कि इस मत को मानने वाले दार्शनिक तर्क और व्याप्ति-वाक्यों में कुछ भी भेद नहीं करते। मैं समझता हूँ कि तर्क और व्याप्ति वाक्यों में तार्किक भेद है और इस भेद को भुला देना तार्किक भूल है। यह इस प्रकार है :

हमें यह सोचना है कि व्याप्ति-वाक्यों को तर्कतः किस प्रकार अभिव्यक्त (फार्म्युलेट) किया जाय। यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यदि इस व्याप्ति वाक्य—

(क) 'यदि लकड़ी पानी के मुकाबले में अधिक सघन है तो वह पानी में नहीं तैरेगी' को रस्सल के सामान्यीकृत सत्यव्यापारात्मक आपादन (फार्मल इम्प्लीकेशन) की शब्दावली में अर्थात् $(X)\ (\phi,x \supset \sim \psi x)$ के रूप में अभिव्यक्त किया जाय तो (घ) और

(न) 'यदि लकड़ी पानी के मुकाबले में अधिक सघन है तो वह पानी में ज़रूर तैरेगी' इन दोनों वाक्यों में तर्कतः परस्पर संगति प्राप्त होती है; क्योंकि यदि

(प) 'ऐसी कोई लकड़ी नहीं है जो पानी के मुकाबले में अधिक सघन है' यह वाक्य सत्य है तो यह भी सत्य है कि 'ऐसी कोई लकड़ी नहीं है जो पानी के मुकाबले में अधिक सघन है और फिर भी पानी पर तैरती है" और यह भी

सत्य है कि "ऐसी कोई लकड़ी नहीं है जो पानी के मुकाबले में अधिक सघन है और फिर भी पानी पर नहीं तैरती है।" बात दरअसल यह है कि किसी (नियम रूप) व्याप्तिवाक्य को सत्य कहने में हम सामान्यीकृत सत्यव्यापारात्मक आपादन के सत्य होने का दावा नहीं करते अपितु हम आगमनतः संपुष्ट एक ऐसे सामान्य ज्ञान का दावा करते हैं जो सत्य होने की स्थिति में वैज्ञानिक नियम का अभिव्यंजक होता है। किन्तु, तर्क के विषय में इस प्रकार की बात सत्य नहीं है। उदाहरणतः इन तर्क-वाक्यों को लीजिये—

(फ) 'यदि लकड़ी पानी के मुकाबले में अधिक सघन होती तो वह पानी पर नहीं तैरती' और

(ब) 'यदि लकड़ी पानी के मुकाबले में अधिक सघन होती तो वह पानी पर अवश्य तैरती।'

ये दोनों तर्क-वाक्य एक-दूसरे के साथ परस्पर असंगत हैं, यद्यपि ऐसी कोई भी लकड़ी नहीं जो पानी के मुकाबले में अधिक सघन हो। इस बात से स्पष्ट होता है कि (फ) और (ब) न तो सामान्यीकृत सत्यव्पारात्मक आपादन-वाक्य हैं और न उनका आकार व्याप्ति-वाक्यों के आकार के समान ही है। वास्तव में तर्कशास्त्र की दृष्टि से (फ) और (ब) अथवा (क$_3$) प्रकार के वाक्यों का विज्ञानदर्शन में अपना ही स्थान है। उन्हें एक-दूसरे के साथ सम्मिश्रित नहीं किया जा सकता।

तर्क के उपर्युक्त विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि तर्क के वाक्य (१) सत्य-व्यापारत्मक विवक्षा-वाक्यों, अथवा (२) सामान्यीकृत सत्यव्यापारात्मक वाक्यों, अथवा (3) (नियमरूप) व्याप्ति-वाक्यों से नितान्त भिन्न प्रकार के वाक्य हैं। अब मैं तर्क-वाक्यों के प्रयोग के विषय में चर्चा करना चाहूँगा और इस सम्बन्ध में इस प्रश्न पर भी विचार करूँगा कि प्रमाणशास्त्र में तर्क की भूमिका क्या है।

तर्क के (क$_1$) वाक्य पर ध्यान दीजिये।

(क$_1$) 'यदि निर्दिष्ट स्थल पर आग (जो आँखों से ओझल है) नहीं होती तो वहाँ धुआँ भी नहीं होता।'

जब इस प्रकार के वाक्य कहे जाते हैं तो इनके कहने में वक्ता का तात्पर्य आग के नहीं होने का निषेध करना होता है। इसी प्रकार तर्क के (क$_2$) वाक्य

(क$_2$) 'यदि यहाँ घड़ा होता, तो वह (भूतल की तरह) दिखाई भी देता।'

में भी वक्ता का तात्पर्य निर्दिष्ट स्थल पर घड़े का न होना अर्थात् घड़े का अभाव बताना ही है। अब प्रश्न उठता है कि तर्क-वाक्य के कथन में इस प्रकार का निषेध कैसे सम्भव है। दूसरे शब्दों में, हमारा प्रश्न यह है कि किसी तर्क-वाक्व के कथन में निर्दिष्ट निषेध करने के लिये वक्ता के पास क्या आधार है और वह इस प्रकार का निषेध कब कर सकता है। इन प्रश्नों के उत्तर देने के सम्बन्ध में एक बात जो मुझे स्पष्ट जान पड़ती है वह यह है कि तर्क-

वाक्यों के कथन के प्रसंग में पूर्वापर सम्बन्ध अवश्य ही रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि कोई तर्क-वाक्य विज्ञान के प्रसंग में प्रस्तुत किया जाता है तो उस तर्कवाक्य का पूर्वापर सम्बन्ध विज्ञानशास्त्री के संचित ज्ञान, यानि विज्ञान के नियमों तथा किसी भी निर्दिष्ट उदाहरण की सम्बद्ध परिस्थितियों के साथ जुड़ा होता है। इस प्रकार के पूर्वापर सम्बन्ध का तर्क-वाक्य में स्पष्टतः कथन नहीं होता अपितु तर्क-वाक्य के कथन से इस प्रकार का पूर्वापर सम्बन्ध उपलक्षित होता है। नैलसन गुडमैन ने इस बात का एक अच्छा उदाहरण दिया है। इस तर्क-वाक्य को लीजिये--

(भ) 'यदि दियासलाई को रगड़ दी गई होती तो वह ज़रूर जलती।'

इस वाक्य के कथन का पूर्वापर सम्बन्ध कुछ इस प्रकार है: एक तो इससे दियासलाई के जलने की परिस्थितियाँ—उदाहरणतः दियासलाई को रगड़ दी गई है, वह सूखी है गीली नहीं है, उसके जलने के लिए पर्याप्त आक्सीजन उपलब्ध है इत्यादि—उपलक्षित होती है और दूसरी ओर सम्बद्ध कारण-कार्य नियम अथवा (नियम रूप) व्याप्ति कि दियासलाई के जलने के लिए ये परिस्थितियाँ पर्याप्त हैं भी उपलब्ध है, यह भी इस तर्क-वाक्य के कथन से उपलक्षित होता है। वास्तविकता यह है कि सम्बद्ध कारण-कार्य साहचर्य-नियम अथवा नियमरूप व्याप्तियाँ ही सत्य तर्क-कथन का प्रमाणात्मक पोषण करती हैं। संयोगात्मक व्याप्तियाँ, जैसा कि उपर्युक्त (द) प्रकार के तर्क के कथन से स्पष्ट होता है, सत्य तर्क कथन का प्रमाणात्मक पोषण नहीं करतीं। नियमरूप व्याप्ति-वाक्यों और सत्य तर्क-वाक्यों में प्रमाणशास्त्र की दृष्टि से यही सम्बन्ध है।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन न्याय तथा नव्य न्याय के दार्शनिकों ने तर्क और नियम-रूप व्याप्तियों के परस्पर सम्बन्ध को समझने में काफी भूल की है। उनके मतानुसार तर्क का प्रयोग व्याप्तिग्रह के उपाय के रूप में होता है। वे मात्र भूयोदर्शन को ही व्याप्तिग्रह का आधार नहीं मानते अपितु तर्क को भी व्याप्तिग्रह में उपाय मानते हैं। कदाचित् इसी भ्रान्त धारणा के बल पर उन्होंने तर्क को एक ओर विपक्ष-बाधक कहा है और दूसरी ओर व्यभिचार-शंका के अपनयनार्थ उसका प्रयोग माना है। मेरे विचार में तर्क के ये दोनों प्रयोग गहराई से देखने पर बिल्कुल बेकार सिद्ध होते हैं। मान लें किसी व्यक्ति को उदाहरणतः धुएँ और आग के साहचर्य के विषय में व्यभिचार-शंका होती है। यदि उस शंका का विषय धुएँ और आग का साहचर्य-सम्बन्ध ही है तो उस व्यक्ति की शंका का निवारण (क$_2$) अथवा (क$_3$) वाक्य रूप तर्क तो नहीं कर पायेगा। क्योंकि, ऐसे व्यक्ति की शंका का असली विषय, दूसरे शब्दों में, धुएँ और आग सम्बन्धी नियमरूप व्याप्ति-वाक्य की सत्यता स्वयं ही है। मेरे विचार में जो व्यक्ति नियम रूप व्याप्तिवाक्य की सत्यता के सम्बन्ध में शंका करता है वह वास्तव में उस व्याप्ति-वाक्य का पोषण करने वाले साक्ष्य अथवा प्रमाण को ही सन्देहास्पद समझता है। भला

ऐसा व्यक्ति ($क_1$) अथवा ($क_3$) वाक्य रूप तर्क के भरोसे पर धुआँ और आग विषयक व्याप्ति-वाक्य को सत्य कैसे मानेगा ? विशेष रूप से उस स्थिति में जबकि ($क_1$) अथवा ($क_3$) रूप तर्क-वाक्य स्वयं अपने ही पोषण के लिए (नियम रूप) व्याप्तियों पर निश्शेषत: आश्रित है। इस बात से स्पष्ट होता है कि व्याप्ति विषयक व्यभिचार-शंका के अपनयन के लिए तर्क का प्रयोग बेकार है। इसी प्रकार की युक्तियों के आधार पर हम यह भी सिद्ध कर सकते हैं कि तर्क का विपक्षबाधक प्रयोग भी असिद्ध और निष्फल है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि जब ($क_1$), ($क_2$) अथवा ($क_3$) प्रकार के तर्क-वाक्य विज्ञान में पेश किये जाते हैं तो नियम रूप व्याप्तियों तथा तत्सम्बद्ध परिस्थितियों का ज्ञान होना तर्क-वाक्य के वक्ता के लिए तर्क पेश करने का पर्याप्त आधार है और इसी स्थिति में वह तर्कवाक्य में उपलक्षित कथन का निषेध अथवा दावा कर सकता है। निषेध अथवा दावे की बात मैं इसलिये कर रहा हूँ कि कुछ तर्क-वाक्य ऐसे होते हैं जिनके यदि और तो दोनों उपवाक्यों में निषेध होता है किन्तु वे तर्क-वाक्य समूचे रूप से सत्य होते हैं। और, कुछ तर्क-वाक्य ऐसे होते हैं कि जिनके यदि और तो दोनों उपवाक्यों में निषेध होता है परन्तु वे तर्क-वाक्य समूचे रूप से असत्य होते हैं। क्योंकि विज्ञान में उपयोगी तर्क-वाक्य सत्य अथवा असत्य हो सकते हैं, इससे यह फलित होता है कि इस प्रकार के तर्कवाक्यों के यदि और तो दोनों उपवाक्यों में पारस्परिक सम्बन्ध विश्लेषणात्मक न होकर संश्लेषणात्मक ही होता है। यह बात इस कथन से भी स्पष्ट होती है कि इस प्रकार के तर्क-वाक्य सदैव सम्बद्ध साक्ष्य पर आधारित होते हैं और उनकी सत्यता-असत्यता की जाँच उनके साक्ष्य के आधार पर ही प्रमाणित-अप्रमाणित होती है।

विज्ञान, इतिहास अथवा दिन-प्रति-दिन के व्यवहार में जो तर्क-वाक्य उपयोगी होते हैं वे संश्लेषणात्मक ही होते हैं, इस कथन से मैं यह कहने का दावा नहीं कर रहा कि कोई भी तर्क-वाक्य विश्लेषणात्मक होता ही नहीं। बहुत से होते हैं। उदाहरणतः यह तर्क-वाक्य—

(म) 'यदि वह जानवर चौपाया होता, तो उसके चार पांव होते,'
विश्लेषणात्मक तर्क-वाक्य है। यही नहीं, ऐसे भी तर्क-वाक्य हैं जिन्हें हम तर्कशास्त्रीय नियमों के आधार पर नितान्त सत्य कह सकते हैं। इस प्रकार के तर्क-वाक्यों का उदाहरण यह है :

(य) 'यदि मेरा कथन सत्य होता, तो वह सत्य ही होता।'
साधारणत: (म) प्रकार के तर्क-वाक्यों में हमारी दिलचस्पी नहीं होती; तथापि उन स्थितियों में जबकि छोटे बच्चे भाषा सीख रहे होते हैं तो इस प्रकार के विश्लेषणात्मक तर्क-वाक्य काफ़ी उपयोगी होते हैं। (छ) प्रकार के तर्क-वाक्यों की उपयोगिता तो और भी कम है। कुछ भी हो, इस लेख में मेरा ध्यान एवं रुचि केवल विज्ञान में प्रयुक्त होने वाले संश्लेषणात्मक तर्क-वाक्यों के विश्लेषण में ही रही है। इतिहासकार तो संश्लेषणात्मक तर्क-वाक्यों का बड़ा ही प्रयोग करते हैं। उदाहरणत:

(र) 'यदि १९४७ ई० में भारत का बंटवारा न होता तो इस बंटवारे से सम्बद्ध आज जिन समस्याओं का साम्मुख्य भारत को करना पड़ रहा है वे समस्याएं भी उत्पन्न नहीं होतीं।

इस प्रकार के ऐतिहासिक तर्क-वाक्यों की सत्यता-असत्यता की अपनी ही समस्याएँ हैं, किन्तु इन समस्याओं की चर्चा मैंने नहीं की है।

ऊपर शुरू में मैंने कहा है कि न्याय में तर्क को प्रमा नहीं माना गया है। नैयायिक दार्शनिक तर्क को अयथार्थ यानि अप्रमा ज्ञान ही मानता है। फिर भी वह किसी तरह तर्क को विपक्षबाधक और व्यभिचारशंका के निवारण करने में हेतु मानता है। मेरे विचार में ये दोनों बातें एक ही साथ सत्य नहीं कही जा सकतीं। व्याप्ति, जो प्रमा का विषय है, उसके सम्बन्ध में यदि तर्क शंका का निवारण करता है तो किसी-न-किसी अर्थ में तर्क-वाक्यों को भी प्रामाणिक ज्ञान का सूचक होना चाहिए। अपने विश्लेषण द्वारा मैंने स्पष्ट किया है कि प्रमाणात्मक व्याप्ति-वाक्य ही तर्क का पोषण करते हैं। मैं समझता हूँ कि इस प्रकार का पोषण तभी सम्भव है जब तर्क-वाक्य स्वयं भी प्रामाणिक ज्ञान के सूचक हों। यदि तर्क-वाक्यों का प्रमात्मक व्याप्ति वाक्यों के साथ सम्बन्ध विषयक मेरा विश्लेषण सही है तो उससे यह भी फलित होता है कि तर्क-वाक्य स्वरूपत: प्रामाणिक ज्ञान के सूचक होते हैं।

यही नहीं, विज्ञान, इतिहास और दिन-प्रतिदिन के व्यवहार में संश्लेषणात्मक तर्क-वाक्यों की उपयोगिता भी इसी तथ्य पर आधारित है कि ये तर्क-वाक्य हमारे ज्ञान के आदान-प्रदान में सहायक होते हैं। यह सच है कि इन तर्क-वाक्यों द्वारा संसूचित किया गया ज्ञान उस प्रकार का ज्ञान नहीं है जिस प्रकार का यह ज्ञान है कि 'कहीं किसी समय क्या स्थिति है'। 'कहीं किसी समय क्या स्थिति है' इस प्रकार का ज्ञान विज्ञान में तथ्यों का विवरण देने में उपयोगी होता है। किन्तु हमारे पास संचित ज्ञान के प्रकाश में 'किन परिस्थितियों में क्या स्थिति हो सकती है' इस प्रकार का ज्ञान ही तर्क-वाक्यों द्वारा संसूचित होता है। इस प्रकार के ज्ञान को सम्भाव्य ज्ञान विशेष कहा जा सकता है। (न्याय के इतिहास में न्याय वार्तिककार उद्योतकर) ने तर्क की सम्भाव्य-ज्ञानविशेषात्मकता की ओर सर्वप्रथम ध्यान दिया और वर्तमान शताब्दी में सुरेन्द्र बारलिंगे ने तर्क की ज्ञानात्मकता पर साग्रह ज़ोर दिया है। पाश्चात्य प्रमाणशास्त्र में भी प्राचीन नैयायिकों की तरह अर्न्स्ट माख़ ने तर्कवाक्यों के आधार पर किसी कथन की सम्पुष्टि को अप्रामाणिक बताया है, यद्यपि आधुनिक विज्ञान-दर्शन में तर्क-वाक्यों के ज्ञान-सूचक और उपयोगी होने पर बल दिया गया है।)

अन्त में, इस निबन्ध में जिस मत का मैंने समर्थन किया है उसे संक्षेप में कहना चाहता हूँ : (१) 'यदि ऐसा होता (अथवा न होता) तो ऐसा भी होता (अथवा नहीं होता)' इस प्रकार के आकार के वाक्यों को मैंने तर्क-वाक्य कहा है। (२) तर्क-वाक्यों की पहचान यह है कि उनके कथन में उनके 'यदि' से प्रारम्भ होने वाले उपवाक्य के असत्य होने का दावा किया जाता है। (३) तर्क-वाक्य विज्ञान, इतिहास और दिन-प्रति-

दिन के व्यवहार में उपयोगी होते हैं और हमारे सम्भाव्य ज्ञान विशेष का संसूचन करते हैं। (४) तर्क-वाक्यों के पूर्वापर सम्बन्ध को समझे अथवा जाने बिना उनकी सत्यता-असत्यता के बारे में कुछ भी निर्णय नहीं दिया जा सकता। इन वाक्यों की सत्यता का सम्पोषण नियम रूप व्याप्ति-वाक्यों के आधार पर होता है। किन्तु ये वाक्य व्याप्ति-वाक्यों से और सत्यव्यापारात्मक विवक्षा-वाक्यों से नितान्त भिन्न प्रकार के वाक्य हैं। तर्कशास्त्र तथा विज्ञान-दर्शन में इनकी श्रेणी अथवा भूमिका को अन्य प्रकार के वाक्यों के साथ मिलाना एक भूल है।

दिल्ली विश्वविद्यालय

मानवीय कर्मों की युक्तियुक्तता के बारे में ह्यूम के विचार*

पवित्रकुमार राय

किसी भी लक्ष्य के लिए प्रेरित मानवीय कर्म 'युक्ति और परिकल्पना' (डिज़ाइन) से परिचालित होता है—(ह्यूम, ट्रीटीज़, पृ० १७६)। ऐसे कर्म न तो अनवधानता-प्रसूत होते हैं और न ही ये ध्येय एवं उपाय के आभ्यासिक अनुयोजन होते हैं। वस्तुतः कर्म युक्तियुक्त नहीं होता और न अयुक्तियुक्त ही होता है—इस अभ्युक्ति को ह्यूम अन्यत्र भी व्यक्त कर चुके हैं। अतः ह्यूम के मतांतर्गत इन दो विपरीत कथन-बिन्दुओं को किस प्रकार परस्पर संगत समझा जा सकता है? अगर लक्ष्यप्रेरित मानवीय कर्म युक्ति और परिकल्पना से परिचालित हों तो कैसे ये कर्म युक्तियुक्तता और अयुक्तियुक्तता के सन्दर्भ से मुक्त होंगे? युक्ति के बारे में ह्यूम की अत्यन्त सीमित अवधारणा ने युक्तियुक्तता एवं अयुक्तियुक्तता सम्बन्धी उनकी अवधारणाओं को भी तदनुरूप बना दिया। वे मानवीय कर्मों की युक्तियुक्तता अथवा अयुक्तियुक्तता के प्रश्न को युक्ति के तात्पर्य रूप सत्यासत्य के प्रकाशन के साथ अथवा सत्यासत्य-निर्णय के साथ जोड़ते हैं।

'नैतिक वैभिन्य युक्तिसंगत होते हैं' आदि विचारों की समालोचना करते समय ह्यूम ने 'ट्रीटीज़' के तृतीय खण्ड में उपर्युक्त प्रसंग पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार किसी भी अवधारणा के युक्ति का विषय बनने का अर्थ है उस पर मतभेद या सहमति की सम्भावना। अगर कोई वस्तु-विशेष अनभिव्यंजक (रेफरेंशियली ओपेक) हो, अर्थात् किसी अन्य वस्तु को निर्देशित न करती हो, तो सहमति या मतवैभिन्य का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। ह्यूम के अनुसार जिस प्रकार मनोवेग स्वयं-सम्पूर्ण होते हैं, कर्म भी तदनुरूप स्वयं सम्पूर्ण होते हैं एवं कोई भी कार्य युक्ति का विषय नहीं बन सकता अथवा उसे हम युक्तियुक्त अथवा अयुक्तियुक्त भी नहीं कह सकते, क्योंकि कोई भी कार्य दूसरे कार्यों का निर्देश आपादित नहीं करता। कर्मों के बारे में ऐसे सर्वथा अनभिप्रायात्मक दृष्टिकोण का सही होना संशयास्पद है। मनोवेगों की अनभिप्रायता-सम्बन्धी उनके विचारों की स्थिति भी ऐसी ही है। मनोवेगों के बारे में ह्यूम के विचार क्रमशः प्रवृत्तिवादी और अभिप्रायवादी व्याख्या की तरफ झुकते हैं जबकि कर्मों के बारे में उनकी अवधारणाओं

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ में २५–२८ सितम्बर, १९७६ को आयोजित २१ वें वार्षिक अधिवेशन में नीति एवं समाजदर्शन विभाग के अध्यक्ष पद से भाषण।

में स्वरूप-परिवर्तन का रूप भिन्न है। मेरे अनुसार यह प्रश्न उठाया जाना संगत होगा कि यदि कोई सत्य या असत्य के प्रकाशक के रूप में युक्ति के अर्थ को छोड़ भी दे तो क्या उसके लिए यह मानना आवश्यक होगा कि कर्म न तो युक्तियुक्त होते हैं और न अयुक्तियुक्त ! मैं नहीं समझता कि ऐसा करना आवश्यक है। इससे भी महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि युक्ति के बारे में ह्यूम की एक दूसरी अवधारणा भी थी—जिसके अनुसार यह कहा जा सकता है कि कर्म युक्तियुक्त अथवा अयुक्तियुक्त होते हैं।

इस अवधारणा के अनुसार, युक्ति का अर्थ है कारण-विषयक स्पष्टीकरण और तब ऐसा कहा जा सकता है कि हमारे लक्ष्यप्रेरित व्यवहार ऐसी ही युक्तियों द्वारा परिचालित होते हैं। किसी कार्य को तभी युक्तियुक्त कहा जायगा जब वह कार्य युक्ति अर्थात् कर्त्ता के उद्देश्य एवं अभिप्राय को दृष्टि में रखकर कारणतः स्पष्टीकरण-योग्य हो। यदि कर्त्ता के उद्देश्य एवं अभिप्राय का हमें पूर्व ज्ञान उपलब्ध हो तो उसके उसी कर्म को अयुक्तियुक्त की संज्ञा दी जा सकती है, यदि वह उसके स्वभाव से मेल न खाता हो। उपर्युक्त सन्दर्भ में ह्यूम वस्तुतः 'युक्ति' से क्या समझते हैं—इसको उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। किन्तु यदि युक्ति से कर्त्ता की इच्छा, अभिप्राय, विश्वास, वस्तुस्थिति एवं प्रकृति को संज्ञापित किया जा सके तो युक्ति मानसिक कारणों में समाविष्ट हो जायगी। उपर्युक्त स्थापना अगर स्वीकार्य हो तो यह कहना कि कर्म 'युक्ति-प्रेरित' है और साथ ही यह भी कि वे न तो युक्तियुक्त होते हैं और न अयुक्तियुक्त, वस्तुतः असुविधाजनक है। दूसरी ओर, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि सत्य या असत्य का प्रकाशन के रूप में ह्यूम का युक्ति-सम्बन्धी अभिमत उसके इस अभिमत से सुसंगत है कि कर्म न तो युक्तियुक्त होते हैं और न अयुक्तियुक्त।

नैयायिक जब यह कहते हैं कि कर्म वस्तुतः ज्ञान या युक्ति (जो भी कहें) का विषय कदापि नहीं होता तब वे ह्यूम के मत का ही पूर्वानुमान करते हैं। जब हम यह कहते हैं कि कार्यों का ज्ञान होना सम्भव है तब हम एक आलंकारिक उक्ति-भंगिमा का आश्रय लेते हैं। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को **नैयायिक** मात्र एक शब्द **'याचितमण्डन'** से स्पष्ट करते हैं। युक्तियुक्तता के स्थान पर **नैयायिक** जिस संस्कृत शब्द का प्रयोग करते हैं उस 'शब्द' 'युक्त' का अर्थ है सम्बन्धित। उनके अनुसार, यदि कोई कर्म युक्तियुक्त हो तो वह कर्त्ता की इच्छा, विश्वास, प्रकृति एवं उसके पूर्वकर्म एवं आंशिक रूपेण पूर्वकर्म-जात संस्कार—इन कारण-विषयक उपादानों अथवा मानसिक कारणों से सम्बन्धित है। किसी कर्म की युक्तियुक्तता का तात्पर्य उसकी कारण-विषयक स्पष्टीकरण-योग्यता है। किसी कार्य को युक्तियुक्त कहने का तात्पर्य—कर्त्ता के उस कर्म के समर्थन में युक्ति को प्रस्तुत कर पाने की सम्भावना अथवा उन मानसिक कारणों का वर्णन करना है जो इस कर्म को स्पष्ट करेगा। अभिप्रेरणा, प्रवृत्ति एवं मनोवेग आदि मानसिक कारण लोगों को कार्यप्रवृत्त करते हैं एवं उन्हें अपने-अपने उद्देश्य भी प्रदान करते हैं। अगर कोई इच्छा या उद्देश्य किसी मनोवेग से सम्बन्धित होता हो तो वह कार्य को निर्धारित कर सकता है। कभी-कभी हम मानवीय कर्मों का उद्गम किसी इच्छा में निर्धारित करते हैं, और कभी किसी मनोवेग में सामान्य भाषा में युक्ति एवं कारण के बीच बहुधा पार्थक्य नहीं किया जाता।

और कई स्थितियों में युक्ति-निर्धारण या कारण-निर्धारण के बीच पार्थक्य करना असम्भव हो सकता है। इस दृष्टि से, स्पष्टीकरण की उपलब्धि होने पर कर्म को युक्तियुक्त कहा जा सकता है।

अब पुनः ह्यूम के विवेचन पर ध्यान दें। **युक्ति** का अर्थ है—सत्यासत्य का प्रकाशन, और यह मानते हुए कहा जा सकता है कि कर्म युक्ति द्वारा परिचालित होता है। परन्तु इसी के आधार पर कर्म युक्ति द्वारा व्युत्पन्न या निरुद्ध होता है, ऐसा कहने का अर्थ कुछ और ही है। **निर्देशन** एवं **निर्धारण** दो एक ही जैसे कार्य नहीं हैं। **कर्मों** के निर्देशन के लिए युक्ति का उपयोग हो सकता है, परन्तु युक्ति कर्मों को कदापि नियन्त्रित नहीं कर पाती। दूसरे शब्दों में—ह्यूम के अनुसार युक्ति हमारे संकल्प के माध्यम से कर्मों पर एक **निर्देशक प्रभाव** डालती है यद्यपि यह प्रभाव कभी **निर्धारक** नहीं होता। युक्ति के बारे में इस अभिमत को हम कार्यनिर्देश की संज्ञा देंगे। युक्ति कार्यों को निर्देशित करती है, ऐसा दृष्टिकोण रखने पर आगे एक और बात मालूम होती है। युक्ति का अर्थ सत्यासत्य-प्रकाशन है, ऐसा कहने पर यह मत आपादित होता है कि युक्ति की कार्य-निर्देशक भूमिका का तात्पर्य है मात्र निर्देशक वाक्यों का निश्चय कथन। ऐसे वाक्यों का विनियोग किसी वस्तु या व्यक्ति या विषय के होने या न होने की स्थिति को सूचित करने के लिए होता है। किसी को 'कुछ है या नहीं है'—यह कहने का अभिप्राय मुख्यतः कार्य संचालन के लिए नहीं होता। एक दूसरे प्रकार के वाक्य, जिन्हें अनुज्ञावाची वाक्य कहा जाता है, मुख्यतः कार्य-संचालक या निर्देशक होते हैं। यह एक प्रभावशाली समकालीन अभिमत है। **मीमांसकों** की भी एक अनुरूप अवधारणा रही है। उनके अनुसार यदि किसी निर्देशक वाक्य में कार्य-परिचालन-शक्ति हो तो उसे छद्म अनुज्ञावाची मानना उचित होगा। तब जाहिर है कि संकल्प-निर्धारण के रूप में युक्ति द्वारा कार्य-परिचालन आवश्यक नहीं। हम देख चुके हैं कि ह्यूम युक्ति को मानसिक कारणों में समायोजित करते हैं और वस्तु-स्थिति अगर ऐसी हो तो यह प्रश्न पूछा जाना संगत है कि 'क्या युक्ति के सम्बन्ध में एक ऐसी अवधारणा हो सकती है जो कर्मों को निर्देशित करने के साथ-साथ निर्धारित भी करे ? ह्यूम के अनुसार ऐसी अवधारणा अनपवादी होगी। उनके मतानुसार कर्मों के मानसिक कारण न केवल हमारे कार्यों को परिचालित अथवा निर्देशित करते हैं, वे कारण उन कार्यों को निर्धारित भी करते हैं, और ऐसा करते हुए ये कारण, कारण-विषयक स्पष्टीकरण की योग्यता (सामर्थ्य) की दृष्टि से कार्यों को युक्तियुक्त या अयुक्तियुक्त सिद्ध करते हैं।

ह्यूम का यह विचार कि कोई कार्य अन्यान्य कार्यों का निर्देश व्युत्पन्न नहीं करता, उनके एक विशेष ज्ञानवादी विवेचन पर आधारित है। इस ज्ञानवादी धारणा के अनुसार कर्म, सरल संस्कार (सिम्पल इम्प्रेशन्स्) हैं। कर्मों की सत्तागत सरलता उनकी अनभिप्रायात्मकता को आपायित करती है, ऐसी एक धारणा हो सकती है। परन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में मैं इस प्रसंग पर विचार करना नहीं चाहता बल्कि मैं कहना चाहूँगा कि कर्मों को, उनकी संरचनापरक सरलता के बावजूद, एक परस्पर सुगठित कार्य-समूह का निर्माण करने वाला नहीं समझा जा सकता। मानवीय कर्म की अवधारणा बातचीत जैसी संप्रेषण-प्रचेष्टा से लेकर

नैतिक राजनैतिक एवं अर्थनैतिक जैसे विभिन्न प्रतिबद्ध कार्यों तक विस्तृत होती हैं। ऐसे कर्म एक अनहंवादी जगत् में ही अर्थपूर्ण हो सकते हैं। अर्थात् 'कर्म सरल संस्कार हैं'—इस ज्ञानवादी अवधारणा का समाज में बहुत महत्त्व नहीं है। यहाँ हम स्वयं को या तो कर्त्ता अथवा दर्शक के रूप में पाते हैं।

मानवीय कार्य अनभिप्रायात्मक हैं—इस विचार से यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विभिन्न कार्यों के बीच कोई तर्कसम्मत सम्बन्ध नहीं होते। किन्तु क्या ऐसा मानना आवश्यक होगा? कथोपकथन मानवीय कर्म का एक महत्त्वपूर्ण उपवर्ग है। मान लिया जाय, किसी वक्ता का यह कथन हो कि उसने कोई अन्य कथन नहीं किया। इन दोनों कथनों को क्रमशः $क_2$ एवं $क_1$ इन चिह्नों द्वारा व्यक्त करते हैं। हमारा वक्ता $क_2$ का व्यवहार करता है या कहता है कि उसने $क_1$ का व्यवहार नहीं किया। अगर वह झूठ कह रहा हो तो हमें ऐसी दो वास्तविक उक्तियाँ उपलब्ध हैं जो साथ-साथ सत्य नहीं हो सकतीं। अगर वह असत्य नहीं कह रहा तो हमें एक वास्तविक कथन और एक अभिप्रेत कथन प्राप्त होता है। दोनों ही समय $क_2$ द्वारा $क_1$ का निर्देश आपादित है। हम एक अन्य स्थिति पर विचार कर सकते हैं जिससे यह तथ्य स्पष्ट होगा कि 'संगत' शब्द का उपयोग जिस तरह सिद्धान्तों के लिए किया जाता है उसी तरह मानव-कर्मों के लिए भी। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से कहता है—"आप अभी जो कह रहे हैं उसके साथ आपने पिछले सप्ताह जो कहा था उसकी संगति नहीं।" यहाँ केवल कथित प्रतिज्ञप्तियों की संगति ही सन्देहास्पद नहीं है अपितु वक्ता के दो कथनों (स्पीच एक्ट्स) के बारे में भी प्रश्न उठाया जा रहा है। 'संगति' शब्द का व्यवहार यहाँ नितान्त आलंकारिक नहीं है। यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि जिस सामाजिक परिस्थिति में मानवीय कर्म निष्पन्न होते हैं उससे विलग होने के बाद कर्मों की अभिप्रायात्मकता के प्रश्न अपनी महत्ता खो देते हैं। यदि कोई कर्म किसी दूसरे कर्म का निर्देश आपादित करता हो तो इसका सम्बन्ध उस स्थिति या प्रसंग से हो सकता है जिसमें वह कार्य निष्पन्न हुआ होगा।

पुनश्च, हमारे कर्मों का आधार सामाजिक जगत् एक अविच्छिन्न जगत् है। और ऐसे जगत् में कर्मों को असम्बद्ध ठहराने के पक्ष में कोई युक्ति नहीं दी जा सकती। किसी प्रकार की अनिवार्यता सामाजिक कार्यों को बाँधे रखती है। किसी राजनैतिक दल की निर्माण-प्रक्रिया एवं उसके संविधान की संरचना ये दो कार्य जिस कारण-वश जुड़े रहते हैं, उसे हम 'ऐतिहासिक अनिवार्यता' कह सकते हैं। राजनैतिक और अर्थनैतिक निर्णयों में प्रायः ऐसे कार्यों की उपपत्ति (एनटेल) (इस पद की चाहे जो भी अभिधा हो) होती हैं, जो परस्पर-निर्देश आपादित करते हैं। परस्पर अनवलम्बित होने पर ऐसे कार्य राजनीति एवं अर्थनीति विषयक प्रेक्षकों के लिए अव्याख्येय रह जायेंगे। फिर, ह्यूम के अनुसार, 'अनिवार्यता' प्रेक्षक की मानसिक संस्थिति के निर्धारण में निहित रहती है यदि मानवीय कर्मों पर हमें इस प्रकार विचार करना पड़े तो कार्यों के कारणगत अन्तस्सम्बन्ध के चलते हम उनके परस्पर निर्देश को स्वीकार कर सकेंगे। मानवीय कर्म व्यवस्थित होते हैं एवं नियन्त्रित रूपेण उत्पन्न होते हैं। यदि यह स्वीकार किया जाय कि कर्मों के बीच कोई विशिष्ट विच्छिन्नता नहीं होती तो ऐसा सोचा जा सकता है कि ये

कार्य परस्पर-निर्देश को आपादित करते हैं। ह्यूम के कर्म सम्बन्धी विवेचन के विरुद्ध कोई निर्णायक तर्क न होने पर भी उपर्युक्त युक्ति-क्रम अन्ततः विचारणीय है। यदि यह मानना सम्भव हो कि कारण-सम्बन्ध उद्देश्यों एवं कार्यों के स्तर पर सक्रिय होते हैं तो भी यह कहना अर्थहीन नहीं होगा कि ऐसे सम्बन्ध कार्यों के स्तर पर सर्वव्यापी नहीं होंगे।

मानव-कार्यों से जो जगत् सृष्ट होता है वही उन कार्यों को अभिज्ञप्त करता है। एक कार्य प्रदत्त वस्तुस्थिति को दूसरी वस्तुस्थिति में परिवर्तित कर देता है। मान लिया जाय, कोई कार्य $अ_0$ वस्तुस्थिति **प** को वस्तुस्थिति **ब** में परिवर्तित कर देता है। उसी प्रकार एक दूसरा कार्य $अ_0$ वस्तुस्थिति **ब** को वस्तुस्थिति **र** में बदल देता है। फॉन रिट के संकेतानुसार **$अ_0$ प ट ब** का एवं **$अ_1$ ब ट र** का निमित्त कारण है—[टिप्पणी : **ट** ट्रांसफोर्म्ड-परिवर्तित]। यदि **प ट ब** एवं **ब ट र** अविच्छिन्न न हों तो एक ही सामान्य सामाजिक जगत् द्वारा अभिज्ञप्त होने के कारण कार्य-द्वय **$अ_0$** एवं **$अ_1$** निर्देशतः अनवलम्बित नहीं होंगे। ह्यूम स्वयं स्वीकारते हैं कि कार्य सम्पन्न हो चुकने पर भी, कर्त्ता के पास कुछ छोड़ जाता है—जो कर्त्ता के अभिप्राय होते हैं। कार्य कर्त्ता से उत्पन्न होते हैं अतः अभिप्राय के माध्यम से कार्य परस्पर सम्बन्धित होते हैं। बहुधा हम कर्त्ता के वर्तमान कर्मों के मूल्यांकन-हेतु उसके अतीत में किये गते कार्यों को ध्यान में रखते है। ह्यूम के अनुसार किसी कर्त्ता को उत्तरदायी ठहराने के लिए हमें उसमें कोई 'स्थायित्व' की खोज करनी पड़ती है। उसी तरह कर्त्ता के आचरण या चरित्र के सन्दर्भ से कार्यों का मूल्यांकन कर पाना सम्भव न होगा यदि उसके कार्य परस्पर विच्छिन्न हों। कार्य कर्त्ता एवं सामाजिक जगत् के साथ अविच्छिन्न रूपेण सम्बद्ध होता है। यह कहना कि कार्य पारस्परिक निर्देश आपादित न करने वाले सरल संस्कार हैं, उन्हें उनकी ठोस सामाजिक चारित्रिकता से विच्युत करना है। मानवीय कर्मों की युक्तियुक्तता अथवा अयुक्तियुक्तता के प्रश्न को मात्र ज्ञानवादी कसौटी पर निर्धारित करने की प्रचेष्टा न केवल समाज-विज्ञानों की सम्भावना का निषेध करती है अपितु इस समस्या के बारे में हमें उद्विग्न भी किये रखती है।

कई दार्शनिक ऐसे भी हैं जिनके अनुसार, मनुष्य के सामाजिक व्यवहार को नियमानुयायी व्यवहार के रूप में समझा जाना चाहिए। सामाजिक संस्थितियों में मानवीय कर्म अर्थपूर्ण कार्य होते हैं। कर्त्ता अपने कार्य में अर्थ सन्निविष्ट करता है, परन्तु प्रेक्षक के लिए इन कार्यों का नियमानुयायी व्यवहार होना मात्र ही महत्त्व रखता है। मानवीय सामाजिक व्यवहार के ये नियम सामान्य होते हैं अर्थात् ये नियम मानवीय कार्यों के मूल्यांकन के मानदण्ड होते हैं। ऐसा भी कहा जाता है कि अपने एवं दूसरे के लिए बुद्धिग्राह्य नियमानुयायी एवं नियम-निर्माण करने वाले व्यवहार अवधारणात्मक होते हैं, क्योंकि ये नियम अर्थों का संयोजन करते हैं। ह० ल० अ० हर्ट के **कानून की अवधारणा** के एक उदाहरण के अनुसार सड़क की बत्ती लाल हो जाने एवं गाड़ियों के रुक जाने के बीच एक अवधारणात्मक सम्बन्ध है, क्योंकि सड़क पर हमारे आचरणों के नियन्त्रक नियम के अनुसार लाल रोशनी (सिग्नल) का **अर्थ है**, रुक जाना। अर्थों का यह संयोजन उस प्रकार कारणतः स्पष्टीकरण योग्य नहीं है जिस प्रकार बादल और वर्षा के अन्तस्सम्बन्ध का संयोजन है।

हमारे सामाजिक जीवन की अवगम्यता पर हमारे कार्यों की सार्थकता निर्भर करती है, और यदि हमारे सामाजिक कार्य निर्देशत: अनवलम्बित न हों, बल्कि पारस्परिक निर्देश को आपादित करते हों, तो इसका कारण यह है कि उनके बीच सार्थक अन्तस्सम्बन्ध हैं।

उपर्युक्त विवेचनानुसार कार्यों को युक्तियुक्त या अयुक्तियुक्त कहने का आधार मानवीय व्यवहार-नियन्त्रक नियम ही हो सकते हैं। प्रदत्त नियमों के अनुसार, एक निर्दिष्ट सामाजिक संस्थिति में एक मानवीय कर्त्ता से क्या अपेक्षा की जा सकती है, यहाँ यही विचारणीय है। इस दृष्टि से, कार्य के प्रति कर्त्ता एवं प्रेक्षक के दृष्टिकोण में कोई विषमता नहीं, क्योंकि नियमों की सामान्यता के कारण एवं मानवीय कर्मों के नियमानुयायी सामाजिक व्यवहार के रूप वाला होने के कारण हम अपने आपको उसी परिदृश्य में समझ पाते हैं जिसमें दूसरे लोग भी हमें समझ सकें। कार्यों के महत्त्व का मानदण्ड ही सामाजिक व्यवस्था का न्याय (लोजिक) है।

ये विचार हमें एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग तक ले चलते हैं। ह्यूम भी समाज में नियमों की महत्ता से परिचित थे। उन्होंने यातायात सम्बन्धी नियमों का उल्लेख ('इन्क्वायरी' के पृ० २१० पर) किया है। इसी ग्रन्थ के पृ० २३९ के एक अनुच्छेद में कहा गया है कि मानवीय व्यवहार के नियम "शांत मनोवेगों का प्रतिफलन हैं, (क्योंकि इसके अतिरिक्त और क्या किसी विषय को योग्य या विसंगत ठहरा सकता है?)।" उपर्युक्त अनुच्छेद में ह्यूम कार्यों एवं कार्यों के नियन्त्रक नियमों के बीच एक अन्तस्सम्बन्ध स्वीकारते हैं, ऐसा मानना ह्यूम की अभ्युक्ति का यथोचित निरूपण होगा। शान्त मनोवेग अपनी सक्रियता में युक्ति-सदृश हैं एवं वे कार्य-नियन्त्रक सिद्धान्तों के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं। अत: ह्यूम जिसे 'हमारे शान्त एवं सामान्य सिद्धान्त' कहते हैं, उन सिद्धान्तों के निर्देश में ही कार्यों की युक्तियुक्तता अथवा अयुक्तियुक्तता का निर्धारण किया जा सकता है। जब ऐसे सिद्धान्त हमारे कार्यों को निर्धारित करते हैं तो कार्य 'योग्य' अथवा युक्तियुक्त कहे जा सकते हैं, जबकि वस्तुस्थिति ऐसी न होने पर वे कार्य अयुक्तियुक्त कहे जायंगे। सामाजिक संस्थिति में मानवीय कार्यों के नियन्त्रक नियमों या सामाजिक नियमों को भी शान्त मनोवेगों से उद्भूत सिद्धान्त कहा जा सकता है। ऐसे नियम अन्तर्वैयक्तिक या सामान्य होते हैं। ह्यूम अपनी 'ट्रीटीज़' के पृ० ५३१ पर हमें बताते हैं कि "हमारे उद्देश्य जब अपनी जन्मदायिनी परिस्थिति से" आगे बढ़ जाते हैं तभी इन सामान्य नियमों की संरचना होती है। इसी ग्रन्थ के पृ० ५८३ पर एक अनुच्छेद में कहा गया है, "मनोवेगों का सामान्य शान्त-निर्धारण ....किसी कूटस्थ दृष्टिकोण पर आधृत होता [है]।" इस हैसियत से शान्त-मनोवेग युक्ति सदृश हैं एवं युक्ति से पारस्परिकता वाले कहलाते हैं। एक दूसरा पहलू ऐसा भी है जो सामाजिक नियमों की अन्तर्वैयक्तिक एवं सामान्य प्रकृति को अतिरिक्त सामर्थ्य प्रदान करता है। भाषा की उपयोगिता भावनाओं के अन्तर्मानवीय विनिमय पर निर्भर करती है और इसके लिए भाषा-व्यवहार की एक सामान्य व्यवहार-विधि का पालन करना आवश्यक है। इसी प्रकार, यदि समाज के सदस्य अर्थपूर्ण कार्य करना चाहें तो उनके बीच अन्तर्वैयक्तिक प्रतिमानों के लिए एक अव्यक्त सहमति आवश्यक है। यह एक

सुविधाजनक व्यवस्था की बात है, अथवा ह्यूम के शब्दों में, सामाजिक नियम **कृत्रिम** होते हैं।

ह्यूम के एक दृष्टान्त के अनुसार, "घोड़ा गाड़ी वाले साईस एवं घुड़सवार एक-दूसरे को राह देने के लिए कुछ नियमों का पालन करते रहते हैं।" अतः ह्यूम के लिए यातायात सम्बन्धी नियम **कृत्रिम** हैं। यातायात सम्बन्धी नियमों के अनुसार राह देना विधि-नियन्त्रित कार्य है। क्या ह्यूम यह मानने के लिए तैयार होते कि यातायात-सम्बन्धी नियम एवं उन नियमों के अधीन राह देने के बीच एक '**अवधारणात्मक**' सम्बन्ध रहता है? यह वस्तुतः एक कठिन प्रश्न है। अब एक दूसरी समस्या पर विचार किया जाय। रुपये उधार माँगना या उसे चुकाना, कृत्रिम नियमों द्वारा परिचालित कार्य होते हैं तथा ये एक-दूसरे के निर्देश को आपादित करते हैं। ऐसी स्थिति में, उन्हें अवधारणात्मक स्तर पर असंलग्न समझने का कोई विशेष कारण नहीं है। **कृत्रिम** नियमों की तार्किक स्थिति की अस्पष्टता के कारण यह समस्या अनिर्णीत रह जाती है। वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि ह्यूम उन दार्शनिकों के साथ बहुत दूर तक जाने के लिए सन्नद्ध थे जो सामाजिक नियमों की अन्तर्वैयक्तिक प्रकृति एवं मानवीय कर्मों के विधि-नियन्त्रित्व के समर्थन में तर्क देते हैं। ह्यूम उन दार्शनिकों के साथ इस बात पर भी सहमत हो सकेंगे कि भाषा अनिवार्यतः सामाजिक होती है, यद्यपि यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकेगा कि वे सामाजिक संस्थिति में मानवीय कर्मों को अनिवार्यतः भाषा-परक मानेंगे। बल्कि वे ऐसा कहेंगे कि किसी भाषा को सीखने का अर्थ है एक जन-समूह के अन्तर्गत दूसरों के साथ कुछ नियमों के पालन में भाग लेना, ठीक उसी तरह जैसे अर्थपूर्ण व्यवहार सीखने का तात्पर्य है सामान्य नियमानुसार आचरण की शिक्षा प्राप्त करना। इस दृष्टि से, ह्यूम को यह मानना पड़ेगा कि कार्यों के ऊपर विधि-मूलक नियन्त्रण रहता है, अतः कार्य युक्तियुक्त अथवा अयुक्तियुक्त हो सकते हैं, जैसे भाषागत प्रयोग शुद्ध या अशुद्ध होते हैं। किन्तु इन दोनों ही स्थितियों में ह्यूम के लिए नियमों का प्रारम्भिक औचित्य उनकी सुविधा या उपयोग में निहित है। यह भी कहा जा सकता है कि चूँकि मानव एक सामाजिक प्राणी है, मानवीय कार्यों की यथार्थता सामाजिक संस्थितियों की सहायता से **परिभाषित** होती है। हम एक सर्वसामान्यात्मक जगत् के अधिवासी हैं, एवं 'सामाजिक मनोवेग' हमें सामाजिक संस्थितियों में कार्य हेतु प्रेरित करते हैं। 'ट्रीटिज़' के तृतीय खण्ड में उस 'गर्व' को भी, 'सामाजिक मनोवेग' कहा गया है जो ह्यूम के अनुसार ही एक "शुद्ध" संवेग है; ऐसा कहना उचित भी है। चूँकि सामाजिक होने पर हमारे मनोवेग यथार्थता के सामाजिक प्रतिमानों का पूर्वानुमान करेंगे, वे मात्र एक सर्वसामान्यात्मक जगत् में ही अनुभूत होंगे। (इस विषय पर अपने ग्रन्थ 'ट्रीटिज़' के पृ० ४९१ पर ह्यूम ने अपना सुस्पष्ट वक्तव्य प्रस्तुत किया है: "**अहम्मन्यता**" को भी एक सामाजिक मनोवेग के रूप में मान लेना चाहिए।" इस सन्दर्भ में हम आत्मप्रशंसा के रूप में गर्व एवं प्रतिष्ठा की इच्छा के रूप में 'अहम्मन्यता' के बीच सूक्ष्म पार्थक्य को अनदेखा कर सकते हैं। इससे भी अधिक महत्त्व-पूर्ण तथ्य यह है कि गर्व एवं अहम्मन्यता दोनों के ही समान गुण, परिस्थितियाँ और कारण हैं।

'मानवीय रूढ़ियाँ' या 'मानव-समाज' (ये ह्यूम की उक्तियाँ हैं) के होते सामाजिक संस्थिति में मानवीय कर्मों का नियम नियन्त्रित होना सम्भव प्रतीत होता है; और यदि ऐसा हो, जिस पर ह्यूम भी सहमत हैं, तो ऐसे कार्य सामाजिक नियमों द्वारा परस्पर-संयुक्त होते हुए अर्थपूर्ण बन जाते हैं। अतः मानवीय कार्यों की युक्तियुक्तता एवं अयुक्तियुक्तता का प्रश्न अप्रासंगिक नहीं है। ह्यूम ने अपने ग्रन्थ के तृतीय खण्ड में जो विवेचन प्रस्तुत किया है उसमें हम पाते हैं कि उनके समाज-दर्शन एवं मनोवेग दर्शन में सर्वत्र संगत नहीं हैं।

उनके अनुसार, 'युक्तियुक्त' एवं 'अयुक्तियुक्त' ये दोनों शब्द 'सत्य' एवं 'असत्य' के सजातीय हैं। ऐसा भी प्रतीत होता है कि इन उपर्युक्त शब्दों को ह्यूम 'श्लाघनीय' अथवा 'निंदनीय' इन अनुमोदन-शक्ति के अधिकारी पदों से पृथक् बनाये रखना चाहते थे। पर क्या हम ऐसा कह सकते हैं कि एक ही कार्य 'श्लाघनीय' भी है और 'अयुक्तियुक्त' भी? ऐसा कहना कुछ ठीक नहीं जँचता। यदि 'युक्तियुक्त' शब्द 'सत्य' पद से सजातीय होने के कारण मुख्यतः एक वर्णनात्मक अभिधा हो तो भी हम सम्भवतः यह नहीं कह सकते कि किसी कार्य को 'श्लाघनीय' कहकर अनुमोदित करना उसकी युक्तियुक्तता अथवा अयुक्तियुक्तता से सम्बन्धित नहीं है। किसी कार्य को युक्तियुक्त कहना उसे एक प्रकार से अनुमोदित करना भी है। यदि ह्यूम मानवीय कार्यों के बारे में 'युक्तियुक्त' अथवा 'अयुक्तियुक्त' इन शब्दों का व्यवहार स्वीकार करते हैं तो इसके उपरान्त भी वे इस अवधारणा को बनाये रख सकते हैं कि ये शब्द 'श्लाघनीय' एवं 'निंदनीय' इन शब्दों से तार्किक स्वातन्त्र्य सँजोये रखते हैं। यह अभिमत ह्यूम की युक्ति-सम्बन्धी उस अवधारणा के साथ संगतिपूर्ण है जिसके अनुसार युक्ति का अर्थ है—सत्य या असत्य का प्रकाशन।

हमने अबतक ह्यूम की विवेचना के अन्तर्गत उनके दो विचार-संकेतों को सम्मुख लाने का प्रयास किया। इनमें से एक के अनुसार हम मानवीय कर्मों के सन्दर्भ में 'युक्तियुक्त' आदि पदों का व्यवहार केवल तभी कर सकते हैं जब वे कारणतया स्पष्टीकरण योग्य हों। इसे हम नियमिततावादी दृष्टिकोण कह सकते हैं। दूसरे मतानुसार, मानवीय कार्यों की युक्तियुक्तता अथवा अयुक्तियुक्तता के प्रश्न केवल सामाजिक नियमों के सन्दर्भ में ही निर्णीत होते हैं। सामाजिक संस्थिति में मानवीय कार्यों की यथार्थता इनके ही नियम-निर्देश द्वारा आपादित होती है। इसे हम नियम-निर्देश-मूलक दृष्टिकोण कहेंगे। अब ह्यूम की दार्शनिक स्थापना के अनुसार नियमों एवं नियमितताओं के बीच किस प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं? ये दो अभिमत उतने विसंगतिपूर्ण नहीं हैं जितने प्रतीत होते हैं। इनमें से किसी एक को स्वीकारने से दूसरे का अस्वीकार आवश्यक नहीं है। बहुधा मानवीय कार्यों में नियमितता को नियमों के अस्तित्व के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। नियमितता का पहलू हमें कार्यों में अर्थ के संधान हेतु प्रेरित करता है। ह्यूम के लिए सामाजिक संस्थिति में एवं मानवीय कार्य हेतु नियमितता नियमों को आपादित करती है। 'ट्रीटिज़' के पृ० ४७५ में उनके अनुसार "कर्म अपने आप में कृत्रिम होते हैं।" इसका निष्कर्ष यह निकालना चाहिए कि कार्य-कर्त्ता एवं प्रेक्षकों को जो अवधारणाएँ उपलब्ध होती हैं उनके माध्यम से सामाजिक संस्थितियों में संपादित मानवीय कर्म व्याख्येय

होते हैं। ऐसी अवधारणाएँ उन सामाजिक नियमों के दर्पण-बिम्ब हैं जो इन कार्य-कर्त्ताओं एवं प्रेक्षकों के सामाजिक जीवन को आकार प्रदान करते हों। ये **कृत्रिम** नियम मानव-समाज को **परिभाषित** करते हैं। अतः मानवीय कार्यों के मध्य एक अर्थगत संयोग विद्यमान रहता है। ट्रीटिज़ के पृ० ४९० के अधोलिखित अनुच्छेद में इस सिद्धान्त को एक परोक्ष स्वीकृति प्राप्त होती है : **हममें से प्रत्येक का कार्य दूसरों के कार्यों को निर्देशित करता है** एवं वे इस मान्यता के आधार पर क्रियान्वित होते हैं कि दूसरों को भी कुछ करना पड़ेगा। जो दो व्यक्ति नाव की पतवार चलाते हैं, वे एक समझौते या रीति का निर्वाह कर ही ऐसा करते हैं, जबकि उन्होंने कभी भी एक-दूसरे को ऐसा वचन नहीं दिया होगा।")—[अधोरेखन निबन्ध-लेखक द्वारा]

मानवीय कार्यों की इस विशिष्टता का अर्थ शायद ही यह हो कि नियमितता सम्बन्धी तथ्य या तो अनावश्यक हैं अथवा भ्रमात्मक। मानवीय कार्यों के स्पष्टीकरण हेतु नियमितता आवश्यक है, यद्यपि सर्वथा यथेष्ट नहीं।

विश्वभारती, शान्तिनिकेतन

धर्म की पुरुषार्थता*

रघुनाथ गिरि

भारतीय चिन्तन-परम्परा में धर्म को पुरुषार्थ माना जाता है। पुरुषार्थ के अन्तर्गत धर्म के अतिरिक्त अर्थ, काम और मोक्ष का समावेश होता है। इस प्रसंग में इन दोनों शब्दों (धर्म तथा पुरुषार्थ) का प्रयोग इतना सहज, सरल एवं स्पष्टार्थक प्रतीत होता है कि इस पर किसी प्रकार के प्रश्न का उठना, शंका या सन्देह का होना स्वाभाविक नहीं लगता। किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर इनकी अस्पष्टार्थता तथा इनसे व्यक्त होने वाली अवधारणाओं के स्वरूप की जटिलता एवं अनिश्चयात्मकता का बोध होने लगता है। धर्म और पुरुषार्थ में तादात्म्य की व्याख्या के लिए दोनों के स्वरूप का निर्धारण आवश्यक हो जाता है और इनके स्वरूप-निर्धारण के लिए उन प्रक्रियाओं को अपनाना पड़ता है जो किसी शब्द के अस्पष्टार्थता के निवारण में सहायक होती है।

यह एक सामान्य नियम के रूप में माना जाता है कि किसी वाक्य के अर्थबोध के लिए उसके शब्दों का अर्थबोध आवश्यक है। इस नियम से "धर्म पुरुषार्थ है" इस वाक्यार्थ की स्पष्टता के लिए धर्म, पुरुष तथा अर्थ शब्द का स्पष्टीकरण आवश्यक हो जाता है।

भारतीय वाङ्मय में ये तीनों शब्द अनेकार्थक हैं और प्रसंग के आधार पर इनके अर्थ का निर्धारण होता है। इसलिए यहाँ इनके समस्त अर्थों पर विचार न कर केवल उन्हीं अर्थों पर विचार किया जायगा जो प्रस्तुत प्रसंग के लिए आवश्यक होंगे।

सर्व प्रथम हम पुरुषार्थ शब्द को लेते हैं जो दो शब्दों से बना है, पुरुष का अर्थ। यहाँ अर्थ शब्द प्रयोजन, लक्ष्य, साध्य, उपेय तथा उपाय एवं साधन का निर्देश करता है। प्रस्तुत प्रसंग में पुरुष शब्द के तीन अर्थ विशेष विचारणीय प्रतीत होते हैं। प्रथम पुरुषसूक्त में वर्णित पुरुष या वेदान्त का आत्मा पुरुष शब्द से लिया जा सकता है, जो अपनी विभुता, व्यापकता में सबको समाविष्ट किये हुए है, जो विशुद्ध चिन्मय तत्त्व है, जो परम तत्त्व है, जो महान, पूर्णकाम तथा आप्तकाम है। पुरुष शब्द से यह अर्थ लेने पर अर्थ शब्द से संकेतित लक्ष्य, प्रयोजन, उद्देश्य, साधन प्रयत्न, आदि के साथ इस परमतत्त्व के सम्बन्ध की संगति नहीं बन पाती, क्योंकि ऐसा सम्बन्ध मानने पर उसकी (परमतत्त्व की) महत्ता, आप्तकामता, आत्मपूर्णता आदि की मान्यता के साथ विरोध उपस्थित हो जाता है। द्वितीय अर्थ सांख्य दर्शन के आधार पर चेतन या जीव या प्राणिमात्र लिया जा सकता है।

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ में २५–२८ सितम्बर १९७६ में आयोजित २१ वें वार्षिक अधिवेशन में धर्म-दर्शन विभाग के अध्यक्ष पद से भाषण।

सांख्य दर्शन इसी पुरुष के प्रयोजन (भोग तथा अपवर्ग) के लिए अचेतन प्रकृति की समस्त क्रियाओं, उसके विकास, उसकी सृष्टि-रचना की सार्थकता सिद्ध करता है। जीव मात्र के लिए भोग की संगति मान लेने पर भी पुरुषार्थ के साथ जीवमात्र का सम्बन्ध संगत नहीं लगता क्योंकि भोग और पुरुषार्थ में विरोध स्पष्ट दीखता है। भोग क्रम-प्राप्त सहज प्रवृत्ति-जन्य होता है। इसमें भोक्ता की परवशता तथा बाध्यता होती है। इसमें अनिवार्यता एवं अवश्यम्भाविता है। किन्तु पुरुषार्थ साधन-सापेक्ष है। इसकी प्राप्ति पुरुष-प्रयत्न से सम्भव है। इसमें संकल्प-स्वातन्त्र्य की अपेक्षा है। यह पुरुष के संकल्प, प्रयत्न, प्रयास से सम्भव है। इसकी प्राप्ति या प्राप्ति-प्रयत्न में गौरव, गरिमा, स्वाधीनता, महत्ता आदि के भाव निहित हैं।

भोग और पुरुषार्थ के इस विरोध के आधार पर ही भारतीय धार्मिक एवं पौराणिक परम्परा जीव की चौरासी लाख योनियों को भोग-योनि और कर्म-योनि नाम से दो वर्गों में विभक्त करती है। पुराणों ने तो यहाँ तक कहा है कि विधाता समस्त भोग-योनियों की रचना कर खेद का अनुभव करने लगे। उन्हें अपने कार्य से सन्तोष नहीं हुआ। क्योंकि उनकी रचना के समस्त प्राणी—देव-तिर्यक्, पशु-पक्षी में से कोई साधक नहीं था। अन्त में जब उन्होंने मानव की रचना की तो इसे पुरुषार्थ का साधक बनाया और इसे अपनी सृष्टि का सिरमौर देखकर अपनी कृति पर उन्हें सन्तोष हुआ। उक्त निरूपण प्रस्तुत प्रसंग में पुरुष शब्द के अर्थ-निर्धारण में विशेष महत्त्व का है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पुरुषार्थ-साधकता केवल मानव में ही है, जीव मात्र में नहीं। अतः पुरुष शब्द का तीसरा अर्थ मानव मात्र है जिससे पुरुषार्थ की संगति बन पाती है। पुरुषार्थ के अन्तर्गत धर्म का स्थान भी इस अर्थ-निर्धारण में अपनी विशेष भूमिका का निर्वाह करता है। क्योंकि अन्य पुरुषार्थों के साथ जीवमात्र के सम्बन्ध की संगति किसी प्रकार स्थापित करने की बात सोची भी जाय तो भी धर्म के साथ इस संगति की कल्पना नहीं हो सकती। क्योंकि धर्म वह व्यावर्तक गुण माना जाता है जिसके कारण मनुष्य अन्य प्राणियों से भिन्न होता है। नीतिज्ञों ने[1] यह स्पष्ट कहा है कि धर्म ही मानव की विशेषता है, उससे हीन मानव पशु के समान है।

इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि पुरुषार्थ मानव का लक्ष्य, उद्देश्य, प्रयोजन, साध्य, इष्ट या उपेय है। यह मानव-जीवन का यथार्थ न होकर आदर्श है जिसकी प्राप्ति में मानव-जीवन की सार्थकता निहित है। जिसकी प्राप्ति तथा प्राप्ति के प्रयत्न में मनुष्य स्वतन्त्र है, किन्तु इस दिशा में सचेष्ट होना उसके गौरव तथा गरिमा के अनुरूप है। इससे विरत होकर वह पथभ्रष्ट बन जाता है, अपनी महत्ता से गिर जाता है।

पुरुषार्थ के इस स्वरूप के विवेचन के पश्चात् इस समस्या का दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष धर्म के स्वरूप का निर्धारण है। क्योंकि पुरुषार्थ के सन्दर्भ में धर्म के अनेक अर्थ, जैसे—स्वभाव, प्रकृति, सार, अनिवार्य वैशिष्ट्य आदि महत्त्वहीन हो जाते हैं। धर्म के स्वरूप निर्धारण के आधार के रूप में एक ओर धर्म के लक्षण और परिभाषाओं को प्रस्तुत किया जा सकता है और दूसरी ओर इसकी सामान्य मान्यताओं (सत्यावयों के रूप में) को रखा

जा सकता है। इन लक्षणों एवं परिभाषाओं के विश्लेषण तथा धार्मिक सम्प्रदायों के आधारभूत पहलुओं के विवेचन से यह स्थापित किया जा सकता है कि धर्म के वे कौन से तत्त्व या पहलू हैं जिनका पुरुषार्थ के साथ तादात्म्य है तथा जिनके कारण धर्म में पुरुषार्थता आती है और धर्म को पुरुषार्थ कहना संगत बन जाता है। धर्म के लक्षण या परिभाषाओं की महती संख्या को देखते हुए यह मानना पड़ता है कि सभी का विश्लेषण या विवेचन एक छोटे निबन्ध में सम्भव नहीं है। अतः प्रस्तुत निबन्ध में केवल कतिपय लक्षणों तथा परिभाषाओं के विश्लेषण तथा विवेचन को उपस्थित किया जा सका है। मुख्य रूप से यह समस्या भारतीय चिन्तन-धारा की है किन्तु तुलनात्मक दृष्टि उपस्थित करने के लिए भारतीय धर्म-लक्षणों के साथ पाश्चात्य चिन्तकों द्वारा प्रदत्त धर्म की कतिपय परिभाषाओं का भी विश्लेषण किया गया है।

भारतीय दृष्टि से धर्म के स्वरूप को उपस्थित करने के लिए मनु-स्मृति, महाभारत, कणाद तथा जैमिनी के लक्षणों का अत्यधिक महत्त्व है। अतः उन्हें ही संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है।

मनु ने तीन प्रकार से धर्म को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है—(क) आचारः परमो धर्मः[2] (परम आचार धर्म है); (ख) धृति, क्षमा आदि धर्म के दश लक्षण हैं,[3] (ग) वेद, स्मृति, सदाचार तथा अपने आत्मा को प्रिय लगना ये धर्म के चार साक्षात् लक्षण हैं।[4] इन लक्षणों में प्रथम लक्षण सामान्य स्वरूप-निर्देशक लक्षण है। इसमें आचार या कर्तव्य को धर्म कहा गया है किन्तु किसी प्रकार के कर्तव्य या आचार (जो यथेच्छ भी हो सकते हैं) में धर्म-लक्षण की अतिव्याप्ति निवारण हेतु मनु ने आचार में परम विशेषण लगाया है। जिससे सभी आचार को धर्म न कहकर परम आचार को ही धर्म कहा जायगा। कभी-कभी इस परम को धर्म का विशेषण मानकर इसकी व्याख्या की जाती है किन्तु धर्म के विशेषण के रूप में इसे स्वीकार करना संगत नहीं लगता, क्योंकि "परम" विशेषण न तो धर्म का स्वरूप-परिचायक हो सकता है और न इतर व्यावर्तक। परम विशेषण धर्म की किसी ऐसी विशेषता को नहीं बतलाता जो धर्म में निहित न हो और मनु-स्मृति में कहीं भी ऐसे धर्म की चर्चा नहीं है जिसे अपरम धर्म के रूप में स्वीकार कर इसे व्यावर्तक विशेषण मान लिया जाय। इसलिए प्रस्तुत व्याख्या में इसे आचार का विशेषण स्वीकार किया गया है जो इतर-व्यावर्तक (स्वेच्छाचार का निवारक) होने के कारण सार्थक है।

दूसरा लक्षण दस कर्तव्यों की एक सूची प्रस्तुत करता है। यह सूची निदर्शन-सूची प्रतीत होती है, संग्रह सूची नहीं। क्योंकि इस सूची को बढ़ाकर भागवत्[5] पुराण ने इसमें तीस कर्तव्यों को सम्मिलित किया है। प्रथम तथा द्वितीय लक्षण को एक साथ रखने पर मनु का अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है कि धृति, क्षमा आदि या इनके समान अन्य कर्तव्य या आचार धर्म हैं।

मनु का तृतीय लक्षण स्रोत-निर्देशक या प्रमाण-प्रदर्शक लक्षण कहला सकता है। वह धर्म के स्रोतों या प्रमाणों को उपस्थित करता है। जिसमें वेद, स्मृति, सदाचार तथा अपने आत्मा को प्रिय लगना इन चार को उपस्थित किया गया है। धर्म के निर्णायक के रूप में

क्या ये चारों परस्पर निरपेक्ष हैं ? क्या ये परस्पर सहयोगी हैं ? क्या इनका सम्मिलित उपयोग होता है ? इनमें महत्ता की दृष्टि से क्या कोई तारतम्य है ? परस्पर विरोधी होने पर अन्तिम निर्णायक कौन हो सकता है ? आदि प्रश्न महत्त्वपूर्ण हैं किन्तु समयाभाव के कारण यहाँ इनका विचार नहीं किया गया है ।

जब मनु के उक्त तीनों लक्षणों में एकवाक्यता स्थापित की जाती है तो यह अर्थ निकलता है कि वेदादि द्वारा आदिष्ट या अनुमोदित, धृति, क्षमा आदि तथा इनके समान परम आचरण धर्म हैं । इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मनु आचरण या कर्तव्य को, किसी असंदिग्ध आदेशक (जो केवल बाह्य ही नहीं है अपितु जिसमें अपना आत्मा भी सम्मिलित है) के द्वारा आदिष्ट आचरण या कर्तव्य को धर्म कहते हैं । पुरुषार्थ के उक्त स्वरूप के साथ मनु के धर्म के स्वरूप का तादात्म्य भलीभाँति स्थापित हो सकता है तथा यह कहा जा सकता है कि कर्तव्य रूप होना ही धर्म की पुरुषार्थता है ।

महाभारत[६] तथा कणाद[७] दोनों ने धर्म के अपने लक्षण में धर्म के कार्य, प्रयोजन, फल या परिणाम का निर्देश किया है । महाभारत धर्म शब्द की व्युत्पत्ति (धारणात् धर्म) का प्रदर्शन करते हुए प्रजा के धारण स्वरूप प्रयोजन या कार्य का निर्देश करता है । जबकि कणाद की परिभाषा स्पष्ट रूप से अभ्युदय तथा निःश्रेयस की सिद्धि को धर्म के प्रयोजन के रूप में स्वीकार करती है । उक्त दोनों लक्षणों से यह संकेत मिलता है कि धर्म व्यक्ति के किसी तुच्छ स्वार्थ का साधन नहीं है अपितु इसका प्रयोजन प्रजा को बाँधना, प्रजा को धृत रखना या अभ्युदय करना है ।" इस प्रयोजन की सिद्धि ऐसे कर्तव्यों के द्वारा ही सम्भव है जिनके करने से समाज की व्यवस्था सम्यक् प्रकार से चल पाती है । ऐसे तो अर्थ और काम भी प्रजा के विकास तथा सामाजिक जीवन के लिए अपेक्षित हैं किन्तु इनका स्वतन्त्र अवलम्बन विघटन, अव्यवस्था तथा विभेद की ओर ले जाता है । धर्म इस विघटन, अव्यवस्था तथा विभेद को दूर कर एकता, सामंजस्य तथा समता स्थापित करने में सहायक होता है । इससे अनुमोदित अर्थ और काम भी संघटनात्मक बन जाते हैं । किन्तु समाज का कुछ दुर्भाग्य ही ऐसा है कि व्यक्ति अर्थ और काम की ओर जिस आतुरता से झुकता है धर्म की ओर उस प्रकार नहीं झुकता जिससे विघटन उत्पन्न हो जाता है और अर्थ तथा काम भी अपना महत्त्व खो देते हैं । धर्म के साथ संगत होने पर इनका भी महत्त्व बढ़ जाता है । इसी आशय का संकेत व्यास के इस वचन में मिलता है कि "भुजा उठाकर चिल्लाकर कहता हूँ और कोई मेरी बात नहीं सुनता है । धर्म से ही अर्थ और काम की निष्पत्ति होती है, उस धर्म का सेवन लोग क्यों नहीं करते ?"[८] कणाद् के लक्षण में अभ्युदय, तथा निःश्रेयस् का निर्देश विशेष महत्त्व रखता है । अभ्युदय सार्वभौम, जागतिक है जो समष्टि के उदय, उत्थान या विकास से सम्बन्ध रखता है । इसका अर्थ व्यक्तिगत उत्थान मानना संगत नहीं हो सकता । गान्धी तथा विनोबा की भाषा में इसे सर्वोदय कहा जा सकता है । इस प्रकार धर्म उन कर्तव्यों का नाम है जो समष्टि के उत्थान में सहायक सिद्ध होते हैं । इस लक्षण की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें अभ्युदय तथा निःश्रेयस दोनों को एक साधना (धर्म) का साध्य या लक्ष्य माना गया है । इससे यह स्पष्ट होता

है कि अभ्युदय तथा निःश्रेयस् कठोपनिषद् के प्रेय तथा श्रेय के समान परस्पर विरोधी नहीं हैं जिसमें एक को चयन करना दूसरे से वंचित होने के लिए पर्याप्त हो जाता है तथा श्रेय की तुलना में प्रेय को चयन करने वाला लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाता है।[९] यहाँ एक ही साधन से दोनों की सिद्धि का निर्देश उनमें क्रमिक सोपानता की स्थापना करता है। अर्थात् अभ्युदय देने वाले कर्म साक्षात् या परम्परया निश्रेयस् की ओर ले जाते हैं। इन लक्षणों से भी धर्म की साधना या कर्तव्य रूप पुरुषार्थता आपादित होती है।

धर्म के स्वरूप-विवेचन में पूर्वमीमांसा का विशेष महत्त्व है। इसके प्रवर्तक जैमिनी[१०] का धर्म लक्षण एक नवीन एवं भिन्न दृष्टि का संकेत करता है। जैमिनी के लक्षण से भी यह स्पष्ट होता है कि धर्म कर्तव्य है। किन्तु केवल कर्म या कर्तव्य का हो जाना धर्म होने के लिए पर्याप्त नहीं है अपितु उसे किसी आदेशात्मक वाक्य, प्रेरणा के द्वारा आदिष्ट या निर्दिष्ट होना चाहिए। यदि कर्म किसी आदेश या प्रेरणा के अनुपालन में नहीं है तो उसे धर्म कहना संगत नहीं है। किन्तु सभी आदेश या प्रेरणाएँ कर्म में धर्मता उत्पन्न नहीं करतीं। उसके लिए आदेष्टा की निःस्वार्थता, गरिमा, सर्वज्ञता आदि निःसंदिग्ध रूप से सिद्ध होनी चाहिए[११] तथा आदिष्ट कर्तव्य को श्रेयस्कर होना चाहिए।[१२] इस सन्दर्भ में यह भी जान लेना आवश्यक है कि मीमांसकों ने वेद के आदेश को ही धर्म का बीज माना है क्योंकि वे वेद को नित्य, अनादि एवं निर्दोष आदेश के रूप में स्वीकार करते हैं। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि वेद-वाक्यों की सार्थकता ही कर्तव्य-निर्देशन में है। यदि कोई वाक्य कर्तव्य का निर्देश नहीं करता तो वह सार्थक ही नहीं हो सकता, क्योंकि प्रेरक वाक्य को ही सार्थक वाक्य कहा जाता है। इसी आधार पर इन लोगों ने वेद वाक्यों को दो वर्गों में विभक्त किया है—सिद्धार्थक वाक्य और विधायक वाक्य। प्रथम के उदाहरण के रूप में सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म आदि वाक्यों को रखा जा सकता है और दूसरे के उदाहरण के रूप में (स्वर्ग कामो यजेत) "स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे" आदि को रखा जा सकता है। इसमें प्रथम वाक्य तब तक सार्थक नहीं हो सकता जबतक किसी अन्य विधायक वाक्य से संयुक्त नहीं हो जाता। अर्थात् उक्त प्रकार के ब्रह्म का चिन्तन करो आदि से संयुक्त होकर ही उक्त सिद्धार्थक वाक्य सार्थक बनता है। जैमिनी तो यहाँ तक मानते हैं कि यदि वेद वाक्य साक्षात् या परम्परया प्रेरणा का प्रयोजक नहीं बनता तो वह सार्थक नहीं हो सकता।[१३] अपनी इस स्थापना की सिद्धि के लिए मीमांसकों ने विषय दृष्टि से वेद वाक्यों को पाँच वर्गों में रखा है :—

१. विधिवाक्य—प्रवर्तनामूलक वाक्य जैसे, स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे।
२. नामधेय —यज्ञ के नाम-बोधक वाक्य।
३. मन्त्र —अनुष्ठान के लिए अर्थ-स्मारक वाक्य।
४. निषेध —समुचित कार्यों के निषेध करने वाले वाक्य।
५. अर्थवाद —किसी वस्तु के सच्चे गुणों को बताने वाले वाक्य।

इन पाँच वर्गों के विषय भेद होने पर भी इनका तात्पर्य विधि वाक्यों के समर्थन, अनुमोदन या सहायता करने में है। अन्त के चार विधि-वाक्य के अंगभूत होकर उसके

द्वारा आदिष्ट कार्य-सम्पादन में सहायक बनते हैं। मीमांसकों के उक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मीमांसाशास्त्र कर्तव्य के धर्म बनने के लिए किसी सर्वोपरि (जो गौरव और गरिमा की दृष्टि से सर्वोपरि हो, सत्ता, अधिकार या दण्ड की दृष्टि से नहीं) आदेश के महत्त्व को स्वीकार करता है। समय और परिस्थिति के अनुसार आदेष्टा, आदेश और अनुपालन के अर्थ में परिवर्तन किया जा सकता है किन्तु मीमांसा की इस दृष्टि के महत्त्व को स्वीकार करना पड़ता है कि आदेशक को स्वार्थ से ऊपर उठा हुआ होना चाहिए तथा आदिष्ट कर्तव्य, को श्रेयस्कर होना चाहिए।

मीमांसा का धर्म-विवेचन भी धर्म और कर्म या कर्तव्य में अभेद की स्थापना करता है जिसके साथ पुरुषार्थ की संगति निर्विवाद स्थापित हो जाती है।

भारतीय धर्मशास्त्रों में किये गए धर्म के वर्गीकरण से भी यह सिद्ध होता है कि धर्म और कर्तव्य अभिन्न हैं। सामान्यतया धर्म के तीन भेद किये गए हैं—

१. सामान्य धर्म–में उक्त सत्यादि कर्तव्यों को बतलाया गया है।

२. विशिष्ट धर्म के अनेक भेद हैं, जैसे—वर्णधर्म (प्रत्येक वर्णों के अलग-अलग कर्यव्य), आश्रम धर्म (प्रत्येक आश्रम के अलग-अलग कर्तव्य), कुल-धर्म (कुल के सदस्य के रूप में व्यक्ति के कर्तव्य), राजधर्म (राजा के जनहित, राष्ट्रहित-साधक कर्तव्य), युगधर्म (विभिन्न युगों में होने वाले स्वाभाविक कार्य), मित्र-धर्म, गुरुधर्म इत्यादि।

३. आपद्धर्म के अन्तर्गत उन कर्तव्यों को लिया जाता है जिनका आश्रयण विषम परिस्थिति, राष्ट्रसंकट या अन्य कोई दैवी आपदा के समय व्यक्तिगत जीवन राष्ट्र-रक्षा या समाज-व्यवस्था की रक्षा के लिए आवश्यक होता है, किन्तु जो सामान्य परिस्थिति में जो कर्तव्य नहीं माने जाते।

कर्तव्य के सम्बन्ध में एक सामान्य धारणा है कि कर्तव्य को प्रकृति या स्वभाव के अनुसार होना चाहिए किन्तु भारतीम चिन्तकों ने सामान्य स्वभाव के आधार पर किये जाने वाले कर्मों को धर्म नहीं माना है। उनके अनुसार कर्म को धर्म, अभ्युदय-साधन, समाज-व्यवस्था के हेतु आदि बनने के लिए नियमित एवं नियन्त्रित होना पड़ता है। सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार होने वाले कर्म स्वभाव हो सकते हैं पर धर्म नहीं। क्योंकि कर्म की धर्मता स्वभाव के नियन्त्रण में है। इसलिए मनु[१४] ने कहा है कि माँस-भक्षण, मदिरापान, मैथुन आदि में कोई दोष नहीं है। ये तो प्राणिमात्र की सामान्य प्रवृत्तियाँ हैं। किन्तु इनकी निवृत्ति अधिक महत्त्व की है, उसीमें मानवीय विशेषता है। गीता[१५] में इसका समर्थन करते हुए कहा गया है कि प्रत्येक इन्द्रिय का अपने विषय (उपभोग्य या त्याज्य) के साथ अनुकूल या प्रतिकूल सम्बन्ध स्वभाव-सिद्ध है। अतः इनके वश में हमें नहीं जाना चाहिए क्योंकि ये दोनों (राग-द्वेष) हमारे शत्रु हैं।

उक्त निर्वचन इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए सहायक हैं कि धर्म को पुरुषार्थ होने के लिए कर्तव्य या कर्म रूप होना चाहिए। कर्तव्य को धर्म बनने के लिए किसी व्यापक

एवं उच्चतर प्रयोजन के साधन के रूप में होना चाहिए। उसे प्रकृति का अनुसरण करने वाला न होकर प्रकृति पर नियमन या नियन्त्रण के रूप में होना चाहिए। काणे[16] ने भी धर्म के इसी स्वरूप को स्वीकार किया है।

धर्म को परिभाषित करने में पाश्चात्य चिन्तन-धारा ने भी महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किया है। इन परिभाषाओं की संख्या, विविधता तथा विलक्षणता इतनी अधिक है कि सबके सम्बन्ध में संक्षिप्त विवेचन भी इस छोटे निबन्ध की सीमा में समाविष्ट नहीं हो सकता। इसलिए विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधित्व करने वाली कतिपय परिभाषाओं का उल्लेख मात्र करके प्रस्तुत प्रसंग के साथ उसकी संगति का विचार किया गया है।

अपने विवेचन की सुविधा हेतु इन परिभाषाओं को हमने निम्नलिखित वर्गों में रखा है—

१. मानव-स्वभाव के किसी पक्ष विशेष (ज्ञानात्मक, संवेगात्मक या भावात्मक, संकल्पात्मक आदि) से धर्म का सम्बन्ध द्योतित करने वाली परिभाषाएँ—

(क) ज्ञानात्मक पक्ष पर अधिक बल देने वाली परिभाषाएँ :—इस वर्ग के प्रतिनिधित्व करने वाले चिन्तकों में हेगेल,[17] मैक्समूलर,[18] हर्बर्ट स्पेन्सर[19] आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनकी परिभाषाओं से यह परिलक्षित होता है कि ये धर्म को किसी न किसी प्रकार ज्ञान के साथ जोड़ते हैं। इनके मत में ज्ञान और धर्म में किसी न किसी प्रकार अभेद या तादात्म्य है।

(ख) **श्रद्धा, विश्वास, संवेग या भावना पर अधिक बल देने वाली परिभाषाएँ** :—इस वर्ग में हम मार्टिन्यू,[20] इ० बी० टायलर[21] श्यालर माखर[22] आदि का नाम ले सकते हैं। इनकी परिभाषाओं में ईश्वर पर विश्वास, आस्था या संवेग, भावना आदि को विशेष महत्त्व दिया गया है तथा धर्म को इन्हीं के साथ सम्बन्धित या इन्हीं से अभिन्न माना गया है।

(ग) **संकल्प पक्ष को प्रधानता देने वाली परिभाषाएँ** :—इस वर्ग में हम कांट[23] तथा फलाइडरेर[24] की परिभाषाओं को रख सकते हैं जिनमें ईश्वर-आदिष्ट संकल्प या कर्तव्य के साथ धर्म की तादात्म्य-स्थापन का प्रयत्न किया गया है।

२. **धर्म को गम्भीर दृष्टिकोण या आदर्श से जोड़ने वाली परिभाषाएँ** :—इस वर्ग के चिन्तकों में वर्जिलस फर्म,[25] जान केयर्ड[26] आदि के नाम का उल्लेख किया जा सकता है। इस वर्ग की परिभाषाओं में धर्म का सम्बन्ध आदर्श, उच्चतर लक्ष्य, वैश्व दृष्टिकोण आदि से जोड़ा गया है।

३. **मानवीय मूल्य को प्रधानता देने वाली परिभाषाएँ** :—इस वर्ग में हैरल्ड हार्फडिंग,[27] डब्लू० के० राइट,[28] हाकिंग[29] तथा ब्रैडले[30] की परिभाषाओं का विशेष महत्त्व है। इन परिभाषाओं में मानव-मूल्यों की रक्षा, इन मूल्यों में विश्वास, शुभ की सम्पूर्णता की अभिव्यक्ति आदि को धर्म के सार के रूप में स्वीकार किया गया है।

४. **उक्त तीनों पक्षों को समाविष्ट करने वाली परिभाषाएँ** :—इस वर्ग के प्रतिनिधित्व के लिए पेटर्सन,[31] व्राइटमैन[32] तथा गैलवे[33] की परिभाषाओं का उल्लेख

किया जा सकता है। ये परिभाषाएँ मानव-स्वभाव के उक्त समस्त पहलुओं, आदर्श, मूल्य आदि सभी को धर्म के स्वरूप के भीतर समाविष्ट करना चाहती हैं।

परिभाषाओं का उक्त वर्गीकरण यह स्पष्ट कर देता है कि धर्म के स्वरूप के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद हैं। किन्तु इनका विश्लेषण यह प्रदर्शित करता है कि इनमें से अधिकांश धर्म के स्वरूप में संकल्प, लक्ष्य, आदर्श, मूल्य, आचरण आदि का समावेश करती हैं। धर्म के स्वरूप में इन पहलुओं का अस्तित्व धर्म में पुरुषार्थता का समर्थन करता है।

यहाँ यह भी स्पष्ट करना उचित है कि पाश्चात्य विचारधारा में धर्म को पुरुषार्थ मानने की कोई स्पष्ट परम्परा नहीं है फिर भी धर्म की अधिकांश परिभाषाएँ ऐसी हैं जिनसे यह परिलक्षित होता है कि धर्म तथा पुरुषार्थ में साक्षात् या परम्परया संगति स्थापित की जा सकती है।

किसी लक्षण या परिभाषा की अपेक्षा न रखते हुए धर्म शब्द में सर्वसाधारण को जो बोध होता है वह है विभिन्न सम्प्रदाय, जैसे—हिन्दू, बौद्ध, जैन, ईसाई, इस्लाम, यहूदी ताओवाद आदि। भारतीय संविधान की धर्म, निरपेक्षता, डा० भगवानदास की सभी धर्मों की तात्त्विक एकता तथा महात्मा गांधी के सर्वधर्म-समभाव आदि में धर्म का अर्थ इन्हीं सम्प्रदायों से है। अतः यहाँ यह विचारणीय है कि क्या इनके साथ या इनके किसी पहलू विशेष के साथ पुरुषार्थ की संगति स्थापित की जा सकती है? साधारण अर्थ में धार्मिक होना किसी धार्मिक सम्प्रदाय का सदस्य होना है किन्तु धार्मिक सदस्यता से पुरुषार्थता की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि धार्मिक सदस्यता या तो जन्म से प्राप्त होती है अथवा दीक्षा से। दोनों में वे विशेषताएँ नहीं दीखतीं जो पुरुषार्थ के लिए अपेक्षित हैं।

इन धार्मिक सम्प्रदायों के अनेक आधारभूत तत्त्व या आधारभूत मान्यताएँ हैं, जैसे—ईश्वर या पराशक्ति, उसमें आस्था, विश्वास या श्रद्धा उसका ज्ञान या साक्षात्कार, उसकी भक्ति या उपासना, कर्मकाण्ड तथा संस्कार, सामाजिक संघटनात्मक कार्यों का सम्पादन, मानवमात्र या प्राणिमात्र की सेवा आदि।

इन आधारभूत पहलुओं में से अनेक ऐसे हैं जिनका पुरुषार्थ से सीधा सम्बन्ध नहीं है जैसे—पराशक्ति, ईश्वर का अस्तित्व तथा इनमें विश्वास, कर्मकाण्ड, उपासना, ज्ञान रहस्योपलब्धि आदि। क्योंकि एक ओर तो ये व्यक्ति के संकल्प-स्वातन्त्र्य से संगत नहीं हैं और दूसरी ओर इनमें व्यक्तिनिष्ठता अधिक है। उससे व्यक्ति को लाभ होता है या नहीं? यह प्रश्न यहाँ विचारणीय नहीं है, अपितु यह प्रश्न विचारणीय है कि इनसे व्यक्ति के दृष्टिकोण तथा आचरण में कोई गुणात्मक परिवर्तन होता है या नहीं? यदि इसका स्वीकारात्मक उत्तर हो तो यह निश्चय करना होगा कि इस परिवर्तन का उसके जीवन कर्तव्य, दायित्व, सामाजिक संगठनात्मक कार्यों पर कैसा प्रभाव पड़ता है? और तब यह निर्धारण किया जा सकेगा कि इनमें पुरुषार्थता किस सीमा तक आ सकी है।

धार्मिक सम्प्रदायों का अधिकांश भाग कर्मकाण्ड तथा संस्कार के रूप में परिलक्षित होता है जो मात्र औपचारिक हैं, इनसे व्यक्ति के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में कोई गुणात्मक परिवर्तन परिलक्षित नहीं होता जिससे यह कहा जा सके कि ये कर्मकाण्ड और संस्कार व्यक्ति के किसी उच्चतर लक्ष्य के साधक हैं।

प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय में महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में जीवन-यापन की आदर्शात्मक शैली, आचरण में शुचिता, मानवीय मूल्यों तथा उच्चतर मूल्यों का संरक्षण, संवर्धन एवं विस्तार, मानवहित, भूतहित आदि का उच्चादर्श तथा कर्तव्य-पालन आदि समर्थित, अनुमोदित एवं प्रतिष्ठापित होते हैं, जो वास्तव में धर्म के सार माने जा सकते हैं। ये ही तत्त्व धर्म को पुरुषार्थता प्रदान करते हैं। इन्हीं अर्थों में धर्म का पुरुषार्थ होना संगत लगता है। किन्तु धार्मिक जीवन में इनका व्यावहारिक महत्त्व क्या है? यह प्रश्न मैं विद्वानों तथा धर्मावलम्बियों के लिए छोड़ दे रहा हूँ कि वे निष्पक्ष विचार कर निर्णय करें कि धार्मिक सम्प्रदाय इन मूल्यों तथा आदर्शों को व्यावहारिक जीवन में चरितार्थ कराने में कहाँ तक सफल हो सके हैं? क्योंकि उनकी इस सफलता के आधार पर ही उनकी पुरुषार्थता का निर्धारण सम्भव हो सकेगा।

काशी विद्यापीठ, वाराणसी

पाद-टिप्पणियाँ

१. आहार निद्रा भय मैथुनञ्च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मों हि तेषामधिकोविशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥
२. आचारः परमो धर्मः —(मनु १+१०८)
३. धृति क्षमा दमो स्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्॥ ६।९२
४. वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षात् धर्मस्य लक्षणम्। २।१२
५. सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमौ दमः
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
सन्तोषः समदृक् सेवा ग्रामेहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेक्षा मौनमात्म विमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथाहृतः
तेष्वात्मदेवताबुद्धि सुतरां नृषुपाण्डव
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः
सेवेज्यावनतिदास्यं सख्यमात्म समर्पणम्।
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः
त्रिंशत् लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तृष्यति। ७।११।८–१२
६. धारणाद्धर्म इत्याहु र्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्माद्धारण संयुक्तं स धर्मः इति निश्चयः। शा० १०९।१२

७. यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः ।

८. ऊर्ध्वबाहुविरोम्येषः न च कश्चिच्छृणोति माम् ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते ॥

९. अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥ कठ ।२।१

१०. चोदना लक्षणोऽर्थः धर्मः (जै० १।१।२)

११. चोदना हि भूतं, भवन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं, विप्रकृष्टमित्येव जातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयितुं नान्यत् किंच नेदियम् । शवर भाष्य १।१।२

१२. तस्माच्चोदना लक्षणोऽर्थः श्रेयस्करः ।
य एव श्रेयस्करः स एव धर्म शब्देन उच्यते । शवर भाष्य १।१।२

१३. आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यमतदर्थानाम् ।

१४. न मांसभक्षणे दोषो न मदिरा न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतनां निवृत्तिस्तु महा फला ॥ मनु० ५–५६

१५. इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ गीता ३–३४

१६. धर्म कोई ईश्वरीय मत या विश्वास नहीं है और न यह किसी अलौकिक उत्सामाजिक शक्ति से सम्बन्धित है । अपितु यह जीवन के तरीके या आचरण की एक संहिता है जो व्यक्ति के व्यक्ति के रूप में या समाज के सदस्य के रूप में कार्यों का नियमन एवं नियन्त्रण कर उसके क्रमिक विकास में सहायता करते हुए उसके चरम लक्ष्य तक पहुँचाने में सहायक सिद्ध होता है ।
(धर्मशास्त्र का इतिहास)

१७. सीमित बुद्धि द्वारा अपने स्वरूप का असीमित अथवा पूर्ण बुद्धि के रूप में ज्ञान ही धर्म है ।

१८. धर्म वह मानसिक शक्ति या प्रवृत्ति है जिसके द्वारा मानव अनन्त का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होता है ।

१९. यह प्रत्यभिज्ञा कि सभी वस्तुएँ एक ऐसी शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं जो हमारे ज्ञान से परे है, धर्म है ।

२०. धर्म शाश्वत ईश्वर में विश्वास है ।

२१. आध्यात्मिक सत्ताओं में विश्वास ही धर्म है ।

२२. ईश्वर पर पूर्ण निर्भरता की भावना में ही धर्म का सार निहित है ।

२३. यह स्वीकृति कि हमारे सभी कर्तव्य दैवी आदेश हैं, धर्म है ।

२४. ईश्वर के विचार के अनुरूप संकल्प की दिशा ही धर्म है ।

२५. धार्मिक होने का अर्थ स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप में स्वीकृत गम्भीर तथा दूरस्थ लक्ष्य के साथ सामंजस्य स्थापित करना है ।

२६. धर्म आत्मा का ऐसे क्षेत्र में उत्थान है जहाँ आशा निश्चितता में, संघर्ष विजय में, सतत चेष्टा शान्ति व विश्राम में परिवर्तित हो जाती हैं ।

२७. मूल्यों की सुरक्षा में विश्वास ही धर्म का सार है ।

२८. धर्म वह प्रयास है जिसमें समाज से मान्यता-प्राप्त मूल्यों का कुछ विशिष्ट क्रियाओं द्वारा इस विश्वास के साथ संरक्षण किया जाता है कि ये क्रियाएं किसी मानवेतर शक्ति का आह्वान करती हैं जिन पर निर्भर रहा जा सकता है ।

२९. धर्म प्रत्याशित उपलब्धि है ।

३०. हमारी सत्ता के प्रत्येक पहलु के द्वारा शुभ की सम्पूर्ण यथार्थता को अभिव्यक्त करने की चेष्टा ही धर्म है ।

३१. हमारी सर्वोच्च प्रकृति तथा सम्पूर्ण वातावरण के मध्य सामंजस्य में विश्वास तथा इस विश्वास से उत्पन्न संवेग एवं विश्वास तथा संवेगों से अनुप्रेरित आचरण ही धर्म है।

३२. धर्म उन अनुभूतियों में अभिरुचि है जिन्हें परम मूल्यवान् माना जाता है, यह उस शक्ति या प्रयोजन के प्रति भक्ति है जिसे मूल्यों की सृष्टि, वृद्धि एवं सुरक्षा करने वाली माना जाता है तथा इसमें इस अभिरुचि एवं भक्ति की अभिव्यक्ति प्रतीकात्मक संस्कार तथा अन्य व्यक्तिगत और सामाजिक आचरण के द्वारा होती है।

३३. धर्म मानव द्वारा पराशक्ति में आस्था है जिसके द्वारा वह अपनी भावनात्मक आवश्यकताओं की संतुष्टि एवं जीवन में स्थिरता प्राप्त करने की चेष्टा करता है तथा जिसे वह पूजा और सेवा के कार्यों द्वारा अभिव्यक्त करता है।



विधि और नैतिकता

संगमलाल पाण्डेय

१. विधि का महत्त्व

विधि राजाज्ञा है। राजा का अर्थ सम्प्रभु राज्य है। उसकी आज्ञा अवश्य पालनीय और उल्लंघनीय होती है। विधि का उल्लंघन दण्डनीय होता है। अतः प्रत्येक राज्य के नागरिक अपने राज्य की विधि का अनुसरण करते हैं। विधि के अनुसरण में स्वार्थ और भय मुख्य प्रेरक हैं। स्वार्थ इसलिए प्रेरक है कि विधि का अनुसरण करने वालों को राज-भक्त माना जाता है और उन्हें राज-सेवा में पद प्रदान किये जाते हैं तथा राज्य की ओर से व्यापार, अनुदान, पुरस्कार, उद्योग आदि की सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। फिर, भय इस प्रकार प्रेरक है कि विधि का उल्लंघन करने वालों को शारीरिक, मानसिक और आर्थिक दण्ड दिये जाते हैं। अतः प्रायः दण्ड-भय से लोग विधि का अनुसरण करते हैं।

किन्तु विधि का प्रयोजन या साध्य स्वयं विधि या उसका पालन नहीं है। उसका प्रयोजन जन-कल्याण है। जो विधि जितना अधिक से अधिक लोगों का कल्याण करती है वह उतनी ही उत्तम है और जो ऐसा नहीं करती है वह निकृष्ट है। इस प्रकार विधि का मूल्यांकन उसके प्रयोजन और फल के आधार पर किया जाता है। विधि का महत्त्व जो कुछ भी है वह नैतिक ही है। विधि मनुष्यों को कुमार्ग से सन्मार्ग की ओर ले जाती है। इस प्रकार **नयनात् नीतिः** इस आधार पर वह नीति है। फिर वह मनुष्यों का पारस्परिक संरक्षण करती है इस कारण **धार्यते अनेन इति धर्मः** के आधार पर वह धर्म भी है।

परन्तु विधि सम्पूर्ण नीति और सम्पूर्ण धर्म नहीं है क्योंकि उसके उत्पत्ति, प्रवृत्ति और प्रयोजन सीमित हैं। उसकी उत्पत्ति किसी राज्य-विशेष के इतिहास, प्रथा, लोकाचार और धर्म से होती है। स्पष्ट है कि उसकी उत्पत्ति में समस्त मानवता के इतिहास, सदाचार और धर्म हेतु नहीं हैं। अतः उसमें सम्पूर्ण धर्म और नीति का समावेश नहीं होता है। पुनश्च, उसकी प्रवृत्ति केवल अपने राज्य के नागरिकों के हित-सम्पादन में रहती है, अन्य राज्य के नागरिकों के हित से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। वह **आत्मवत् सर्वभूतेषु** के सिद्धान्त को नहीं मानती है और स्व तथा पर का, शत्रु तथा मित्र का, विचार करती है। राज्य के अन्दर भी जो शक्तिशाली लोग अपना दल या गुट बनाकर राज्य पर हावी हो जाते हैं केवल उनकी इच्छा का ही प्रतिफलन विधि है, राज्य के अन्य वर्गों या लोगों की इच्छा का प्रतिफलन वह नहीं है। अन्त में, विधि का अनुशासन केवल बाहरी अनुशासन है। मनुष्य की अन्तरात्मा पर विधि का अनुशासन नहीं होता है। अन्तरात्मा

की आवाज़ पर काम करने वाले इसी कारण कभी विधि का विरोध करते हैं तो कभी उसकी उपेक्षा। परन्तु उनमें से अधिकांश विधि के कटघरे में फँसकर मर जाते हैं, किन्तु कुछ लोग उसके चंगुल से निकलकर विधि का विरोध करते हैं और विधि-संस्थापित राज्य का परिवर्तन करने में सफल हो जाते हैं। परन्तु जो लोग राज्य का परिवर्तन करते हैं वे भी अन्ततोगत्वा एक नयी विधि-व्यवस्था ही स्थापित करते हैं। इसलिए लगता है कि उनका विरोध विधि से नहीं अपितु विधि-विशेष से होता है। परन्तु यह विरोध सिद्ध करता है कि विधि सार्वभौम नियम नहीं है जबकि नैतिकता सार्वभौम नियम है। जबतक राष्ट्र-राज्य रहेंगे, जबतक राष्ट्रीयता का महत्त्व मानवता से अधिक आंका जायेगा, तबतक विधि का नैतिकता से भेद बना रहेगा।

विधि के विकल्प के रूप में लोगों ने धर्म-राज्य, राम-राज्य और अराजकता की कल्पना की है। मानव-सभ्यता के आदिम युग में विधि का उद्भव नहीं हुआ था। उस समय न कोई राजा था न प्रजा, न दण्ड था न दण्ड देने वाला। उस समय सभी लोग धर्म के अनुसार अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करते थे। उदाहरण के लिए महाभारत शान्तिपर्व में कहा गया है :

न वै राज्यं न राजाऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति स्म परस्परम्॥

अर्थात् पहले न राज्य था न राजा था, न दण्ड था न दण्ड देने वाला। सारी प्रजा धर्म के द्वारा ही अपना पारस्परिक संरक्षण कर लेती थी। यह स्थिति कभी सम्भव थी क्योंकि उस समय वर्ग, सम्पत्ति और अधिकार का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। स्वयं महाभारत के अनुसार लोगों में उस समय मोह, लोभ, क्रोध आदि नहीं थे। आज मनुष्य काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद और मात्सर्य से भरा हुआ है और वर्ग, सम्पत्ति, अधिकार तथा शक्ति की चेतना से वह ग्रस्त है। अतएव विधि को हटा देने से आज धर्मराज्य की स्थापना नहीं हो सकती है। महाभारत का कहना ठीक ही है कि मनुष्य की वर्तमान चेतना को देखते हुए उसके लिए विधि अनिवार्य है। यदि विधि का अभाव रहेगा तो मात्स्य न्याय होगा और शक्तिशाली लोग दुर्बल लोगों का भक्षण करेंगे तथा समाज में दुर्व्यवस्था आ जायेगी। इस दुर्व्यवस्था को रोकना विधि का प्राथमिक प्रयोजन है।

परन्तु यह उसका अन्तिम प्रयोजन नहीं है। उसका अन्तिम प्रयोजन समाज में सुव्यवस्था स्थापित करना है। इस सुव्यवस्था की कल्पना आदर्श राज्य के रूप में की गयी है। तुलसीदास का राम-राज्य और गांधी जी का सर्वोदय-राज्य तथा मार्क्स का पूर्ण समाजवाद ऐसी आदर्श कल्पनाएँ हैं जिनमें राज्य का अपने आप विघटन हो जाता है तथा राज्य के न रहने पर वहाँ विधि की जड़ ही उखड़ जाती है। किन्तु प्रश्न है कि क्या वह आदर्श राज्य यथार्थ हो सकता है? क्या राज्य का विघटन हो सकता है? क्या राज्य दण्ड-निरपेक्ष हो सकता है? क्या बिना विधि के समाज का संरक्षण हो सकता है? क्या विधि के बिना मनुष्य का जीवन-निर्वाह हो सकता है? इन सब प्रश्नों पर विचार करते से पता चलता है कि जब तक मनुष्य का वर्तमान स्वभाव बना रहता है, अर्थात् जबतक

वह शुभ और अशुभ का ज्ञान रखता है और अशुभ को जानते हुए भी उसको करने की ओर प्रवृत्त होता है तबतक न राज्य का विघटन होगा और न विधि का उच्छेद होगा। अभी मानव नैतिक प्राणी नहीं हो पाया है। अरस्तू ने उसे ठीक ही राजनीतिक पशु कहा है। जबतक उसका राजनीतिक स्वभाव नैतिक स्वभाव में विकसित नहीं हो जाता, जबतक मानव-सभ्यता के विकास-क्रम में नैतिक युग का प्रादुर्भाव नहीं होता, तबतक मनुष्य को राज्य के नियमों को मानना अनिवार्य है। अतः विधि और राज्य दोनों मानव-जीवन के लिए अनिवार्य हैं। बिना विधि के राज्य-व्यवस्था नहीं हो सकती और बिना राज्य-व्यवस्था के समाज-व्यवस्था नहीं हो सकती।

फिर भी अराजकतावादियों का यह विचार स्वस्थ प्रतीत होता है कि विधि का अनुशासन कम से कम होना चाहिए। ऐसी राज्य-व्यवस्था होनी चाहिए जिसमें प्रजा का शासन प्रजा के लिए बोझा न बन जाय और दण्ड-व्यवस्था जनता का शोषण न करे।

२. विधि की अपर्याप्तता

अब प्रश्न है कि क्या विधि अपने प्रयोजन को सिद्ध करने में सफल है? क्या विधि ने ऐसी राज्य-व्यवस्था दी है जिसमें बहुजन का सुख और हित होता है? क्या व्यवस्था के नाम पर विधि ने कुव्यवस्था को दूर किया है और सुव्यवस्था की नींव डाली है? क्या विधि ने कुराज्य को दूर करके सुराज्य की स्थापना की है? इन प्रश्नों पर विचार करने पर अत्यन्त चौंका देने वाले तथ्य उपलब्ध होते हैं। विधि ने जितना भ्रष्टाचार और शोषण किया है उतना अराजकता ने नहीं किया। विधि के नाम पर ही साम्राज्यवाद, सामन्तवाद, पूँजीवाद, फासीवाद तथा साम्यवाद स्थापित हुए हैं जिन्होंने मानवता के संत्रास, शोषण, अत्याचार, हिंसा आदि में वृद्धि की है। विधि ने ही वैज्ञानिक, नैतिक और धार्मिक महापुरुष का वध किया है। सुकरात को ज़हर का प्याला क्यों दिया गया? जेसस क्राइस्ट को फांसी क्यों दी गयी? ब्रूनो को जिन्दा क्यों जला दिया गया? इन सब का एकमात्र उत्तर विधि-व्यवस्था है। विधि ने ही इन महापुरुषों को मौत के घाट उतारा है। जिस किसी राज्य के इतिहास की समीक्षा की जाय तो पता चलेगा कि उसके कारण भ्रष्टाचार और अत्याचार की प्रकारान्तर से वृद्धि ही हुई है। उदाहरण के लिए पुलिस विभाग से जितनी हानि सभ्य समाज को हुई है उतना लाभ नहीं हुआ है। न्यायालय विभाग से न्याय की स्थापना की अपेक्षा अन्याय का ही पोषण अधिक हुआ हैं। ऐसा क्यों है?

इसके कारणों में जाने से विधि का पर्दा फाश हो जाता है। विधि का प्रयोजन मोह, भय आदि भावों को संयमित करना है, उनका दमन, संशोधन या उदात्तीकरण करना है। किन्तु विधि उल्टे उनको बढ़ाती है। विधि के नाम पर काम करने वाले केवल अपने स्वार्थ और मोह की पूर्ति करते हैं, वे अपने मोह को दूर नहीं करते हैं। विधि-व्यवस्था ने जितने चोरों, डाकुओं, हत्यारों और स्वार्थियों को जन्म दिया है उतना अराजकता ने नहीं दिया था। ज्यों-ज्यों विधि के शासन की बात की जाती है त्यों-त्यों वास्तव में व्यक्ति का शासन बढ़ता जाता है। अनैतिक लोगों को सुधारने में विधि का योगदान प्रायः नगण्य है, वैसे

सामान्य लोगों को अनैतिक बनाने में तथा कम अनैतिक को अधिक अनैतिक बनाने में विधि का योगदान विशेष प्रतीत होता है। न्याय की चाहे जो परिभाषा दी जाय किन्तु व्यवहार में न्याय सचमुच अधिक शक्तिशालियों का स्वार्थ ही सिद्ध होता है। इस कारण न्याय द्वारा गरीब, निरक्षर और कमज़ोर जनता का भला नहीं हो पाता है। सुराज्य की स्थापना को लक्ष्य में रखने पर भी विधि वास्तव में कुराज्य को दूर नहीं कर पाती है। प्रशासन का व्यय जितना बढ़ जाता है उतना जनता का कल्याण नहीं बढ़ता। रोटी लाने वाली दो बिल्लियों में रोटी का बँटवारा करने वाला बन्दर ही रोटी को खा जाता है और बिल्लियों को रोटी का एक टुकड़ा भी नहीं मिलता है। सारा प्रशासन और सारी विधि-व्यवस्था यही बन्दरबांट है। प्रशासन में भ्रष्टाचार इतना बद्धमूल है कि विधि उसका उन्मूलन करने में असमर्थ हो जाती है। स्वयं विधि की व्यवस्था और रक्षा करने वाले क्या भ्रष्टाचार से मुक्त हैं? वैधानिक परिभाषा के अनुसार भले ही उनको विधानतः भ्रष्टाचार से मुक्त सिद्ध कर दिया जाय किन्तु क्या वास्तव में और नीतितः वे भ्रष्टाचार से मुक्त हैं? सत्य का अन्वेषण करने वाले इतिहासकार इस प्रश्न का उत्तर निःसन्देह निषेध में देंगे। विधि भ्रष्टाचार को दूर नहीं कर सकती, उल्टे वह भ्रष्टाचार को प्रशासकीय पद्धति का अंग बना देती है।

तब क्या विधि का परित्याग कर दिया जाय ? पहले हम विधि की अनिवार्यता सिद्ध कर आये हैं और उससे स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि विधि का परित्याग सम्भव नहीं है। अतः हमारा निष्कर्ष है कि **विधि आवश्यक है किन्तु वह पर्याप्त नहीं है।** विधि की अनिवार्यता का तात्पर्य केवल इतना है कि विधि या कोई-न-कोई विधि या विधि-व्यवस्था आवश्यक है। पर वह कौन-सी विधि या विधि-व्यवस्था है जो मानव के लिए आवश्यक है, यह निर्णय करना आसान नहीं है। विधि के दो अर्थ हैं—जिन्हें हम यह-अर्थ और क्या-अर्थ कह सकते हैं। विधि अपने यह-अर्थ में अनिवार्य और नित्य है, किन्तु अपने क्या-अर्थ में वह परिवर्तनशील और विकासशील है। अभी तक कोई ऐसी विधि-व्यवस्था नहीं निकली है जिसे पूर्णतः यह-अर्थ में विधि कहा जा सके। कदाचित् विधि का यह-अर्थ कभी क्या-अर्थ में बदल नहीं सकता है और इस कारण विधि अपने अनिवार्य स्वरूप को कभी उपलब्ध नहीं कर सकती है। यह विधि का एक विरोधाभास है, एक कमी है। इसको दूर करने के लिए विधि के परे जाने की आवश्यकता है, क्योंकि स्वयं विधि इसको दूर नहीं कर सकती। हाँ, नैतिकता की प्रतिष्ठा उसकी कमी को दूर कर सकती है। वह विधि की उत्प्रेरक तथा पूरक है। उसके कारण ही विधि का विकास होता है। अतएव विधि को नैतिकता को अपने ऊपर प्रतिष्ठित करना है। जब वैधानिक फलन (लीगल फंक्शन) नैतिक फलन (मारल फंकशन) से मर्यादित होते हैं तभी वैधानिक कमियाँ दूर की जा सकती हैं।

अब प्रश्न है कि नैतिकता की प्रतिष्ठा विधि के ऊपर कैसे हो ? प्लेटो ने इसके लिए सुझाया है कि शासकों के पास सम्पत्ति और परिवार नहीं होने चाहिएं और उन्हें ज्ञानी होना चाहिए। ज्ञानी, अग्रही और अपरिग्रही शासक विधि की सुचारु व्यवस्था में सफल हो सकता है। भारतीय नीतिज्ञों ने भी शासकों की नैतिकता और सदाशयता पर बल

दिया है। पर इसके बावजूद भी शासक उतने नैतिक और सदाचारी नहीं हो पाये जितनी उनके पद की माँग है। इस कारण भारतीय धर्मशास्त्रकारों ने सुझाया है कि शासकों के ऊपर सन्तों और आचार्यों का अंकुश होना चाहिए। सन्त और आचार्य दो वर्ग के हो सकते हैं—एक राज-सेवक और दूसरे स्वतन्त्र। इनमें भी स्वतन्त्र सन्तों और आचार्यों का ही अंकुश शासकों के ऊपर प्रभावकारी होता है। राज्य की सेवा और प्रशंसा से दूर तथा सामान्य जनता के सम्पर्क में रहने के कारण ये लोग जन-कल्याण को अधिक समझते हैं और अपने स्वार्थ को कम महत्त्व देते हैं। अतः यदि शासकों पर इन लोगों का प्रभाव रहे तो विधि की व्यवस्था सुचारु हो सकती है। किन्तु प्रश्न है कि इन लोगों का प्रभाव कैसे हो? राजतन्त्र में तो इनका प्रभाव आसानी से पड़ सकता है क्योंकि सभी सन्त और आचार्य राजा से मिलकर अपना प्रभाव डाल सकते हैं। किन्तु जनतन्त्र में इनका प्रभाव कैसे पड़े जहाँ अनेक शासक हैं और किसी के पास पूर्ण सत्ता नहीं है? इसका उत्तर है जनमत का आदर। जो शासन जनमत का आदर करता है वह विधि की कमियों को जान सकता है और उनको यथासम्भव दूर कर सकता है। अतः निःस्वार्थ और नैतिक सन्तों और आचार्यों को जनमत बनाना चाहिए और शासकों को जनमत का पता लगाते रहना चाहिए। जनतन्त्र में निर्वाचन जनमत को जानने के प्रबल साधन हैं। किन्तु आधुनिक युग में ऐसे भी साधन निकले हैं जिनसे सत्तारूढ़ दल अपने पक्ष में जनमत को मोड़ लेता है। इस कारण स्वतन्त्र रीति से जनमत बनाना आजकल असम्भव है। ऐसी परिस्थिति में जनमत का प्रभाव भी नैतिक प्रभाव नहीं रह जाता है। फिर भी निःस्वार्थ और सदाचारी लोग नैतिक दृष्टिकोण से जनकल्याण करते रहते हैं और उनका प्रभाव जनता पर कुछ-न-कुछ पड़ता ही रहता है। अतः जनमत को निराशावाद से खतरा नहीं है, अनेक बाधाओं के बावजूद भी स्वस्थ जनमत बनता रहता है। फिर जनमत के बनने में राज्य के कार्यकलाप भी तो कारण हैं।

वास्तव में स्वस्थ जनमत के बनने में विधि और राज्य की कमियाँ ही अधिक प्रभावशाली होती हैं। जनता के दैहिक, भौतिक और दैविक दुःखों का मूल कारण राज्य-व्यवस्था है। जो लोग काल या नियति को दुःख का कारण मानते हैं उन्हें भी अन्ततोगत्वा मानना पड़ा है कि **राजा या राज्य-व्यवस्था काल या नियति का भी कारण है**। राज्य में यदि कहीं अकाल मृत्यु होती है, कोई भयंकर बीमारी बढ़ती है, कहीं सूखा या अकाल पड़ता है, लोग निर्धन और बेकार होते हैं, चोरी, डकैती और क़तल होते हैं, लोग अज्ञानी, अन्धविश्वासी तथा निरक्षर होते हैं, सज्जनों को कष्ट और अपमान मिलते हैं और दुर्जनों को सुख तथा सम्मान मिलते हैं, तो इन सबका मूल कारण राज्य-व्यवस्था है और राज्य-व्यवस्था का मूल कारण विधि है। इस प्रकार विधि द्वारा स्थापित राज्य-व्यवस्था में जब इतने दुःख बढ़ जाते हैं तो निःसन्देह विधि-जाल व्यर्थ सिद्ध हो जाता है और जनमत स्वतः उस विधिमूलक राज्य-व्यवस्था का विरोधी हो जाता है। अतएव जनमत ही वह नैतिक अस्त्र है जो विधि पर प्रभावकारी अंकुश रखता है। एक सीमा तक विधि व्यवस्था अपने विरुद्ध उभरते हुए जनमत को रोक सकती है और रोकती है, किन्तु यदि यह अपना सुधार नहीं करती तो वह जनमत के अल्प बवण्डर को आँधी बनाने में योगदान देती है और

उस आँधी में अन्ततोगत्वा वह स्वयं ध्वस्त हो जाती है। बड़े-बड़े अत्याचारी शासकों के राज्य का विनाश इसी प्रकार हुआ है। बीसवीं शती में अंग्रेजों के साम्राज्यवाद का भी विनाश इसी रीति से हुआ है। अतएव जनमत ही एकमात्र प्रबल अस्त्र है जो विधि की कमियों को दूर कर सकता है। यही कारण है कि जनतन्त्र ही अभी तक सर्वोत्तम राज्य-व्यवस्था के रूप में प्रतिष्ठित है।

३. विधि का जालतन्त्र तथा प्रवाह

ऊपर कहा गया है कि विधि अपने अनिवार्य स्वरूप को यथार्थ करने में प्रयत्नशील रहने पर भी कभी उसको प्राप्त नहीं कर सकती है। उसे आत्मलाभ नहीं मिल सकता है। अतएव वह कभी शुद्ध विधि नहीं बन सकती है। वह स्वतः अपूर्ण ही रहती है। यही उसकी नियति है। अपनी इस कमी को छिपाने के लिए विधि स्वयं आत्मवंचना का शिकार बन जाती है, वह अपने हर नियम को यह-अर्थ में अनिवार्य सिद्ध करती है। यदि उसे कभी कोई विरोध दीख पड़ा तो उस विरोध को दूर करने के लिए वह दूसरा नियम बनाती है। परन्तु इस प्रकार अनन्त तक नियम बनाये जाने पर भी वह अपने विरोध को दूर नहीं कर पाती है, न ही कर सकती है। उसका स्वरूप इतना उदात्त है, उसका लक्ष्य इतना महान् है कि वह कभी अपने स्वरूप तथा लक्ष्य के अनुसार मूर्तिमान् नहीं हो सकती है।

किन्तु विधि के स्वरूप में केवल यही एक विरोधाभास नहीं है। उसका दूसरा विरोधाभास तथ्य के सम्बन्ध में उभरता है। विधि यह मानकर चलती है कि प्रत्येक तथ्य को विधि के अधीन रखा जा सकता है, या कम-से-कम उन तथ्यों को, जिनको विधि लक्ष्य में रखती है, विधि के अन्तर्गत किया जा सकता है। अर्थात् उन तथ्यों पर विधि का अनुशासन स्थापित किया जा सकता है।

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि विधि के तथ्यों में क्या वे सामान्य नियम निहित हैं जिनका विधान विधि करती है? कांट के दर्शन के अनुसार विधि अपने तथ्यों के निहित नियमों का ही विधान है। प्राकृतिक नियम के मानने वाले सभी विधिवेत्ता यह स्वीकार करते हैं कि विधि का तार्किक सम्बन्ध नैतिकता से है और नैतिकता मनुष्यों के स्वभाव में निहित है। मनुष्य ही विधि के तथ्य हैं। इस कारण विधि अपने तथ्यों की प्रकृति में छिपे नियमों का विधान है। इस मत में स्पष्ट है कि विधि अपने को नैतिकता के अनुकूल करने में संलग्न रहती है। परन्तु क्या वह कभी नैतिकता को आत्मसात् या हृदयंगम कर सकती है? स्पष्ट है कि ऐसा करने पर वह विधि न रह जायगी और नैतिकता बन जायगी। अतएव इस मत के अनुसार विधि कभी भी अपने तथ्यों के अनुकूल नहीं हो सकती है। उसके तथ्य उसके नियमों में बँध नहीं पाते हैं। वास्तव में तथ्य उसके नियमों से स्वतन्त्र हैं और उसके नियम तथ्यों के कृत्रिम बन्धन हैं। बन्धनों की संख्या में वृद्धि या परिवर्तन करने से यह सिद्ध नहीं होता कि तथ्य नियमबद्ध हो गये।

किन्तु भाववादी (पॉज़िटिविस्ट) विधिवेत्ता प्राकृतिक नियम के सिद्धान्त को नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि विधि का नैतिकता से कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। विधि के तथ्य मानव की प्रकृति नहीं हैं वरन् मानव के अधिकार और कर्त्तव्य हैं और समाज में उसके द्वारा

किये गये कर्म हैं। विधि मनुष्यों के कर्म को अनुशासित करती है, उन्हें अधिकार देती है, उनके अधिकारों को नियमित तथा मर्यादित करती है और उनके कर्त्तव्यों को निर्दिष्ट करती है। परन्तु प्रश्न है कि मनुष्य के क्या अधिकार और कर्त्तव्य हैं? उनकी कितनी संख्या है? उन पर विधि का कितना नियन्त्रण होना चाहिए? इन प्रश्नों का समाधान आसान नहीं है। अनेक विधिवेत्ताओं ने इनके विभिन्न समाधान दिये हैं। मैं सभी का विवरण यहाँ नहीं देना चाहता। मेरा प्रयोजन यहाँ केवल इतना है कि भाववादी विधिवेत्ताओं के अनुसार भी विधि के तथ्य अनियत हैं और उनको नियमबद्ध नहीं किया जा सकता है। विधि का जालतन्त्र केवल अपनी सुसंगति (कन्स्टिटेन्सी) बनाने के लिए प्रयत्न करता रहता है। वह कभी भी तथ्य से अपना अविसंवाद या संवाद (कारेसपांडेन्स) स्थापित करने का प्रयास नहीं करता है, क्योंकि वह वास्तव में तथ्य से सम्बन्धित ही नहीं है। जैसे ज्यामिति के प्रमेय स्वनिर्मित परिभाषाओं, स्वयंसिद्धों और निगमन-नियमों से अनुशासित है, वैसे विधि का जालतन्त्र भी स्वनिर्मित परिभाषाओं, स्वयंसिद्धियों और निगमन-नियमों से अनुशासित है। कहीं किसी स्तर पर उसमें तथ्य का संवाद नहीं है, तथ्य का यथार्थ चित्रण नहीं है। अतएव विधि का जालतन्त्र तथ्य से असंगत है। यही कारण है कि कानून बन जाते हैं और उनका पालन नहीं होता है और जिसका व्यवहार में पालन हो रहा हैं उसके लिए कानून नहीं बनते हैं।

यहाँ पर जो आपत्ति प्रदर्शित की गयी है उसके निराकरण में कहा जा सकता है कि मानव-व्यवहार कोई वस्तु-सत् नहीं है। वे कर्म हैं और कर्मों का प्रवर्तन तथा नियन्त्रण नियमादेशों द्वारा किया जा सकता है। आदेश से कर्म प्रसूत होते हैं। विधि इस प्रकार वर्णनात्मक (डिस्क्रिप्टिव) न होकर आदेशात्मक (प्रेस्क्रिप्टिव) है। वह उन कर्मों का विधान करती है जिन्हें करना चाहिए और उन कर्मों को निषिद्ध करती है जिन्हें नहीं करना चाहिए। इस प्रकार उसका विषय, मीमांसा की शब्दावली में, विधि और प्रतिषेध है, या "यह करो" और "वह न करो", है। अन्य कर्मों से उसका कोई सरोकार नहीं है। उदाहरण के लिए उपेक्षा या उदासीनता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार मानने से विधि किन्हीं पूर्वगृहीत कर्मों का नियन्त्रण नहीं है वरन् स्वनिर्मित कर्मों की प्रेरणा या चोदना है। अतएव तथ्य से असंगत होना उसका कोई दोष नहीं है। उसका कार्य केवल यह देखना है कि उसके बनाए हुए नियम और प्रतिरोध के अनुसार मनुष्यों के व्यवहार हो रहे हैं या नहीं। यदि हाँ तो उसका कार्य ठीक ढंग से हो रहा है, यदि नहीं, तो उसको अपने कार्यान्वयन को और सुदृढ़ करना है। तथ्यों को ही विधि से अपना अविसंवाद स्थापित करना है।

ऐसी स्थिति में विधि को मानव-कर्मों के उत्सों के अनुसार होना चाहिए। विधि मानव-कर्मों का एक उत्स हो सकती है और है भी। किन्तु वही उनका एकमात्र उत्स नहीं है। उनके अन्य उत्स भी हैं जिनकी उपेक्षा विधि के लिए घातक है। फिर मनुष्य पशु नहीं है, वह सदैव आदेश से ही काम नहीं करता है। कभी-कभी आदेश देना उसके लिए और आदेश देने वालों के लिए हानिकारिक हो जाते हैं। अतः विधि को यह स्वीकार करना पड़ता है कि मनुष्य पूर्णतः नियमबद्ध या आदेश-अनुशासित नहीं हो सकता।

जो विधि ऐसा मानती है उसे उदार तथा प्रगतिशील कहा जाता है और जो इसे नहीं मानती उसे कठोर तथा रूढ़िवादी कहा जाता है। परन्तु यद्यपि विधि के ये दो प्रकार हैं तथापि उसका मूल स्वरूप कठोरता और रूढ़िवादिता का ही है। यही कारण है कि आरम्भ में जो विधि उदार तथा प्रगतिशील रहती है वह भी कालान्तर में अपनी सुसंगति की सुरक्षा के कारण अनुदार तथा रूढ़िवादी बन जाती है। कुछ भी हो, विधि अपने आदेश को अकाट्य मानती है और तदनुरूप व्यवस्था बनाती है, परन्तु मानव-व्यवहार उसे स्वभावतः अकाट्य नहीं मानता है। इस कारण विधि बलात् लादी जाती है, मनुष्य को उसे बरबस या बलात् मानना पड़ता है, यद्यपि वह उसे मानना नहीं चाहता है। यही विधि और मानव-व्यवहार का द्वन्द्व है। इस द्वन्द्व में इतिहास का साक्ष्य बताता है कि मानव-व्यवहार की विजय होती है और विधि अन्ततोगत्वा परास्त होती है। रोम-राज्य की जिस विधि ने मसीही सन्तों को दण्ड दिया उसी ने अन्ततोगत्वा मसीही मत को स्वीकार कर लिया। मसीही राज्य की जिस विधि ने वैज्ञानिकों को दण्ड दिया उसी ने मसीही मत का बुरका फेंक कर वैज्ञानिक रीति-नीति का पर्दा ओढ़ लिया। इससे सिद्ध है कि विधि किन्हीं कर्मों का श्रीगणेश नहीं करती है, वरन् समाज में हो रहे कर्मों पर अपनी स्वीकृति या अस्वीकृति की मुहर लगाती है। विधि कर्म-प्रवर्त्तन न करके कर्म का अनुवर्तन करती है, वह अग्रगामी न होकर पृष्ठगामी है। वह मानव-कर्मों का मुख्य उत्स नहीं है।

परन्तु फिर समाज-परिवर्तन कैसे होता है? राज्य-परिवर्तन या विधि-परिवर्तन कैसे होता है? विधि से क्यों प्रत्याशा की जाती है कि वह सुव्यवस्थित समाज की स्थापना करे? इन प्रश्नों की छान-बीन करने पर पता चलता है कि वास्तव में विधि का अनिवार्य सम्बन्ध क्रान्ति से नहीं है। विधि क्रान्ति को अग्रसर नहीं करती है वरन् पहले उसका विरोध करती है और क्रान्ति के सफल हो जाने पर उसका अनुवर्तन करती है। क्रान्ति के मूल में विधि का विरोध निहित रहता है। जब विधि काफी कठोर, अनुदार, रूढ़िवादी और शोषक हो जाती है, जो उसके विकास के नियमानुसार स्पष्ट ही है, तब उसका विरोध अवैधानिक किन्तु नैतिक ढंग से होने लगता है। नैतिकता और विधि का यह द्वन्द्व अन्ततोगत्वा क्रान्ति का रूप धारण करता है और तब पुरानी विधि बदल जाती है और एक नयी विधि बनती है जो अपने आरम्भिक जीवन में क्रान्ति के आदर्शों को पूरा करने के लिए नियम बनाती है। परन्तु यह नयी विधि भी बाद में जब सुदृढ़ हो जाती है और क्रान्ति के आदर्शों को पूर्ण करने में अक्षम सिद्ध होती है तो वह भी प्रतिगामिता का रूप धारण कर लेती है और भावी क्रान्ति की अवरोधक बन जाती है। **कोई विधि शाश्वत क्रान्ति से अपना सामंजस्य स्थापित नहीं कर सकती।** अतः शाश्वत क्रान्ति के हिमायती विधि का अनुशासन नहीं मानते हैं और वे किसी न किसी प्रकार की अराजकता की वकालत करते हैं। ऐसी स्थिति में विधि का प्रगतिशील तथा परिवर्तन होना तथा नैतिक क्रान्ति की परिस्थितियों पर मारक नियन्त्रण न रखना स्वयं विधि के लिए आवश्यक है, अन्यथा विधि केवल अजायबघर में रखी एक सामग्री मात्र रह जाती है।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि विधि इतनी प्रगतिशील और परिवर्तनशील हो जाय कि उसका पालन ही न हो सके। उदाहरण के लिए इस समय संसार के कुछ

अविकसित देशों में जो राज्य-संविधान बने हैं वे इतने प्रगतिशील हैं कि वहाँ की जनता उनका पालन करने में समर्थ नहीं है। यदि जनता का शैक्षणिक स्तर निम्नकोटिक है तो वहाँ संसदीय जनतन्त्र-प्रणाली के द्वारा सम्पन्न निर्वाचन यथार्थ नहीं हो सकते हैं। यदि जनता निर्धन है तो वह न्याय की शरण नहीं ले सकती है भले ही न्याय-व्यवस्था उदार और जनतान्त्रिक हो। यदि जनता पुराणपंथी है तो वह विवाह और सम्पत्ति के बारे में अपनी परम्पराओं का त्याग नहीं कर सकती है और उसके लिए समाजवादी विधि-व्यवस्था कारगर नहीं हो सकती है। भारत में भी कुछ ऐसी ही स्थिति हैं। यहाँ विधि इतनी प्रगतिशील है और जनता इतनी पुराणपंथी है कि दोनों का तालमेल नहीं हो रहा है और विधि के अनुसार नूतन समाज-व्यवस्था नहीं बन पा रही है। अतएव प्रगतिशील विधि बन जाने से ही विधि का काम सिद्ध नहीं हो जाता है। उसका कार्यान्वियन विधि के जीवन के लिए आवश्यक है। कार्यान्वियन न होने पर विधि व्यर्थ है। विधि वह निर्माण नहीं कर सकती जिसे केवल अल्पसंख्यक लोग चाहते हैं और बहुसंख्यक लोग जिसको नहीं चाहते। यह एक विडम्बना ही है कि चाहे जिस प्रकार का राज्य हो उसमें शक्ति सदैव कुछ चन्द लोगों के पास ही रहती है और वे ही विधि की व्यवस्था के लिए मुख्यत: जिम्मेदार होते हैं। वे लोग अधिक अनुदार होते हैं तो विधि अधिक कठोर होती है और वे लोग अधिक उदार होते हैं तो विधि अधिक प्रगतिशील होती है। दोनों स्थितियों में यिधि अपने समाज का यथार्थ निर्माण नहीं कर पाती है। विधि को न तो अधिक कठोर होना चाहिए और न अधिक प्रगतिशील। मध्यम मार्ग और परिवर्तनशीलता उसके लिए श्रेयस्कर हैं।

कुछ भी हो, आज विधि का कार्य केवल प्रशासन नहीं रह गया है वरन् नूतन समाज-व्यवस्था का सृजन करना भी हो गया है। अतएव विधि केवल बहुसंख्यक लोगों के सामान्य व्यवहार को आदर्श मानकर नहीं चल सकती है। उसके लिए प्रगतिशील तत्त्वों का विचार करना आवश्यक है और ऐसे विकासशील समाज की स्थापना करना है जो क्रमशः प्रगति करता रहे। समाज की निरन्तर प्रगति ही क्रान्ति को रोक सकती है, वह शाश्वत क्रान्ति का सभ्य रूप है। इस ओर विधि का कार्य नैतिक प्रशिक्षण तथा जागरण है। प्रगतिशील देशों में विधि के द्वारा ये कार्य हो रहे हैं। इससे विधि के प्रगतिशील एवं लोकहितकारी स्वरूप का अधिकाधिक उद्घाटन हो रहा है। आधुनिक युग में विधि की यह एक अद्वितीय विशेषता है। वह अपना सामन्ती रूप छोड़कर जनतान्त्रिक और समाजवादी रूप धारण कर रही है। इससे आशा बढ़ चली है कि विधि का धीरे-धीरे नैतिकता में परिवर्तन हो जायगा। भविष्य-द्रष्टाओं ने इसी आधार पर विश्व-राज्य, विश्व-सरकार और अन्तर्राष्ट्रीय विधि की कल्पनाएँ की हैं। किन्तु अभी तक ये कल्पनाएँ कोरे आदर्श से आगे नहीं बढ़ी हैं और विधि की परम्परागत पृष्ठोन्मुखता या अतीतोन्मुखता ने उसकी आदर्श भविष्योन्मुखता को बढ़ावा नहीं दिया है। दासता, शोषण, बेकारी, गरीबी, बीमारी आदि को दूर करने का जो आदर्श उसने अपने सामने रखा है उसके लिए अधिकारों और कर्तव्यों का सम-वितरण आवश्यक है, प्रशासक और प्रशासित की खाई का पाटना जरूरी है और प्रत्येक मानव को सत्ता का साक्षात् तथा अपरोक्ष अनुभव प्राप्त करना है। प्राचीनकाल में जब दास-प्रथा थी तो एक वर्ग स्वामियों का था जिन्हें सभी अधिकार

प्राप्त थे और एक वर्ग दासों का था जिन्हें कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। उस समय की विधि आज कहीं नहीं है। पर स्वामी और दास के वर्ग धीरे-धीरे सामन्त और प्रजा, मिल-मालिक और मिल-मज़दूर तथा शासक और शासित में बदल गये हैं। अधिकारों का ऐसा समान वितरण नहीं हुआ जिसमें सभी मनुष्य अधिकारों के दृष्टिकोण से समान हों, कोई शासक या शासित न हो वरन् प्रत्येक व्यक्ति अपने को शासक तथा शासित दोनों होने का अनुभव करे। यह स्थिति कदाचित् वह आदर्श है जो कभी कार्यान्वित नहीं हो सकता। परन्तु दासता की मुक्ति का वास्तविक तात्पर्य यही है। जब तक यह आदर्श प्राप्त नहीं होता तब तक दासता किसी न किसी प्रकार से रहती है। अतएव शासकों को स्वयं इस ओर ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि उनका सामान्य जीवन शासितों के जीवन से बहुत भिन्न न हो और प्रत्येक शासित को राजनीतिक सत्ता का ऐसा अनुभव हो कि वह गर्व से अपने को अपने देश का नागरिक अनुभव करे। यह सत्ता के विकेन्द्रीकरण से ही सम्भव है। अतः उसी में विधि का कल्याण निहित है। **जितने मनुष्य, उतनी शक्तियाँ** अथवा **जितनी शक्तियाँ, उतने मनुष्य** का सिद्धान्त मानकर यदि विधि-व्यवस्था स्थापित की जाय तो कदाचित् मानवता को दासता से मुक्ति कुछ सीमा तक मिल सकती है। कुछ भी हो, शासक और शासितों में अधिकारों का समान वितरण जब तक नहीं होता है तब तक विधि का शासन केवल पोथियों तक ही सीमित रहता है और वास्तव में कुछ व्यक्तियों का ही शासन रहता है। व्यक्ति-शासन को विधि जितना दूर करती है उतना ही वह अपने को चरितार्थ करती है। मुझे लगता है कि विधि का असली द्वन्द्व विधि के निर्माताओं और व्यवस्थापकों के क्षुद्र स्वार्थ से है, नकि शासितों की किसी मनोवृत्ति से। विधि की कल्याणकारी शक्ति गंगा के समान है परन्तु वह गंगा की तरह अपने धारक शिव की जटाओं में ही उलझी रहती है। वहाँ से विधि को निकालना तथा सामान्य जनता का उसके निर्माण और व्यवस्थापन में भाग लेना विधि को लोक-कल्याणकारी बनाने में आवश्यक है। विधि के निर्माताओं और व्यवस्थापकों को इसीलिए शिव बनने की आवश्यकता है और जनता को भगीरथ बनने की आवश्यकता है। तभी विधि-गंगा से जनता को लाभ हो सकता है। शिव-शासक को अपनी विधि-जटा को सदा झटकते रहना चाहिए भगीरथ-जनता को सदैव शिव-शासक को अपने तप एवं प्रयत्न से अपरिग्रही बनाते रहना चाहिए। ऐसा होने पर ही गंगा-विधि का प्रवाह लोक-कल्याणकारी होता है।

इलाहाबाद विश्वविद्याल

रसानुभूति*

ह० माहेश्वरी

कोई भी अनुभूति अनुभव्य होती है, अन्तः संवेद्य होती है; व्याख्या-विवेचना-वृत्ति के विश्लेषण से वह पूर्णतया मीमांस्य नहीं हो पाती। रसानुभूति तो अनुभूतियों में भी अति विशेष अनुभूति होती है जो केवल संवेदनशील सुहृद लोगों को ही उपलब्ध होती है; उसकी मीमांसा तो और भी दुष्कर है। कदाचित् रसानुभूति का आशय आध्यात्मिक हो, तब तो मन-बुद्धि से अतीत होने के कारण उसे मीमांसा का विषय बनाया ही नहीं जा सकता। तो भी रसानुभूति और रसनिष्पत्ति के प्रसङ्गों की मीमांसा रस-शास्त्रियों ने बड़े विस्तार से की है।

'रस' एवं 'रसनिष्पत्ति' की व्याख्या अधिकतर काव्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत ही की जाती रही है, यद्यपि भक्ति के प्रसङ्ग में 'रस' और 'रसानुभूति' की चर्चा कहीं अधिक गहन है : "पिबत भागवतं रसमालयम्।" वस्तुतः 'रस' तथा उसकी 'अनुभूति' की मीमांसा सर्वाधिक व्यापक एवं मौलिक रूप से दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में ही हो सकती है, होनी चाहिये। कारण, जीवन की सर्वाङ्ग मीमांसा स्यात् दर्शनशास्त्र ही कर पाता है। यों तो काव्यादि के लक्षणग्रन्थों में भी रस-निष्पत्ति की व्याख्या के लिये किसी न किसी दर्शनशास्त्रीय प्रमाणमीमांसा का आधार देखने को मिलता है, और उससे स्पष्ट होता है कि उस विषय के विशेषज्ञों ने किसी न किसी दार्शनिक परम्परा को स्वीकार करके ही रस-निष्पत्ति के प्रसङ्ग में चिन्तन अथवा विश्लेषण किया है। भरत नाट्यशास्त्र के सूत्र "विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस-निष्पत्तिः" की जो समीक्षाएँ भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त इत्यादि के द्वारा की गयीं एवं उनके अनुयायियों के द्वारा जो शास्त्रार्थ हुआ उससे यह स्पष्ट है। परिणामतः रस-निष्पत्ति को "अलौकिक प्रत्यक्ष", "अनुमिति", "सादृश्य", "चैतन्य द्वारा प्रकाशन", "अनिर्वचनीय प्रातिभासिक भ्रम" इत्यादि सिद्ध करने की चेष्टा की गयी।

किन्तु रस एवं रसानुभूति का संधान स्वयमेव इतना व्यापक हो सकता है कि जिसमें मनुष्य की रसोन्मुखी मूलभूत अभिलाषा तथा अभीप्सा से लेकर उसकी परम सिद्धि तक तात्त्विक एवं साधनात्मक मीमांसा सम्भव हो और हम उस अनुसंधान को रस-दर्शन की संज्ञा दे सकें। वह रस-दर्शन अन्यान्य दार्शनिक मीमांसाओं से सर्वथा अलग और असम्बद्ध हो, इसकी अपेक्षा नहीं है; किन्तु 'रस' और रसानुभूति के तत्त्व को समझने के लिये किसी विशेष पूर्वमान्य प्रमाण-परम्परा का सहारा लेना पड़े, यह भी अनिवार्य नहीं होगा। यह

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के २१ वें अधिवेशन में "रसानुभूति" गोष्ठी में पठित।

अलग बात है कि रसानुसंधान की कुछ उपलब्धियाँ किसी दार्शनिक परम्परा की सुप्रतिष्ठित मान्यताओं से मेल खा जाँय अथवा उनमें किसी सैद्धान्तिक साहश्य का उद्घाटन हो जाय। निश्चय ही व्यापक दर्शन वह होगा जिसमें समग्र रीति से जीवन का सर्वाङ्ग अनुसंधान हो, एवं रस-तत्त्व तथा रसानुभूति का उद्घाटन उतना ही सन्तोषजनक हो जितना 'तत्त्व' अथवा प्रमाण सम्बन्धी विषयों का अन्वीक्षण।

रसानुभूति-मीमांसा को दो प्रकार की अथवा द्विविध जिज्ञासा से आरम्भ करना सम्भव होगा। प्रथम :—रस का क्या अभिप्राय है? उसका तात्त्विक स्वरूप क्या है? रसानुभूति क्या और कैसे होती है? द्वितीय :—मानव-स्वभाव में विद्यमान रसोन्मुखता का, रस-प्राप्ति की अभिलाषा का रहस्य क्या है? उस रस-पिपासा में सन्निहित तात्त्विक सत्य क्या है? उसकी परिपूर्त्ति अथवा सिद्धि के साधना-सोपान क्या हैं? अथवा रस की अनुभूतियों की श्रेणियाँ, उनकी विशेषताएँ, उनका विकासक्रम क्या है? सर्वोपरि, रसमयता का चरमोत्कर्ष क्या है? पहली जिज्ञासा के लिये चिन्तनात्मक गवेषणा प्रधान है, दूसरी के लिये साधनात्मक अनुसंधान। समर्थ दार्शनिक मीमांसा के लिये दोनों ही परस्परापेक्षी हैं, एक-दूसरे के पूरक हैं। वस्तुतः भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में ये दोनों जिज्ञासाएँ एक ऐसी व्यापक एवं मौलिक अभीप्सा के अन्तर्गत हैं जिसके नाते मनुष्य सर्वोपरि सिद्धि का साधक होता है। कारण, भारतीय दर्शन के अनुसार 'सत्य' अनुभव्य होता है, न्याय्य मात्र नहीं; तत्त्व प्राप्य होता है, व्याख्येय मात्र नहीं; श्रेय लभ्य होता है, विवेच्य मात्र नहीं। उस परिप्रेक्ष्य में 'रस' एवं रसानुभूति की जिज्ञासा पाश्चात्य 'ईस्थैटिक्स' के समान केवल वैकल्पिक विश्लेषण की वस्तु नहीं रह जाती, वह उस जीवन-दर्शन की केन्द्रीय वस्तु बन जाती है जो मनुष्य को धन्य कर देने में समर्थ हो।

पहली जिज्ञासा से आरम्भ करें : रस का क्या अभिप्राय है? उस अभिप्राय के अनुसार रसानुभूति का क्या अर्थ होगा, क्या स्वरूप होगा? स्वभावतः यह जिज्ञासा केवल साहित्यिक—काव्य अथवा नाटक सम्बन्धी 'रति' अथवा भावानुभाव के आस्वाद तक सीमित नहीं है। "रस" शब्द इतना व्यापक है कि व्यक्त जीवन की स्थूलतम पदार्थ-रचना से लेकर सूक्ष्मतम अव्यक्त तत्त्व तक इसका विस्तृत प्रयोग हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् का उद्घाटन है :

"एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसः। अपामोषधयो रसः। ओषधीनां पुरुषो रसः। पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋचः सामरसः। साम्न उद्गीथो रसः।

स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः।" १।१।२–३

अर्थात्—"इन भूतों का रस है पृथिवी, पृथिवी का रस है जल। जलों का रस है ओषधियाँ। ओषधियों का पुरुष रस है। पुरुष का वाक् रस है, वाक् का ऋक् रस है, ऋक् का साम रस है, साम का रस है उद्गीथ—ॐ।

"यह जो उद्गीथ—ॐ है, वह रसों का परम रस है; (रस शृङ्खला में) अष्टम रसतम वह परार्ध्य है।"

मुण्डकोपनिषद् में भी स्पष्ट उद्घोष है :

"अतश्च सर्वा ओषधयो रसाश्च येनैष भूतैस्तिष्ठेत ह्यन्तरात्मा" (२-१-६)

अर्थात् 'इसी (परम पुरुष) के कारण समस्त ओषधियाँ तथा रसदि हैं जिसके द्वारा यह अन्तरात्मा भूतों के साथ स्थित रहता है।"

स्पष्ट है कि इन उद्धरणों में रस का तात्पर्य है सारतत्त्व। यह सारतत्त्व सृष्टि की सापेक्ष भूमिकाओं में भी 'रस' है, सत्ता के परम स्वरूप में भी 'रस' है। इसी कारण स्थूल पदार्थों का सारतत्त्व भी रसात्मक है तथा परात्पर ब्रह्म तत्त्व भी रस-स्वरूप है। "रसो वै सः" अर्थात् वह (परमतत्त्व) रस ही है। (तैत्तिरीय उपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली, सप्तमोनुवाक्)। सारतत्त्व का व्यापक अभिप्राय होगा वह जिससे कोई भी पदार्थ स्वरूपतः-स्वभावतः सृष्ट है, जिससे वह यथावत् बना रहता है, जिससे वह तृप्त और पुष्ट होता है और अन्ततः जिसमें उसकी परिपूर्णता सन्निहित रहती है।

रस की इस सारतत्त्वात्मक भूमिका से मानवीय सन्दर्भ में हमारी द्वितीय जिज्ञासा के समाधान का स्वभावतः यह संकेत मिल जाता है कि मानव-स्वभाव में रसोन्मुखता का रहस्य यही हो सकता है कि मनुष्य मूलतः परम रस से, आनन्द से, सृष्ट है, उसकी अभिव्यक्ति है और उसकी परम प्राप्ति में उसकी सार्थकता है; मनुष्य की अन्तश्चेतना के अधिकाधिक विकसित होने से उसकी रस-सिद्धि का क्रमिक सम्बन्ध है और रसानुभूति की उत्तरोत्तर उपलब्धियाँ करते हुए अन्ततः दिव्य आनन्दमय जीवन में उसकी परिपूर्णता होगी।

रस का यह सारतत्त्वात्मक तात्पर्य सत्ता की विभिन्न भूमिकाओं में सार्थक होता है। स्थूलतम प्रसंग में द्रव्यों का रसायनशास्त्र इसी तात्पर्य से सार्थक है, (रस+अयन); प्राण जगत् में आयुर्वेदीय जीव-रसायन एवं ओषधि-रसायन में यही तात्पर्य सार्थक है; मनोमयी भूमिका पर भावनात्मक रस-चर्चा इसी से सार्थक है, एवं उसी भूमिका की गहन संवेदनशीलता के प्रसंग में साहित्यिक-काव्य एवं नाट्य से सम्बन्धित रस-निष्पत्ति की मीमांसा सार्थक होगी। क्रमशः अध्यात्म-भूमिका पर आत्मरति का रस है; भक्ति भावमय अन्तरात्मिक आह्लाद अथवा नित्यराम और भगवल्लीला का दिव्यानन्द अनिर्वचनीय रस है एवं परमतत्त्व की सच्चिदानन्दमयता का परात्पर रसाशय है।

रस के उपर्युक्त अति विशाल, अत्यन्त व्यापक आशय को ग्रहण करके रसानुभूति की चर्चा कदाचित् अति विस्तृत एवं उसकी मीमांसा प्रायः दुष्प्रतिपाद्य प्रतीत हो सकती है। कारण, रसानुभूति की चर्चा सामान्यतः मनुष्य की मनोमयी चेतना और भावना से सम्बन्धित प्रसङ्गों में की जाती है। उससे निम्न अर्धचेतन-अवचेतन पशु-जीवन को अथवा निश्चेतन जड़ पदार्थों को एक व्यापक अर्थ में रसात्मक मानते हुए भी उनके सन्दर्भ में रसानुभूति की चर्चा अप्रासंगिक जैसी दिखाई पड़ती है। जड़ पदार्थों की भौतिक एवं रासायनिक प्रक्रियाओं को अथवा पशु-जीवन की जैव वृत्तियों को सचेत संवेदनशील रसोपपत्ति मानना सर्वथा अस्वाभाविक जैसा लगता है। रस-निष्पत्ति का सन्दर्भ सचेत सहृदय मानव-व्यक्ति का सन्दर्भ है, पशुओं में होने वाली संवेदनाओं को अथवा संवेगों को अथवा प्रकृति में

घटित होने वाली भौतिक घटनाओं को रस-निष्पत्ति का सन्दर्भ नहीं माना जाता। जहाँ कहीं साहित्य में पशु-जीवन से उपमान आदि मिलते हैं—यथा सिंह-व्याघ्र-ऋषभादि के बल अथवा साहस से वीरता के लिये, हरिणी इत्यादि की कातरता से करुणा के लिये, गौ इत्यादि से सौम्य वात्सल्य के लिये,—अथवा जहाँ कहीं वनस्पति-जीवन के फल-फूलों से सौन्दर्य, सुषमा, पवित्रता इत्यादि की भावनाओं के लिये काव्यात्मक अभिव्यञ्जना प्राप्त होती है, अथवा जहाँ कहीं निर्जीव भौतिक घटनाओं से, दावानल, जलप्लावन, वृष्टि, तरङ्गों एवं झंझावातों से रूपकादि के आधार प्राप्त होते हैं, वहाँ उन्हें प्रायः कवि अथवा साहित्यकार की कल्पना अथवा प्रकृति पर निजारोप, आत्मप्रक्षेपण इत्यादि मान लिया जाता है। किन्तु व्यापक मीमांसा के लिये प्रश्न यह होगा कि मानवीय अनुभूतियों और भावनाओं के अनुरूप प्रकृति के विशेष-विशेष उपमानों की ही प्रासंगिकता क्यों होती है, यदि उन उपमानों में, प्रकृति की घटनाओं में, पशु-पक्षियों में मानव-चेतना के साथ समस्वरता अथवा समरसता न हो तो ?

यह निर्विवाद है कि मनोमयी चेतना मानव-चेतना है। अतः यदि रसानुभूति का सन्दर्भ सुसंस्कृत, सुरुचि-सम्पन्न, सुविकसित चेतना का सन्दर्भ है तो अविकसित मूढ़ व्यक्तियों में रसानुभूति की कल्पना सम्भवतः व्यर्थ कल्पना होगी, पशु-पक्षियों में उसकी कल्पना निरर्थक होगी, जड़ प्रकृति में तो वह सर्वथा निराधार ही होगी। किन्तु मानव-जीवन की मनोमयता का एक व्यापक एवं महत्त्वपूर्ण सत्य यह है कि समस्त प्राकृत जीवन के साथ उसका एक स्वाभाविक भावनात्मक सम्बन्ध रहता है। प्रकृति की घटनाएँ न केवल मनुष्य के निरीक्षण का विषय मात्र होती हैं अपितु उसका समस्त परिवेश मनुष्य की वृत्तियों के साथ इस प्रकार सम्बद्ध होता है कि उसकी रागात्मक एवं संकल्पात्मक वृत्तियों का विकास भी उनसे प्रभावित होता है। इसलिये प्रकृति में विद्यमान किसी परिस्थिति विशेष के साथ मनुष्य की कोई विशेष भावना जागती है; चाहे जिस परिस्थिति में चाहे जो भावोद्दीपन नहीं हो जाता। एक कमल को देखकर शान्त सौन्दर्य का भाव स्वाभाविक होगा, रौद्र अथवा भय का भाव प्रायः अकल्पनीय होगा, अस्वाभाविक होगा; चन्द्रमा को देखकर कोई कमनीय भाव जगेगा, वीभत्स नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्यों में भाव-वैविध्य नहीं होता, और प्रत्येक पदार्थ अथवा परिस्थिति के साथ सदा-सर्वदा सभी व्यक्तियों का एक-जैसा भाव ही बना रहता है। व्यक्ति और प्राकृत परिवेश का सम्बन्ध इतना सरल नहीं होता कि उसमें यांत्रिक समीकरण स्थापित किया जा सके। अपवाद एवं विकृतियाँ भी मनुष्य से ही सम्बन्धित हैं। किन्तु इतना स्पष्ट है कि विभिन्न पदार्थों एवं घटनाओं और परिवेशों के प्रति हमारी भावनाएँ अकस्मात् उत्पन्न नहीं हो जातीं, उनमें एक गहरी पारस्परिकता होती है जिसका आधार किसी ऐसे नैसर्गिक सत्य को होना चाहिए जो मानव-स्वभाव में तथा उसके अनुभव्य परिवेश में समरस हो। यदि ऐसा न होता तो किसी भी परिस्थिति में किसी भी भावसंदीपन की सम्भावना हो जाती, किसी भी उपमान से एक साहित्यकार किसी भी भाव की अभिव्यक्ति कर देता, किसी भी सामग्री का रूपक खड़ा करके एक कवि किसी भी रस का परिपाक कर देता, किसी भी दृश्य और परिवेश से ... किसी भी भंगिमा द्वारा सहृदय द्रष्टा के

हृदय में किसी भी रस का आभास करा देता। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता: खंजन से नयनों की उपमा देकर कोई साहित्यकार घृणाभाव की अभिव्यक्ति नहीं कर पाता, पुरुष-व्याघ्र कह कर कोई कवि कायरतापूर्ण भीरुता की अनुभूति नहीं करा पाता, मंच पर युद्ध के दृश्य में वैरियों को देखता हुआ अभिनेता शृङ्गार की भङ्गिमा नहीं बनाता और द्रष्टा के हृदय में कोई कोमल भाव नहीं जगा पाता।

अतः रसानुभूति के प्रसङ्ग में तथा उसके अनुरूप साहित्य-कला-काव्य-नाटक आदि की अभिव्यक्ति के प्रसङ्ग में यह सत्य उद्घाटित होता है कि प्रकृति में एक भोक्ता-भोग्य-सामञ्जस्य निहित रहता है; उसके उद्घाटित होने पर ही हमारी चेतना में रस-विशेष का प्रादुर्भाव होता है और उसीके नाते किसी अभिव्यक्ति-विशेष के द्वारा सहृदय रसिक की चेतना में रस-निष्पत्ति सम्भव होती है। इस भोक्ता-भोग्य-सामञ्जस्य को विषय-विषयी-सायुज्य मानना समीचीन होगा। 'सायुज्य' मानकर ही ऐन्द्रिक भूमिका पर यह स्पष्ट होता है कि रूप का रस चाक्षुष होता है, संगीत का रस श्रवणात्मक एवं पक्वान्नों का स्वादात्मक इत्यादि। 'सायुज्य' के आधार पर ही रस-वैशिष्ट्य का रहस्य प्रकट होता है, और सायुज्य की सम्भावना सृष्टि में व्याप्त समरसता के आधार पर ही हो सकती है।

विषय-विषयी-सायुज्य के आधार पर एक ओर ऐन्द्रिक रस-वैशिष्ट्य का कारण स्पष्ट होता है, दूसरी ओर, उसीके आधार पर, रस-सामान्य का संकेत भी मिलता है। कारण, समस्त ऐन्द्रिक संवेदनों में मन ही संवेदनशील होता है और उनके माध्यम से मन ही विभिन्न रसों का भोक्ता भी होता है। यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि यदि ऐन्द्रिक भूमिकाओं पर समस्त रसों का भोक्ता मन ही होता है तो वही मन चाहे जिस इन्द्रिय के माध्यम से चाहे जिस ऐन्द्रिय रस का अथवा प्रत्येक इन्द्रिय से स्वतन्त्र होकर सभी ऐन्द्रिय रसों का आस्वाद क्यों नहीं ले पाता? ऐसा प्रश्न वस्तुतः यह मान लेने से उत्पन्न होता है कि मन की समोपस्थिति का ऐन्द्रिक वैविध्य अथवा ऐन्द्रिक वैशिष्ट्य से कोई सम्बन्ध नहीं है, अथवा मनकी मनोमयता को ऐन्द्रिय सन्दर्भ से सर्वथा निरपेक्ष होना चाहिये। यद्यपि अनुसंधानों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मन बिना किसी ऐन्द्रिय माध्यम के भी संवेदन प्राप्त कर सकने में समर्थ हो सकता है किन्तु उससे यह आवश्यक नहीं हो जाता कि मन को मन होने के लिये अपने ऐन्द्रिक सन्दर्भों का तिरस्कार ही करना होगा। इन्द्रियों के माध्यम से शब्द-स्पर्शादि मात्राओं का संवेदन एवं रसास्वाद प्राप्त करना एवं इन्द्रिय-निरपेक्ष होकर सीधे-सीधे संवेद्य एवं आस्वाद्य विषयों का विषयी होना, दोनों में मन का सामर्थ्य है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि ऐन्द्रिक माध्यम से विषयों का सम्पर्क अपेक्षतः कम विकसित मन के लिये आवश्यक होता है; विकसित मन इन्द्रिय निरपेक्ष होने पर भी इन्द्रियों का बहिष्कार नहीं करता, उनका परिष्कार करता है। इन्द्रिय-निरपेक्ष रसास्वाद में भी रस-वैशिष्ट्य एवं रस-सामान्य दोनों रहते हैं और विषय-विषयी-सायुज्य का मूलभूत सत्य चरितार्थ होता है।

'रसानुभूति' के मूल में 'सायुज्य' सिद्धान्त को मान लेने से दो आधारभूत समस्याओं का समाधान होता है। पहली समस्या द्वैतवाद अथवा भेदवाद से सम्बद्ध है: कदाचित्

विषयी और विषय **सर्वथा** भिन्न हों, और यदि विषयी सचेतन हो और विषय निश्चेतन हो तो उनमें सम्पर्क-संवेदन सम्भव ही कैसे होगा ? एक ओर विषयी को 'रस' का अनुभव कैसे होगा यदि 'रस' उसकी विषयी चेतना का अभिन्न अङ्ग न हो तो ? दूसरी ओर, अनुभूत 'रस' विषय का 'रस' कैसे होगा यदि वह विषय का अभिन्न अङ्ग न हो तो ? कदाचित् वह दोनों का अभिन्न अङ्ग है तो विषय-विषयी-द्वैतात्मक भेद को बनाये रखना असम्भव होगा । अतः रसानुभूति की सम्भावना द्वैतात्मक विभाजन को सायुज्य के द्वारा दूर करके ही हो सकती है। दूसरी समस्या केवलाद्वैद की पृष्ठभूमि से सम्बद्ध है: कदाचित् विषयी-विषय भेद हो ही नहीं तो अद्वैत सत्य सन्मात्र होगा, अनुभूति की सम्भावना ही कहाँ होगी ? उस परम सत् को चिदानन्द मान लेने पर भी वह नित्य एक-रस होगा, रसानुभूति की कल्पना वहाँ नहीं की जा सकती; रस-भोक्ता एवं भोग्य-रस का वैशिष्ट्य, रस-वैविध्य इत्यादि की कल्पनाएँ सभी असङ्गत हो जाएँगी । अतः रसानुभूति की सम्भावना केवलाद्वैत के आत्यन्तिक अविकार्यत्व को अधिक सम्पन्न और सक्षम बनाने पर ही हो सकती है । द्वैतवादी अथवा बहुत्ववादी भेदों का एकत्व में समावेश करने के लिये तथा केवलाद्वैतवादी अविकार्यत्व को अनन्त सामर्थ्य-सम्पन्न बनाने के लिये एक सर्वाङ्ग-परिपूर्ण परमैक्य की सिद्धि करनी होगी जिसके नाते अनन्त भेदों में अनुगत एकत्व अविच्छिन्न भी रहे परन्तु वह परमैक्य सर्वात्मभाव सम्पन्न हो एवं पृथग्भावापन्न प्रत्येक अथवा सर्वभावापन्न समग्र से बाधित भी न हो, जिसकी नित्य रसमयता में रसालम्ब भोग्य तथा रस-भोक्ता विषयी दोनों सहचरण कर सकें । व्यापक वेदान्त-भूमिका में जिस प्रकार एक ही चैतन्य प्रमातृ-चैतन्य एवं प्रमेय-चैतन्य द्विविधिरूपेण समर्थ होता है, उसी प्रकार भोक्तृ चैतन्य एवं भोग्य चैतन्य के द्विविध सामर्थ्य से चिदानन्द का रस-विलास सार्थक हो सकता है। इसी आधार पर भोक्ता-भोग्य-सायुज्य सम्भव है और उसी सायुज्य में रसानुभूति होती है। इस भूमिका में श्री अरविन्द का उद्घाटन है : "रसः प्रीतिरानन्द इति सर्वानन्दः" ।

"रस उस गुण का, उस आस्वाद का रुचिर प्रत्यक्ष है जिसका लीलामय भगवान् प्रत्येक विषय में साक्षात् अनुभव करते हैं और जिसके भोग के लिये वे लीला में उसकी सृष्टि करते हैं ।....आनन्द दिव्य भोग है जो समस्त मानसिक सुख से श्रेष्ठ है; जिससे भगवान् रस का आस्वाद लेते हैं; आनन्द में द्वन्द्व सर्वथा मिट जाते हैं ।"

(श्री अरविन्द शताब्दी ग्रन्थ-संग्रह, २७, पृ० ३५८)

जिस प्रकार 'रस' तत्त्व का अनुसंधान सत्ता के अनेक सोपानों पर सार्थक है, जिस प्रकार भौतिक 'रस' जैव 'रस' मनो 'रस' एवं मानसोत्तर 'रस' सभी रसात्मक है, उसी प्रकार रसानुभूति की भी विविध भूमिकाएँ सम्भव हैं। यद्यपि रसानुभूति की चर्चा सामान्यतया शिष्ट और परिष्कृत मनोमयता के साथ सम्बद्ध है, किन्तु सायुज्य का व्यापक अनुसंधान किया जाय तो यह सत्य उद्घाटित होता है कि न केवल मानसेतर सत्ता-सोपानों से मनोभावों का एक नाता है अपितु विशेष-विशेष भूमिकाओं पर रसानुभूति का विशेष-विशेष अभिप्राय भी सम्भव है । 'अनुभूति' का व्यापक अर्थ 'अनु-भूति', अर्थात् परिणति, होना चाहिये । जब कोई पदार्थ अथवा सत्ता सजातीय पदार्थ अथवा सत्ता के सम्पर्क अथवा

प्रभाव से अनुभावित हो जाय, अर्थात् तद्भावान्वित हो जाय, तल्लीन, तदाकार, तद्रूप, तन्मय, तदात्मसात् हो जाय तो उस दशा को 'अनुभव' अथवा 'अनुभूति' कहना यथेष्ट होगा। इंधन अग्नि के सम्पर्क-प्रभाव से स्वयं प्रज्वलित हो जाय तो उसकी अग्निभूतावस्था को व्यापक अर्थ में 'अनुभूति' कहा जा सकता है। वस्तुतः अनुभूति में सायुज्य का तात्पर्य इसी व्यापक अर्थ को स्वीकार करके स्पष्ट होता है।

'अनुभूति' के इस व्यापक अभिप्राय को ग्रहण करके यह मानना समीचीन होगा कि जब यथेष्ट निमित्त की प्राप्ति पर कोई व्यक्ति अथवा सत्ता तद्भावान्वित हो जाय, उसके सारतत्त्व के साथ अभिन्न होकर उसके रस में परिणत हो जाय तो वह दशा उसकी 'रसानुभूति' होगी। सचेतन व्यक्तियों में यह भावान्विति सचेतन होगी, अचेतन पदार्थों में अचेतन होगी। ऐसा मान लेने पर रसानुभूति का एक विश्वव्यापी अभिप्राय सिद्ध होता है जिसकी संगति रसतत्त्व की विश्वव्यापी परिभाषा के साथ है। इस अभिप्राय के अनुसार मनोमयी भूमिका पर रसानुभूति का अर्थ होगा मन की रागात्मिका परिणति, उसका रत्यात्मभाव। सुखात्मक अनुभूति का अभिप्राय होगा मन का सुखरूप हो जाना, दुःखात्मक अनुभूति का अभिप्राय होगा मन का दुःखरूप हो जाना। जहाँ सुख और दुःख विषय हों और मन उनसे भिन्न उनका विषयी मात्र हो ऐसा द्वैतभाव यथार्थ नहीं होगा। साहित्यिक विवेचना में नौ प्रकार के रसों के सन्दर्भ में हमारे अन्तश्चैतन्य की तत्तद्रस में परिणति ही विशेष-विशेष रसानुभूति होगी। क्रोध की अनुभूति का अर्थ है क्रोध बन जाना, करुणा की अनुभूति का अर्थ है करुणा बन जाना। इस रसानुभूति का सटीक अर्थ होगा रसात्मभाव की प्राप्ति।

रसानुभूति के इतने व्यापक अभिप्राय को स्वीकार कर लेने पर सभी प्रकार की अनुभूतियाँ उसके अन्तर्गत आ जाती हैं। उन अनुभूतियों में वैविध्य कितना भी हो, रसाभाव किसी में भी नहीं माना जा सकता। उस दशा में एक गम्भीर प्रश्न यह उभरेगा कि यदि कोई भी अनुभूति रसविहीन नहीं है तो हम सभी अनुभूतियों का रसास्वाद, उनका आनन्द क्यों नहीं ले पाते? क्यों कोई विशेष अनुभूति हमारे लिये प्रिय, आस्वाद्य, भोगाकांक्ष्य होती है और क्यों, उसके विपरीत, किसी अन्य अनुभूति के प्रति हमारे भीतर वितृष्णा और जुगुप्सा की वृत्ति जगती है? अपने स्वभाव को देखते हुए यह स्पष्ट ही है कि हमारा अन्तर स्वारस्य का प्यासा है और उसमें सुखात्मक परिस्थितियों अथवा अनुभवों के प्रति एक सहज आकर्षण और अनुराग होता है, दुःखात्मक परिस्थितियों अथवा अनुभवों के प्रति सहज विकर्षण और द्वेष होता है। स्वाभाविक वृत्ति के अनुसार सुखात्मक ही सरस प्रतीत होता है, शेष सब नीरस प्रतीत होता है। रस के साथ आनन्द का तात्पर्य अभिन्न जैसा है। तैत्तिरीय उपनिषद् के शब्दों में "रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति", (ब्र० ७) अर्थात् 'रस की उपलब्धि करके ही यह आनन्दी होता है।' यदि सभी कुछ आनन्दमय अथवा रसात्मक हो तो सरस-नीरस का द्वन्द्व क्यों होता है? क्यों प्रियता अप्रियता का भेद होता है?

इस समस्या के समाधान के लिये हमें अपने अनुभवों की विभिन्न भूमिकाओं का पर्यवेक्षण सहायक होगा। उसी पर्यवेक्षण के साथ काव्य-नाट्य-साहित्य से सम्बद्ध रस-चर्चा

भी प्रासंगिक बनेगी। साधारण जीवन में हमारे सुख-दुःखात्मक अनुभव होते हैं, जिनसे सम्बन्धित वे बाह्य परिस्थितियाँ होती हैं जिनका सम्पर्क प्रिय अथवा अप्रिय होता है। ऐन्द्रिय भूमिका पर प्रायः तीक्ष्ण और व्यथापूर्ण प्रतिकूल सम्पर्क दुःखद होते हैं और, उसके विपरीत, मृदु और अनुकूल सम्पर्क सुखद होते हैं। स्वभावतः सुखद स्पर्शों में हमें सरसता का अनुभव होता है, स्पृहा उत्पन्न होती है, दुःखद स्पर्शों के प्रति विरसता का अनुभव होता है, द्वेष उत्पन्न होता है। उसी प्रकार मानसिक भूमिका पर प्रीति, शान्ति, सौन्दर्य इत्यादि अनुकूल प्रतीत होते हैं, सरस लगते हैं, परन्तु क्रोध, भय, घृणा इत्यादि प्रतिकूल और रस-विरोधी प्रतीत होते हैं। सामान्य मनोवृत्ति के अनुसार सरसता के प्रति स्वागत भाव जगता है, उसके विपरीत अनुभवों के प्रति जुगप्सा उत्पन्न होती है। किन्तु जब ये दोनों ही प्रकार के परस्पर विरोधी भाव नाट्य में मंच पर प्रदर्शित होते हैं अथवा काव्य में अभिव्यक्त होते हैं तो हम द्रष्टा-वृत्ति से अथवा पाठक भाव से उन सभी का रस लेते हैं। द्रष्टाभाव से, साहित्यिक चेतना से, हम शृङ्गार का भी रस लेते हैं, करुणा का भी; उस विशेष वृत्ति से वीरता का भी रस मिलता है भीरुता का भी, अद्भुत् आश्चर्य की सराहना भी होती है, वीभत्स घृणा का मूल्य भी होता है, शान्त स्थिर भाव का भी महत्त्व होता है, बौखला देने वाले क्रोध का भी।

एक प्रकार से यह विचित्र सी बात है कि जिस प्रकार की परिस्थिति से हम अपने सामान्य जीवन में बचना चाहते हैं, जिस प्रकार के अनुभवों के प्रति हमारे भीतर जुगुप्सा उत्पन्न होती है, उसी प्रकार की परिस्थितियों और अनुभवों को नाट्य और काव्य के प्रसङ्ग में विशेष प्रकार के रसपरिपाक के लिये हम उपयुक्त, वाञ्छनीय, कदाचित् अपरिहार्य मानते हैं, और उनके समावेश से अपने काव्य अथवा नाट्य को समृद्ध बनाते हैं। आत्म-निरीक्षण करने पर यह तथ्य प्रकट होता है कि हम यदि किसी परिस्थिति और उसके प्रभाव में आबद्ध होते हैं तो अनुकूलता-प्रतिकूलता के द्वन्द्व में ग्रसित रहते हैं, रागद्वेषात्मक वृत्तियों के अधीन रहते हैं। अतः अनुकूलता में हमें सुख का अनुभव होता है, प्रतिकूलता में दुःख का, और केवल सीमित प्रियता के नाते हम सुख को सरस मानते हैं, दुःख को विरस। उसके विपरीत यदि हम परिस्थितियों और उनके प्रभावों से तटस्थ रहते हैं, और मात्र द्रष्टा बनकर उन्हें देखते हैं तो उनमें एक समता का अनुभव कर पाते हैं। तटस्थता की यह दशा स्वभावतः द्वन्द्व-ग्रसित दशा से ऊँची होती है, और उसमें हमारी चेतना एक उच्चतर भूमिका में आरोहण करके निम्नतर भूमिका के प्रति समभाव में स्थित हो जाती है। उस समता में वह आकर्षण-विकर्षण-रहित होकर समग्र भाव से प्रत्येक अनुभव का रस लेती है। रस-शास्त्रीय रस-वैविध्य के अन्तर्गत शान्त, शृङ्गार, अद्भुत्, वीर, हास्य आदि रसों के साथ भयंकर, रौद्र, वीभत्स आदि को भी रसों में सम्मिलित करने का यही न्याय है। अन्यथा सामान्य मनोदशा में क्रोध, भय, घृणा इत्यादि के प्रति केवल जुगुप्सा होती है, रसास्वाद वृत्ति नहीं।

किन्तु यहाँ हमने अपनी मीमांसा के लिये एक विरोध-समस्या खड़ी करली है: एक ओर हम रसानुभूति को रस में परिणत कर रहे हैं जिसमें भोक्ता-भोग्य-सायुज्य मान रहे हैं, दूसरी ओर हम तटस्थ भाव से द्रष्टा होकर समता में स्थिति के आधार पर रसास्वाद

की सम्भावना मान रहे हैं। एक दशा दूसरी की विरोधी है : यदि विषय-विषयी-सायुज्य में ही रसानुभूति होती हो तो विषयातीत तटस्थ भाव में रसास्वाद असम्भव होगा; कदाचित् तटस्थ भाव में सम होकर निर्विकार साक्षी बनने पर ही रसाभास होता हो तो भोक्ता-भोग्य-सायुज्य से रसानुभूति असम्भव होगी। 'सायुज्य' और 'तटस्थ' में परस्पर कोई संगति तो है ही नहीं, उल्टा एक विरोध और वैपरीत्य है। अतः यदि सायुज्य को रसानुभूति का आधार मानना है तो तटस्थता उसमें बाधा डालेगी, और यदि तटस्थ भाव से ही रस-बोध की सम्भावना होती हो तो, सायुज्य तो दूर, किसी भी प्रकार का विषय-सम्पर्क उसमें बाधा बनेगा। इन दोनों विपरीत निमित्तों में से किसी एक को ही रसानुभूति में साधक माना जा सकता है, दूसरा स्वभावतः निराकरणीय हो जाएगा।

उपर्युक्त समस्या के समाधान के लिये स्यात् हमें 'सायुज्य' और 'ताटस्थ्य' को और अधिक गहराई से देखना होगा। कारण, उनमें प्रतीत्या विरोध होते हुए भी इस सत्य का प्रतिवाद नहीं किया जा सकता कि रसानुभूति में रसिक वृत्ति और रस्य-विषय में एक प्रगाढ़ संयोग होता है; और न इस तथ्य का तिरस्कार ही किया जा सकता है कि हमारा साक्षित्व जितना अधिक विशाल होता है एवं हमारी भावना जितनी अधिक उदात्त होती है उतना ही अधिक हमारा रसास्वाद व्यापक और विस्तृत होता है, उतनी ही अधिक समृद्ध रस-वैविध्य की हमें अनुभूति होती है। अतः अपेक्षा इस बात की है कि हम उस रहस्य का अनुसंधान करें जो 'सायुज्य' तथा 'ताटस्थ्य' दोनों में समवर्ती हो और जिसका रसानुभूति से सीधा सम्बन्ध हो।

सम्भवतः वह रहस्य यह है कि सायुज्य में उस तत्त्व का प्रादुर्भाव होता है जो विषयी और विषय में 'सम' है, जिसके नाते वे दोनों विशिष्ट होते हुए भी अभिन्न होते हैं, एकमेव होते हैं। सम्भवतः यह ऐक्य ही मूलतः रसस्वरूप है जिसकी अभिव्यक्ति सायुज्य में 'रसानुभूति' होती है। वही 'समतत्त्व' एक दूसरी प्रक्रिया से उस ताटस्थ्य में उपलब्ध होता है जिसे हमारी विषयाबद्ध चेतना अनुकूलता-प्रतिकूलता के द्वन्द्व में खोए रहती है। तटस्थता में हमारी चेतना अनासक्त होती है यह ठीक है, किन्तु साथ ही वही चेतना सीमित, संकुचित विषयों की परिधि से बाहर निकल कर, प्रिय-अप्रिय के द्वन्द्वों से ऊपर उठकर उस तत्त्व के प्रति खुलती है जो समस्त विषयों में समभाव से वर्तमान है। उसी तत्त्व के नाते वह समस्त विषयों में समरस का अनुभव कर पाती है। अतः 'समत्व' है वह सत्य, वह रहस्य, जिसका उद्घाटन 'सायुज्य' और 'ताटस्थ्य' दोनों में होता है। स्पष्ट है कि यह 'समत्व' कोई सामाजिक समानता अथवा मनोवैज्ञानिक निष्पक्ष-उपेक्षा इत्यादि नहीं है; वह एक तात्त्विक सत्य है जिसे गीता "समं ब्रह्म" कहती है। बोध की भूमिका में उसका उल्लेख है :

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(गीता–५/१८)

अर्थात्—**'विद्याविनय सम्पन्न ब्राह्मण में, गौ में और हाथी में, कुत्ते में और चाण्डाल में, पण्डितजन समतत्त्व का ही दर्शन करते हैं।'** उपनिषद् की घोषणा है, आश्वासन है कि

'एकतत्त्व' के दर्शन से जुगुप्सा मिट जाती है–"तत्र न विजुगुप्सते", शोक-मोहादि द्वन्द्व विलीन हो जाते हैं—"तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" । (ईश) भाव की भूमिका में उसी दर्शन की अभिव्यक्ति "मैत्रः करुण एव च", "सर्वभूत हिते रताः", 'सुहृदं सर्वभूतेषु' इत्यादि अद्भुत अनुभूतियों में होती है, और उस दशा में तत्त्वदर्शियों का जीवन रसमय हो जाता है, "तुष्यन्ति च रमन्तिच" ।

तटस्थभाव वस्तुतः तिरस्कार भाव अथवा बहिष्कार भाव अथवा निषेध भाव नहीं होता, वह तुल्यभाव होता है, 'रागद्वेष-वियुक्त' भाव होता है । 'तुल्यप्रियाप्रियो धीरः', 'तुल्यमित्रारिपक्षयोः' इत्यादि अनेक प्रकार से गीता ने उसका वर्णन किया है । सच तो यह है कि तटस्थ होना अपनी आबद्ध चेतना को उन्मुक्त करके उच्चतर सत्य में आरोहण करने के लिये एक सोपान है । विषयाबद्ध चेतना द्वन्द्वग्रसिता चेतना होती है, उसमें विषमता होती है, समता नहीं । अपनी आसक्त दशा में वह प्रियाप्रिय भेद में, आकर्षण विकर्षण द्वन्द्व में बंधी रहती है । प्रिय, अप्रिय दोनों का रस वह तबतक नहीं ले पाती जब तक उसे दोनों में समवर्ती आनन्द का भान न हो जाय । किन्तु समवर्ती आनन्द अथवा रस का भान करने के लिये पहले उसे द्वन्द्वों से अनासक्त होना होगा, उनसे ऊपर उठना होगा, 'उदासीन' होना होगा । तभी वह समत्व में प्रतिष्ठित हो सकेगी और उस समतत्त्व के प्रति खुल सकेगी, उसे ग्रहण कर पायेगी जो वास्तव में समस्त परिस्थितियों में, वस्तुओं और घटनाओं में, अनुगत है और आनन्दमय है । तभी उसका उस आनन्द के साथ योग होगा जिसके नाते वह स्वयं रस में परिणत होगी । इस प्रकार ताटस्थ्य को सायुज्य का प्रथम चरण कहा जा सकता है ।

तटस्थता के वियुक्त भाव को विच्छेद भाव न मानकर उदासीन भाव मानना होगा, जिसमें हमारी चेतना मनोगत एवं प्राणगत रागद्वेषात्मक अहंकार से ऊपर उठकर द्रष्टा-भाव को प्राप्त करती है । तभी समतत्त्व का दर्शन कर पाने में वह समर्थ होती है और उसे समरसता की अनुभूति होती है । वस्तुतः यह ऊर्ध्व चैतन्य अध्यात्म चैतन्य है, निगूढ़ अन्तश्चैतन्य है, वही व्यापक विश्वात्म चैतन्य भी है । उसका स्वरूप आनन्दमय है, अतः उसकी समस्त अनुभूति स्वभावतः रसात्मक होती है । इसका सहज अनुभव करने वाले निगूढ़ात्मा के विषय में श्री अरविन्द का उद्घाटन है :

"निगूढ़ आत्मा भीतर से पदार्थों के रस के प्रति सचेत होता है और समस्त संस्पर्शों में समान आनन्द प्राप्त करता है ।………हमारे भीतर हमारा सच्चा अन्तरात्मा अपने सभी अनुभवों का आनन्द लेता है, उनसे शक्ति, सुख, ज्ञान का संचय करता है, अपने बाहुल्य में, अपनी निधि में उनसे समृद्ध होता है । हमारा यह सच्चा अन्तरात्मा ही हमारे जुगुप्सु कामनामय मन को दुःख के प्रति तितिक्षा के लिये, उसमें सुख की अनुभूति प्राप्त करने के लिये, जो कुछ सुखकर है उसका परित्याग करने के लिये, उसके अपने मूल्यों को बदल देने अथवा उलट देने के लिये, समस्त पदार्थों को उदासीन भाव से समान मानने के लिये अथवा अस्तित्व के वैविध्य के आनन्द में उनके प्रति समभाव लाने के लिये प्रयोजित करता है ।……

"सच्चे अन्तरात्मा को बाह्य भूमिका पर ले आने से सुख-दुःखादि अहंबद्ध मानों के स्थान पर एक समवर्ती तथा सर्व समावेशी व्यक्ति-सापेक्ष-निरपेक्ष आनन्द को ले आना सम्भव होता है। प्रकृति-प्रेमी यह करता है जबकि वह प्रकृति के समस्त पदार्थों में बिना किसी जुगुप्सा अथवा भय अथवा रुचि-अरुचि के, जो कुछ अन्य लोगों के लिये तुच्छ और महत्त्वहीन प्रतीत होता है, नीरस और असंस्कृत, भयानक और घृणास्पद प्रतीत होता है, उसमें भी सौन्दर्य का दर्शन करते हुए आनन्द लेता है। कलाकार और कवि भी ऐसा करते हैं जबकि वे सौन्दर्यभावना अथवा रेखाङ्कन अथवा सौन्दर्य के मानसिक रूप के माध्यम से अथवा आन्तर बोध एवं शक्ति से उस विषय के वैश्व-रस को प्राप्त करना चाहते हैं जिससे कि साधारण व्यक्ति पराङ्मुख हो जाता है।"

(द लाइफ डिवाइन्, अमरीकी संस्करण, पृ० २०६)

श्री अरविन्द के दर्शन, योग एवं काव्य ग्रन्थों में मानव-व्यक्तित्व की, आनन्दात्मक रस-तत्त्व की, चेतना की विभिन्न श्रेणियों और उनके तारतम्य की, मनुष्य की अनुभूतियों और उसकी संवेदनशीलता की गहन अनुसंधानात्मक मीमांसा उपलब्ध होती है जिसमें भारतीय-अभारतीय दृष्टिकोणों का समावेश तो है ही, अद्भुत रहस्योद्घाटन भी है। आध्यात्मिक सत्य और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का वह समन्वय जो हमारे विकासोन्मुखी जीवन का विश्वात्मा के साथ एवं परात्पर दिव्य आनन्द के साथ सर्वाङ्ग सम्बन्ध स्पष्ट बना दे, उनकी योग-सिद्धि-विवेचना में प्राप्त होता है। वह अपने आप में इतना प्रचुर है कि एक विस्तृत अनुसंधान का विषय बन सकता है। 'रसतत्त्व', हमारी व्यक्ति-समष्टि-संरचना, वर्तमान अनुभव-सामान्य एवं सम्भाव्य अनुभूति-क्षमता के प्रसङ्ग में निम्नलिखित एक उद्धरण में समाहार प्रस्तुत है :

"वैश्व आत्मा के लिये समस्त पदार्थों में एवं वस्तुओं के समस्त संस्पर्शों में आनन्द का एक तत्त्व रहता है जिसका सर्वोत्तम वर्णन संस्कृत शब्द 'रस' के द्वारा हुआ है, जिसका अर्थ किसी वस्तु का सारतत्त्व भी है, उसका आस्वाद भी। क्योंकि हम किसी वस्तु के सम्पर्क में आने पर उसके सारतत्त्व को नहीं खोजते, केवल इस पर दृष्टि रखते हैं कि वह वस्तु किस प्रकार हमारी कामनाओं और आशंकाओं को, स्पृहाओं और जुगुप्साओं को प्रभावित करती है, इसीलिये वास्तविक 'रस' दुःख और शोक का, क्षणिक और अपूर्ण सुख अथवा निर्वेद का—अर्थात् सार ग्रहण कर पाने में असमर्थता का—रूप धारण कर लेता है। कदाचित् हम अपने हृदय और मन में सर्वथा निष्काम हो पाते और अपने स्नायविक-प्राणिक व्यक्तित्व पर उस (विरक्ति) अनासक्ति को ला पाते, तो रस के इन विकृत रूपों का अधिकाधिक निराकरण सम्भव हो जाता और सत्ता के समस्त वैविध्य में उसके अपवर्त्ती निजी आनन्द का सच्चा तात्त्विक आस्वाद हमारे लिए सुलभ हो जाता। कला और काव्य के द्वारा प्रस्तुत वस्तुओं के सौन्दर्यात्मक संवेदन में विविध किन्तु विश्वव्यापी आनन्द के लिये ग्रहणशीलता

जैसी समर्थता हमें इसलिये प्राप्त हो जाती है कि हम अनासक्त और निष्काम हो जाते हैं, अपने विषय में अथवा अपने बचाव के विषय में चिन्ता नहीं करते; केवल वस्तु और उसके सारतत्त्व के प्रति सचिन्त होते हैं। इसीलिये हम उस दशा में करुणा का, भयानक का, वीभत्स तक के रस का आनन्द लेते हैं। निश्चय ही संस्पर्शों का यह रसात्मक संवेद उस विशुद्ध आनन्द का ठीक-ठीक प्रतिरूप अथवा प्रतिभास नहीं है जो अतिमानसिक एवं अतीन्द्रिय है, क्योंकि अतिमानसिक आनन्द में करुणा, भय, रौद्र, वीभत्स इत्यादि का परिहार हो जायगा, जबकि रसात्मक संवेद में इनका समावेश रहता है। किन्तु ऐसा रसात्मक संवेद अंशतः एवं अपरिपूर्ण रूप से वस्तुओं में अभिव्यक्त विश्वात्मा के वर्द्धमान आनन्द की एक विशेष अवस्था का प्रतिरूप मात्र होता है और वह हमें हमारी प्रकृति के एक अंश विशेष में अहंबद्ध संवेदन से विमुक्त उस वैश्व मनोभाव में ले आता है जिसके द्वारा एकमात्र आत्मा उन प्रसङ्गों में सामंजस्य और सौन्दर्य का दर्शन करता है जिनमें हम अपने विभक्त व्यक्तित्व से असमंजसता एवं विस्वरता का अनुभव करते हैं। हमें पूर्ण विमुक्ति केवल तभी प्राप्त हो सकती है जबकि हमारे समस्त अङ्गों में ऐसी ही विमुक्ति आ जाय—वैश्व रसानुभूति, ज्ञान की विराट् दृष्टि, समस्त पदार्थों के प्रति व्यापक वैराग्य किन्तु सबके प्रति हमारे प्राणों में और हृदय में सहानुभूति।"

(द लाइफ डिवाइन, अमेरिकी संस्करण, पृ० १०१–१०२)

श्री अरविन्द आश्रम, पांडिचेरी

रसानुभूति*

रेखा झांझी

"रस" पद का संस्कृत काव्य-शास्त्र में प्रयोग एक कलाकृति के आधारभूत सारतत्त्व को इंगित करने के लिए हुआ है। सौंदर्यशास्त्र के इतिहास में एक कलाकृति के अनिवार्य गुणों का ब्यौरा विभिन्न रूपों में दिया गया है। यूनानी और भारतीय विचारकों ने 'अनुकृति' सम्प्रत्यय का निरूपण किया, क्रमश:, 'विवेचन' और 'भाव-तादात्म्य' जैसी दूसरी अवधारणाओं द्वारा सौन्दर्यशास्त्र के सिद्धान्तों के विकास के चरण प्रशस्त हुए। उन सभी कला-सिद्धान्तों के विपरीत, जिनमें पूर्णरूप से रचना के रूपात्मक तत्त्वों के अर्थ को अधिक महत्त्व दिया जाता है, रस-सिद्धान्त में कलाकृतियों में मानवीय भावमूलक प्रक्रियाओं को प्रधानता दी गयी है। इस प्रकार रस की अवधारणा कलाकृति में निहित केन्द्रीय भावमूलकता को महत्त्व प्रदान करती है। इस केन्द्रीय भूमिका के इर्द-गिर्द ही कलाकृति के अन्य पहलू उजागर होते हैं। उदाहरणतया उसके संवेदनात्मक गुण, जैसे गढ़न, आकार, रंग, शैली, एकात्मता आदि, तथा आश्रित भावात्मक गुण जैसे व्यभिचारी और स्थायी भाव इत्यादि। इस प्रकार भरत ने 'रस' प्रत्यय का तात्पर्य एक कलाकृति का भावमूलक सारतत्त्व बतलाया है। यह इस बात से स्पष्ट है कि उनके द्वारा ८ रसों का नामकरण : शृंगार, हास्य, करुण, वीर आदि भी मानवीय भावनाओं के अनुरूप ही किया गया है। विभिन्न रस कलाकृतियों द्वारा उद्दीप्त भावमूलक गुणों को इंगित करते हैं नकि उनके रूपात्मक कलेवर को। यहाँ यह नहीं भूलना चाहिये कि भावमूलक गुणों का आविर्भाव भी कलाकृति के रचना-विधान द्वारा ही सिद्ध होता है। स्वयं भरत ने विभिन्न रंगों, रंगमंचीय प्रभावों, बोधों के सहचर्य, शाब्दिक वरयीयताओं द्वारा प्रत्येक विशिष्ट रस की निष्पत्ति का पृथक् निदान बतलाया है। कलाकृति के सन्दर्भ में सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए दो मानक प्रारूप स्पष्ट निखरते हैं। एक—कला-सर्जन और सर्जक का तो दूसरा कलाकृति के सहृदय द्वारा रसास्वादन का। यद्यपि 'रसानुभूति' की अवधारणा सहज ही 'रसनिष्पत्ति' के विपरीत दर्शक के अनुभव को केन्द्र करके अवतरित हुई होगी, रसानुभूति की किसी भी चर्चा में कलाकृति की रचना-प्रक्रिया का सम्पूर्ण हो चुकना एक पूर्वमान्यता ही रहती है। सहृदय की रसानुभूति के विश्लेषण के लिए 'रसनिष्पत्ति' की प्रक्रिया को समझने का प्रयास करना अत्यन्त उपयोगी रहेगा।

* अ० भा० दर्शन परिषद् के २१वें अधिवेशन में "रसानुभूति" गोष्ठी में पठित।
(प्रस्तुत लेख का मुख्य उद्देश्य रस-सिद्धान्त के ऐतिहासिक विकास का विश्वेषण करने की अपेक्षा उस अनुभूति का विश्लेषण करना है जो रसास्वादन के समानान्तर होती है।)

भरत के अनुसार रस की निष्पत्ति कला-सम्प्रेषण में उस कलाकृति द्वारा निर्धारित विभावों, अनुभावों और सहकारी मनोगत मानसिक प्रतिक्रियाओं और व्यभिचारी भावों के परस्पर संयोग से होती है ।[1] वह उसी बात को निम्न तुलना से भी स्पष्ट करते हैं: "यह कहा जाता है कि रस विभिन्न मसालों, सब्जी और अन्य पदार्थों के सम्मिश्रण से उत्पन्न होता है । जैसेकि विभिन्न रस लवण, गुड़ आदि द्रव्यों के सम्मिश्रण से उत्पन्न होते हैं उसी तरह विभिन्न भावों से रसों का आविर्भाव होता है ।"[2]

ऊपर के उद्धरण से दो बातें स्पष्ट हैं : पहली—कि कलाकृतियाँ संघठित इकाइयां होती हैं और उनके विभिन्न अवयवों की महत्ता कला-अभिव्यक्ति की पूर्णता में उनकी भूमिका में निहित है । दूसरी यह कि स्वयं रस को कलाकृति के विशेष अवयव के अनुरूप कोई पृथक् तत्त्व नहीं समझना चाहिए । पाकविद्या से प्रस्तुत तुलना यह स्पष्ट करती है कि रस का स्थायी या व्यभिचारी भावों के अनुरूप न होना अथवा रंगकर्मी द्वारा रंगमंच पर प्रस्तुत किसी विशेष गत, मुद्रा, व्यंजना तथा सज्जा के रंग के समरूप न होना यह सिद्ध करता है कि रस कलाकृति के अन्य अवयवों जैसा तत्त्व नहीं है । कलाकृति के विभिन्न पहलुओं में व्याप्त रहते हुए भी रस किसी विशेष कला-अवयव का पर्याय नहीं है। विभिन्न निर्धारक विभाव और अनुभाव पृथक्-पृथक् विशिष्टताओं द्वारा व्यक्त होते हैं, रस इन सभी से पूर्णतया भिन्न है क्योंकि वह प्रथमतया किसी कर्त्ता अथवा स्थिति मात्र का द्योतक नहीं है । वस्तुत: अभिनव गुप्त जैसे कला-विचारकों की यह अपूर्व प्रतिभा थी कि इन्होंने रस के साधारणीकृत स्वरूप का प्रतिपादन कर उसे विशिष्ट भावों से पृथक् किया। जिस व्यापक दृष्टि एवं वस्तुनिष्ठता से भारतीय सौन्दर्यशास्त्रियों ने सौन्दर्यानुभूति में उपलब्ध भावों का विवेचन किया है वह रससिद्धान्त की मौलिकता का लक्षण है । कांट, बुलो और क्रोचे जैसे पाश्चात्य कला-विशेषज्ञों ने केवल निस्संग एवं तटस्थ भावात्मक प्रतिक्रियाओं का प्रतिपादन किया था, किन्तु उनकी व्याख्या में उतनी गहराई एवं सुघड़ता के साथ कलाकृति के कर्त्ता-निरपेक्ष भाव का निरूपण नहीं हो सका, जैसाकि भारतीय समीक्षा में उपलब्ध है ।

अभी तक हम केवल रस-निष्पत्ति की व्याख्या करते रहे हैं । इसके पहले कि हम रसानुभूति का विश्लेषण करें, यह स्पष्ट कह देना चाहिये कि भरत का चिन्तन नाट्य में रस के आविर्भाव से अधिक सम्बन्ध रखता है और एक द्रष्टा के रसास्वादन से कहीं कम । केवल परवर्ती लेखकों ने सर्वप्रथम रसानुभूति की व्याख्या की है । ऐसा लगता है कि भरत की यह पूर्वमान्यता होगी कि सहृदय को केवल सर्जनशील कलाकार के सधे पदों का ही अनुसरण करना होता है ।

हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि इस निबन्ध का उद्देश्य रस-प्रत्यय का ऐतिहासिक विश्लेषण करने की अपेक्षा केवल भरत द्वारा रस-निष्पत्ति सम्बन्धित स्थापनाओं के आधार

१. नाट्यशास्त्र, अनुवादक मनमोहन घाष, जिल्दन (अध्याय I–XXVII) 'कलकत्ता, १९६६, अध्याय ६, अंक ३१, पृ० १०५ ।

२. वहीं द्रष्टव्य ।

पर रसानुभूति की अवधारणा के पुनर्निर्माण की चेष्टा करना है। प्रश्न यह है कि द्रष्टा द्वारा रस के पुनर्गठन की क्रिया किस प्रकार सम्पन्न की जाती है ? एक सम्भव उत्तर यह हो सकता है कि द्रष्टा द्वारा कलाकृति के रसास्वादन की प्रक्रिया रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया से इन अर्थों में भिन्न है कि द्रष्टा वहाँ से प्रारम्भ करता है जहाँ से रचनाकार अपना दायित्व समाप्त करता है; अर्थात् द्रष्टा की भूमिका सम्पूर्ण रचित कृति से आरम्भ होती है। किन्तु भरत रस को सर्जन कर्म की अन्तिम स्थिति के रूप में स्वीकार नहीं करते, क्योंकि रस वस्तुत: कला के प्रत्येक अवयव में निहित रहता है और उसे किसी एक 'चरम-दशा' तक सीमित करना त्रुटिपूर्ण होगा। कोई भाव या मुद्रा प्रमुखतया रस की पर्याय नहीं मानी जा सकती।

कलाकृति के सौन्दर्यानुभूति के स्वरूप को समझने के लिए यह अत्यधिक आवश्यक है कि यह पहचाना जाय कि भरत के विवेचन में कलाकृति एवं उसका आस्वादन मूलतया एक प्रकार की आनुष्ठानिक प्रक्रिया है। रंगकर्मी और नाटक के पात्र अपनी विभिन्न भूमिकाओं का प्रारम्भ ईश्वर-पूजा से करते हैं। भरत के ही शब्दों में : "प्रारम्भिक भूमिकाओं का निर्वाह, जिनका लक्ष्य देवों की आराधना है, अर्थात् देवों द्वारा जिसकी प्रशंसा होती है और रंगकर्मी के दायित्व में जिससे दक्षता आती है, प्रशस्ति मिलती है और कलाकार दीर्घजीवी होता है·······इस क्रिया का लक्ष्य दैत्यों, दानवों और देवों को प्रसन्न करना है।"[3]

मंच पर नृत्यकार तथा उसके दो सहयोगियों द्वारा देवों के आह्वान के लिए भरत ने विधिवत् पूजा का विस्तृत विधान निश्चित किया है जिसमें बाद में अन्य नर्तक भी सम्मिलित होते हैं। देवस्तुति और वन्दना के समापन पर ही सूत्रधार नाटक के शीर्षक और परिकथा की घोषणा करता है। इसलिए हमें सर्जन और आस्वादन के व्यापार की शुरुआत उत्सवधर्मी वातावरण के अनुष्ठान में भाग लेने के साथ ही माननी चाहिये। अनुष्ठान की प्रतीकात्मकता की भाँति रंगमंच पर अभिनेता का प्रत्येक पद तथा मुद्रा भी प्रतीकात्मक ही होती है। स्वर, मुद्रा एवं अन्य भंगिमाओं के संयोजन से भावनाओं को मूर्त प्रतीकों में प्रस्तुत करने की प्रक्रिया का विशद विश्लेषण भरत ने किया है। सर्जक की भाँति दर्शक भी अपनी रचनाशीलता के माध्यम से इन प्रतीकात्मक भंगिमाओं को भावनाओं में पुनर्निर्मित कर उन्हें अनुभव करता है। कलाकृति के बहुआयामी अवयवों का पूर्ण ज्ञान होने पर ही सहृदय कलाकृति के बिम्ब एवं प्रतीक-विधान की समूची अर्थवत्ता का ग्रहण कर सकता है।

यहाँ यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि दर्शक को प्रतीकात्मक भंगिमाओं के संकेतों का ग्रहण करने के लिए कलात्मक अभिव्यक्ति की विभिन्न विधाओं की जानकारी के साथ ही साथ उसे संकल्पबल से सतत कल्पना-आयामी चेतना-तल पर बने रहना आवश्यक होता है।

३. वहीं, अध्याय ५, अंक ५७–५८ पृ० ८३।

नाट्यकर्म के लिए भरत 'अभिनय' पद का प्रयोग करते हैं जिसका अभिप्राय प्रस्तुतीकरण अथवा आमुखित करने के कर्म से है। इससे स्पष्ट है कि नाट्कर्म का अभीष्ट लक्ष्य कल्पना को जागृत करना होता है। जहाँ साधारण जीवन में और रंगमंच में भी अनुष्ठान का लक्ष्य मानव के कल्याण के लिए देवों का आह्वान करना होता है वहाँ नाट्य में प्रस्तावित अनुष्ठान एवं स्तुति के परिदृश्य वास्तविकता की अपेक्षा परिकल्पित अधिक रहते हैं। वस्तुतः यही वह स्थिति है जिससे रस का आविर्भाव होता है। रस का उद्भव कल्पनाशीलता में ही रहता है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि, कला-अनुभव का अवमूर्तन, विभिन्न भाव-वीथियों का उत्पादन, प्रायः इसीलिए सम्भव होता है क्योंकि जो मुद्रा और भंगिमाएँ पात्र मंच पर प्रस्तुत करते हैं उनका एकमात्र लक्ष्य कल्पना-लोक की रचना ही होता है। रसानुभूति में एक कल्पित संसार का सृजन निहित है। रसानुभूति की तात्त्विक सार्थकता केवल इस कल्पित संसार के मूर्तीकरण में ही व्याप्त होती है और कलाकृति के लालित्य का आस्वादन हम कल्पनाशक्ति को उद्दीप्त करके ही पाते हैं।

सहृदय की कल्पनाशीलता की तुलना बालकों द्वारा बनाये गए मिट्टी के हाथियों के खेल इत्यादि से करके धनंजय ने **दशरूपक** नामक ग्रन्थ में सौन्दर्यानुभूति की इस विशिष्टता को बड़ी स्पष्टता से व्यक्त किया है। यह तुलना अर्थपूर्ण है क्योंकि इससे स्पष्ट होता है कि एक घटना का अयथार्थ होना किस प्रकार रसोल्लास की मूल प्रेरणा बन जाता है। समूची रंगमंचीय घटनाओं का एकमात्र अभिप्राय एक कल्पनाजन्य स्थिति को प्रस्तुत करना होता है; व्यक्तित्व, परिदृश्यों के सम्बन्ध और अन्य अवयव इसी प्रयोजन से किये जाते हैं। यही कल्पनाजन्य स्थिति रसानुभूति का स्रोत सिद्ध होती है। क्योंकि इस प्रकार के कल्पनाश्रयी अनुभव साधारण दैनंदिन व्यापारों के विपरीत हमारे पार्थिव जीवन की प्रपंचमूलक बाधाओं से स्वतन्त्र बने रह सकते हैं। उस कल्पनाश्रयी आयाम में स्वयंस्फूर्त मन अपनी स्वच्छंद कामना के अनुसार विचरण और लीला करने के लिए मुक्त है।

पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

प्लॉटिनस और उपनिषद्

छोटेलाल त्रिपाठी

क्या प्लॉटिनस का नव्य-प्लेटोवाद औपनिषद् दर्शन से प्रभावित है ? यह प्रश्न प्राच्यविद्या विशारदों में अत्यन्त उग्र विवाद का विषय है। कुछ विद्वानों के अनुसार नव्य-प्लेटोवाद औपनिषद् दर्शन का ही एक रूप है जो ईसा की तीसरी शताब्दी में अम्मोनियस सैकस के दर्शन के रूप में उद्भूत हुआ और जिसके विकास की चरम परिणति प्लॉटिनस के दर्शन में हुई। किन्तु एक अन्य विचारधारा के अनुसार यह यूनानी दर्शन का ही एक निकाय है जिसका मूल महान् दार्शनिक प्लेटो के संवादों में खोजा जा सकता है। इस प्रश्न को हम दो ही प्रकार से हल कर सकते हैं, या तो हम यह सिद्ध करें कि नव्यप्लेटोवाद के मूलभूत सिद्धान्त उपनिषदों में मिलते हैं और वे होमर और हसीयद के परम्परागत यूनानी दर्शन के विचारों से असम्बद्ध हैं अथवा उनका मूल यूनानी दर्शन में ही उपलब्ध है और वे यूनानी दार्शनिक विचारों से संगति रखते हैं। इस प्रश्न को हल करने के लिए प्लॉटिनस के दर्शन—नव्यप्लेटोवाद—के मूलभूत सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है : **एक**—प्लॉटिनस के दर्शन में 'एक' परम सत्ता है। इसका नव्यप्लेटोवाद में वही स्थान है जो स्थान 'ब्रह्म' का अद्वैतवेदान्त में, 'श्रेयस्' का प्लेटो-दर्शन में और 'द्रव्य' का स्पिनोज़ा के दर्शन में है। यह निरपेक्ष चेतना, शुद्ध सत् और प्रथम कारण है। जगत् की सभी वस्तुओं का यही मूल है। वस्तुएँ इसी से उत्पन्न होती हैं और इसी से संरक्षित हैं और कुछ काल बाद इसी में विलीन हो जाती हैं।[1] यह निर्गुण, निराकार, निरवयव और परात्पर सत्ता है। साथ ही यह अन्तर्यामी और विभु है जो सभी वस्तुओं में व्याप्त है। इसकी तुलना हम एक ऐसे सरोवर से कर सकते हैं जिससे अनेक नदियाँ निरन्तर प्रवाहित हो रही हैं किन्तु जो न तो घटता है और न किसी प्रकार परिवर्तित होता है। यह वर्णन हमें बृहदारण्यक के ब्रह्म-विषयक वर्णन का स्मरण कराता है जो 'पूर्ण' है, जिससे पूर्ण की निरन्तर उत्पत्ति हो रही है किन्तु फिर भी जिसमें किसी प्रकार की कमी नहीं आती।[2]

निस्सरण—प्लॉटिनस के 'एक' के विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि उनके अनुसार मात्र 'एक' की ही सत्ता है, उसके अतिरिक्त किसी की सत्ता नहीं। किन्तु यदि यह सही है तो जगत् की व्याख्या कैसे होगी ? हमें इसकी प्रतीति क्यों होती है और इसकी सृष्टि का उद्देश्य क्या है ? दूसरे शब्दों में, इसकी सृष्टि क्यों हुई है ? प्लॉटिनस के अनुसार यह प्रभु का उत्प्रवाह है, यह उन्हीं की लीला है। अद्वैत तत्त्व कृष्ण की भाँति लीला में निमग्न है। यह जगत् प्रभु की न तो वास्तविक क्रिया है और न वास्तविक विकार, जैसाकि

स्वर्ण-कुण्डल का अथवा दही-दूध का। जगत् की हमें वास्तविक प्रतीति होती है किन्तु यह घट-पट की भाँति वास्तविक सत्ता नहीं है। इसकी हमें वैसी ही प्रतीति होती है जैसी रस्सी में सर्प की अथवा शुक्ति में रजत की।

परम विज्ञान (नूस)—प्लॉटिनस के अनुसार अद्वैत तत्त्व से सर्वप्रथम 'परम विज्ञान' की उत्पत्ति होती है। यह 'एक' से पूर्णरूप से मिलता-जुलता है और सभी वस्तुओं का प्रारूप है। यह सत् और विचार दोनों ही है। 'एक' का प्रतिबिम्ब होने के कारण यह 'एक' के ही तुल्य है और उसका कार्य होने के कारण यह उससे भिन्न है क्योंकि कार्य और कारण कभी भी एक नहीं हो सकते। यह शुद्ध विचार का क्षेत्र है और मानव-बुद्धि द्वारा गम्य है। प्लॉटिनस के इस सिद्धान्त में हमें उपनिषद् के सगुण ब्रह्म का स्पष्ट प्रभाव दीख पड़ता है।

आत्मा—परम विज्ञान से आत्मा की उत्पत्ति होती है। यह परम विज्ञान के ही आकार की है। इसका स्थान परम विज्ञान और ऐन्द्रिक जगत् के मध्य में है। जगत् में जो भी जीवन और गति है उस सब का यही मूल स्रोत है। इसे हम दो रूपों में विभक्त कर सकते हैं: विश्वात्मा और व्यक्तिगत आत्मा। प्रथम की तुलना हम उपनिषद् के हिरण्यगर्भ से कर सकते हैं और दूसरी की जीवात्मा से। उपनिषदों की भाँति प्लॉटिनस का यह विश्वास था कि सद्गुण और साधना का जीवन व्यतीत कर मनुष्य ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है और उसे इसी जीवन में मुक्ति मिल सकती है। मुक्ति के बाद आत्मा के शरीर का नाश हो जाता है और वह उस ब्रह्म में विलीन हो जाती है जिसकी ज्योति से सब कुछ ज्योतिमान है। किन्तु यह तत्त्व इन्द्रियगोचर नहीं है। हमारे नेत्रों की यहाँ तक पहुँच नहीं।[3] यह ऐसी अवस्था है जहाँ ज्ञान की भी पहुँच नहीं। दूसरे शब्दों में यह अज्ञेय और अदृश्य है। यद्यपि हम यह कहते हैं कि यहाँ हमें ईश्वर का साक्षात्कार होता है किन्तु यह वर्णन भी अपूर्ण ही है। हमें ऐसा भी कहने का अधिकार नहीं। किसी वस्तु के साक्षात्कार के लिए 'साक्ष्य' और 'साक्षी' दोनों की आवश्यकता होती है किन्तु जहाँ साक्षी और साक्ष्य दोनों एकरूप हो गए वहाँ अन्तर के लिए स्थान कहाँ। अतः द्रष्टा और दृश्य का भेद करना ठीक नहीं। प्रो० इञ्ज[4] के अनुसार प्लॉटिनस के उपर्युक्त प्रत्यक्ष-सिद्धान्त में हम उपनिषदों का प्रभाव स्पष्ट रूप से देख सकते हैं।

जड़तत्त्व (मैटर)—प्लॉटिनस ने जड़तत्त्व के लिए कई शब्दों का प्रयोग किया है। उन्होंने इसके लिए अशुभ, अभाव (प्राइवेशन), मिथ्या, माया और मृग-मरीचिका (फेन्टोम) शब्दों का व्यवहार किया है।[5] उनके अनुसार यह मात्र अमूर्त्तरूप (एब्स्ट्रेक्शन) और प्रत्ययों का आघात है। यह निर्विकल्प-शून्य (इन्डिटरमिनेशन) है, फिर भी मात्र शून्य नहीं। यह उपनिषदों की 'माया' की भाँति अभावरूप होते हुए भी भावरूप है। पुशे की शब्दावली में यह जादू की सृष्टि की भाँति आश्चर्यपूर्ण और भ्रामक है। दृश्य जगत् की इससे उत्पत्ति होती है, अतः दृश्य जगत् भी भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं।[6]

पुनर्जन्म और कर्म—उपनिषदों की भाँति प्लॉटिनस पुनर्जन्म और कर्मवाद में विश्वास करते थे। उनके अनुसार मानव में ही नहीं अपितु पशु-पक्षियों में भी आत्मा होती है।

जबतक हमें परम ज्ञान अथवा पराविद्या की प्राप्ति नहीं होगी तबतक आवागमन का क्रम चलता रहेगा। परम ज्ञान की प्राप्ति होते ही हमारे हृदय की ग्रन्थियाँ खुल जाएँगी और हमें जगत् से मुक्ति मिल जाएगी। वे लोग जो सद्गुण और विवेक के अनुसार जीवन-यापन करेंगे वे मनुष्य के रूप में जन्म लेंगे। जो भोग-विलास का जीवन व्यतीत करेंगे उन्हें उनके कर्मों के अनुसार पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े आदि का शरीर धारण करना पड़ेगा[७] और जो वैराग्य, समाधि, तपश्चर्या और संयम का जीवन व्यतीत करेंगे वे इस शरीर रूपी वस्त्र का परित्याग कर विश्वात्मा में विलीन हो जाएँगे।[८]

तर्क और चिंतन—उपनिषदों की भाँति प्लॉटिनस यह मानते थे कि हम तर्क की सहायता से अध्यारोपापवाद विधि द्वारा परम तत्त्व का दर्शन कर सकते हैं। इस परम तत्त्व का दर्शन करने के बाद मनुष्य को परम शान्ति की अनुभूति होती है और ज्ञाता एवं ज्ञेय के द्वैत पर आधारित उसके विचारों का भी अन्त हो जाता है। इसी प्रकार वे समाधि की अवस्था में शरीर को छोड़कर परम तत्त्व के साक्षात्कार में भी विश्वास करते थे। उनका यह कथन था कि हम समाधि में शरीर से अलग होकर ईश्वर का दर्शन कर सकते हैं। किन्तु इस साक्षात्कार के लिए हमें शरीर और तत्सम्बन्धी सभी वस्तुओं का परित्याग करना पड़ेगा, तभी हमारी आत्मा को परम प्रकाश का दर्शन होगा।[९] यहाँ हमें भारतीय दर्शन के प्रत्यक्ष-सिद्धान्त का स्पष्ट दर्शन होता है।[१०]

उपनिषदों की भाँति प्लॉटिनस यह भी मानते थे कि हमें रहस्यमयी अनुभूतियों में उच्च ज्ञान और परम तत्त्व का दर्शन होता है। ऐसा कहा जाता है कि उन्हें अपने जीवन में कई बार ऐसी अनुभूतियाँ हुई थीं जब उन्होंने शरीर से अलग होकर ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त किया था।[११] इसी प्रकार वे एक सच्चे अद्वैतवेदान्ती की भाँति कर्मकाण्ड और संस्कारों की अपेक्षा ज्ञान, प्रज्ञा और चिन्तन पर अधिक बल देते थे और मानवमात्र की एकता का प्रतिपादन करते थे।[१२]

इन सिद्धान्तों के अतिरिक्त और भी बहुत-से सिद्धान्त हैं जो उपनिषद् और प्लॉटिनस के दर्शन में समानता का प्रदर्शन करते हैं। उदाहरण के लिए प्लॉटिनस का त्रितत्त्व (थ्री हाइपोस्टेसेस) का सिद्धान्त बौद्ध-दर्शन के त्रिकायवाद से मिलता-जुलता है।[१३] प्लॉटिनस के दर्शन में दैवी क्रियाओं की सूर्य के प्रकाश से तुलना हमें उपनिषदों में ब्रह्म के वर्णन और बौद्ध ग्रन्थों में बुद्ध के वर्णन का स्मरण कराती है और ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई सन्त अपने आराध्यदेव की स्तोत्रों द्वारा स्तुति कर रहा है।[१४] उनका मोह[१५] का सिद्धान्त उपनिषदों के अविद्या-सिद्धान्त की ओर इंगित करता है तथा ब्रह्म, आत्मा और ज्ञान की एकरूपता के सिद्धान्त बरबस हमारे मन को उपनिषदों की ओर खींच लेते हैं।[१६]

कैम्ब्रिज प्लेटोवादी थिस्टोरियस और कुडवर्थ जैसे इतिहासकारों ने प्लॉटिनस के उपर्युक्त सिद्धान्तों का मूल प्लेटो और अन्य यूनानी दार्शनिकों के निकायों में खोजने का प्रयास किया है। उदाहरण के लिए, वे यह मानते हैं कि प्लॉटिनस के 'त्रितत्त्व' का आधार प्लेटो के त्रयी (ट्रीनीटी) का सिद्धान्त है, 'एक' तथा सूर्य की उपमा प्लेटो के 'प्रजातन्त्र' और

ग्रन्य संवादों में पायी जाती है, 'मोह' का सिद्धान्त पार्मेनाइडीज़ के 'व्यवहारवाद', जगत् और ब्रह्म की अनन्तता, मेलिसस के सत्, एनेक्ज़ेगोरस के परम विज्ञान (नूस) और हेराक्लाइटस की आत्मा पर आधारित है। अतः नव्यप्लेटोवाद यूनानी विचारधारा का ही सहज और वैध विकास है जो प्लेटो के चिन्तन का फल है न कि उपनिषदों के प्रभाव का।[१७]

किन्तु इन इतिहासकारों की उपर्युक्त व्याख्या ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना पर आधारित है अतः ग्राह्य नहीं है। ये इस बात को भूल जाते हैं कि स्वयं प्लेटो और अरस्तू के दर्शन भी मूल यूनानी विचारधारा का प्रतिपादन करते हैं। ऑर्फिक सम्प्रदाय और पाइथागोरस की शिक्षाओं की ओर प्लेटो के अधिकाधिक झुकाव, उनके दृष्टिकोण में धर्म के प्रति भक्तिभाव और गम्भीरता, वृद्धावस्था में वैराग्यवादी प्रवृत्ति से प्रेरित उनके नैतिक कठोरतावाद, भविष्यवक्ताओं और भूतप्रेतों में उनकी अभिरुचि और टिमैयस में दुष्टात्मा के क्षणिक आविर्भाव इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं।[१८]

प्लॉटिनस के ये सिद्धान्त न केवल उपनिषदों के सिद्धान्तों से मिलते-जुलते हैं अपितु वे परम्परागत यूनानी चिन्तन-धारा से असम्बद्ध भी हैं। वे आर्फीयस, इल्यूसिस, पाइथागोरस और ऐसे ही अन्य रहस्यवादी विचारकों के सिद्धान्तों का अनुगमन करते हैं जिनकी यूनानी संस्कृति-विरोधी प्रवृत्ति के कारण भर्त्सना की गई है। इन सम्प्रदायों के सिद्धान्त क्या हैं इनका संक्षेप में विवेचन किया जा रहा है। इनको पढ़कर हम यह अनुमान लगा सकेंगे कि ये उपनिषदों में प्रतिपादित भारतीय दर्शन के सिद्धान्तों से कितना अधिक मेल खाते हैं।

आर्फ़िक सम्प्रदाय रहस्यवादी धर्म-शास्त्र का प्रतिपादन करता था। उसके अनुयायियों को नैतिक जीवन की एक निश्चित आचार-संहिता और चरित्र-शुद्धीकरण के नियमों का पालन करना पड़ता है। वे ईश्वर के अस्तित्व, आत्मा की अमरता और दैवी-स्वरूप, पुनर्जन्म, कर्म और विश्व-बन्धुत्व के सिद्धान्तों में विश्वास करते थे। उनका यह विश्वास था कि शरीर आत्मा का कारागार है जिसकी प्राप्ति मनुष्य के अशुभ कर्मों और मिथ्या धारणाओं के कारण होती है। यदि मनुष्य नैतिकतापूर्वक जीवनयापन करे, सम्यक् ज्ञान को ग्रहण करे, पवित्रता (सच्चरित्रता), करुणा और परोपकार जैसे सद्गुणों का सतत अभ्यास करे तथा हिंसा और कामाचार से विरत रहे तो वह इसी जीवन में देवत्व प्राप्त कर सकता है। इन गुणों के अभ्यास से वह समाधि की अवस्था में ईश्वर का साक्षात् कर सकता है।

आर्फ़िक सम्प्रदाय की भाँति इल्यूसिस[१९] के सम्प्रदाय के लोग भी आत्मा की अमरता और दिव्यता में विश्वास करते थे। उनके अनुसार आत्मा के चारों ओर अन्धकारपूर्ण पर्दे हैं। गुरु-दीक्षा ग्रहण कर व्यक्ति उनका उच्छेद कर दैवी स्वरूप वरण कर सकता है। दीक्षा के अन्त में शिष्य गुरु से 'शान्ति प्राप्त करो' यह उपदेश प्राप्त करता था जिसे पढ़कर हमें उपनिषद् के 'ॐ शान्तिः शान्तिः, शान्तिः'[२०] का स्मरण हो आता है।

पाइथागोरियन सम्प्रदाय के संस्थापक पाइथागोरस[२१] भी ऑर्फ़िक सम्प्रदाय से प्रभावित थे। वे पुनर्जन्म, आत्मा की अमरता और दिव्यता तथा ज्ञान और वैराग्य की साधना द्वारा 'ईश्वर-प्राप्ति' में विश्वास करते थे। वे अपने अनुयायियों के लिए एक

निश्चित आचार-संहिता निर्धारित किये थे तथा प्राणिमात्र की समता, सर्वभूत पर दया और वासनाओं एवं उद्वेगों के संसार से विरति पर बल देते थे। वे मानव तथा अन्य जीवों में कोई तात्त्विक भेद नहीं मानते थे। उनकी यह मान्यता थी कि कोई भी व्यक्ति ज्ञान (थीओरिया)[२२] और दैवी तत्त्व के चिन्तन द्वारा ईश्वरत्व की प्राप्ति कर आवागमन के बन्धन से मुक्त हो सकता है। इनके लिए यह भी कहा जाता है कि वे मिश्र, इटली आदि सुदूर देशों की यात्रा किये हुए थे और अपने धार्मिक, दार्शनिक तथा गणित सम्बन्धी ज्ञान में ब्राह्मणों से अत्यधिक प्रभावित थे। ज्यामितिशास्त्र में 'पाइथागोरियन साध्य' के नाम से प्रख्यात उनके सिद्धान्त पर भी भारतीय गणित का प्रभाव है। क्योंकि उनसे बहुत पहिले की कृति महाभारत में उसका इदमित्थं वर्णन मिलता है।

एम्पेडॉक्लीज़ ने भी तत्त्व-दर्शन के क्षेत्र में पाइथागोरस के सिद्धान्तों का ही अनुगमन किया। उन्होंने आत्मा की अमरता और दैविकता, पुनर्जन्म और मुक्ति के सिद्धान्तों पर बल दिया। उनके अनुसार देवत्व की प्राप्ति और मुक्ति वैराग्य द्वारा सम्भव है।[२३]

सुकरात ने भी पाइथागोरस के समाधि, आत्मा की अमरता, विश्वबन्धुत्व, बौद्धिक आत्मसंयम और वैराग्यवाद पर ही बल दिया जो कर्मकाण्ड पर आधारित यूनानी धर्म से बिल्कुल ही भिन्न है। वे एक विचित्र प्रकार की आन्तरिक दैवी आवाज़ (daemon)[२४] में भी विश्वास करते थे जो उन्हें कोई कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व सावधान करती थी।

यह रहस्यवादी परम्परा प्लेटो के दर्शन में अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँची। उनके दर्शन में एक भी ऐसा सिद्धान्त नहीं है जो यूनानी धर्मशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुरूप हो। मानवीय एवं दैवी आत्मा की तात्त्विक एकता, मानवीय आत्मा की अमरता, इस संसार की दुःखमय यात्रा के शाश्वत चक्र से मुक्ति, दृश्य जगत् की निस्सारता, देह के प्रति घृणा-भाव, ज्ञान और सत् में अन्तर, के सिद्धान्तों में एक भी तो ऐसा नहीं जो प्रचलित यूनानी धर्म के अनुकूल हो?[२५] शायद वे इस यूनान-विरोधी धर्म-द्वेषी नास्तिक विचार-धारा के सबसे प्रमुख और मुखर प्रतिनिधि थे, जिनका मस्तिष्क उस ऑर्फ़िक रहस्यवाद से विशेष रूप से अनुप्राणित था जिसका मूल अधिकांशतः एशिया में था। भारत वर्ष जो सदैव रहस्यमयी भक्ति का केन्द्र-बिन्दु था, ने इसके उद्भव और विकास में विशेष रूप में योगदान किया।[२६]

इन रहस्यवादी सम्प्रदायों तथा पाइथागोरस, प्लेटो, सुकरात और नव्यप्लेटोवादी अम्मोनियस सैकस और प्लॉटिनस आदि दार्शनिकों के दर्शनों में हमें एक ऐसी विचारधारा का दर्शन होता है जो यूनान की परम्परागत बुद्धिवादी और मानवतावादी विचारधारा से निर्णायक रूप से भिन्न है और साथ ही तत्त्वतः यूनान विरोधी भी है।[२७]

एक परम्परावादी यूनानी के लिए देवताओं के समान बनने की चेष्टा धृष्टता की पराकाष्ठा है जबकि यह ऑर्फ़िक धर्म का मूलमन्त्र है। पिण्डार की निम्नलिखित पंक्तियों में हम ऑर्फ़िक सम्प्रदाय के सिद्धान्त—

'मैं ईश्वर ही हूँ, मर्त्य नहीं' की तीखी प्रतिक्रिया देख सकते हैं—

'हे मर्त्य! ईश्वर बनने की चेष्टा मत कर;
देवराज इन्द्र बनने की चेष्टा मत कर,

मर्त्यों के लिए मर्त्य वस्तुएँ हीं सबसे अधिक शोभा देती हैं। संक्षेप में—पिण्डार यूनान के लोगों को यह उपदेश देता है कि हे मानव आत्मा! तू अमर जीवन प्राप्त करने की चेष्टा मत कर! तू वही करने की चेष्टा कर जो करने की तेरी सामर्थ्य है।[२८] हेलर के शब्दों में, "मूल यूनानी धर्म में चेतन जीवन की परिधि के परे, व्यक्तित्व की सीमाओं के उन्मूलन के बाद उल्लास की अवस्था में रहस्यमयी साधनाओं द्वारा ईश्वर से मिलन की चेष्टा के लिए तनिक भी स्थान नहीं। धर्म-संस्थापक आचार्यों के सदृश वैराग्य और रहस्यवादी उपेक्षा ये दोनों ही सिद्धान्त यूनानी धर्म के लिए बिल्कुल ही अपरिचित और विदेशी हैं।[२९] वस्तुतः यूनानी धर्म उस दृष्टिकोण से बिल्कुल भिन्न है जो जीवन को रहस्यवादी पहलू से देखता है और जो युगपद् दर्शन और आचरण दोनों ही है। इस प्रकार के धर्म का अभ्युदय सर्वप्रथम एशिया में और विशेषकर उपनिषदों तथा बौद्ध धर्म में हुआ जिसने आगे चलकर समस्त यूनानी संस्कृति को आप्लावित किया।"[३०]

हो सकता है कुछ पाश्चात्य विद्वान् हमारे इस निष्कर्ष से सहमत न हों। राष्ट्रीय अभिमान और पक्षपातों से ग्रस्त होने के कारण उन्हें यह बात अच्छी न लगे कि यूनानियों ने कभी किसी अन्य देश से कोई बात सीखी या ग्रहण की; हो सकता है वे भारतीय और यूनानी दर्शनों में समान रूप से पाये जाने वाले इन सिद्धान्तों के स्वतन्त्र रूप से विकसित हुए होने की बात कहें। किन्तु उपर्युक्त निष्कर्ष मनगढ़न्त नहीं। यह किसी व्यक्ति की कल्पना और सनक पर आधारित नहीं अपितु प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है।

प्लॉटिनस के आविर्भाव से सहस्रों वर्ष पूर्व उपनिषद् काल से ही भारत और यूनान के बीच प्रगाढ़ सम्बन्ध थे। ईसा से दो हज़ार वर्ष पूर्व वैदिक युग में ही यूनानियों और भारतीयों की भाषा, मिथक, धार्मिक परम्पराओं और सामाजिक संस्थाओं में पर्याप्त समानता का दर्शन होता है। ओलिम्पिक देवों और वैदिक बहुदेववाद की अवधारणाओं में भी पर्याप्त साम्य है। वैदिक देवता मित्र, जो अवस्था की भाषा में 'मिश्र' नाम से वर्णित है, की पाश्चात्य जगत् के अधिकांश भू-भाग में उपासना होती थी और वह तीसरी शताब्दी में अनेक सम्राट् और साम्राज्ञियों का आराध्य देव बन गया था।[३१]

ईरान के सम्राट् दारा महान् की सेना में हज़ारों भारतीय सैनिक भर्ती थे। ४८० ई.पू. में जब दारा ने यूनान पर आक्रमण किया तो उन भारतीय सैनिकों ने भी उसमें भाग लिया था। इसी युग में ५१० ई. पू. में यूनानी कैप्टेन स्काइलाक्स द्वारा भारत के विषय में प्रथम ग्रन्थ की रचना हुई[३२] और होमर द्वारा वर्णित परम्परागत धर्म के विरुद्ध विद्रोह हुआ जिसके परिणामस्वरूप ज़ेनोफेनीज़, पार्मेनाइडीज़, ज़ीनो और एनेक्ज़ेगोरस आदि दार्शनिकों ने यूनानी दर्शन में एक ऐसी विचारधारा को जन्म दिया जो उपनिषदों के सिद्धान्तों से पर्याप्य मात्रा में मिलती-जुलती है। यूनानी धर्म के ऑर्फ़िक, इल्यूसीनियम, पाइथागोरियन आदि रहस्यवादी सम्प्रदायों की इसी युग में स्थापना हुई। इन घटनाओं ने यूनानी दर्शन के इतिहास पर गहरा प्रभाव डाला। इतिहास से हमें यह भी ज्ञात होता है कि कुछ भारतीय दार्शनिक एथेंस गए थे। उन्होंने सुकरात से दार्शनिक विषय पर परिचर्चा भी की थी।[३३]

३२६ ई. पू. सिकन्दर महान् के आक्रमण से भारत और यूनान के सम्बन्धों में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। इसने प्लेटो की अकादमी के इतिहास को पूर्णरूप से बदल दिया। प्लेटो के दर्शन का स्थान पाइटो के दर्शन ने लिया और यूनान के सुखमय जीवन के आदर्श को 'आत्मिक शान्ति' के सिद्धान्त ने स्थानापन्न किया।

चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक ने इन सम्बन्धों को नई दिशा प्रदान की। चन्द्रगुप्त मौर्य के युग में मेगस्थनीज़[३४] भारत का राजदूत बनकर आया। इस युग में हज़ारों यूनानी स्त्री-पुरुष भारत आये और यहाँ के निवासियों की भाँति रहने लगे। अशोक[३५] ने सीरिया, मिश्र, मक्दूनिया और सिरीन आदि देशों में अनेक भारतीयों को शान्तिदूत के रूप में भेजा। सम्राट् मिलिन्द का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है जिन्होंने बौद्ध सन्यासी नागसेन से प्रभावित हो बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। एशिया माइनर के सम्राट् एलेक्जेण्डर पोलिहिस्टर को बौद्ध धर्म का अत्यधिक ज्ञान था। यूनान के एक वरिष्ठ पुरोहित ने तीस हजार बौद्ध भिक्षुओं के साथ[३६] १५७ ई. में सम्राट् दुत्थगामिनी का निमन्त्रण स्वीकार कर बौद्ध स्तूप के स्थापना-समारोह में भाग लिया था। भारतीय पोरस ने ई. पू. २० में आगस्टस के पास एक राजदूत भेजा था, उसके साथ एक दार्शनिक भी था तथा ब्राह्मणों से ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से ट्याना निवासी अपोलोनियस ने भारत की यात्रा की थी।[३७] इन प्रमाणों के अतिरिक्त बहुत-से ऐसे भी प्रमाण हैं जो प्लॉटिनस के युग से सम्बद्ध हैं और इससे हम बहुत हद तक यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि प्लॉटिनस के दर्शन के विकास पर भारतीय चिन्तन का प्रभाव पड़ा था। हिप्पोलिटस के ग्रन्थ 'सर्वापधर्म-खण्डन'[३८] (दि रीफ्यूटेशन ऑफ आल हेरेसीस) में हमें मैत्री उपनिषद् के सिद्धान्तों का विशद रूप में विवेचन मिलता है। प्लॉटिनस स्वयं गुरुमुख से भारतीय दर्शन का ज्ञान प्राप्त करने के लिए लालायित थे और इसी उद्देश्य से उन्होंने २४७ ई. में सम्राट् गोर्डन के ईरान-विरोधी अभियान में भाग लिया था, किन्तु मेसोपोटामिया में सम्राट् की मृत्यु हो जाने के कारण उनकी लालसा पूरी न हो सकी।

इन ऐतिहासिक तथ्यों की उपस्थिति में आर्मस्ट्रांग का यह कथन समीचीन नहीं प्रतीत होता कि प्लॉटिनस का प्राच्च दार्शनिकों से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं था और न कोई ऐसा अन्तर्साक्ष्य या बहिर्साक्ष्य प्रस्तुत किया जा सकता है जो यह प्रदर्शित करे कि उन्होंने कभी भी भारतीय दर्शन का ज्ञान प्राप्त किया था।[३९] इसके विपरीत हमें फ़िलियाज़ेट का यह कथन अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि भारत में अभिरुचि रखने वाले किसी भी रोमन (प्लॉटिनस) के लिए तृतीय शताब्दी में उपनिषदों के सिद्धान्तों का विशद ज्ञान अर्जित करना बहुत ही सुगम था और प्लॉटिनस के दर्शन का जो अंश वेदान्ती ब्राह्मणवाद से सम्बद्ध प्रतीत होता है उसकी यूनानी दर्शन के आधार पर सहज रूप में व्याख्या नहीं की जा सकती। आधुनिक प्राच्चविद्या-विशारदों की भी यही सम्मति है। प्रोफेसर वालिस के अनुसार 'यूनानी और भारतीय साहित्यकारों द्वारा समान रूप से प्रयुक्त उपमाओं और रूपकों की व्याख्या प्लॉटिनस के पूर्ववर्ती यूनानी दर्शन के आधार पर सम्भव नहीं है।'[४०]

अतः इस बात की प्रबल सम्भावना है कि प्लॉटिनस अपने दर्शन की संरचना में भारतीय चिन्तन से बहुत अधिक प्रभावित हुए हों। किन्तु मात्र सम्भावना पर्याप्त नहीं है।

हमें इस विवाद के अन्तिम निर्णय के लिए तब तक प्रतीक्षा करनी चाहिए जब तक कि भारतीय और यूनानी दार्शनिकों के पारस्परिक सम्बन्धों के लिए और अधिक ठोस प्रमाण नहीं मिल जाएँ ।

प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग

पाद-टिप्पणियां

१. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति विजिज्ञास स्व तत् तद् ब्रह्म । तैत्तिरीयोपनिषद् ३।१।१।
२. बृहदारण्यक ५।१।१
३. इनियड्स ३।४।२४
४. डॉ० इन्ज—द फ़िलॉसफ़ी ऑफ प्लॉटिनस, भाग २ (१९१८) पृ० १४०; क्रिश्चियन मिस्टिसिज़्म (१८९९) पृ० ९८ ।
५. इनियड्स २।५।५
६. जे० एफ० स्टॉल-न्यू प्लेटोनिज़्म एण्ड अद्वैतवेदान्त, पृ० १९२ ।
७. पार्फ़ाइटी और आरएम्बिलक प्लॉटिनस के इस मत से सहमत नहीं हैं । उनके अनुसार मनुष्यों को पशु-पक्षियों का शरीर नहीं मिलता ।
८. इनियड्स ४।८।४
९. इनियड्स ५।३।१३।
१०. ई० ब्रायर ला फ़िलॉसफ़ाइ दि प्लाटीन, पेरिस १९३८, पृ० १०७-१३७, जे० एफ० स्टॉल के अद्वैत-वेदांत एण्ड नियोप्लेटोनिज़्म', पृ० २३६ पर उद्धृत ।
११. पार्फ़ाइटी का यह कथन है कि प्लॉटिनस ने अपने जीवन के अन्तिम पाँच वर्षों में, जब मैं उनके साथ था, चार बार ऐसी अनुभूतियाँ प्राप्त की थीं ।
१२. राधाकृष्णन् 'ईस्टर्न रिलिजन्स एण्ड वेस्टर्न थॉट', पृ० २१४ ।
१३. जे० प्रजाइलुस्की, लेस ट्राइस हाइपोस्टेसीज़ डेन्स एट ए एलैक्जैण्ड्रिया मीलेगीज़—कटमण्ट २, ब्रक्सलीज़ १९३६, ९२५-९३३, अद्वैतवेदान्त एण्ड नियोप्लेटोनिज़्म पृ० २३६ ।
१४. आर० टी० बालिस—नियोप्लेटोनिज़्म पृ० १५, टिप्पणी २ ।
१५. जे० फ़िलियाज़ेट—ला डाक्ट्रीन देस ब्राह्मनेस दा प्रेस सेंट हिप्पालिटे जर्नल एसियाटिके, २३४ (१९४३-१९४५)—जे० एफ० स्टॉल—अद्वैत एण्ड नियोप्लेटोनिज़्म, पृ० २४३ ।
१६. ई० ब्रायर-लॉ फ़िलासोफ़िके दा प्लोतीन—पेरिस १९३८, पृ० १०७-१३३ ।
१७. जेम्स हेस्टिंग्ज़—इन्साइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन एण्ड इथिक्स, भाग ९, पृ० ३०८ ।
१८. वही ।
१९. अटिका निवासी इल्यूसिस इल्यूसीनियन सम्प्रदाय के संस्थापक थे ।
२०. ईशावास्योपनिषद्, मन्त्र १८ ।
२१. पाइथागोरस क्रटोन के निवासी थे । वे ईसापूर्व छठी शताब्दी के मध्य में विद्यमान थे ।

२२. प्लेटो—फीडो, ६२ डी।
२३. एम्पेडॉक्लीज़, उद्धरण १४६।
२४. प्लेटो—अपोलोजी, २९ सी।
२५. डॉ० राधाकृष्णन्—ईस्टर्न रिलिजन्स एण्ड वेस्टर्न थॉट, पृ० १४८।
२६. सर रिचर्ड लिविंगस्टोन—ग्रीक-जीनियस एण्ड इट्स मीनिंग टु अस, पृ० १९७–१९८।
२७ नीत्शे-विल टु पावर—डॉ० आस्कर लेवी, भाग १ (१९०९) पृ० ३४६।
२८. डब्ल्यू० के० जी० गुथ्री, 'ऑर्फ़ियस एण्ड ग्रीक रिलिजन (१९३५) पृ० २३६-२३७।
२९. हेलर—प्रेथर ई० टी० (१९३२) पृ० ७६।
३०. डॉ० इन्ज-दि प्लेटोनिक ट्रेडिशन इन इंगलिश रिलिजस थॉट (१९२६) पृ० ७, ९।
तार्न—द ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया (१९३८) पृ० ६७।
३१. औरेलियस ने २७० ई० में मित्र के नाम पर विजय प्राप्त की थी और गैलेरियस एवं लाइसीनियस ने डेन्यूब के तट पर ३०७ ई० में मित्र के मन्दिर का निर्माण कराया था।
३२. स्काइलाक्स यूनानी थे। वे दारा की समुद्री सेना में कैप्टिन थे। दारा ने ५१० ई० पू० में उनकी नियुक्ति सिन्धु नदी की गति का अध्ययन करने के लिए की थी।
३३. यूसीबियस—प्रेपारियो इवेन्जलिका, ११।३।
३४. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया, भाग १ (१९२२) पृ० ४१९–४२०।
३५. अशोक राजाज्ञा त्रयोदश; डॉ० राधाकृष्णन्ई-स्टर्न रिलिजन्स एण्ड वेस्टर्न थॉट, पृ० १५३ पर उद्धृत।
३६. संख्या अतिरंजित है।
३७. दमिश्क-निवासी निकोलॉस को आधार मानकर स्ट्रावो ने यह विवरण प्रस्तुत किया है।
३८. हिप्पोलिटस ने यह ग्रन्थ ३२० ई० में लिखा था, उस समय प्लॉटिनस सिकन्दरिया में विद्यमान थे। इस ग्रन्थ-रचना के २५ वर्ष बाद, अर्थात् ३४५ ई० में, उन्होंने स्थायी रूप में रहने के उद्देश्य से इटली को प्रस्थान किया।
३९. ए० एच० आर्मस्ट्रांग—प्लॉटिनस, पृ० १३, १९५३।
४०. आर० टी० वालिस—नियोप्लॉटिनिज़्म पृ० १५।

समकालीन भारतीय दर्शन[1]

यशदेव शल्य

इधर 'समकालीन भारतीय दर्शन' नाम से डा० के. सच्चिदानन्द मूर्ति, डा० नन्दकिशोर देवराज तथा डा० मार्गरेट चटर्जी द्वारा सम्पादित तीन संकलन-ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। इन तीनों सम्पादकों की पूर्वधारणा के अनुसार 'भारतीयता' का अर्थ "भारत की भौगोलिक परिधि में होना" है और इस प्रकार 'भारतीय दर्शन' इस परिधि के विश्वविद्यालयों के दर्शन विभागों के वरिष्ठ अध्यापकों द्वारा लिखी गई शब्दावली है। 'भारतीयता' सम्बन्धी इस धारणा की प्रतिष्ठा इधर के कुछ वर्षों में ही हुई जब यूरोपीय शैली पर लिखने वाले कुछ पदासीन लोगों ने अपने पद के अनुरूप दार्शनिक प्रतिष्ठा का दावा किया। किन्तु मेरी मान्यता है कि 'भारतीयता' अथवा 'भारत का तत्त्व' किसी एक भौगोलिक क्षेत्र में घटित होना नहीं है,[2] यह तत्त्व एक विशिष्ट जीवन-दृष्टि अथवा सांस्कृतिक मूल्य-सन्दर्भ है, इस तत्त्व का नामकरण चाहे भौगोलिक प्रसंग से ही हुआ। किन्तु नामकरण के प्रसंग को कभी तत्त्व नहीं बनाया जा सकता, वह आगन्तुक संयोग ही रहता है। किन्तु उपर्युक्त पूर्व-मान्यता में इस आगन्तुक प्रसंग को ही तत्त्व कल्पित किया गया है, जो अयुक्त है।

इस पर प्रतिवाद किया जा सकता है कि, "यदि यह सही भी हो तो क्या? हम इस भारतीयता से मुक्ति पाना चाहते हैं और नयी भारतीयता की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं।" मैं स्वीकार करता हूँ कि यह प्रतिवाद युक्ति की दृष्टि से विचारणीय ही नहीं है, बहुत महत्त्वपूर्ण और गम्भीर भी है। यद्यपि इसका उत्तर मैंने अपने दो-तीन लेखों में देने[3] का प्रयत्न किया है किन्तु इस पर और विचार की आवश्यकता[4] है, यद्यपि यहाँ उसके लिए स्थान नहीं है। यहाँ मुझे केवल इतना ही निवेदन करना है कि, यद्यपि उपर्युक्त संकलनों

१. इस प्रसंग में इसी शीर्षक का हमारा एक अन्य लेख दार्शनिक त्रैमासिक, वर्ष १६, अंक २ में द्रष्टव्य।

२. द्रष्टव्य यशदेव शल्य—संस्कृति : मानव-कर्तृत्व की व्याख्या, अ-२ : संस्कृति का अधिष्ठान तथा विषय और आत्म, अ-११ : भारतीय संस्कृति, जीवत या मृत? तथा हमारा जातीय अनुभव, दार्शनिक त्रैमासिक, वर्ष २०, अंक ३।

३. द्र० भारतीय संस्कृति. जीवत या मृत? (वहीं) तथा तकनीकी और सामाजिक प्रगति, नया प्रतीक, जुलाई १६७६।

४. इस सन्दर्भ में श्री अरविन्द के अनेक लेख तथा भारतीय संस्कृति के आधार पुस्तक द्रष्टव्य।

के सम्पादकों में कम से कम दो (डा० मूर्ति तथा डा० देवराज) को यह प्रतिवाद स्वीकार्य नहीं होगा, किन्तु वे इसको अनजाने में स्वीकार कर रहे हैं। इस प्रकार उनका यह सम्पादन-कार्य आत्म-चेतन कार्य नहीं है।

वास्तव में स्वतन्त्रता के बाद हमारे बुद्धिजीवी वर्ग ने राजनेता-वर्ग के निर्देशन में, बिल्कुल अचेत में, पश्चिम के अनुसरण का निर्णय कर लिया। कहा जा सकता है कि राजनेता-वर्ग भी वास्तव में इस दृष्टि से केवल एक व्यक्ति, पं० जवाहरलाल नेहरू, के निर्देशन में ही था और इस प्रकार इस नयी उन्मुखता के लिए, कुछ सीमा तक, यह एक ही महाप्राण व्यक्ति (या कहें अन्य बहुत से व्यक्तियों की प्राण-हीनता) ही उत्तरदायी है। यद्यपि यह सही है कि एक व्यक्ति परिस्थितियों की अनुकूलता के बिना इस प्रकार निर्णायक नहीं हो सकता और इसके समर्थन में कहीं अधिक महत्तर व्यक्तित्व महात्मा गान्धी की असफलता का उदाहरण दिया जा सकता है। किन्तु, मेरे विचार में, यह भी सही है कि संक्रमण-काल में अनिश्चित परिस्थिति को निश्चित दिशा देने में, परिस्थिति में निहित एक से अधिक तत्त्वों में से एक को महत्त्व देकर आगे बढ़ाने के निर्णायक कार्य में, एक व्यक्ति का महत्त्व हो सकता है और नेहरू जी ने यह महत्त्वपूर्ण कार्य किया। नेहरू जी अवश्य अपने कार्य के सम्बन्ध में एक सीमा तक आत्मचेतन थे, किन्तु उनकी आत्मा पर्याप्त रूप से स्वरूपवान् नहीं थी, वह अधिकांश में प्रतिक्रियाओं और प्रभावों से बनती-बदलती रहती थी। उसमें केवल एक ही अंश स्थायी था—यूरोपीय (यूरोपीयता नहीं) के प्रति अभिभूतता। **यूरोपीयता** में आस्था होती तो वह इतनी घातक नहीं होती, क्योंकि उस तत्त्व का बोध आत्मबोध में ही प्रतिष्ठा देता—वह आत्मा के निर्माण का ही प्रयत्न होता जो भारतीयता के अभ्युदय में निष्पन्न होता, किन्तु **यूरोपीय** के आकर्षण ने यूरोप की बाहरी चकाचौंध को साध्य बना दिया। परिषद् के १९६४ के वार्षिक अधिवेशन के उद्घाटन-भाषण में डा० सम्पूर्णानन्द जी ने कहा था कि उनके पास जब प्रथम पंचवर्षीय योजना का प्रारूप सम्मति के लिए आया तो उन्होंने उस पर लिखा कि "इसमें बाँधों और कारखानों के निर्माण की योजना तो है किन्तु जिस मनुष्य के लिए ये सब बनाने हैं उसके स्वरूप की कोई कल्पना नहीं है।" यह बड़ी सूझ की और महत्त्वपूर्ण बात थी किन्तु उससे भी गहरी बात यह है कि मनुष्य का कोई कार्य ऐसा नहीं है जिसमें उसके स्वरूप की कल्पना निहित नहीं हो। यदि आप भाखड़ा-नंगल को तीर्थ घोषित करते हैं तो स्पष्ट है कि आप अयोध्या का नहीं सोने की लंका का निर्माण करना चाहते हैं और इस प्रकार आपकी मनुष्य की स्वरूप-कल्पना राम की नहीं, दशानन की है।

इधर कुछ मित्र तर्क करते हैं कि दर्शन संस्कृति-सापेक्ष नहीं है, सार्वभौम है। किन्तु यह कथन संस्कृति और दर्शन दोनों की समझ के अभाव का द्योतक है। दर्शन वास्तव में संस्कृति की आत्म-चेतना ही है, उसके शेष सभी पक्ष गौण और इसके अनुवर्ती हैं, इसे संस्कृति का सार भी कह सकते हैं। इस पर कहा जा सकता है कि चार्वाक या हाब्स का लेखन क्या दार्शनिक लेखन नहीं है? हमारा उत्तर होगा कि अवश्य है, किन्तु इसी अर्थ में कि यह आत्म-चेतना के क्रम में ऊहापोह को व्यक्त करता है। अवश्य हाब्स यूरोप की

संस्कृति के वर्तमान चरण की एक बलवती धारा का प्रतिनिधित्व करता है, किन्तु चार्वाक आत्मचेतना के अधिगमन के क्रम में यह वह पक्ष है जो निराकृत है। लॉक, ह्यूम, मार्क्स, वाट्सन, पावलोव और रसल निराकृत नहीं हैं और इस प्रकार वे यूरोप की वर्तमान आत्म-चेतना को, जिसे उचित ही ऐन्द्रिक कहा गया है, व्यक्त करते हैं। इस प्रकार दर्शन को इस अर्थ में सार्वभौम नहीं कहा जा सकता कि वह संस्कृति-सापेक्ष नहीं होता, केवल इस अर्थ में कहा जा सकता है कि उसे कौन विचारता है यह उसके लिए अप्रासंगिक होता है। इसी प्रकार संस्कृति के लिए भी कहा जा सकता है, किसी संस्कृति के स्वरूप के लिए यह अप्रासंगिक होगा कि वह किस देश, काल और जाति के माध्यम से प्रकट हुई है। किन्तु संस्कृतियाँ विशिष्ट होती हैं और परिणामतः, तथा उसी प्रकार, दर्शन भी होते हैं। इस प्रकार संस्कृतियाँ और दर्शन सार्वभौम और विशिष्ट दोनों होते हैं। इस प्रकार यह कहना कि दार्शनिक के रूप में हम अपना उपजीव्य शंकर को बनायें या ह्यूम को, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, युक्तियुक्त नहीं है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि हम दूसरे दर्शनों को पढ़ें-गुनें नहीं। वैसा नहीं करना वास्तव में घातक ही होगा क्योंकि अन्य विचार का साम्मुख्य आत्मालोचन की दृष्टि से उपकारक होता है। वास्तव में हमें दूसरी संस्कृतियों का, उनकी समग्रता में, अत्यन्त सहानुभूतिपूर्वक अवगाहन करना चाहिए। किन्तु 'अन्य' को तो हम तभी जानेंगे न यदि हमारा अपना कोई आत्म होगा? उसके बिना तो हम केवल विषयानुवर्ती ही रह जायंगे।

दर्शन को सार्वभौम कहने के पीछे एक अनालोचित पूर्वमान्यता है कि दर्शन शुद्ध रूप से युक्तिवितर्क है, उसका अनुभव से कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु दर्शन का इससे अधिक अवमूल्यन और किसी बात से नहीं हो सकता। वास्तव में दर्शन-विषयक इस धारणा का आयात भी समकालीन इंग्लैंड-अमेरीका से ही हुआ है, इसके बावजूद कि उन देशों का वर्तमान दर्शन उनकी परम्परा और वर्तमान मूल्यों को ही व्यक्त कर रहा है।

अवश्य ही दर्शन का एक विच्छेदक गुण सार्वभौम विचारमूलक युक्ति-वितर्क है, किन्तु अकेला युक्ति-वितर्क एक प्रकार के कौशल को तो दिखाता है किन्तु वह कभी गम्भीर और महत् दर्शन का स्थानापन्न नहीं हो सकता। शंकर या नागार्जुन या कांट युक्ति-कौशल के कारण महान दार्शनिक नहीं माने जाते, यह कौशल उनके भाष्यकारों में अधिक मिलता है। उनकी महत्ता इस बात में है कि उन्होंने अपनी संस्कृति की दृष्टि का अत्यधिक व्यापकता और गहराई में जाकर अवगाहन किया, जिया और उसे जीवन्त अभिव्यक्ति दी।

जो भी हो, यदि दर्शन भौतिक विज्ञान और अर्थशास्त्र के समान संस्कृति-तटस्थ हो तब 'भारतीय दर्शन' और 'पाश्चात्य दर्शन' आदि विशेषण-विशेष्य-योग का कोई अर्थ नहीं होगा। किन्तु यह योग नितान्त सार्थक है और इसीलिए इन संकलनों के साथ इसका प्रयोग युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि इनमें संकलित बहुत से लेख भारत के तत्त्व को व्यक्त नहीं करते।

× × ×

वास्तव में इस समय हमारे देश की दार्शनिक परिस्थिति बहुत विचित्र है। यद्यपि यह सही है कि तीन-चार शताब्दी पूर्व इस दर्शन की परम्परा क्षीण पड़ गई थी, किन्तु वह

कोई चिन्ता की बात नहीं थी। जातियों की रचनाशीलता इतिहास-क्रम में सदैव एक सी जीवन्त नहीं रहती। किन्तु सांस्कृतिक क्षीणता के इन्हीं क्षणों में एक नवीन जीवन्तता से स्फूर्त जाति के इस देश में आगमन ने भारतीय मानस को अत्यधिक विचलित कर दिया। मुस्लिम आक्रमण को उत्तर इस संस्कृति ने रामानुज, वल्लभ आदि द्वारा और निर्गुणिये-सगुणिये कवियों द्वारा—विशेषतः तुलसी और सूर द्वारा—दिया था; वैसा उत्तर यह पश्चिमी आक्रमण को नहीं दे सकी—श्री अरविन्द और महात्मा गाँधी के बावजूद। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि, श्री अरविन्द के अपवाद के साथ, भारतीय दर्शन को हमने भी अतीत और समाप्त परम्परा मान लिया और इस प्रकार उसे स्मरण करना ही अपना कर्त्तव्य बना लिया। इस जाति के जिस भाग या वर्ग में कुछ रचनात्मकता शेष थी वह राज्याश्रय में पश्चिम का अध्येता हो गया। निस्सन्देह इस बीच ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज आदि के द्वारा बाह्य आक्रमण को भारतीय उत्तर देने के प्रयत्न भी हुए और अन्यान्य साधना-मार्गों द्वारा भारतीय सांस्कृतिक धारा प्रवहमान भी रही, किन्तु इसकी रचना-शक्ति क्षीण हो गयी और इस देश का वह वर्ग इससे क्रमशः दूर हटता चला गया जो शिक्षण-संस्थाओं और राज्य में पदासीन है। किन्तु तब भी कई स्तरों पर भारतीय सांस्कृतिक धारा का प्रवाह अक्षुण्ण होने से और इसमें वे तत्त्व होने से जिनकी प्रासंगिकता शाश्वत है, इसके पुनरुज्जीवन की सम्भावनाएँ बनी ही रहेंगी।

यहाँ संक्षेप में 'पुनरुज्जीवन' के तात्पर्य का स्पष्टीकरण आवश्यक होगा। संस्कृति अपने तत्त्व में एक समग्रात्मक मूल्य-दृष्टि है जो लोक में मानवीय कृतित्वों के माध्यम से न्यूनाधिक अपूर्ण और असम्यक् रूप से अभिव्यक्त होती है। सभ्यताओं का इतिहास इस दृष्टि के भौतिक माध्यम में चरितार्थन की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में कृतियों या अभिव्यक्तियों के रूप बदलते रह सकते हैं, किन्तु जब तक दृष्टि या तत्त्व वही है तब तक संस्कृति वही रहती है। अब, यदि यह स्वीकार कर लिया जाय तो पुनरुज्जीवन का अर्थ इस दृष्टि का नवजागरण होगा, अभिव्यक्ति-प्रकारों का पुनरावर्तन नहीं। उदाहरणतः, सांख्य की मूल दृष्टि "स्वरूपतः पूर्ण आत्म के साथ अनात्म की विद्यमानता की पहेली" को समझना है न कि "प्रकृति-नटी के पुरुष के सामने नाचने और लजाने" की उपमा इसकी मूल दृष्टि है। यदि यह उपमा उस दृष्टि को समझने में बाधक है तो यह त्याज्य है और उसका निवारण उस दृष्टि के लिए उपकारक ही हो सकता है, अपकारक नहीं।

जैसाकि हमने ऊपर कहा, हमारा वर्तमान दार्शनिक लेखन या तो अतीतोन्मुखी है या पश्चिमानुयायी, इस प्रकार यह संस्कृति-मूलक नहीं है, और यदि हमारी दर्शन की यह परिभाषा स्वीकार की जाय कि यह संस्कृति की आत्मचेतना है, तो कहा जायगा कि यह दार्शनिक लेखन दर्शन नहीं है। अवश्य किसी अन्य के दर्शन पर विचार भी दर्शन ही होता है, किन्तु वह तब जब वह अपनी खोज का साधन हो, जैसे हेगल का इतिहास-लेखन था, अन्यथा वह या तो सूचना-संग्रह है या अन्य की बात को दूसरे शब्दों में कहने का प्रयत्न, जैसाकि आज हम अधिकांशतः कर रहे हैं। इधर अब दर्शन के क्षेत्र में कुछ सीमा तक इस बात की चेतना परिलक्षित हो रही है, किन्तु अन्य क्षेत्रों जैसे मनोविज्ञान, समाजशास्त्र,

राजनीतिशास्त्र आदि में, यह परिलक्षित नहीं है, बल्कि उनमें पश्चिम के पीछे दौड़ने की प्रवृत्ति क्रमशः बढ़ रही है। वैसे ये क्षेत्र वास्तव में दर्शन को ही बाहर झलकाते हैं और इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हमारा शिक्षा और प्रशासन-क्षेत्रों का अग्रणी वर्ग इन्द्रियार्थ-मूलक संस्कृति का ही अनुसरण कर रहा है। किन्तु भारत का जनमानस इस वर्ग का अनुसरण करने को तैयार नहीं है, यह स्पष्ट है। इस कारण यह वर्ग सन्दर्भ-विच्छिन्न और निराधार ही रह सकता है। इसलिए मुझे इसके लिए कोई भविष्य दिखायी नहीं देता।



समकालीन भारतीय दर्शन : कुछ प्रश्न

धर्मेन्द्र गोयल

'समकालीन भारतीय दर्शन' से जो विषय इंगित होता है वह अपनेआप में अस्पष्ट है। समकालीन भारत के दर्शन के अध्यापक कालेजों, विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में बंधे परीक्षा, शोध, अध्यापन में संलग्न हैं। छापेखानों से प्रकाशित सामग्री, सेमिनारों में उठाई गई बातें परीक्षा की सामग्री बन जाती हैं। दर्शन इस प्रकार शिक्षा-व्यापार की जिंस है, अथवा दर्शन उन लेखकों, चिंतकों, साहित्यकारों, कला-समीक्षकों, राजनीति-विदों अथवा विधि-विशेषज्ञों के विचारों में उपस्थित होगा जो भारतीय विचार, साहित्य, परम्परा, संस्कृति के इतिहास, विकास और रूपविधान को पुनर्गठित करने में दत्तचित्त हैं। मैं समझता हूँ कि समकालीन दर्शन की चर्चा में यदि दोनों कोटि के व्यक्ति—शिक्षाकर्मी और बौद्धिक—मिला लिये जांय तो वह अधिक व्यापक होगी।

मैं पहले कुछ भारतीय शिक्षा-संस्थानों में दर्शन की स्थिति की चर्चा करूंगा। क्योंकि मैं शिक्षक के नाते २० वर्षों से अनेक भारतीय विश्वविद्यालयों में काम कर चुका हूँ, मुझे उससे पूरी तरह अपरिचित नहीं कहा जा सकता। 'दर्शन' का विषय कला-संकाय में एक अमूर्त्त और अस्पष्ट विषय माना जाता है। गणित, विज्ञान, विधि एवं कला-सन्दर्भों में दर्शन की उपादेयता अभी नहीं पहिचानी गई है। धर्म, योग, मोक्ष अथवा नैतिकता के साथ भारतीय शिक्षा में दर्शन को अधिक पढ़ाया गया है। कभी-कभी विशिष्ट भारतीय सांस्कृतिक परम्परा की भंगिमाओं का चित्रण भी भारतीय पाठ्य-क्रमों में 'दर्शन' का पर्याय बन जाता है। धर्म-दर्शन, तुलनात्मक धार्मिक परम्पराओं का विवरण भी प्रायः दर्शन-पाठ्य-क्रमों में रहता है। दर्शन के विद्यार्थी को प्रायः नीति-उपदेश एवं इनकी व्याख्याएँ, तत्त्व-चिंतन, तर्क का ककहरा, भारतीय दर्शनों का खाका और योरोपीय दर्शन के इतिहास का

परिचय, कई प्रकार के मनोवैज्ञानिक तथ्य और समकालीन चिंतन के लिए विट्गिंस्टाइन, एअर, आस्टिन, सार्त्र, राइल की एकाध पुस्तक या कुछ उक्तियाँ जाननी होती हैं। यह स्थिति कमो-वेशी सभी पाठ्य-क्रमों में है। निर्जीवता एवं परीक्षा का भार अध्ययन पर, विद्यार्थी, अध्यापक, शोध और प्रकाशन पर स्थायी रूप से विद्यमान रहता है। डिग्री-वितरण, पीएच० डी० वितरण के रोज़गार की दुर्गन्ध चारों ओर है, उससे स्मारिका को क्यों दूषित करूँ ?

दर्शन पढ़ने-पढ़ाने की बातों में कई दुखती रगें हैं, पहली कठिनाई दर्शन के विद्यार्थी की आज के समकालीन समाज में पैठ और उसकी गुंजाइश को लेकर है, अर्थ-प्राप्ति भारतीय शिक्षा के लिए मूल लक्ष्य है, दर्शन का अध्ययन इस आधार पर निरर्थक पाया जाता है। शिक्षक बनने के अलावा दर्शन के विद्यार्थी के लिए कोई रास्ता नहीं है। इसके विपरीत दर्शन के संतोषजनक अध्ययन की कई कठिन पूर्वापेक्षाएँ हैं, उदाहरणार्थ कई भाषाओं का ज्ञान पाली, फारसी, अरबी, संस्कृत, ग्रीक, रूसी, स्पानी, जर्मन, फ्रांसीसी आदि तथा परिश्रमी एवं मेधावी बौद्धिक वृत्ति। ऐसे विद्यार्थी प्रायः अब कम ही आ रहे हैं दर्शन विभागों में। सामान्य भारतीय भाषाओं, जैसे हिन्दी एवं अंग्रेज़ी का भी हमारे स्नातक ठीक रूप से प्रयोग नहीं कर पाते। दर्शन क्योंकि उपलब्ध ज्ञान की समीक्षा से प्रारम्भ होता है, उसमें कहीं भी पहुँचने के लिए सामान्य कला, साहित्य, विचारधारा, गणित, विज्ञान के इतिहास से परिचय अनिवार्य होता है। ये बातें न केवल बी० ए०, एम० ए० के छात्रों पर ही लागू होती हैं बल्कि स्वयं शिक्षकों और उनके प्रकाशनों पर भी सही तरह लगायी जा सकती हैं। आज का विद्यार्थी कल का शिक्षक। इस प्रकार स्वयं शिक्षक को भी सतत विद्याभ्यास में रुचि रखनी होती है। अच्छा शिक्षक सदैव विद्यार्थी बना रहना चाहेगा। क्या यह बात हम सभी अपने बारे में कह सकते हैं ? समकालीन चिन्तन समकालीन युग की विपुल बौद्धिक विरासत के अवलोकन की अपेक्षा करता है। दर्शन ज्ञान का सर्वेक्षण ही नहीं पैनी दृष्टि से संयोजन, पुनर्गठन एवं आलोचना भी देता है। प्रश्न सूचना के परिमाण का न होकर दृष्टि की संस्कारिता का है, दर्शन की उत्पत्ति ही उस जिज्ञासा से है जो एक व्यक्ति अपने परिवेश में घुमड़ते विचारों से बिंधकर अपने चिन्तन में अनायास पाता है और फिर दूसरों द्वारा समूची दृष्टि की संयोजनाओं को इस सन्दर्भ में जाँचना शुरू करता है; तब कहीं अन्त में वह कुछ नवीन व्याख्याएं देने में कभी-कभी सफल होता है। समकालीन बोध का रूपात्मक विधान अपने-आप में कहीं इतना जटिल है कि उसे अति सरलीकरण द्वारा केवल 'अनर्थ' में ही परिवर्तित किया जा सकता है।

भारत के समकालीन विचारक कौन हैं ?

गाँधी, अरविन्द, भगवानदास, तिलक, राधाकृष्णन्, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, मानवेन्द्रनाथ राय, आचार्य ब्रजेन्द्र नाथ सील, विनोबा, या कि आधुनिक भाषा-विश्लेषक, तर्क-शास्त्री अथवा कला-समीक्षक आनन्दकुमार स्वामी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, डा० मोहम्मद इकबाल अथवा परम्परागत संस्कृत, अरबी, फारसी के वेदांती, नैयायिक, शास्त्री और उलेमा ?

इन्हीं विचारकों के विचार क्या हमें पुनः यह विचार करने के लिए प्रोत्साहित नहीं करते कि हम स्वयं दर्शन के स्वरूप को समझें ? क्या दर्शन अमूर्त्त प्रत्ययों के सार्वभौमिक

विवेचन का नाम है ? इस प्रकार की खोज तो किसी भी संस्कृति, समाज, मूल्य, काल की समकालीन दृष्टि से असम्पृक्त रहेगी । उसे 'समकालीन' विशेषण से विभूषित करना अपव्यय होगा । केवल दार्शनिक लक्ष्य को उपलब्ध कराने वाले चिन्तन-सोपानों की योग्यता और यथेष्टता का विवेचन एक समकालीन प्रसंग में संगत लगेगा । साध्य के शाश्वत होने के बावजूद उसे प्राप्त करने के प्ररूप वैकल्पिक हो सकते हैं । इस बारे में सम्भवतया समकालीन भारतीय बौद्धिक के चिन्तन को स्पष्ट चुनौती मुखर दिखायी पड़ेगी कि वह योग की अपरोक्ष अनुभूति को, धार्मिक श्रुति एवं अन्य प्रकार की परम्परावादी मोक्ष की अवधारणाओं के औचित्य को स्वीकार करे या दर्शन और तत्त्व-बोध के लिए समकालीन विधियों—जैसे आनुभविक युक्तिवाद, साधारण कथनीयता का विश्लेषण, आकारिक प्ररूप-मूलक यौक्तिक संरचना के प्रयोग, ऐतिहासिक द्वंद्वात्मक आलोचना, फिनामेनालॉजी और आत्म-सत्ता मूलक विश्लेषण को प्रश्रय दे ? यह भी विचारणीय है कि सम्भवतया दर्शन-पद्धति के ये स्पष्ट विकल्प परस्पर पूर्णतया प्रतियोगी न होकर पूरक हैं । इन पर गहराई से पुनर्विचार की आवश्यकता नज़र आती है । यह सम्भव है कि दर्शन केवल एक चौखटे में बैठाये जा सकने वाले एक-आयामी प्रश्नों के उत्तरों का संकलन नहीं होता । 'दर्शन' स्वयं इस चौखटे को गढ़ने की कला भी है । 'अस्मिता', 'अन्तरंगता', 'प्रतीति' की व्याख्या आत्मा, स्मृति, चेतना, बुद्धि, अहं-वृत्ति द्वारा होनी चाहिए या संस्कार, वेदना, संज्ञा, विज्ञान, स्कंधों द्वारा अथवा समकालीन व्याख्या के अनुरूप शाब्दिक प्रयोगों के स्थायी नियमों से संगति बैठा कर, इसका उत्तर देने की फतवेबाज़ी नहीं करूँगा ।

इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो दार्शनिक चिन्तन का सार्वभौमिक एवं कालातीत स्वरूप अधिक महत्त्वपूर्ण लगेगा । और फिर यह कि हम 'स्पष्टता' को अधिक केन्द्रीय उपलब्धि मानें या व्यक्तिगत विश्वसनीयता को ? दर्शन में समकालीन जीवन के प्रति सजगता का रूप क्या व्यावहारिक राजनीति में पक्षधरता मात्र है ? या होनी चाहिए ? समकालीन मूल्यों के प्रति एक वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक स्पष्टता एवं उन मूल्यों में निहित अस्पष्ट धारणाओं का अनावरण क्या मानसिक प्रतिबद्धता का चरितार्थन नहीं है ?

मैं इस दृष्टि को गहराई तक ले जाने की ज़रूरत महसूस करता हूँ, कि 'भारतीयता' के प्रत्यय की प्रासंगिकता विचारणीय होनी चाहिए । इसके स्पष्ट निरूपण से ही हम मिथ्या रागात्मकता, लीकपंथी प्रमाद एवं ढेर सारा प्रतिक्रियावादी वर्ण-व्यवस्था-मूलक अवैज्ञानिक अनुदार मनस्, जिसे हम आज भी प्रगति और सारी समकालीनता की दावेदारी के बावजूद ओढ़े हुए हैं, से छूट पायेंगे ।

'भारतीयता' एक कोरा सिद्धान्त अथवा दार्शनिक मत ही नहीं है, यद्यपि प्रायः इसे एक छद्म दृष्टि, जिसे स्थूल रूप से 'अध्यात्म-दृष्टि' कहा जाता है, का पर्याय समझा जाता है । स्वयं भारत के बिखरे जीवन, संस्कृति, कला और समाजरचना के तथ्यों की व्याख्या को इससे कुछ मिलता नहीं । मानवीय अनुभव की व्याख्या के लिए इसे यदि प्रयुक्त किया जाय तो इसकी वैचारिक यथेष्टता भारतीय संस्कृति के आन्तरिक विकास द्वारा सिद्ध नहीं हो पायेगी । यदि यह एक तात्त्विक परामर्श है तो इसे भारतीय संस्कृति

की स्वयं-सिद्ध पूर्वमान्यता ठहराना न इसके दार्शनिक मूल्य का सही हिसाब है और न भारतीय संस्कृति के अति वैविध्यपूर्ण इतहास का खरा निर्धारण ।

'भारतीयता' की बात कला-समीक्षा, राजनीति, विधि, आर्थिक योजना, साहित्यिक प्रतीकों के आन्तरिक संगठन आदि के सन्दर्भ में ठीक लगेगी । परन्तु दर्शन में ब्रह्मचर्य, योग, समाधि आदि महावाक्यों की सहज घोषणा कम से कम मुझे निरर्थक लगती है। 'मोक्ष', 'कर्म' एवं 'धर्म' के बाहर दर्शन की कौन सी समान दृष्टि भारतीय चिन्तन में उभरी है ?

यदि दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण दायित्व समकालीन सामाजिकता के आधारों का विवेचन मान भी लिया जाय तो भी भावी समाज में आने वाले तनावों, सामाजिक प्रवृत्तियों के क्रमश: प्रस्फुटन आदि के मानदण्डों द्वारा ही एक लम्बी बिखरी अन्तर्विरोधी परम्परा के नवीनीकरण द्वारा ही समकालीन समाज के सांस्कृतिक व्यक्तित्व का निरूपण होगा, किन्तु यह निरूपण केवल बौद्धिक न होकर मूल्यान्वेषण भी होगा । आज की सचेत मानसिक स्वायत्तता के युग में सभी विचारशील दार्शनिक इस परम्परा का स्वरूप एक ही प्रकार से अभिव्यक्त करेंगे, ऐसा सम्भव नहीं लगता ।

और फिर दर्शन का प्रत्येक विद्यार्थी भारतीय होते हुए भी भारतीय वृत्ति का ही अन्वेषण करने को बाध्य नहीं है, यह कुछ उचित सीमा नहीं लगती । दर्शन व्यक्ति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अतिक्रमण करता हुआ कई बार मौलिक सर्जनात्मकता को चरितार्थ करता है ।

दर्शन विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय

समकालीन भारतीय दर्शन की स्थिति : कुछ प्रश्न

सत्यपाल गौतम

दार्शनिक त्रैमासिक तथा भारत की अन्य दार्शनिक पत्रिकाओं में समकालीन भारतीय दर्शन की स्थिति की विवेचना और मूल्यांकन के जो प्रयास किये गए हैं वे एक नयी और स्वस्थ दृष्टि के परिचायक हैं, क्योंकि आत्मालोचना के माध्यम से ही भारतीय दार्शनिक वैचारिक भटकाव से बाहर निकल कर अपने कर्त्तव्यों को सही परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयास कर सकते हैं जिससे एक नयी अस्मिता तथा नयी सांस्कृतिक चेतना का विकास हो सकता है।

मुझे यह स्वीकारने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि अपने देश के विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में दार्शनिक समस्याओं का विश्लेषण करने की अपेक्षा विचारों के इतिहास के अध्ययन और अध्यापन पर अधिक बल दिया जाता है और इस प्रक्रिया में दार्शनिक समस्याओं का निरूपण गौण हो जाता है। दार्शनिक समस्याओं का उदय अपने अनुभव के संसार को नियोजित करने और अपनी अस्मिता को पहचानने की प्रक्रिया में होता है और परम्परागत चिन्तकों की रचनाओं के अध्ययन के माध्यम से इन दार्शनिक समस्याओं की प्रवृत्ति को समझने में सुविधा भी रहती है; परन्तु इस का अर्थ यह नहीं है कि प्लेटो, अरस्तु, काण्ट, हेगेल अथवा विट्गिंस्टाइन की रचनाओं अथवा शंकर, नागार्जुन अथवा कुमारिल भट्ट की रचनाओं के महज़ अध्ययन से और उनमें से कुछ उद्धरणों को स्मरण कर लेने मात्र से ही एक दार्शनिक दृष्टिकोण विकसित हो सकता है और दार्शनिक समस्याओं को पकड़ पाने और उन्हें निरूपित करने का सामर्थ्य छात्र अथवा अध्यापक प्राप्त कर सकते हैं। इसी कारण यह बहस कि दर्शन के अध्ययन और अध्यापन में हमें भारतीय परम्परा के चिन्तकों को प्रधानता देनी चाहिए या नहीं मुझे समकालीन भारतीय दर्शन की स्थिति के मूल्यांकन के सन्दर्भ में प्रासंगिक प्रतीत होते हुए भी उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं लगती जितनी यह बहस कि समकालीन सामाजिक परिवेश में ऐसी कौन सी दार्शनिक समस्याएँ हैं जिन्हें हमें अधिक समय और अधिक ध्यान देना चाहिए। इस दूसरे किस्म की बहस की सार्थकता भी दर्शन के अध्ययन और अध्यापन के क्षेत्र में ही है न कि मौलिक दार्शनिक चिन्तन के सन्दर्भ में। जो समस्या बौद्धिक स्तर पर किसी एक व्यक्ति के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो सकती है सम्भवतः किसी दूसरे के लिए वह बिल्कुल ही गौण हो या अर्थ ही न रखती हो। इसलिए मौलिक दार्शनिक चिन्तन के लिए कोई दिशा-निर्देश देने का प्रयास करना एक प्रकार की धृष्टता ही कही जा सकती है। इस सन्दर्भ में यह अवश्य विचारणीय है कि हम में से कितने ऐसे हैं जो किन्हीं दार्शनिक समस्याओं पर इसलिए विचार करते हैं कि वे

उनके अनुभवगत संसार में और उनकी अस्मिता की पहिचान के लिए उन्हें महत्त्वपूर्ण लगती हैं न कि इसलिए कि पश्चिम में या भारत में उन विषयों पर तर्क-वितर्क करने का सामर्थ्य दिखा पाना सम्मान और गौरव का विषय माना जाता है।

यह सर्वविदित ही है कि जहाँ-जहाँ पश्चिमी साम्राज्यवाद ने अपनी धाक जमाई वहाँ-वहाँ के समाजों की राष्ट्रीय संस्कृति लगभग तहस-नहस हो गई और पश्चिमी मूल्यों, संस्कृति तथा जीवन-दृष्टि का अन्धानुकरण आरम्भ हुआ। नये शासकों के साथ शोषण में भागीदार बनने के लिए उनके देशी दलालों के लिए यह आवश्यक भी था। लेकिन स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त भी तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों में अभी भी इस स्थिति में अधिक अन्तर नहीं आया है। ऐसी स्थिति में भारतीय शिक्षकों का पश्चिम के प्रति अधिक लगाव तथा पश्चिमी बौद्धिकों से स्वीकृत होने की लालसा आश्चर्य का विषय नहीं होनी चाहिए। हमारे देश में (तथा कई अन्य देशों में भी) दर्शन की समस्याओं पर चिन्तन और विचार किन स्थितियों में होता है ? नौकरी के लिए पीएच० डी० की डिग्री आवश्यक है, इसलिए कुछ न कुछ शोध-कार्य करना आवश्यक है, उसके बिना गुज़ारा नहीं है। जो अधिक मेधावी हैं और ऊँचा लक्ष्य रखते हैं वे किसी ऐसी समस्या पर कार्य करते हैं जो पश्चिमी अकादमीय जगत् में तात्कालिक चर्चा का विषय है—इससे पश्चिमी पत्रिकाओं में शोध-निबन्ध छपवाने की भी सुविधा रहती है और परिणामस्वरूप सम्मान भी अधिक मिलता है। दूसरे किसी चिन्तक विशेष पर शोध-कार्य करते हैं—इससे डिग्री आसानी से मिल जाती है। डाक्टरेट का खिताब पा लेने के बाद विश्वविद्यालव में यदि अध्यापन मिल ही जाय तो गोष्ठियों के लिए निमन्त्रण मिलते रहते हैं—इसके लिए भी शोध-कार्य करना आवश्यक रहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि हम में से अधिकाँश इसलिए चिन्तन नहीं करते क्योंकि चिन्तन उनके जीवन की आवश्यकता है—उनकी अस्मिता का एक अंग है—बल्कि इसलिए कि रोज़ी-रोटी चलाने के लिए चार-छः पुस्तकों का अध्ययन कर एक-आध निबन्ध वर्ष में लिखते रहना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में आप मौलिक, सार्थक तथा गहन चिन्तन की अपेक्षा करें—यह हम में से अधिकाँश के साथ ज़्यादती ही है।

प्रश्न यह है कि क्या हमारी शिक्षा-प्रणाली का उद्देश्य युवकों-युवतियों को धनोपार्जन के योग्य बनाना है जिससे वे अपनी जैविक-दिनचर्या की आवश्यकताएँ पूरी कर सकें अथवा उन्हें बौद्धिक-कर्मी बनाना है जो ज्ञान के क्षेत्र में सार्थक कार्य कर सकें और ज्ञान को आगे बढ़ाएँ ? जब तक इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर नहीं मिलता और उसके उपरान्त स्पष्ट नीतियाँ निर्धारित नहीं की जातीं तबतक स्थिति सुधरने की आशा करना व्यर्थ है।

प्राचीन भारतीय परम्परा हमारे संस्कृत या पाली भाषा के अज्ञान के कारण हमसे उतनी ही दूर है जितनी कि पश्चिमी विचार-परम्परा। इसलिए दोनों ही अजनबी विचार-धाराओं में से किसी भी एक को चुनने की अपेक्षा यह बेहतर रहेगा कि हम अपनी समकालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्थिति को समझने का प्रयास करें और इस प्रयास में उन सभी औज़ारों (विधियों) यानि, विचार-परम्पराओं से अर्जित क्षमता (अथवा योग्यता) का जितना अधिक उपयोग कर सकें, करें। जब तक हम अपनी

समकालीन स्थिति की सही और सार्थक विवेचना करने में रुचि नहीं लेंगे तब तक समस्याएँ हमारी नहीं बल्कि पाश्चात्य विचारकों अथवा पुराने पण्डितों की ही रहेंगी।

अध्ययन और अध्यापन के क्षेत्र में स्थिति को बदलने के लिए कुछ सुझाव देने की धृष्टता अवश्य करूँगा :

(१) दर्शन के विद्यार्थियों के लिए यह आवश्यक है कि वे किसी दर्शनेतर विषय का आधिकारिक ज्ञान रखते हों, क्योंकि अधिकाँश दार्शनिक समस्याएँ अन्य अध्ययनों के सन्दर्भ में ही उठती हैं (या उठायी जाती हैं।) विशुद्ध दार्शनिक समस्याओं का उद्भव इस दूसरे किस्म की दार्शनिक समस्याओं से ही होता है।

(२) परीक्षाएँ इस ढंग से आयोजित हों कि विचारों के इतिहास के ज्ञान की अपेक्षा समस्याओं के उद्भव और उनके निरूपण की पकड़ की जाँच की जाय।

(३) आरम्भिक स्तर पर दर्शनशास्त्र के अध्ययन—अध्यापन को समकालीन सामाजिक सन्दर्भों के साथ जोड़ा जाय और अधिकाधिक अमूर्तता की ओर बढ़ने की यात्रा एक धीमी परन्तु सार्थक यात्रा हो न कि उधार ली गई समस्याओं का उथला अध्ययन।

(४) समाजशास्त्र, राजनीति, मनोविज्ञान-विधि तथा साहित्य और कला के अध्ययनों में जो दार्शनिक समस्याएँ निहित हैं उनका परिचय इन विषयों के छात्रों तथा अध्यापकों को भी होना चाहिए ताकि दर्शन अपनी पुरानी भूमिका फिर से निभा सके जोकि ग़लत शिक्षा-नीतियों के निर्धारण के कारण आजकल नहीं निभायी जा रही है।

पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

पुस्तक-समीक्षा

आधुनिक दर्शन की भूमिका

लेखक—संगमलाल पाण्डेय
प्रकाशक : दर्शन पीठ, इलाहाबाद, १९७६
मूल्य : १०.५०, पृ० ३७६

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद हिन्दी भाषा में अध्ययन-अध्यापन की प्रवृत्ति का बढ़ना स्वाभाविक है। परन्तु हिन्दी भाषा में विश्वविद्यालय स्तर की दर्शन पर उत्तम पुस्तकों का अभाव है जिसके कारण अध्ययन-अध्यापन के स्तर पर पुरा प्रभाव पड़ा है। विभिन्न प्रान्तों में स्थापित हिन्दी ग्रन्थ अकादमियाँ राष्ट्रभाषा हिन्दी में विभिन्न विषयों पर ग्रन्थ प्रकाशित करने की दिशा में अग्रसर हैं। श्री संगमलाल पाण्डेय ने "आधुनिक दर्शन की भूमिका" पुस्तक प्रकाशित कर दर्शन एवं हिन्दी के प्रति अपनी निष्ठा का परिचय दिया है। लेखक ने विभिन्न विषयों पर लगभग २० पुस्तकें हिन्दी भाषा में लिखकर हिन्दी भाषा की महती सेवा की है। इसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं।

श्री संगमलाल पाण्डेय ने आधुनिक दर्शन पर हिन्दी में यह पुस्तक लिखकर निश्चित रूप से अभाव की पूर्ति में अपना योगदान किया है। आधुनिक दर्शन पर जहाँ अंग्रेज़ी भाषा में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हैं वहाँ हिन्दी में इनकी संख्या नगण्य है। इस कारण विद्वान लेखक की यह कृति हमारे ध्यान को आकर्षित किये बिना नहीं रह सकती। लेखक दर्शन के अधिकारी विद्वान हैं इसी से इनकी यह कृति दर्शन के पाठक पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाती है।

प्रस्तुत पुस्तक में प्रस्तावना-सहित आठ अध्याय हैं और अन्त में महत्त्वपूर्ण नामों एवं शब्दों की अनुक्रमणिका संलग्न है। सात अध्यायों में सात दार्शनिकों—डेकार्ट, स्पिनोज़ा, लाइबनीज़, लाक, बर्कले, ह्यूम और कांट—के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन दार्शनिकों के मूल ग्रन्थों के आधार पर किया गया है। लेखक ने मूल ग्रन्थों के विषय को आत्मसात् कर विभिन्न पक्षों पर दार्शनिकों के विचारों को प्रवाहमयी शैली में प्रस्तुत किया है। इस कारण पाठक अनूदित ग्रन्थों के सामान्य बोझ से अपने को मुक्त अनुभव करता है। लेखक ने प्रत्येक दार्शनिक का संक्षिप्त किन्तु रोचक जीवनवृत्त देकर विद्यार्थियों के मन को उस दार्शनिक के गम्भीर विचारों में डूबने के लिए एक सुन्दर भूमिका प्रदान की है। प्रस्तुत कृति में दार्शनिकों के विचारों को क्रमबद्ध रूप में विवेचित किया गया है। पाठक की जिज्ञासा बराबर उन दार्शनिकों को अन्त तक पढ़ने की बनी रहती है। यद्यपि लेखक ने कहीं-कहीं प्रस्तुत दार्शनिकों के सिद्धान्तों का प्रस्तुतीकरण करने के साथ-साथ भारतीय

दार्शनिकों के साथ उनकी तुलना करने का प्रयास किया है, किन्तु मेरे विचार से ऐसे ग्रन्थों में इस प्रकार की तुलना उपादेय नहीं कही जा सकती है। इससे विद्यार्थी को कोई लाभ नहीं होता। ग्रन्थ की भाषा सरल है और छोटे-छोटे वाक्यों से यह गुम्फित है। व्यर्थ की क्लिष्टता से यह मुक्त है। लेखक संस्कृत का विद्वान होते हुए भी संस्कृत के मोह से पीड़ित प्रतीत नहीं होता। भाषा बोलचाल के नज़दीक है। ग्रन्थ दर्शन के विद्यार्थियों के लिए संग्रहणीय एवं पठनीय है। ग्रन्थ का मूल्य सामान्य विद्यार्थी की पहुँच में है।

कमलचन्द सोगानी
उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज०)

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के प्रकाशन

१.	अनुभववाद	सं. यशदेव शल्य	७.००
२.	समकालीन दार्शनिक समस्याएँ	सं. यशदेव शल्य	२०.००
३.	दार्शनिक विश्लेषण	ले. यशदेव शल्य	२०.००
४.	विषय और आत्म	ले. यशदेव शल्य	२०.००
५.	समकालीन भारतीय दर्शन	सं. के. सच्चिदानन्द मूर्ति	२०.००
६.	भारतीय मनोविज्ञान	सं. नारायण शास्त्री द्राविड़	१५.००
७.	अपोहसिद्धि, अनुवाद एवं व्याख्या	गोविन्दचन्द्र पाण्डे	३.००
८.	न्यायबिन्दु, अनुवाद एवं व्याख्या	गोविन्दचन्द्र पाण्डे	८.००
९.	नतत्त्व तथा समाजदर्शन (९ खंड)	सं. दयाकृष्ण, गोविन्दचन्द्र पाण्डे, यशदेव शल्य	५८.००

श्री यशदेव शल्य द्वारा अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के लिए डी ३१, बापूनगर जयपुर से संपादित तथा प्रकाशित एवं जयपुर मान प्रिंटर्स, बाण वालों का दरवाज़ा, चौड़ा रास्ता, जयपुर से मुद्रित ।

संपादक : यशदेव शल्य

वर्ष २३, अंक २, अप्रैल १९७७

दार्शनिक त्रैमासिक

विषय सूची

अखिल भारतीय दर्शन परिषद्

वार्षिक मूल्य : १५.००

दार्शनिक त्रैमासिक

वर्ष २३ | अप्रैल १९७७ | अङ्क २

डॉ० पांडे का संस्कृति-दर्शन[1]

राजेन्द्रप्रसाद पांडेय

दर्शन में एक सर्वाधिक प्रमुख प्रश्न स्वयं दर्शन या दार्शनिक-चिन्तन के स्वरूप के सम्बन्ध में है। प्रायः यह माना जाता है कि इस प्रश्न के विशिष्ट उत्तर पर ही निर्भर करता है कि उस सन्दर्भ में दार्शनिक चिन्तन किस प्रकार का है, अर्थात् उसकी विशिष्ट मान्यताएँ, विधि व निष्कर्ष किस सिद्धान्त-विशेष का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु दार्शनिक चिन्तन और उस पर आधारित सिद्धान्त-भेद से शायद हम दर्शन के स्वरूप-सम्बन्धी प्रश्न के मर्म तक नहीं पहुँचते : प्रश्न यह नहीं है कि दर्शन या दार्शनिक चिन्तन विविध रूपों में सम्भव है या नहीं, वरन् यह है कि वह किसी भी रूप में कैसे सम्भव है? साधारणतः इन दो प्रश्नों के बीच भेद नहीं किया जाता और इसलिए दर्शन के स्वरूप के सम्बन्ध में उठने वाला मूल प्रश्न प्रायः अनुत्तरित ही रह जाता है।

सर्वत्र दार्शनिक यह मान्य करते आये हैं कि उनके कथनों में एक ऐसी जानकारी निहित है जिसे आगे और प्रमाणित करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि उसकी वैधता सार्वभौम है। सार्वभौम वैधता वाली यह जानकारी सत् के सम्बन्ध में, या मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में, या केवल भाषायी भी, हो सकती है। कुछ दार्शनिक यह कहना चाहेंगे कि ये तीन क्षेत्र—सत्, मानव-स्वभाव तथा भाषा के—वस्तुतः दार्शनिक चिन्तन के अन्तर्गत पृथक्-पृथक्रूपेण विचारणीय ही नहीं हैं, क्योंकि 'सत्' (वास्तविकता या यथार्थता) का रूप हम मनुष्यों के लिए केवल 'सत्य' (अर्थात् जो सत् की योग्यता वाला हो, अर्थात् 'मूल्य' या 'आदर्श') का ही हो सकता है, और इसीलिए इस सत्य (मूल्य या आदर्श) के अनिवार्य सन्दर्भ में स्वयं हमारा

१. दी मीनिंग एण्ड प्रोसेस ऑफ कल्चर : लेखक जी० सी० पांडे ; प्रकाशक— शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा ; पृ० १६८+i-v ; प्रथम संस्करण ; मूल्य १५/-।

अपना स्वभाव ही अपने वास्तविक भाव से आदर्शों या मूल्यों वाले भाव की ओर गति करता है। पुनः, मानव-अभिव्यक्ति के रूप में 'भाषा' के लिए भी इसी तरह की 'गति' की बात कही जा सकती है। अवश्य प्रकृति-विज्ञान के अन्तर्गत 'सत्' अपने-आप में, भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत 'भाषा' अपने-आप में, और मनोविज्ञान, समाजविज्ञान आदि के अन्तर्गत 'मानव-स्वभाव' अपने-आप में गवेषणा के विषय माने जाते हैं; किन्तु ठीक इसी कारण उन्हें दर्शन से भिन्न समझा जाता है— क्योंकि उनकी तटस्थ विश्लेषणमूलक विधि के कारण न केवल सत्–मनुष्य–भाषा का संश्लेषणात्मक चित्र प्रस्तुत नहीं हो पाता वरन् उस त्रिक में अन्तर्प्रभावित आदर्शमूलक गति भी जड़ होकर एक काल-विशिष्ट यांत्रिक प्रक्रिया के रूप में ही प्रकट हो पाती है। दूसरे शब्दों में, इन विज्ञानों के अन्तर्गत एक ही भावस्थ, एक ही गति के दो छोरों पर स्थित वास्तविकता और आदर्श के बीच जो अनिवार्य एकसूत्रबद्धता और साथ ही प्रकट द्वन्द्व है उससे बच निकलने का प्रयास किया जाता है, जो अन्ततः उनमें उस आकारवाद को जन्म देता है जो सीधे मनुष्य की सृजनात्मकता को हानि पहुँचा सकता है। डॉ० पांडे की पुस्तक ('दी मीनिंग एंड प्रॉसेस ऑफ कल्चर') के अन्तिम तीन परिशिष्टों में, विशेषकर अन्तिम परिशिष्ट में, यह बात काफी विस्तार से कही गई है; और इसी के प्रकाश में दर्शन और दार्शनिक चिन्तन के सम्बन्ध में उनके कथन (द्वितीय परिशिष्ट) समझे जा सकते हैं।

मनुष्य अपनी नैसर्गिक स्थिति की वास्तविकता में जो सुख-दुःख, जीवन-मरण आदि का द्वन्द्व देखता है उससे उसे उस स्थिति की अपर्याप्तता स्पष्ट हो जाती है और इस गोचरता से परे वह गवेषणा करना चाहता है। फलतः वह नैसर्गिक–आनुभविक-स्तर से गति कर व्यवहार की कुशलता या उपयोगिता के क्षेत्र में पहुँचता है। यह उसकी स्थूल अर्थमूलता का क्षेत्र है जो सभ्यता, दक्षता-तकनीक के जन्म व विकास को सम्भव बनाता है। किन्तु चूँकि इस स्थूल अर्थ-जगत् में भी मनुष्य को अपनी पर्याप्तता का बोध नहीं हो पाता, क्योंकि इससे अधिकांशतः उसका बाह्य वातावरण ही प्रभावित हो पाता है, वह इससे भी आगे मूल्यों या आदर्शों के सूक्ष्म अर्थों के क्षेत्र की ओर अग्रसर होता है। उसके आदर्शमूलक आत्मबोध का यह क्षेत्र मानव-संस्कृति के उत्स और विकास से सम्बन्धित है। इन तीन क्षेत्रों में क्रमिक गति मूलतः स्थूल से सूक्ष्म, बाह्य से आभ्यंतर में होती है—अर्थात् ये मानव-चेतना-धारा के ही तीन क्रमिक स्तर हैं जिसकी अन्तिम परिणति 'आध्यात्मिक अन्तर्ज्ञान' में पहुँचकर होती है। वह जिसे दार्शनिक विमर्श या दार्शनिक चिन्तन कहा जाता है, पांडेजी के अनुसार "वह मानव-गवेषणा के इन विविध स्तरों—दृश्यतामूलक, स्थूल अर्थमूलक और आदर्शमूलक—पर होने वाले अनुभवों को प्रत्ययात्मक और श्रेणीबद्ध रूप में परस्पर जोड़ने का ही सतत प्रयास है (पृष्ठ १४१)। और इसीलिए दार्शनिक परम्परा भी, उनके अनुसार, मानव-चेतना की ही बौद्धिक रूप से संप्रेषणीय परम्परा है (वहीं)। पुनः, यह इस परम्परा का ही एक अनिवार्य लक्षण है कि वह मनुष्य में एक आध्यात्मिक तृष्णा जगाती है और स्वयं अपने-आप के सम्बन्ध में गवेषणा चलाने के लिए उसे 'प्रेरित' और 'प्रशिक्षित' करती है। इस तरह दार्शनिक ज्ञान में प्रगति अमूर्त और बहिर्मुखी होने के साथ-साथ ठोस (जीवन्त) और अन्तर्मुखी भी होती

है (पृष्ठ १४२)। इसमें आकर वास्तविकता और मूल्य, असंदिग्ध सत् और मूल्योन्मुखी चेतना के प्रकट द्वन्द्व में विरोध एक ही समन्वित भाव में स्थित होकर मिट जाता है और इसलिए आन्तरिक विरोध के अभाव में ज्ञान को वह सार्वभौम वैधता मिल पाती है जिससे उसे ज्ञान समझा जाता है, जिसकी उपलब्धि पर सब-कुछ ज्ञात हो जाता है (वही)। यही मानव-ज्ञान की अन्तिम और आदर्श सीमा है।

अब यद्यपि यह सही है कि मानव-चेतना के विविध स्तरीय अनुभवों को दार्शनिक-चिन्तन व्यवस्थित कर प्रत्ययात्मक अभिव्यक्ति देता है तथापि स्वयं दर्शन की अपनी संभावना की सक्रिय अभिव्यक्ति संस्कृति के क्षेत्र तक पहुँची हुई चेतना के स्तर पर ही हो पाती है। क्योंकि, जैसा कि आधुनिक अस्तित्ववादी कहते हैं, मनुष्य की स्वयं अपने प्रति चेतना सही रूप में उसके अपने भाव की अपर्याप्तता के बोध से ही सम्भव हो पाती है, और यही चेतना का वह स्तर होता है जहाँ मनुष्य पहली बार सही अर्थों में स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म, बाह्य की अपेक्षा आभ्यंतर, ठोस पदार्थों और स्थितियों की अपेक्षा आदर्श-मूलक स्थितियों की ओर अधिक ध्यान दे पाता है। मूल्यों या आदर्शों को वास्तविक न समझने में ही उनकी यह समझ भी निहित है कि वे किसी काल-विशेष और व्यक्ति-विशेष के लिए नहीं वरन् सार्वभौम रूप से स्पृहणीय हैं। प्रत्येक संस्कृति में एक विश्व-दृष्टि (Weltanschauung) होने के पीछे मानव की मूल्य-चेतना का यही अनिवार्य पक्ष कार्य-रत रहता है। अतः संस्कृतियों में जन्म लेने वाली और इसलिए उनके विशिष्ट मूल्यों के प्रति सजग रहने वाली दार्शनिक परम्पराओं के बारे में पांडेजी का यह कथन भी महत्त्व-पूर्ण है कि ये परम्पराएँ किसी एक विश्व-दृष्टि की रचनात्मक अभिव्यक्ति के प्रकाश में उन मूल्यों के लिए बुद्धि-सम्मत कारणों का स्पष्टीकरण करती हैं जिन्हें वह विश्व-दृष्टि चरितार्थ करना चाहती है (पृष्ठ १७४)। और दार्शनिक-चिन्तन में बौद्धिक स्पष्टीकरण का यही पक्ष कालान्तर में ऐकांतिक महत्त्व धारण कर समूचे दार्शनिक चिन्तन का ही पर्याय बन बैठता है। इसके चलते चेतना के विविध स्तरों पर होने वाले अनुभवों में संश्लेषणात्मक आन्तर रचना की प्रत्ययात्मक अवगम्यता के ऊँचे उद्देश्य से भटक कर दार्शनिक चिन्तन शुद्ध व्याख्यात्मक और प्रत्ययात्मक सन्दर्भ से होने वाले छोटे-छोटे विवादों में अपना सिर खपाने लगता है (वही)। दर्शन में यह प्रवृत्ति उसमें बढ़ती हुई तार्किकता या आकार-वादिता से प्रकट होती है—जैसे आज पश्चिम में विश्लेषणवाद के प्रति ऐकांतिक आस्था से या अभी कल के भारत में नव्य न्याय के अभ्युदय से। इन दोनों ही स्थितियों में आकारवाद का सीधा प्रभाव दर्शन में सृजन का अभाव रहा है—शायद इसलिए क्योंकि इसमें मनुष्य की आदर्शमूलता का पक्ष एकदम गौण हो जाता है, यहाँ तक कि अपनी मूल आन्तरिकता या आध्यात्मिकता के प्रति सचेत रह सकने में वह अपने-आप को असमर्थ पाता है, और इस स्थिति में प्रेरणा के अभाव से किसी नूतन रचना का सवाल ही नहीं उठता। पुनः, चूँकि तार्किक आकारवाद स्वयं ही किन्हीं सार्वभौम या सर्वनिश्चित नियमों की मान्यता पर आधारित होता है, उसमें पहले से ही 'सब-कुछ' धरा-धराया रहता है और इसलिए उसमें किसी प्रकार की नवीनता के लिए कोई गुञ्जाइश नहीं रहती : दूसरी ओर, सृजनशीलता की सम्भावना का आधार ही यह है कि वह अपने सन्दर्भ में ऐसे नये नियमों

का संधान करते चलती है जो पहले सर्वभावेन निश्चित रूप से ज्ञात नहीं थे (वही, १७५)।

इस तरह हम देखते हैं कि दर्शन या दार्शनिक चिन्तन के स्वरूप के बारे में उठने वाला मूल प्रश्न काफी जटिल है और किसी भी स्थिति में उसका समाधान मानव-संस्कृति के तात्त्विक अवगमन की अपेक्षा रखता है ; अर्थात् उसे समझने के लिए यह समझना आवश्यक है कि मानव-चेतना किस तरह अपनी स्वाभाविक दृश्यमूलता से आरम्भ कर, सोद्देश्य अर्थमूलता से होती हुई आध्यात्मिक अंतश्चेतना की ओर गति करती है और इस पूरी प्रक्रिया को प्रत्ययात्मक संश्लेषण के रूप में अपने समक्ष स्पष्ट करना चाहती है। निस्सन्देह यह अवगमन की वही प्रक्रिया है जिसे ज्ञानी आत्म-ज्ञान का मार्ग मानते आये हैं और जिसे प्रायः दार्शनिकों ने दार्शनिक-क्रिया का परम लक्ष्य माना है । फिर यह भी स्पष्ट है कि संस्कृति के सही अर्थ और उसकी प्रक्रिया की स्पष्ट समझ पर स्वतः दर्शन, दार्शनिक विमर्श और दार्शनिक परंपरा के सम्बन्ध में स्पष्ट ज्ञान सम्भव हो सकेगा । अतः इस दृष्टि से, मेरी समझ में, पांडेजी की पुस्तक दार्शनिकों और दर्शनशास्त्र के अध्येताओं के लिए एक विशेष महत्त्व रखती है, विशेषकर भारत में जहाँ आज सर्वत्र तात्त्विक सांस्कृतिक ज्ञान के अभाव में दर्शन का सारा क्षेत्र बंजर भूमि की तरह अनुत्पादक होकर बेकार पड़ा है। इसीलिए इस पुस्तक का केवल नाम देख कर हमें इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए कि यह भी पाश्चात्य 'इतिहासवाद' या 'विश्वदृष्टिवाद' का ही प्रतिपादन करने वाली एक और पुस्तक है । यदि हमें इसे किसी परम्परा में रख कर समझने की जरूरत जान ही पड़े तो हम श्री अरविन्दो द्वारा प्रदत्त मानव-इतिहास की व्याख्या की परम्परा में इसे रख सकते हैं --अर्थात् यह आधुनिक भारतीय सांस्कृतिक जागृति की परम्परा का ही अंग है और उसी रूप में हमारे लिए सर्वाधिक उपयोगी भी है ।

× × ×

आगे पृष्ठों में हम पांडेजी की पुस्तक को सारांश में प्रस्तुत कर विवेचन करेंगे । मूल पुस्तक दस अध्यायों (परिशिष्टों के अतिरिक्त) में विभक्त है और प्रत्येक अध्याय एक विशेष शीर्षक के अन्तर्गत विवेचनाबद्ध है । सुविधा और स्पष्टता की दृष्टि से हम उसके मूल क्रम का ही अनुगमन करेंगे ।

१. संस्कृति का अर्थ

संस्कृति मनुष्य में मूल प्रवृत्तिमूलक या प्राकृतिक नहीं है , वह मनुष्य द्वारा अर्जित है। वह एक साथ ही वैयक्तिक अर्जन है और व्यक्ति के लिए प्रेरणाप्रद व फलप्रद है, और परम्परा रूप में सामाजिक उपलब्धि है । संस्कृति का अर्थ है — "मूल्यों की, आत्मबोध की, परम्परा ।"

मूल्य मानव-मूल्यांकन के अव्यवहित विषय हैं। मूल्यांकन में अन्वेषण (गवेषणा), लयन और अनुमोदन रहता है । अन्वेषण आत्म-संपूरण (सेल्फ-फुलफिलमेंट) के लिए की जाने वाली जीवन-गति है, जो विकल्पों के चयन और चुने हुए के समर्थन से आगे बढ़ता

हुआ, जैविक से लेकर आध्यात्मिक तक विस्तार पाता है। चूँकि केवल जैविक और तत्सम्बन्धित उपादेयता के स्तर पर आत्मसंपूरणात्मक चेतना औपाधिक होती है, वह वहाँ नहीं ठहर कर आगे शुद्ध आत्मानुभव की ओर प्रवृत्त होती है। अर्थात् अन्वेषणात्मक चेतना को एक द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से होकर गुज़रना होता है, मानव-चेतना में मूल्यों के उन्मेष की प्रक्रिया भी यही है। इस उन्मेष-प्रक्रिया को सामाजिक-ऐतिहासिक वास्तविकता मूल्यवान् सिद्ध हुए अनुभवों की अभिव्यक्ति और संप्रेषण द्वारा मिलती है। ये अनुभव आत्मचेतन और वैयक्तिक होते हैं और प्रतीकों के रूप में सामाजिक सम्प्रेषण व परम्परा में प्रविष्ट होते हैं। अतः, इस दृष्टि से, 'संस्कृति' का अर्थ हुआ····मूल्य-गवेषणा और अनुभव की सामाजिक अभिव्यक्ति; जबकि मूल्य-बोध जिस विशिष्ट प्रक्रिया से होकर गुज़रता है उसी से 'इतिहास' को उसका अर्थ मिलता है। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि मनुष्य द्वारा रचित उसका अपना उपादानमूलक पादार्थिक परिवेश अन्ततः उसके विशिष्ट सांस्कृतिक संस्कार या मूल्य-बोध पर ही निर्भर करता है।

किन्तु संस्कृति की यह व्याख्या सभी को मान्य नहीं है, विशेषकर हम उस मार्क्सवादी-भौतिकवादी दृष्टिकोण का स्मरण कर सकते हैं जिसके अनुसार मनुष्य के सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश का आधार उसकी तकनीकी जानकारी और श्रममूलक व्यवस्था होती है, न कि उसकी सैद्धान्तिक या मूल्यपरक वैयक्तिक चेतना। दूसरे शब्दों में, मार्क्सवादी भौतिकवाद के अनुसार, मानव-मनस् अपने उत्स और उत्कर्ष में बाह्य मानव-व्यवहार में व्यवस्था के ढंग पर निर्भर करता है। यही मत प्रकारान्तर से आधुनिक प्रकृति-विज्ञान का भी है।

किन्तु वस्तुतः यह मार्क्सवादी/वैज्ञानिक मत संस्कृति या मूल्यों के उन्मेष की व्याख्या न कर मनुष्यों द्वारा मूल्यों के प्रति तटस्थता की सम्भावना व्यक्त करने वाला दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। चूँकि इसमें 'सत्' को 'प्रकृति' और इसलिए प्राकृतिक क्रियाओं के ही रूप वाला मान लिया गया है, इस मत के क्रियान्वयन से मनुष्य शक्ति और सफलता प्राप्त कर सकता है, मूल्य नहीं। वस्तुतः विज्ञान और तकनीकी ज्ञान स्वतः मूल्य-निरपेक्ष हैं। ज्ञान के रूप में भी प्रकृति से अनिवार्यतः सम्बद्ध होने से अवश्य वे मनुष्य के लिए ऐसा परिवेश तैयार करने में सफल होते हैं जिसमें मनुष्य अपने सामाजिक-सांस्कृतिक जगत् की रचना करता है। किन्तु मनुष्य किसी काल-विशेष में उपलब्ध विज्ञान-तकनीकी का उपयोग किस तरह करेगा, यह इस पर निर्भर करता है कि उस समय मनुष्य की विशेष सामाजिक-सांस्कृतिक मान्यताएँ क्या हैं। आज हम आधुनिक सभ्यता को विज्ञान और तकनीकीय जानकारी से पूर्णतः प्रभावित पाते हैं—वह प्रायः पूर्णरूपेण ऐसी खोजों में व्यस्त है जो मनुष्य के लिए अधिकाधिक सुख-सुविधा व शक्ति जुटा सकें। पर इससे ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए कि मनुष्य के लिए यह लक्ष्य आधुनिक विज्ञान-तकनीकी से पैदा हुआ है। वस्तुतः बात इसके ठीक उल्टी है—सभी नयी-पुरानी संस्कृतियों का एक लक्ष्य सदैव यही रहा है; यद्यपि यह भी सही है कि विविध संस्कृतियाँ अलग-अलग मूल्यों पर ज़ोर देने के कारण उपलब्ध विज्ञान-तकनीकी का उपयोग एक-जैसा नहीं करतीं। अतः विज्ञान-तकनीकी पर ऐकांतिक ज़ोर देने वाली आधुनिक सभ्यता के प्रभाव में ऐसा नहीं

समझ बैठना चाहिए कि पश्चिम से प्रभावित आधुनिक जगत् की ऐतिहासिक प्रक्रिया ही समग्र मानव-संस्कृति की एकमात्र सार्वभौम और आदर्श प्रक्रिया है। निस्सन्देह विज्ञान-तकनीकी पर ज़ोर देने वाला दृष्टिकोण सांस्कृतिक प्रक्रिया के एक स्तर विशेष का ही द्योतक है। विज्ञान-तकनीकी में जो सार्वभौमता दृश्यमान् है वह उसके मूल्यों का उन्मेषक उत्स होने के कारण नहीं है वरन् इसलिए है क्योंकि उसके प्रतीक विभिन्न संस्कृतियों के बीच सरलतापूर्वक सम्प्रेषणीय है---और यही तथ्य पुनः उनके मूल्य-निरपेक्ष होने की पुष्टि करता है।

इसी तरह संस्कृति को समाज के आधार से समझने और निश्चित करने के टॉयनबी के प्रयास की भ्रामकता भी हमें समझनी चाहिए। 'सृजनशीलता' संस्कृति का तात्त्विक लक्षण है जबकि वह समाज का तात्त्विक लक्षण नहीं है। फिर, एक संस्था या संगठन के रूप में स्वतः समाज की धारणा उन निश्चित अवधारणाओं पर आश्रित होती है जो मूल्यपरक होते हैं। अतः देश-काल में स्थिति के स्वरूप वाले समाज की मूल्यबोधात्मक संस्कृति के मूलाधार के रूप में मान्यता निश्चय ही ऐतिहासिक प्रमाणों के विपरीत है।

कभी-कभी संस्कृति को ऐसा 'संस्थान' (पैटर्न) भी मान लिया जाता है जिसमें उद्योग, तकनीकी, सामाजिक व्यवस्था आदि एकरूपेण समाविष्ट होते हैं। यह मत ठीक-ठीक स्पष्ट नहीं है; किन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि इस तरह की एकरूपता के फलस्वरूप संस्कृति की आकारिकता बढ़ने और फलतः उसकी सृजनशीलता के घटने का खतरा पैदा होता है। सांस्कृतिक एकरूपता वैयक्तिक अनुभव में अधिष्ठित होती है जबकि तार्किक, आकारिक या व्यवस्थामूलक एकरूपता की प्रवृत्ति व्यक्ति-निरपेक्षता की होती है। सभी सांस्कृतिक अनुभवों का अधिष्ठान वैयक्तिक अनुभव ही होता है---इससे उनकी स्वतन्त्रता केवल भ्रमोत्पादक ही हो सकती है। वस्तुतः संस्कृति के तत्त्व को समझने में सबसे बड़ी बाधा मानव-कृतियों को स्वतन्त्र वस्तुएँ मान लेने के कारण होती है। ये वस्तुएँ आत्म-चेतना के सन्दर्भ वाले सांस्कृतिक जगत् की अंग हैं न कि उस प्राकृतिक जगत् की जिसकी वस्तुओं की चेतना आत्म-चेतना-रूप नहीं है। सांस्कृतिक जगत् की वस्तुएँ प्रतीक-रूप हैं, उनका अर्थ है, किन्तु स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। ये प्रतीक आत्म-चेतना में विविध मूल्यों व अनुभवों के रूप में सक्रिय होते हैं। पुनः, यह भी द्रष्टव्य है कि चूँकि सांस्कृतिक जगत् आत्म-चेतना में ही अन्तर्भाव्य है, संस्कृति को उसकी सृजनात्मकता में भागीदार होकर ही समझा जा सकता है। अ--सृजनात्मक रूप में वह केवल एक अनबूझ अभ्यास मात्र बन कर रह जाती है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सांस्कृतिक सृजन में हमारी भागीदारी सदैव वास्तविक-ऐतिहासिक (नूतन मूल्योन्मेष : जैसे काव्य : रूप में) हो; वह काल्पनिक भी हो सकती है (जैसे काव्य-समीक्षा में); पुनः, दोनों ही स्थितियों में उसका रूप मीमांसात्मक भी हो सकता है (जैसे इतिहासकार स्वयं अपनी संस्कृति में तो वास्तविक भागीदार होता है, किन्तु अन्य संस्कृतियों में केवल कल्पना के माध्यम से भागीदार बनता है, और साथ-साथ इन दोनों प्रकार की भागीदारी को परस्पर सम्बन्धित रखता है)।

२. संस्कृति और ऐतिहासिक प्रक्रिया

जिस तरह 'संस्कृति' मात्र नृतत्त्वशास्त्रीय या समाजशास्त्रीय विवरण नहीं है, उसी

तरह 'इतिहास' भी न तो मृत 'बीता हुआ' है न उसका विवरण मात्र ही है। प्रकृत देश-काल में क्रमबद्ध या साथ-साथ होने वाली घटनाओं का ही बोध नहीं होता बल्कि उसमें ऐसी घटनाओं की समझ और परिवर्तन की ललक भी होती है। अर्थात् संस्कृति की तरह ऐतिहासिक प्रक्रिया भी अनिवार्यत: आंतरिक (मानसिक) गति और आध्यात्मिकता प्रकट करती है। इस दृष्टि से ऐतिहासिक प्रक्रिया मानसिक सक्रियता का ही भाग है। और इस तथ्य से कई महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं: **प्रथम**—मनस् इतिहास द्वारा विशेष रूप से गठित है—वह अपने अनुभव-प्रवाह में निरन्तर रचित है। दूसरी ओर नैसर्गिक वस्तुएँ उस घटना-प्रवाह में स्थित होती हैं जो उन्हें उनके निज-रूप में स्थिर करने में असमर्थ हैं–और इसीलिए उन्हें 'विज्ञान' की आवश्यकता होती है जिससे कि विशेष घटना-प्रवाह से अलग उनका रूप स्थिर हो सके। **द्वितीय** — मनस् अनावर्त्तमान् काल-विशेष में क्रियाओं द्वारा रचित होता है, जबकि नैसर्गिक वस्तुएँ आवर्त्तमान (रेपिटिटिव) काल में गतियों द्वारा रचित होती हैं। इन 'क्रियाओं' और 'गतियों' का तात्त्विक अन्तर न समझ पाने के ही कारण मनस् को भी नैसर्गिक समझने का भ्रम होता है। अतः उनके सन्दर्भ में क्रमश: 'मानसिक-काल' और 'भौतिक-काल' का अन्तर समझना चाहिए जो संक्षेप में इस तरह है: भौतिक काल दैशिक बिन्दुओं की तरह अपने क्षणों के बीच स्थिर और निश्चित अंतरों वाला है, जबकि मानसिक काल के अन्तर्गत ये अन्तर स्थिर व निश्चित नहीं हैं। **तृतीय**—मनस् की आधारभूत क्रियाओं को भौतिक गतियों की तरह केवल कारणात्मक ढंग से नहीं समझा जा सकता, क्योंकि वे क्रियाएँ मूलतः साभिप्राय—लक्ष्यमूलक—होती हैं। कारणात्मक अवगमन में हमें पीछे की ओर लौटना होता है, जबकि आभिप्रायिक अवगमन हमें आगे की ओर प्रवृत्त करता है। सम्पूर्ण प्रकृति, घटना-क्रम, की समझ कारणता-आकस्मिकता की विधा से प्राप्त की जा सकती है; किन्तु मनस् या जीवंत अनुभव के लिए हमें लक्ष्य या नियति को समझना होता है—यहाँ समझ का आधार वास्तविक न होकर आदर्श या अवास्तविक है। इसीलिए मानव-मनस् वास्तविक की खोज में भी वस्तुत: 'आदर्श' की खोज करता है, अर्थात् उसकी सक्रियता 'आदर्श के वास्तविकीकरण' के लिए होती है—सत् के ही हृदय में सौद्देश्यता का वेध मानने (एरिस्टॉटल, हीगेल, हुस्सर्ल आदि) का कारण यही है। इस प्रकाश में हम मानव-मनस् के जीवन को एक उत्क्रान्तिमूलक प्रक्रिया कह सकते हैं जो किसी भी नैसर्गिक या अभियान्त्रिक प्रक्रिया से बिल्कुल भिन्न है, क्योंकि उसमें एक निश्चित लक्ष्य का वेध रहता है। अत: यह भी स्पष्ट है कि उक्त उत्क्रान्ति में निहित विकास नैसर्गिक विकास से बिल्कुल भिन्न प्रकार का होगा: मनस् के सन्दर्भ में विकास एक समग्रता का अर्थ देता है जो उसके विविध घटकों के विविध अर्थों की सफलता मात्र नहीं है, जैसे नैसर्गिक विकास के सन्दर्भ में। यहाँ हम बौद्धों द्वारा 'क्षणिक' के सम्बन्ध में सुझाये गए दो दृष्टिकोणों के भेद के महत्त्व को समझ सकते हैं: निसर्ग के सन्दर्भ में वह यथार्थता (वास्तविकता) के लक्षण वाला है, जबकि मनस् के सन्दर्भ में वही अयथार्थता का लक्षण पैदा करता है। किन्तु इस भेद के महत्त्व का अर्थ यह नहीं कि मनस् का उत्क्रान्ति-मूलक विकास निसर्ग या प्रकृति से बिल्कुल अलग-थलग रहकर होता है। इसके विपरीत, मानसिक उत्क्रान्ति की यह विशेषता है कि वह नानारूप अन्तर्विरोधपूर्ण निसर्ग में निहित

'परता' को भी एक बृहद् समग्रता में सुनियोजित कर उसके अवरोधक लक्षण को समाप्त कर देती है। मनस् (आत्मा) को उसकी अपनी स्वायत्तता या स्वतन्त्रता इसी से मिलती है--किसी कलाकार, जैसे चित्रकार, की सक्रियता में इसकी झलक स्पष्टरूपेण देखी जा सकती है। (यह द्रष्टव्य है कि कांट की 'कोपरनिकीय क्रांति में भी यही बात देखी जा सकती है--और तब हम देख सकते हैं कि प्रकृति के ज्ञान (विज्ञान) के क्षेत्र में भी प्रकारान्तर से वही होता है जो कला के क्षेत्र में होता है : पांडेजी इस तथ्य को अनदेखा कर देते हैं।)

मनस् के उत्क्रांतिमूलक विकास से ही संस्कृति के उच्च स्तरों का विकास सम्भव होता है। सत्य, सुन्दर, शिव या प्रेम या स्वतन्त्रता जैसे उच्चतर मूल्यों की जीवन में अभिव्यक्ति देने की दिशा में प्रगति सदैव नानारूपात्मक बाह्य निसर्ग (जहाँ मनुष्य अपने को पाकर सन्तुष्ट नहीं रह पाता) के अन्तर्विरोधी तत्त्वों के एक सामञ्जस्य स्थापित कर सकने की मानव-क्षमता पर ही निर्भर करती है।

यहाँ दो बातें द्रष्टव्य हैं : एक, मानव-मनस् का विकास सदैव आत्मबोधात्मक है क्योंकि मनस् आत्मरूप है; और दूसरी, उसका यह विकास इतिहास का सही आशय व्यक्त करता है। मानसिक विकास को आत्मबोधात्मक मानने से उसे विशिष्ट व्यक्ति-केन्द्रित मानने का अर्थ नहीं है। निस्सन्देह मनस् एक नहीं अनेक हैं, और वे सभी आत्मबोधात्मक भी हैं। किन्तु आत्मबोधात्मक मनस् की सक्रियता ही इस प्रकार की है कि उसमें अनेकता प्रकाशित है : वह प्रत्ययात्मक सार्वभौमिकता के आधार से ही सक्रिय होती है। अर्थ का सारा क्षेत्र ही अन्तर्वैयक्तिक है। अब चूँकि मनस् की आत्मबोधात्मक उत्क्रान्ति का रूप इस तरह का है, उसके सन्दर्भ में अवगम्य ऐतिहासिक प्रक्रिया के बारे में ये मत ठीक नहीं हो सकते—कि वह पूर्णतः आकस्मिक प्रक्रिया है, और यह कि उसका वैज्ञानिक सामान्यीकरण सम्भव है। ये मत वस्तुतः इन प्रकृतिवादी मान्यताओं पर आधारित हैं कि इतिहास प्रकृति का अंग है और प्रकृति, जो आकस्मिक तत्त्वों से बनी है, कारणात्मक है। किन्तु यहाँ जिस प्रकृति की चर्चा है वह मनुष्य को अन्दर-बाहर आवेष्टित करने वाली जीवंत प्रकृति न होकर विज्ञान की शुद्ध अमूर्त प्रकृति है। अवश्य प्रकृति की इन दो धारणाओं के बीच सम्बन्ध है, किन्तु वे एक ही नहीं हैं। ऐतिहासिक प्रक्रिया के सन्दर्भ में जिन दो मतों का उल्लेख ऊपर हुआ है वे उक्त अमूर्त प्रकृति के इतिहास पर लागू हो सकते हैं, किन्तु तब इतिहास भी 'वास्तविक' न होकर 'अमूर्त' होता है। अमूर्त और ऐकान्तिक इतिहास मानव-मनस् (बुद्धि) की सार्वभौमता पर ऐकान्तिक और अमूर्त्यात्मक ज़ोर देने से सम्भव होता है। दूसरी ओर, वास्तविक ऐतिहासिक प्रक्रिया में मानव-मनस् की सार्वभौमिक तथा आत्मबोधात्मक प्रवृत्तियों पर समानरूपेण तथा सामञ्जस्यमूलक ज़ोर होता है।

अतः इतिहास में निहित बौद्धिकता को प्रकृति-विज्ञान की बौद्धिकता मानना भ्रमात्मक है। जैसाकि बोसांके ने कहा है : इतिहास के अन्तर्गत मनुष्य के व्यक्तित्व, क्रिया व बुद्धि में उसका जो भाव प्रकट होता है उसे हम सापेक्षता और अनिवार्यता के अमूर्त प्रत्ययों में खोना नहीं चाहते। फलतः संस्कृति के सन्दर्भ वाला इतिहास सीधे मनस् के आत्मबोधात्मक जीवंत अनुभव-क्षेत्र से जुड़ता है, और इस इतिहास के सभी उपादान (प्रत्यय, प्रतीक,

प्रतिमाएँ, विविध सांस्कृतिक रूप) अर्थोन्मेष के सन्दर्भ वाले हैं, अर्थात् वे आत्मज्ञान की खोज में प्रयुक्त उपकरण हैं।

३. संस्कृति : अर्थाभ्युपगम और रूप

अब तक की गई संस्कृति व इतिहास की व्याख्या हीगेल, क्रोचे, बोसांके आदि द्वारा प्रणीत प्रत्ययवाद (आइडियलिज़्म) की परम्परा के अनुकूल है। इस परम्परा की एक प्रमुख मान्यता यह रही है कि प्रकृति मनस् से स्वतन्त्र नहीं है। उसके अनुसार, मनस् अर्थाभ्युपगमों का एक ऐसा वर्ग है जिसके द्वारा यथार्थ (प्रकृति) का ज्ञान होता है, तथा उन्हीं अर्थाभ्युपगमों द्वारा उनसे अधिक श्रेष्ठ अर्थाभ्युपगमों की उद्भावना होती है। उल्लेखनीय है कि हीगेल के लिए इतिहास की व्यवस्था एक शुद्ध तार्किक व्यवस्था है, और जहाँ वह ऐसी नहीं है वहाँ इतिहास केवल आगन्तुक है। किन्तु क्रोचे ने इस मत में महत्त्वपूर्ण संशोधन किया है : उसके अनुसार, हमें शुद्ध तार्किक व्यवस्था और सत्-प्रकृति-मनस् की व्यवस्था के बीच अन्तर करना चाहिये, और अर्थाभ्युपगमों को मात्र तार्किक कोटियाँ नहीं समझना चाहिए, क्योंकि अवगम्यता का अर्थ सदैव तार्किक बौद्धिकता का नहीं होता। पुनः, स्वतः प्रकृति की व्यवस्था को हमें मनस् की व्यवस्था से पृथक् भावेन समझना चाहिए : प्रथम के अन्तर्गत हमें वास्तविकताओं का क्रम उपलब्ध होता है, जबकि द्वितीय के अन्तर्गत केवल अर्थ का सामञ्जस्यपूर्ण उन्मेष होता है। फिर, यह भी द्रष्टव्य है कि अर्थोन्मेष में निहित आत्मबोध के अन्तर्गत मनस् की प्रवृत्ति उस आदर्शरूप 'परमात्मा' (परम+मनस्) की ओर होती है जो स्वतः अनैतिहासिक है। यही 'परमात्मा' श्रेष्ठतम परमार्थ (परम+मूल्य) है। इस दृष्टि से प्लेटो की इस उक्ति को, कि 'काल चिरन्तन का गतिमान प्रतिरूप है' इस तरह समझा जा सकता है : चिरन्तन ही परमात्मा है और मनस् की कालगति ही ऐतिहासिक उत्क्रांति या विकास है।

संस्कृति की अर्थोभ्युपगम-क्रिया में मूलतः तीन प्रकार के अर्थाभ्युपगम दृष्टिगोचर होते हैं : परिवर्तनमूलक (केटेगरीज़ ऑफ फेज़) निर्देशमूलक (केटेगरीज़ ऑफ डॉयरेक्शन) और स्तरमूलक (केटेगरीज़ ऑफ लेवल)। परिवर्तनमूलक अर्थाभ्युपगम है—क्रमावर्त्तन (सक्सेशन) जिससे साधारणतः कारणता या आकस्मिकता का बोध होता है। इतना तो स्पष्ट है कि इतिहास के अन्तर्गत क्रमावर्त्तन में आकस्मिकता का प्रश्न पैदा नहीं होता, क्योंकि वहाँ हमें व्यवस्था की तलाश होती है, यद्यपि इसका अर्थ यह नहीं है कि हम उस व्यवस्था को तार्किक व्यवस्था के रूप में ही स्वीकार करें। जो व्यवस्था हम इतिहास में ढूँढ़ते हैं वह अर्थमूलक व्यवस्था होती है। पुनः, इतिहास के व्यवस्थामूलक क्रमावर्त्तन को आवृत्तिमूलक या अनावृत्तिमूलक समझा जा सकता है। अनावृत्तिमूलक क्रमावर्त्तन को हम उत्तरोत्तर विकासमान बौद्धिकता रूप या अर्थ रूप समझ सकते हैं, जिसके अन्तर्गत उसका पूर्णरूप कभी प्रकट नहीं हो सकता; क्योंकि किसी भी काल-विशेष में इस समग्र विकासमान् बौद्धिकता का केवल एक विशिष्ट अंश ही स्पष्ट होकर सामने आता है जिसके आधार से उसके समग्र स्वरूप को सामान्यीकृत नहीं समझा जा सकता। अतः पूरे ऐतिहासिक अनावृत्तिमूलक क्रमावर्त्तन को अर्थमूलक या बौद्धिक कहना भी उसके सन्दर्भ में केवल एक पूर्वमान्यता है।

दूसरी ओर, ऐतिहासिक व्यवस्था में निहित क्रमावर्त्तन को आवृत्तिमूलक मानने का अर्थ उसे प्राणियों के देह की उपमा पर समझना है, जिसमें जन्म, वृद्धि, क्षय और मरण की आवृत्तिमूलक प्रक्रिया होती है। किन्तु आत्म-बोध जैविक धारणा नहीं है। मनुष्य का अनुभव-प्रवाह उक्त प्रक्रिया से होकर नहीं गुज़रता है। यही बात विस्तारेण समग्र मानव-जाति के अनुभव-प्रवाह रूपी संस्कृति पर भी लागू होती है। जिस तरह उसमें न तो यांत्रिक कारणता होती है और न ही अर्थशून्यतामूलक आकस्मिकता, उसी तरह उसमें जैविक जन्म-जीवन-मरण भी नहीं होता। संस्कृति-इतिहास की धारणा की भौतिक-जैविक धारणा से मूल भिन्नता का कारण इस प्रकार है: भौतिक-जैविक के अन्तर्गत परिवर्तन व स्थायित्व दोनों एक ही द्रव्य पर आधारित माने जाते हैं, अर्थात् एक ही आधारभूत द्रव्य में रूप-परिवर्तन होता रहता है; किन्तु, दूसरी ओर, मनस् के अनुभव-प्रवाह में स्थित संस्कृति-इतिहास के क्रमावर्त्तन में कोई आधारभूत द्रव्यमूलक स्थायित्व नहीं होता। अवश्य वहाँ 'अर्थ-क्रिया' होती है, घटकों के बीच अर्थ-सम्बन्ध होता है, किन्तु वह किसी स्थायी मूल-द्रव्य की अपेक्षा नहीं रखता--उसके लिए केवल इतना ही मानना पर्याप्त है कि परिवर्तन की प्रक्रिया में 'अनुगामी' का अर्थ 'पूर्वगामी' के बिना स्पष्टरूपेण अवगम्य नहीं होता। अतः स्पेंगलर द्वारा संस्कृति को जैविक प्रतिमान के सहारे समझने का प्रयास ठीक नहीं है। साथ ही यह स्पष्ट है कि टॉयनबी द्वारा विविध संस्कृतियों के बीच एकरूप अर्थक्रिया के विकास का सिद्धान्त भी मान्य नहीं किया जा सकता, क्योंकि वहाँ प्रवहमान जीवंत चेतना को अनावश्यक रूप से स्थूल व निर्वैयक्तिक मानना आवश्यक हो जाता है। शायद ईश्वरीय चेतना के लिए यह सम्भव हो; मानव-अनुभाश्रित इतिहास के सन्दर्भ में यह सही नहीं हो सकता।

निर्देशमूलक अर्थाभ्युपगम मूलतः दो प्रकार के हैं: प्रथम, अनुभव को उसकी वस्तुनिष्ठ अन्तर्वस्तु के आधार से समझने पर वह प्राकृतिक बनता है और यह बौद्धिक क्रिया द्वारा सम्भव होता है। द्वितीय, जहाँ तक बौद्धिक क्रिया के अन्तर्गत स्वतः अनुभव को समझने की बात होती है. हमें सांस्कृतिक या ऐतिहासिक चेतना होती है जिसका एक विकसित रूप किसी समग्र अर्थ-क्षेत्र में प्रतीक की शुद्ध अमूर्त चेतना है। चूँकि अनुभव मनस् की अभिव्यक्ति है, उसमें आदर्शोन्मुखता (मूल्य-चेतना) होती है। दूसरे शब्दों में, जो चेतना प्रथम स्थिति में बहिर्मुख होती है, वही इस द्वितीय स्थिति में अन्तर्मुखी हो जाती है और इसी बाद वाली स्थिति में मनस् का स्वयं अपना स्वरूप स्पष्ट होता है। अतः यह भी द्रष्टव्य है कि हमें मनस्क्रियात्मक ऐतिहासिक प्रक्रिया के अन्तर्गत निर्देश का अर्थ किसी आधारभूत अर्थाभ्युपगम के उन्मेष में नहीं देख कर स्वतः अर्थाभ्युगमन-क्रिया की विविध विकासमान विधाओं में देखना चाहिए। ये विधाएँ इन चार तत्त्वों पर कमोबेश निर्भर करती हैं: प्रकृति, अनुभव और उसकी स्पष्टता, प्रतीक (बिम्ब और प्रत्यय) तथा मनस्। तदनुसार, अपेक्षया, इन स्पष्ट अर्थनिर्देशों की बात की जा सकती है--विज्ञानमूलक, कलामूलक, तर्कमूलक तथा इतिहास व रहस्यवाद से सम्बन्धित निर्देश।

स्तरों के अर्थाभ्युपगमों के रूप में हीगेल के आत्मनिष्ठ, वस्तुनिष्ठ और परम मनसों के भेद को लिया जा सकता है। उसके अनुसार, कानून और नैतिकता, परिवार और राज्य

वस्तुनिष्ठ मनस् के स्तर वाले हैं ; जबकि धर्म, कला और दर्शन परम मनस् के स्तर वाले हैं। साधारणतः इतिहासकार इस तरह का स्तर-भेद नहीं करते। फलतः, उदाहरणार्थ, कला का इतिहासकार कला की वस्तुओं की विवेचना इस तरह करता है मानो वे प्राकृतिक वस्तुएँ हों। इसी तरह दर्शन का इतिहासकार स्वयं दार्शनिक होने की स्थिति में या तो समस्त पूर्ववर्ती दर्शन को स्वयं अपने दर्शन के लिए भूमिकामात्र समझता है (हीगेल, मार्क्स) या फिर उसे पूर्णतः वृथा समझ कर उसका बहिष्कार करता है (कोंत)--इन दोनों ही स्थितियों में दर्शन एक परम अर्थाभ्युपगम न रह कर विशिष्ट उद्देश्य वाली एक मान्यता मात्र बन कर रह जाता है। किन्तु दूसरी ओर भी भ्रम का खतरा कम नहीं है : दर्शन (या कला आदि) को परम स्तर वाला मान लेने पर यह भ्रम पैदा हो सकता है कि कहीं हम अर्थहीन को अर्थयुक्त और अर्थयुक्त को अर्थहीन तो नहीं मान रहे! आखिर काल-विशेष में व्यक्ति के लिए प्रत्येक अनुभव-सन्दर्भ तो स्पष्ट होता नहीं।

इसीलिए यह आवश्यक है कि हम संस्कृति में अर्थाभ्युपगमों का स्तर-भेद, वस्तुतः किसी भी अर्थाभ्युपगम का स्वरूप, ठीक-ठीक समझने के लिए संस्कृति का समग्र सन्दर्भ समझें। अवश्य यह समग्र सन्दर्भ स्पष्ठभावेन निश्चित नहीं किया जा सकता, क्योंकि समझने वाले व्यक्ति की स्वयं अपनी आधारभूत मान्यताएँ इसके आड़े आती हैं। जैसे स्वयं लेखक (डॉ० पांडे) की आधारभूत मान्यता के आधार से उस पर रहस्यवाद (आत्मबोध सन्दर्भ) का रंग होगा। पुनः, एक ही स्तर में कई प्रक्रियाएँ अन्तर्भाव्य हो सकती हैं--अनुभवशील मनस् अपनी निरन्तरता बनाये रखते हुए भी अपने भ्रमण-वृत्त में परिवर्तन कर सकता है। वस्तुतः विज्ञान, दर्शन और धर्म (जिनमें सत् के विविध रूप प्रकट होते हैं) के क्षेत्रों के बीच स्तर-भेद का आंशिक कारण यही भ्रमण-वृत्त का परिवर्तन है। सर्वोच्च स्तर वाले आत्मबोध में रहस्यात्मक सत्य उपलब्ध होता है, जो स्वतः सत् या शुद्ध आत्मबोध की स्थिति होने से इतिहास-निरपेक्ष है। किन्तु जहाँ तक वह दर्शन के रूप में या धर्म में अंश-भूत होकर प्रकट है, जहाँ वह प्रतीक रूप में अभिव्यक्ति-योग्य है, वहाँ वह दार्शनिक क्रिया का स्तर ग्रहण कर लेता है, यहाँ तक कि शायद वैज्ञानिक संस्थान के स्तर का भी। किन्तु इस कारण स्वतः उसे ही दर्शन या विज्ञान के स्तर वाला मान लेना भूल होगी।

संक्षेप में, परिवर्तनमूलक अर्थाभ्युपगम एक ऐसी विकासमान् प्रक्रिया को उद्भासित करते हैं जिसमें स्वाभाविक असत्ता होती है--इसके अन्तर्गत विकास का रूप अर्थवत्ता का होता है, भाववत्ता का नहीं। निर्देशमूलक अर्थाभ्युपगम उन विभिन्न दिशाओं को उद्भासित करते हैं जिधर बाह्यस्थ प्रकृति और अन्तस्थ मनस् अनुभवों को अपनी ओर खींचते हैं या स्वयं उनकी ओर खिचते हैं। स्तरमूलक अर्थाभ्युपगम आत्मबोध या अनुभव के उन अंश-भेदों के उद्भासक हैं जो कमोबेश शुद्ध चेतना तक पहुँचने की सक्रियता प्रकट करते हैं।

४. संस्कृतियाँ और संस्कृति : स्वरूप-निर्धारण की समस्या

संस्कृति को आत्म-बोध रूप मान लेने पर इस सवाल का उठना स्वाभाविक ही है कि उसे उसके स्वरूप में निश्चित करने का वस्तुनिष्ठ आधार क्या होगा? किन्तु इस सवाल को सुलझाना सचमुच आवश्यक नहीं है क्योंकि आत्मबोध स्वयं परिभाषेय होता है। जहाँ तक संस्कृति में 'परता' का सवाल है, क्योंकि संस्कृति की पूरी प्रक्रिया ही 'पर' (अर्थात्

'अन्य') के पुनर्गठन की है, यह भी समझ लेना चाहिए कि आत्मबोध की सारी प्रक्रिया का आधार ही यह ज्ञान है कि अनात्म वस्तुतः आत्म ही है। अनात्म में परता का अन्यत्व उसे न समझने से होता है, जबकि समझ लेने से वही आत्मरूप हो जाता है। द्रष्टव्य है कि यहाँ 'आत्म' और उसके 'विषय' के भेद को मिटाने की बात नहीं कही जा रही है; केवल यह कहा जा रहा है कि उनके बीच एक संश्लेषणात्मक एकता है।

उल्लेखनीय है कि संस्कृति को किसी वस्तुनिष्ठ आधार से निश्चित करने का प्रयास कई भ्रमों को जन्म देने वाला है। इसी प्रयास के चलते संस्कृति के भौगोलिक या कालिक सीमाओं में बँधने का भ्रम पैदा किया गया है। आनुभविक देश-काल के सन्दर्भ से अवश्य समाज की परिभाषा दी जा सकती है—किन्तु वहाँ भी वह केवल एक आरम्भिक मान्यता के रूप में ही स्वीकरण योग्य है, क्योंकि गहराई में जाने पर हम पाते हैं कि समाज का निश्चित रूप भी अन्ततोगत्वा संस्कृति की जानकारी पर निर्भर करता है। और संस्कृति की ठीक-ठीक जानकारी उसके अर्थाभ्युपगमों को समझने से होती है (जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है)।

संस्कृतियों के बीच भेद पैदा करने वाले तत्त्व सामान्यतः दो हैं : अपूर्ण सम्प्रेषण और स्वार्थों की टकराहट। यह भेद आत्मचेतनाओं का भेद है। अपूर्ण सम्प्रेषण 'ऐतिहासिक दूरी' के कारण हो सकता है, जबकि स्वार्थों की टकराहट के कारण संकीर्ण नैतिक या सामाजिक सीमाएँ होती हैं। 'ऐतिहासिक दूरी' को किसी आदर्श संश्लेष से मिटाया जा सकता है--जैसे यूक्लिड और रीमॉन की ज्यामितियों को एक ही ज्यामितीय संरचना के अंग समझना सम्भव है। इसका अर्थ हुआ कि मनस् की एकात्मता अपनी संरचना के अन्तर्गत भेदों को स्वीकार तो करती है किन्तु साथ ही उन्हें परस्पर संश्लिष्ट कर उनके विरोध को मिटाने की चेष्टा भी करती है।

पुनः, यह भी द्रष्टव्य है कि संस्कृति को आत्मबोध के रूप में समझना तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि उसमें भागीदार नहीं बना जाय। इतिहासकार को संस्कृतियाँ कहीं बाहर से नहीं मिलतीं। ग्रीक संस्कृति को उसमें भागीदार होकर, जैसे ग्रीक क्लासिक्स को पढ़ कर, ही समझा जा सकता है। और जब हम संस्कृतियों को इस तरह जानते हैं तो हम यह भी जानते हैं कि वे विविध रूप में एक ही विराट् आत्म-चेतना की अंश हैं। शायद व्यक्ति रूप में हम स्वयं उस 'विराट्' तक नहीं पहुँच सकें, किन्तु इतिहास के अध्ययन का उद्देश्य यही है —'बाह्य' के क्षेत्र में जो उद्देश्य प्रकृति को समझने का है, ठीक वही उद्देश्य 'आत्म' के क्षेत्र में इतिहास को समझने का है। इसी अर्थ में विभिन्न संस्कृतियाँ एक ही संस्कृति—उच्चतम संस्कृति—में अंशभूत हैं। संस्कृति को इस तरह समझने और जानने में ही सांस्कृतिक विकास निहित है। मानवीय आत्म-चेतना के विकास की प्रक्रिया ही इस तरह है कि उसमें अपूर्ण चेतना पूर्ण चेतना में विकसित होना चाहती है। यही मानव-चेतना की अमिट लालसा और अन्वेषण का सुख है और साथ ही उसमें अन्तर्निहित विरोधाभास भी—और निस्सन्देह मनुष्य को इसी तरह समझा जा सकता है। मानव-इतिहास मूल्यान्वेषण के लिए किये गए ऐसे मानवीय प्रयोगों का लेखा-जोखा है जो मूलतः एक आदर्शमूलक प्रक्रिया पर आधारित है। मनुष्य और उसकी संस्कृति की ठीक-ठीक समझ के लिए हमें

मानव-इतिहास को इसी रूप में समझना चाहिए ।

५. तात्त्विक और आगन्तुक इतिहास

जैसाकि हम पहले ही कह आये हैं, संस्कृति को आत्मबोधात्मक रूप से सतत विकासमान मानने का अर्थ ही उसका एक विशिष्ट काल-सन्दर्भ स्वीकार करना है । अर्थात् आत्मबोध की प्रक्रिया आंतरिक (मानसिक) या तात्त्विक काल में सम्पन्न होती है और यह काल बाह्यजगत्—मूलक भूत–वर्तमान–भविष्यत् के अपरिवर्त्य क्रम में रूपायित काल से बिल्कुल भिन्न है । इस बाद वाले काल में क्रम का रूप या तो कार्यकारणात्मक या आगंतुक प्रकार का होता है । दूसरी ओर, आंतरिक काल, जिसमें चेतना भावरूपेण विकसित होती है, के अन्तर्गत प्रत्येक बीत जाने वाला क्षण अपने निकटतम परवर्त्ती क्षण को उसके लक्षण में निश्चित बनाता चलता है—क्योंकि इस बाद वाले क्षण में उस बीते क्षण की स्मृति चेतन या अचेतन रूप से समायी होती है । इस तरह यहाँ 'भूत' वास्तविक न बने रहने पर भी जीवंत रहता है ; प्रत्येक वर्त्तमान क्षण भी इसीलिए मात्र वास्तविक न रह कर आदर्शोन्मुख (भविष्योन्मुख) होता है और इसीलिए अभी आगामी क्षण — रूप भविष्य भी उद्देश्यमूलक बनता है । यही आत्मचेतना के अपने स्वरूप-बोध का रूप है । वह अपने आणविक रूप में वैयक्तिक रहती है, किन्तु अपने विराट् रूप में आत्मबोध की सम्प्रेषणीय प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियों द्वारा परम्परा बन कर प्रकट होती है । इस रूप में प्रकट परम्परा ही संस्कृति है । परम्परा का अभ्युदय व्यक्ति-रूप आत्म-चेतनाओं के परस्पर सम्प्रेषण में होता है—उसी के सन्दर्भ में व्यक्ति के लिए यह सम्भव हो पाता है कि वह उस अधिक विशाल मनस् को ढूंढे जिसमें वह स्वयं स्थापित है । परम्परा के अन्तर्गत इस विशाल मनस् का रूप वास्तविक या वैयक्तिक न होकर आदर्शमूलक होता है । इसी में व्यक्ति–रूप मनस् अपने-आप को ढाल कर अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करता है ।

जिस तरह मानवीय आत्मचेतना मूलतः तीन स्तरों से होकर गुजरती है — प्राकृतिक अस्तित्व के स्मृति, इच्छाओं, संवेगों आदि से आरम्भ कर, सामाजिक सम्प्रेषण, शिक्षा आदि द्वारा परिष्कृत होकर जैविक या मनोगत अनुभवों से अलग अर्थान्वेषण के रूप में अपने स्वरूप-ज्ञान के स्तर तक--उसी तरह उस आत्मचेतना की प्रक्रिया के सन्दर्भ वाले इतिहास का भी त्रिविधात्मक अर्थ होता है : (क) व्यक्तिरूप मनस् अपने अनुभवों की व्याख्या के आधार से एक अधिक विस्तृत मनस् के प्रति सक्रिय होता है ; (ख) स्वतः सामाजिक परम्परा व्यक्तिमूलक जीवंत अनुभव-प्रवाह की तरह सक्रिय होती है जिसके अन्तर्गत व्यक्तियों के भेद के बावजूद एक ही प्रकार की आदर्शोन्मुखता प्रकट होती है ; और (ग) इतिहासकार की चेतना, जिसके अन्तर्गत विविध संस्कृतियाँ एक आदर्श सांस्कृतिक संरचना की ओर अग्रसर होती हैं । अब स्पष्ट है कि इतिहास को इस तरह समझ लेने पर उसे किसी वास्तविक घटना-क्रम में नहीं बाँधा जा सकता । वास्तविक या देश-कालिक घटना-क्रम एक ही शृंखला का निर्माण नहीं करते और उनकी अवगम्यता भी व्याख्या द्वारा ही सम्भव है । यहाँ हम कांट के इस मत का स्मरण कर सकते हैं कि देश-काल वस्तुतः मनस् द्वारा प्रदत्त प्रत्यय हैं ; और यही बात प्रकारान्तर से आधुनिक भौतिकी

(सापेक्षवाद) में भी मान्य है। और पुनः, इसी 'व्याख्या' के अन्तर्गत घटनाओं की वह आदर्शोन्मुख व्याख्या भी आती है जिसके चलते सर्वलोकसंग्रहार्थक दृष्टिकोण से लेकर संकीर्ण राष्ट्रवाद और विशिष्ट वर्गहितमूलक राजनीति तक को बढ़ावा मिल जाता है।

इतिहास में केवल विशिष्ट घटनामूलक तत्त्व, जैसे तैमूरलंग या चंगेज़खां के विजय-अभियान, आगन्तुक इतिहास के अंग हैं, क्योंकि वे सम्बन्धित जन-समाज में किन्हीं नयी धारणाओं या आदर्शों का उन्मेश कर सकने में असफल होते हैं। इसके विपरीत, वे इतिहास के आन्तरिक प्रवाह में क्षणिक अवरोधक तत्त्व के रूप में प्रकट होते हैं। केवल घटना-क्रम की निरपेक्ष प्रस्तुति या निरूपण से आकस्मिक इतिहास होता है, जबकि उस क्रम में चेतना का प्रवाह अन्तर्भाव्य मानने और जानने से इतिहास तात्त्विक बनता है। तात्त्विक इतिहास में आकस्मिकता का तत्त्व नाटकीय संवेग की स्थिति पैदा करता है जिससे तात्त्विक इतिहास के आदर्शोन्मुख आत्मबोध का मार्ग कुछ समय के लिए अवरुद्ध हो जाता है।

६. मूल संस्कृति : सभ्यता और प्रगति

मनुष्य का सारभाव 'श्रद्धा' है, नकि 'बुद्धि'; श्रम तो बिल्कुल ही नहीं। अतः आत्म-चेतना के विकास के रूप में संस्कृति या इतिहास को वैज्ञानिक-तकनीकी विकास या मार्क्सवादी श्रम-व्यवस्थामूलक विकास के आधार से नहीं समझा जा सकता। संस्कृति के सम्बन्ध में विश्वदृष्टि (वेल्त-अनसाऊंग) श्रद्धा द्वारा प्रदत्त मूल मान्यताओं से बनती है, और इसी तरह ऐतिहासिक प्रक्रियान्तर्गत विकास के चरण उक्त मूल श्रद्धा में ही परिवर्त्तन के द्योतक हैं। मनुष्य की बुद्धि इसी विश्व-दृष्टि में अन्तर्भाव्य होकर सक्रिय होती है और उसका श्रम (अर्थोपार्जन क्रिया) भी उसी से दिशा ग्रहण करता है। उदाहरणार्थ, पहले पुरातत्त्ववित् समझते थे कि इतिहास (संस्कृति) में विकास के मोड़ तब पैदा हुए जब जन-समाज के भौतिक रहन-सहन में गुणात्मक परिवर्त्तन हुआ, जैसे आदिम घुमक्कड़ी जीवन का कृषि-व्यवसाय आदि के आधार से स्थायी जीवन में रूपान्तरण। किन्तु अब यह माना जाने लगा है कि यह विकास लेखन के अभाव और लेखन के अभ्युदय के क्रम से अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है—क्योंकि लेखन ही प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक के बीच वास्तविक काल-निर्धारण का ठोस आधार प्रस्तुत करता है। लेखन एक तरह की प्रतीकात्मकता है जिससे परम्परा और परम्पराओं के पुनरुत्थान को उनका निश्चित आकार व दिशा मिलती है। किन्तु चूँकि लेखन भी मूलतः बुद्धि का ही विकास है, मात्र उससे विकास का सूक्ष्म तत्त्व स्पष्ट नहीं हो पाता। उसके आधार से सुविधाजनक विभाजन सम्भव होता है, नकि तात्त्विक विभाजन। लेखन के अभ्युदय के पहले भी जन-समाजों में आधारभूत संस्थाओं, सामाजिक सम्बन्धों का विकास हो गया रहता है—परिवार, कुल, जाति, राज्य, कानून, पुरोहित, मुखिया आदि की धारणाएँ लेखन-काल से पहले की हैं। इनमें स्थिरता और सततता दोनों ही होती हैं। सभ्यता के उदय के बाद से इनमें कोई आधारभूत परिवर्त्तन भी घटित नहीं हुए हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि मानव-मनस् की मूल समस्याएँ अभी भी वही हैं जो प्रागैतिहासिक काल में थीं और जिनके समाधानार्थ उक्त संस्थाओं का विकास हुआ था। अतः यह भी स्पष्ट है कि ऐतिहासिक प्रक्रियान्तर्गत

परिवर्त्तन को निश्चित रूप में समझने के लिए हमें मानव-मनस् की मूल आस्थाओं, मूल्यों, अर्थात् आत्मबोध के मूल लक्षणों में होने वाले परिवर्त्तनों को समझना चाहिए और उस आधार से इतिहास को कालबद्ध करना चाहिए।

मनुष्य की मूल प्रागैतिहासिक समझ या चेतना श्रद्धामूलक या आध्यात्ममूलक थी : यह कि दृश्य जगत् के पीछे एक जीवंत सूक्ष्म तत्त्व है, ठीक वैसे ही जैसे शरीर में प्राण है। इस चेतना में चिन्तनमूलक परिवर्त्तनों के प्रयत्नों का अभाव नहीं होता : किन्तु स्वतः वह सूक्ष्म तत्त्व बौद्धिक नहीं है। अमूर्त या प्रतीक लेखन के बहुत पहले भी परम्परा में जो संग्रह की प्रक्रिया परिवार, कुल, कानून जैसी संस्थाओं में विद्यमान थी उसमें अन्तर्निहित एकसूत्रता का आधार किसी पूर्वज की सूक्ष्म विद्यमानता रही। और यह एक मूल आस्था थी।

इस तरह मानव-इतिहास अपने आरम्भिक चरण में ही सूक्ष्म भौतिक, जैविक तथा बौद्धिक स्तरों का आस्थामय सम्मिश्रण था। इन स्तरों पर होने वाले अनुभवों पर किये गए चिन्तन के फलस्वरूप उन धारणाओं, प्रतिमाओं (बिंबों) और क्रिया-पद्धतियों (संस्कारों) का प्रादुर्भाव हुआ जिनसे न केवल प्रागैतिहासिक जीवन वरन् अधिक उच्च सभ्यताओं का भी विकास सम्भव हो सका। अतः आदिम जीवन और उच्च सभ्य जीवन के बीच कोई मूल्यपरक भेद मानने का कोई औचित्य नहीं है ; और इस दृष्टि से मानव-इतिहास में कोई सामान्य नैतिक या आध्यात्मिक 'प्रगति' देखना व्यर्थ है। वस्तुतः 'प्रगति' क्या है ? १८वीं सदी में पहले-पहल जब इस विषय पर विशद विवेचना आरम्भ हुई, यह समझा गया कि 'प्रगति' संगठित समाज के सन्दर्भ में ही अवगम्य है। उस समय की स्थिति के अनुरूप, फ्रांस व इंग्लैंड के चिन्तकों ने पाश्चात्य जन-समाज को अन्य समाजों (जैसे एशियाई) की तुलना में अधिक उन्नत समझा--तब उनकी धारणा थी कि सामाजिक संगठन में वैयक्तिक स्वतन्त्रता से ही मानव-जाति का भविष्य उज्ज्वल होगा। बाद में १९वीं सदी में इस धारणा की जगह जैविक विकासवाद के सिद्धान्त ने ले ली। जैविक विकासवाद वस्तुतः भौतिक सातत्य की धारणा है : एक प्राणी परिवर्त्तन-क्रिया से गुज़रता हुआ नयी उपयोगी विशेषताएँ ग्रहण करता चलता है तो दूसरा इस पूरी प्रक्रिया में एकरूपता बनाये रखता है।

जैविक विकासवाद के सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं। यहाँ यह प्रश्न विचारणीय है : क्या उसे मानव-विकास के निकष के रूप में मान्य किया जा सकता है ? इसके उत्तर के लिए पहले हमें यह देखना होगा कि यह विकासवादी सिद्धान्त मूलतः दो प्रकार की आकस्मिकताओं पर निर्भर करता है--प्रथम है अव्यवहित परिवर्त्तन की मान्यता और द्वितीय है इस परिवर्त्तन-प्रक्रिया के अन्तर्गत उन गुणों का उत्कर्ष जो सीमित साधनों के फलस्वरूप पैदा हुए जीवन-संघर्ष में अस्तित्व-रक्षा के लिए आवश्यक योग्यता पैदा करते हैं। इसका यह आशय हो सकता है कि जीवन संघर्षमय और इसलिए कठिन होता है ; किन्तु क्या यह इसका निकष हो सकता है कि कौन मनुष्य या मानव-समाज जीवित रहे ? शायद उस सिद्धान्त के आधार से हम यह कह सकें कि वे समाज जीवित रहते हैं जो अधिकाधिक शक्तिशाली होते चलते हैं—जैसाकि आर्थर कीथ ने विकासवाद की अपनी नयी व्याख्या में कहा है। किन्तु तब भी तथ्य यह है कि इस धारणा के अन्तर्गत समाज के

जीवन के लिए अपेक्षित एक मूलतत्त्व की अवहेलना की गई है — अर्थात् इस तत्त्व का कि उपकरणों, उपादानों या प्रतीकों को इतिहास व संस्कृति के सन्दर्भ में केवल तब समझा जा सकता है जब वे पहले उस जीवंत परम्परा से जुड़ें जो स्वतन्त्र मानव-आत्मबोध के रूप वाली हैं। प्रत्येक काल में प्रकट जीवंत परम्परा में प्रगति के लिए एक दृष्टि व ललक होती है, उसके लिए जो अपेक्षया उच्चतर है और जिसकी उपलब्धि एक सतत क्रिया है। वह सतत क्रिया उस आदिम स्थिति पर, जिसमें मनुष्य स्वभावतः आरम्भ करता है (अर्थात् सूक्ष्म भौतिक, जैविक व बौद्धिक स्तरीय अनुभवों) आधारित होकर लगातार आगे बढ़ती है। किन्तु चूँकि परम्परा को उसकी पुष्टता सदैव उसी आदिम स्थिति के विविध स्तरीय अनुभवों से मिलती है, वह परिवर्तनों के मध्य की अपनी स्थिरता नहीं खोती—यद्यपि इसका अर्थ यह नहीं कि इस स्थायित्व के फलस्वरूप उसमें चेतना के उच्च स्तरों का प्रकटन नहीं हो पाता। इसके विपरीत, परम्परा की सतत प्रवाहमानता में इन उच्च स्तरों का प्रकटन ही इतिहास का एक प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है : यह कि कैसे महापुरुषों द्वारा उच्च स्तरीय अनुभव व्यक्त हुए जिससे उनके प्रति लोगों में उत्साह हुआ और फलतः इतिहास को एक नयी दिशा मिली। किन्तु विडंबना यह है कि लोगों का यह उत्साह नितांत अस्थायी होता है और अधिसंख्य लोग महापुरुषों का अनुगमन कर सकने में असमर्थ होते हैं। अतः शीघ्र ही महापुरुषों के उच्चानुभवों को व्यक्त करने वाले प्रतीकों, धारणाओं आदि को परम्परा के ही सामान्य स्तर पर घसीट लिया जाता है (इसे ही श्री अरविन्द 'आदिम स्थिति में लौटना' कहते हैं)। यीशु और बुद्ध के अनुयायियों के साथ यही हुआ। सम्बन्धित परम्पराओं में उनके अनुभवों के प्रतीक अभी भी विद्यमान हैं और उनकी सही समझ द्वारा उच्चस्तरीय अनुभवों की उपलब्धि भी अभी सम्भव है। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि सामान्यजनों के लिए वे मात्र पारम्परिक प्रतीक हैं जिनका अर्थ कहीं अतीत में खो गया है और जिसे ढूँढ़ निकालने वाले लोग विरले हैं।

अतः 'संस्कृति का इतिहास' एक तरह से सांस्कृतिक असफलता का इतिहास है। असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न और सृजनशील व्यक्ति (महापुरुष) इसमें उन्नत शिखरों की तरह हैं जो चतुर्दिक् साधारण मानवता की असफलता वाली विस्तृत भूमि से घिरे हैं। इन व्यक्तियों द्वारा की गई उन्नति से परम्परा (इतिहास) आगे बढ़ती है ; किन्तु उनके बाद शेष रह गये उनके प्रतीकों के बल पर यह प्रगति कायम नहीं रह सकती।

७. पाश्चात्य परम्परा : प्रकृति, ईश्वर और आकार

स्पेंगलर का यह मत कि विभिन्न परम्पराएँ परस्पर-सम्बद्ध (सुज़ामेन-हाँग) होती हैं, ठीक जान पड़ता है, यद्यपि इससे यह आशय नहीं निकाला जाना चाहिए कि इतिहास में बस एक ही सांस्कृतिक धारा बहती दिखाई देती है। इसका आशय है कि विशिष्ट परम्परान्तर्गत विचार-प्रवाह और शिक्षा आदि एक सांस्कृतिक सन्दर्भ में अनुस्यूत होते हैं। जैसे पश्चिम में इसका रूप बौद्धिकता के सतत प्रवाह के रूप में है, चीन में यही विद्वत्ता व प्रशासन के सतत प्रवाह के रूप में है, तथा भारत में यह सततता धर्म की आधारभूत धारणा के रूप में है। पुनः, इन सब विविध रूपों—पश्चिमी बुद्धिवाद, चीनी मानवतावाद तथा भारतीय तत्त्ववाद—के पीछे भी कोई एक आधारभूत एकतामूलक तत्त्व सक्रिय

हो सकता है।

प्रकटतः परम्पराएँ अनेक होती हैं और उनकी अनेकता का आधार होता है अनुभवों के विविध स्तरों पर होने वाले नानाविध सम्मिश्रण और उनकी विविध व्याख्याएँ। वह जिसे पाश्चात्य परम्परा कहा जाता है, सूक्ष्म भौतिक और जैविक स्तरीय अनुभवों के बीच की खाई को एक विशेष बौद्धिक व्याख्या द्वारा पाटने के प्रयास से विशिष्ट हुई है। इसे इस तरह समझा जा सकता है : सूक्ष्म भौतिक का अनुभव आभास रूप है जिसमें बुद्धि भ्रमित व आशंकित रहती है। इस अनुभव की वस्तु में भी स्पष्टता का अभाव होता है। यह स्थिति उस मनुष्य के लिए मरण-तुल्य कष्टकारक होती है जिसे अभी अनुभव-जगत् के बन्धन काट सकने वाला ज्ञान नहीं हो पाया है—अर्थात् यहाँ मनःस्थिति अंधकार में आसन्न संकट की आशंका से मिलती-जुलती है। सूक्ष्म भौतिक के स्तर पर होने वाला यह आदिम अनुभव अज्ञात यथार्थता के सन्दर्भ वाला 'मृत्यु-भाव' है जिसका वैपरीत्य सीधे जैविक स्तर के आत्म-चेतना रूप अनुभव के 'जीवन-भाव' से है, जो उतना ही आदिम है। जैविक स्तरीय अनुभव मानव-जीवन के मूल्य वाले पक्ष से जुड़ा है। अनुभव के ये दोनों (सूक्ष्म भौतिक तथा जैविक) स्तर तथा इनमें प्रकट दोनों (मृत्यु और जीवन) भाव, तथा उनके बीच का वैपरीत्य, न केवल आदिम मनुष्य में सहजतः विद्यमान हैं वरन् उतनी ही सहजता से उन आधुनिक सभ्य मनुष्यों में भी विद्यमान हैं जो अभी पर्याप्त बौद्धिकता और ऐन्द्रिक उदासीनता अर्जित नहीं कर पाये हैं। सामान्य पाश्चात्य मान्यता के अनुसार, मनुष्य में बौद्धिकता का अभ्युदय वातावरण में व्याप्त संघर्ष से निबटने के लिए तथा उसे समझ कर तदनुकूल अपने को ढाल सकने के लिए हुआ। अतः इस सन्दर्भ में सत् की बौद्धिक धारणा शक्ति या कारणता के रूप में हुई जिसे अन्ततः सर्वशक्ति-सम्पन्न ईश्वर की ख्याति मिली। इस तरह जीवन और मृत्यु के भावों के बीच समन्वय के प्रथम प्रयास में ही सर्वशक्ति-सम्पन्न-ईश्वर और सीमित शक्तियुक्त मनुष्य के बीच द्वन्द्व की स्थिति पैदा हो गई है और इस द्वन्द्व की स्थिति की और भी अधिक जटिलता 'प्रकृति' के स्थान और भाव को लेकर पैदा हुई।

सीमित मानव-शक्ति और अधिकार की दृष्टि से रहस्यमय प्रकृति मनुष्य के लिए एक चुनौती है। ईश्वर और प्रकृति के बीच एक ओर सृष्टिकर्त्ता और सृष्टि का सम्बन्ध है, जबकि दूसरी ओर इन दोनों के बीच में पड़ा मनुष्य एक अनावश्यकता की तरह लटक कर रह गया है। उसे निर्वैयक्तिक प्राकृतिक शक्तियों से संचालित होना ही पड़ता है ; किन्तु साथ ही वह ईश्वर का पुत्र भी है जो प्रकृति पर विजय और शासन के लिए पैदा हुआ है, और शासन व विजय की यही सम्भावना अन्ततः उसे ईश्वर के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में स्थिर कर देती है। विज्ञान के उदय और सफलता के साथ-साथ मनुष्य का यही रूप अधिकाधिक स्पष्ट हुआ है। स्मरणीय है कि प्रतिद्वन्द्विता की इस स्थिति के पहले सहज समन्वय का आधार प्रकृति थी, जहाँ मनुष्य और ईश्वर के बीच भेद उतना महत्त्वपूर्ण नहीं था जितना कि मृत्युकारक और जीवनकारक शक्तियों के बीच का भेद था।

जब ईश्वर को आदिकारण या आदिशक्ति के रूप में मान्य किया गया तो वह सृष्टि-कर्त्ता भी बना—प्रकृति के साथ-साथ मनुष्य का भी सृष्टिकर्त्ता। फलतः ईश्वर की सृष्टि

का ही अंश होकर मनुष्य अपनी शक्ति व भाव में सीमित हो गया, सभी दृष्टियों से निश्चित व निर्धारित। उसमें अनिवार्यतः कमी और कमज़ोरी है; अवश्य उसे ईश्वरीय नियमों के साथ-साथ सिरजा गया है, किन्तु वह पाप की ओर भी प्रवृत्त हो सकता है। वह अनिवार्यतः जीवन-मरण के बन्धन से बँधा है। और इसी का दूसरा पक्ष स्वयं मनुष्य की दृष्टि में यह है कि पाश्चात्य परम्परा का यह ईश्वर ईर्षालु है—वह अपने समकक्ष किसी अन्य देवता को सहन नहीं कर पाता। ईसाई और इस्लाम धर्मों में यह बौद्धिक विचार—असहिष्णुता के रूप में—सततरूपेण विद्यमान रहा है।

मनुष्य में अपनी सीमाओं व कमज़ोरियों का बोध दो तरह की प्रतिक्रियाएँ पैदा कर सकता है—या तो वह अपने-आप को पाप-प्रवृत्त और दयनीय स्थिति में पाकर असहाय समझता है, या फिर वह जादू-टोने या विज्ञान द्वारा ईश्वर के समकक्ष होने का यत्न करता हुआ ईश्वरीय सार्वभौमता के प्रति विद्रोह करता है। इन दो चरम स्थितियों के बीच ईश्वर-मानव के रूप में यीशु की समन्वयकारक प्रतिष्ठा हुई है, जो मर कर भी जी उठने के कारण मृत्यु से आक्रांत मनुष्य के लिए एक आशाप्रद स्थिति का सूचक है। विज्ञान के ज्ञान और शक्ति से सुसज्जित मनुष्य को ईश्वर का यह मानव-रूप सह्य नहीं है। आज विज्ञान-तकनीक में तीव्र विकास के फलस्वरूप पश्चिम में मनुष्य अधिकाधिक विद्रोह के मार्ग पर आगे बढ़ रहा है। किन्तु विज्ञान के आधुनिक उत्कर्ष के भी पहले इस मार्ग के चुने जाने के कुछ ऐतिहासिक कारण थे। जिस प्राचीन मिश्र और पश्चिम एशिया के प्रभाव में यूरोप की पुरानी सभ्यताएँ थीं उस परम्परा का 'ईश्वर' स्वयं इन यूरोपीय सभ्यताओं के 'ईश्वर' से काफी पुराना पड़ता था और यह स्थिति इन सभ्यताओं के स्वाभिमान के अनुकूल नहीं थी। यही कारण था कि मिश्र के प्राचीनतम लेखबद्ध इतिहास की तुलना में हेरोडोटस ने अन्वेषणात्मक व समीक्षात्मक इतिहास पर बल दिया जिसका मूलाधार सन्देहवाद और बुद्धिवाद था। वस्तुतः इसे हम पाश्चात्य जगत् के ग्रीक, रोमन और आधुनिक बुद्धिवादियों द्वारा वहाँ अपने-अपने काल में प्रचलित लोक-धर्म (जो साधारणतः बाहर से आया) के विरोध की सामान्य प्रवृत्ति का ही एक विशिष्ट उदाहरण कह सकते हैं।

पाश्चात्य विचारधारा में ईश्वर की धारणा के बारे में यह भी एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि वह मनुष्य-सम्बन्धी धारणा का ही एक विशदीकृत रूप है। मानव-तत्त्व के रूप में ग्रीक 'बुद्धि' (नूस) और क्रिश्चियन परम्परा में 'संकल्प' (विल) इसी ढंग के मूल्यसूचक विशदीकरण हैं। आधुनिक वैज्ञानिक मानवतावादी दृष्टिकोण में उक्त बुद्धि का मूल्यनिरपेक्ष ज्ञान में और संकल्प का इच्छा में रूपान्तरण हो गया है। फलतः आधुनिक पाश्चात्य मनुष्य अपने-आप को अबौद्धिक प्रवृत्तियों (इच्छाओं) से संचालित पाता है, जबकि तार्किक वैज्ञानिक बुद्धि उसका दिशा-दर्शन करती है। इस तरह श्रद्धा-विरहित बुद्धि अंध-प्रवृत्तियों की मात्र ऐसी आवाज़ बन कर रह जाती है जो व्यवस्थित ढंग से उन्हें सन्तुष्ट कर सके। पाश्चात्य जनमानस की यही आन्तरिक, आध्यात्मिक असहायता वहाँ बार-बार अधिनायकवाद और खूनी क्रान्तियों के रूप में प्रकट हुई है। बुद्धि पर ऐकान्तिक जोर के कारण वहाँ सूक्ष्म आध्यात्मिक का त्याग कर भौतिक का ग्रहण हुआ है, तथा जैविक को पूर्णतः अबौद्धिक

मान लिया गया है और इसका परिणाम यह हुआ है कि जैविक अन्तर्विरोधपूर्ण है तथा बौद्धिक आध्यात्मिक-नैतिक लोक के प्रति अन्धता से ग्रस्त। इसी के फलस्वरूप एक ओर आत्मा को बुद्धि से एकीकृत और दूसरी ओर बुद्धि का शुद्ध आकारिकता से तादात्म्य मान लिया गया है। अवश्य इसी पाश्चात्य परम्परा में श्रेयस् की धारणा वाली बुद्धि (नूस) का भी, जो 'आकारों का आकार' है, स्थान रहा है तथा इसी में क्रिश्चियन 'प्रेम' की भी धारणा रही है, और ये दोनों ही मूलतः उच्चस्तरीय अनुभव के द्योतक हैं, किन्तु बुद्धिवाद के निरन्तर और प्रबल विरोध के कारण आज वे केवल प्रतीकमात्र बन कर रह गये हैं। बुद्धिवाद से पूर्णतः प्रभावित पाश्चात्य परम्परा के अन्तर्गत जीवन-पद्धति 'यह-अथवा-वह' की द्वन्द्वात्मक स्थिति वाली है। सम्भवतः इस द्वन्द्व का आधार उस परम्परा के मनस्-भौतिक (अन्तर्बाह्य) के बीच का असमन्वित द्वैत है, और यह द्वैत स्वयं उस ईश्वर-मनुष्य की ऐतिहासिक प्रतिद्वन्द्विता पर आधारित हो सकता है जो उस परम्परा में काफी गहरी पैठी हुई है।

८. अन्य समकालीन परम्पराएँ और समन्वय की समस्या

जैसाकि पहले कहा गया, पाश्चात्य परम्परा अनेक परम्पराओं में से एक है। उसमें प्रकृति की धारणा एक अशान्त समुद्र के रूप में की गई है—रहस्यमय और अज्ञात को अपने हृदय में छिपाने वाली और मानव-हृदय को आशंकाओं से उद्वेलित करने वाली। दूसरी ओर, चीनी परम्परा में प्रकृति पूर्णतः शान्त और समन्वित है। यहाँ प्रकृति के प्रति मानव-दृष्टिकोण अनुभूतिमूलक है, निरपेक्ष बुद्धिमूलक नहीं। प्रकृति संवेद्य अनुभवों की ठोस अन्तर्वस्तु है। इस सन्दर्भ में बौद्धिक वृत्ति वाली पाश्चात्य परम्परा में नितान्त अमूर्त भाषाओं के विकास की तुलना चीनी परम्परा में विकसित अत्यन्त ठोस चित्रलिपि वाली भाषा के उत्कर्ष से की जा सकती है। इसी तरह यह भी द्रष्टव्य है कि अभी भी चीन में तकनीकी ज्ञान केवल साधन रूप में मान्य है, पश्चिम की तरह जीवन-दर्शन के तत्त्व के रूप में नहीं। वस्तुस्थिति यह है कि पश्चिम में मनुष्य ने अपनी अपेक्षा प्रकृति को अधिक अच्छी तरह समझा है, जबकि चीन में ठीक इसके विपरीत हुआ है। पश्चिम में विज्ञान के प्रभुत्व के कारण मनुष्य का नैतिक व आध्यात्मिक जीवन लगातार सन्देह और अनास्था की ओर खिसकता चला गया है, वहाँ तत्त्वमीमांसा के बदले प्राकृतिक अनुभववाद का बोलबाला है। दूसरी ओर, चीन में विज्ञान की प्रगति के बावजूद ठोस मनुष्य-रूप केंद्र-भ्रष्ट नहीं हुआ है। अपनी सामाजिकता और पारंपरिकता के सहित वह अपने मूल रूप में सुरक्षित है। पश्चिम में ठोस मनुष्य किसी-न-किसी अमूर्त बौद्धिक सिद्धान्त के सामान्य ढाँचे में ढल कर अपना विशिष्ट अस्तित्व खो देता है, जबकि चीनी दृष्टिकोण के अन्तर्गत मानव-जीवन की ठोसता को नैतिक-अनुभूतिमूलक क्षितिज से परिवेष्टित कर वह विशिष्टता प्रदान की जाती है जो किसी बौद्धिक सामान्यीकरण का शिकार नहीं हो सकता। चीनी परम्परा अपनी इस सामाजिक बुद्धिमत्ता से विशिष्ट है : परिवार पूरे समाज का अणु-रूप है और प्रकृति की तरह एक व्यवस्थित समग्रता है। पश्चिम में समाज और सामाजिक इतिहास भी वैज्ञानिक अध्ययन का विषय बन गया है, क्योंकि वहाँ की मान्यता के अनुसार विज्ञान

व प्रकृति ही शक्ति व ज्ञान के स्रोत हैं। दूसरी ओर, चीन में आरम्भ से ही समाज और सामाजिक इतिहास का अध्ययन जीवन-कला और राज्य-शासन के सहायक तत्त्वों के रूप में होता रहा है। वस्तुतः वहाँ समाज की धारणा नैतिक सम्बन्धों वाले एक ठोस जगत् के रूप में की गई है। यही कारण है कि पश्चिम की तरह वहाँ क्रान्तियों या प्रशासनिक उलट-फेर को नैतिक मूल्यों में हेर-फेर के रूप में स्वीकार नहीं किया गया। चीनी दृष्टि में परम्परा स्वतः एक जीवंत यथार्थता है, जिसे अधिक व्यवस्थित और सुगठित करना मानव-विकास या प्रगति का लक्षण है। यहाँ तक कि आधुनिक कम्युनिस्ट चीन में भी परम्परा के प्रति यही मूल दृष्टि कायम है : वहाँ कम्यून की धारणा पारम्परिक परिवार की धारणा का ही विशिष्ट विस्तार है।

भारतीय परम्परा पश्चिमी और चीनी दोनों ही परम्पराओं से अपनी इस दृष्टि के कारण विशिष्ट है कि मनुष्य के लिए उच्चतम का बोध आवश्यक है। मानव–आत्मबोध के लिए न तो भौतिक और जैविक अर्थाभ्युपगम पर्याप्त है और न ही बौद्धिकता में उनका स्पष्टीकरण (जो विज्ञान या नैतिकता के सन्दर्भ वाला हो सकता है) पर्याप्त है। मनुष्य का अपना अन्तिम लक्ष्य न तो प्रकृति है और न ही समाज। प्रकृति पर विजय का अर्थ मानव-प्रकृति पर विजय होना चाहिए। इसी तरह निसर्ग या धर्म पर आधारित सामाजिक समन्वय को स्वयं अपने अन्दर अन्तर्दृष्टि द्वारा प्राप्त करना चाहिए जिससे सामाजिक सम्बन्धों का आधार सार्वभौम प्रेम और करुणा बन सके। मानव-जीवन का लक्ष्य समाज की कोई भावी विकसित आस्था नहीं है वरन् आत्मबोध में काल से परे निकल जाना है। यही 'परत्व' परमार्थ है; और चूँकि पूर्ण परत्व पूर्णतः व्यक्तिमूलक (आत्म-रूप) है, जो समस्त विविधता व विस्तार के मूल में है, परत्व की खोज मानव-भाव के विभिन्न स्तरों पर सक्रियता और सन्तोष की विरोधी नहीं है। किन्तु इन विविध स्तरों पर उपलब्ध मूल्य पुरुषार्थ होते हुए भी परमार्थ नहीं हैं, यद्यपि उन्हें भी प्रकाश इस परम मूल्यरूप परमार्थ से ही मिलता है। मूल भारतीय मनस् का यह रूप भारतीय परम्परा में निहित आश्रम के सिद्धान्त को उसके पुरुषार्थ के सिद्धान्त से जोड़ कर सहज ही देखा जा सकता है। इस दृष्टि से उसमें एकान्त अद्वैतवाद या सन्यासवाद पर दिया गया ज़ोर केवल दिशाभ्रम ही होगा।

यहाँ 'प्रगति' के सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि उसका जो आधुनिक रूप मान्य है वह वस्तुतः अत्यन्त विशिष्ट है और उसका सन्दर्भ पश्चिमी परम्परा है। आधुनिक धारणा के अनुसार प्रगति सभ्यता के विकास से जुड़ी हुई है, संस्कृति के विकास से नहीं। सभ्यता के मूल्य हैं जीवन-क्षमता और सम्पन्नता, अर्थात् भौतिक-ज्ञान के विकास द्वारा प्रकृति पर नियन्त्रण और सम्पत्ति की वृद्धि द्वारा अधिकाधिक ऐन्द्रिक सन्तुष्टि। दूसरी ओर, संस्कृति का सन्दर्भ उच्चतर मूल्यपरक है और तदनुसार इतिहास है। अर्थान्वेषण और ऐतिहासिक प्रक्रिया सृजनात्मक, सम्प्रेषणात्मक और समालोचनात्मक है। अतः श्री अरविन्द का यह मत बिल्कुल ठीक है कि सभ्यता की प्रगति के साथ हम उसमें संस्कृति के लिए संकट (आदिम स्थिति में लौटने का) पैदा हुआ या सकते हैं। (वस्तुतः वर्तमान भारतीय समाज के सन्दर्भ में सम्भवतः इसी प्रकार का सांस्कृतिक संकट पैदा हुआ है, क्योंकि उसका

प्रबुद्ध वर्ग अपने को अधिकाधिक जीवन-क्षमता और सपन्नता की खोज में खोता जा रहा है।)

६. भारतीय सामाजिक परम्परा

भारतीय परम्परा की सही जानकारी के लिए न तो उसके प्रदेश की जानकारी, न उसकी तकनीकी उपलब्धियों का ज्ञान और न ही उसकी जातिगत (आर्य-अनार्य, आदि) मूल का ज्ञान आवश्यक या पर्याप्त है। भारतीय समाज में आनुवंशिक सम्मिलन और सहवास के प्रमाण हरप्पा-मोहनजोदड़ो सभ्यता में भी मिलते हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद में आर्य-दास का भेद जातिगत भेद न होकर सांस्कृतिक भेद है। इन भेदों का रूप ठीक-ठीक न समझ पाने का कारण साधारणतः 'संस्कृति' को 'भाषा' और 'शरीर-लक्षण ज्ञान' के साथ गडमड कर देने की प्रवृत्ति रही है।

भारत का सही सांस्कृतिक एकीकृत रूप उसकी सामाजिक परम्परा में मिलता है। भारतीय सामाजिक परम्परा युगों से जीवित चली आयी है क्योंकि उसने इतिहास-प्रवाह में अपने-आप को इस या उस धारणा के साथ अनिवार्यरूपेण बाँध कर नहीं रखा। इसीलिए यहाँ प्रत्येक युग में धर्म के स्वरूप में परिवर्तन की मान्यता रही। फिर, आदि ग्रन्थों पर टीकाओं-व्याख्याओं का जो विशाल और सतत वृद्धिमान् भण्डार यहाँ उपलब्ध है उसके पीछे यही विचार है कि अवश्य मृत भूतकाल को भुला दिया जाय, किन्तु साथ ही जीवंत भूत को वर्तमान के अनुकूल और भविष्य की आकांक्षा के सन्दर्भ में नये रूप से ग्रहण किया जाय। तदनुसार इसमें सभी विशिष्ट संस्थाओं, आस्थाओं आदि का केवल सीमित व सापेक्षिक महत्त्व है; केवल सार्वभौम और नित्य आत्मा ही अमर और निरपेक्षतः ध्यातव्य, ज्ञातव्य और प्राप्तव्य है। अपनी वास्तविकता या इतिहास से तात्त्विक वैराग्य की यह प्रवृत्ति ही भारतीय परम्परा की अक्षय सततता का रहस्य है। इसे ही पहले आर्य-धर्म, सनातन-धर्म, सद्-धर्म आदि कहा गया; और यही कारण है कि उसकी ठीक-ठीक पहिचान आज के भौगोलिक-राजनीतिक 'भारत' के आधार से कर पाना मुश्किल है। उसे समझने का केवल एक ही मार्ग है—इस जीवंत परम्परा में हमारा अंशग्रहण, जिसे 'साधना' के नाम से जाना जाता है। रहस्य के प्रति फाउस्टीय प्रवृत्ति और चेष्टा के लेखे-जोखे के रूप में आधुनिक परम्परा (जो आज निरन्तर वृद्धिमान लोभ, श्रम व मानसिक परेशानी का कारण है) इस भारतीय परम्परा से बिल्कुल भिन्न है जो अर्जुन, बोधिसत्त्वों या गाँधी की आध्यात्मिक अनुभूतियों और चेष्टाओं का इतिहास है। बौद्धिकता के प्रवाह में बहने वाले पाश्चात्य मनस् के जीवन और दृष्टिकोण असामञ्जस्यपूर्ण अन्तर्विरोधों में फँस जाते हैं जिससे उसकी ऐकांतिक चयन की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है और फलतः जन-जीवन में क्रान्तिकारी तथा तीव्र गति वाले सामाजिक परिवर्तन घटते हैं। दूसरी ओर भारतीय परम्परा अपने सामाजिक सम्बन्धों को एकांत बौद्धिक चयन से परिचालित न कर अन्तर्बोध, समझौते और समन्वय पर बल देती है। नयी चुनौतियों का सामना पुराने साधनों को ठुकरा कर नहीं वरन् उनमें आवश्यक संशोधन कर किया जाता है। वह प्रकृति पर विजय के लिए उत्सुक नहीं वरन् एक स्तर (व्यवहार) पर उससे समझौते और अन्य स्तर (परमार्थ) पर उससे मुक्ति का आग्रही है। उसमें स्वतन्त्रता की उपलब्धि शक्ति से नहीं,

आत्म-निग्रह से होती है। कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व से सम्पन्न होकर भी भारतीय मनस् जंगल के एकान्त की पुकार सुन सकने की योग्यता रखता है। यहाँ तकनीकी व्यवस्था के साथ-साथ मूल नैतिक व्यवस्था को भी सक्रिय रखा जा सकता है।

भारतीय परम्परा को इस उक्ति के आधार से समझा जा सकता है : 'धर्मो रक्षति रक्षितः'। धर्म वह उच्च वृत्ति या मूल्य है जो मनुष्य अपनी अधोवृत्ति पर आरोपित करता है। आध्यात्मिक दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति इसे अपने अन्दर ढूँढ कर उसका स्वभावेन अनुगमन करता है जबकि जनसाधारण इसी का अनुगमन समाज द्वारा स्थापित कर्तव्यों के पालन के रूप में करता है। किसी भी स्थिति में इसे उन "चार आश्रमों" के सिद्धान्त में निहित माना जा सकता है जो वस्तुतः भारतीय परम्परा का मूल आशय व्यक्त करते हैं। काफी पहले से ही इनकी अवहेलना होती रही है, किन्तु इनकी असफलता का आंशिक कारण यह मान्यता भी है कि जीवन के गहरे आध्यात्मिक मूलाधारों में दृष्टि मात्र से जीवन की समस्याएँ हल हो जायंगी। अवश्य यहाँ मनुष्य के सन्दर्भ में तो धर्म को ठीक-ठीक समझ लिया गया है—धर्म, जो आन्तरिक बोध का रूप है, जो नीचे स्तर पर कर्त्तव्य-बोध के रूप में निषेध-नियम-मूलक होकर सक्रिय होता है तथा उच्च स्तर पर कल्याण, करुणा, प्रेम आदि रूपों में मानव-भाव का ही सक्रिय अंश बन जाता है। किन्तु यहाँ प्रकृति के सन्दर्भ वाले उस धर्म की अवहेलना हुई है जो बौद्धिक नियामकता के रूप में प्राकृतिक जगत् का आधार है। यहाँ तक कि कालान्तर में उसकी यथार्थता तक से इन्कार कर दिया गया। भारतीय परम्परा में व्यक्ति-सन्दर्भ से भविष्य-विशेष के प्रति उदासीनता का कारण यही अवहेलना है : प्रकृति को एक बार तत्त्वतः आगन्तुक मान लेने पर स्वयं मनुष्य पर भी उसके प्रभाव को केवल आगन्तुक माना गया और इसलिए इस दिशा में संश्लेषण-विश्लेषण की आवश्यकता नहीं समझी गई। पर इसके साथ-साथ हमें यह तथ्य स्मरण रखना चाहिए कि विदेशी आक्रमण और शासन की लम्बी अवधि में भारतीय परम्परा जीवित इसलिए रह सकी क्योंकि उसके अन्तर्गत मनुष्य-व्यवहार के क्षेत्र में 'धर्म' की दृष्टि स्पष्ट रही। पुनः, स्वतः धर्म की सततता के सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि वह केवल पारम्परिक नहीं है, शायद वैसा होने की स्थिति में वह विद्वेषपूर्ण वातावरण में अधिक समय तक जीवित भी नहीं रह पाती, वरन् उसकी सततता का एक प्रमुख कारण यह है कि इसके अन्तर्गत विविध कालों में वे सन्त (गाँधी, विनोबा आदि) होते रहे जिन्होंने इसमें आवश्यकतानुसार सुधार किये।

१०. परंपरा और आधुनिकता

आधुनिक काल में अत्यधिक तीव्र गति से होने वाले परिवर्त्तनों के कारण किसी भी परंपरा की सततता के प्रति शंका होना स्वाभाविक है। वह जिसे आजकल आधुनिकता कहा जाता है, सतत सर्जनात्मक परिवर्त्तन का ही नाम है। इसका सीधा प्रयोग पश्चिमी जन-समाजों की परंपरा में देखा जा सकता है, जहाँ वैज्ञानिक-तकनीकी-विकास द्वारा निश्चय ही उनका एक विशिष्ट रूप बन गया है। किंतु बृहत्तर एशियाई-अफ्रीकी समाजों की परंपरा में, जो अधिक प्राचीन हैं, वह आधुनिकीकरण पाश्चात्यीकरण के आरोपण का

ही रूप ले पाया है; और फलतः इन दो परंपराओं व संस्कृतियों के बीच संघर्ष की स्थिति पैदा हो गयी है।

किसी भी समाज में परंपरा का वही स्थान है जो व्यक्ति में स्मृति का होता है। परंपरा समाज में संस्थागत और शैक्षणिक सततता के रूप में जीवित रहती है और कालक्रम से उसमें नये तत्त्व जुड़ते रहते हैं। जिस गति से ये नये तत्त्व उसमें जुड़ते हैं उसी अनुपात में उसका भूतकालिक संदर्भ वाला अंश पीछे हटता चला जाता है; जबकि उसका जीवंत भूतकालिक पक्ष उसके वर्तमान में ही अंशभूत रहता है। प्रथम दृष्टि से परंपरा का स्मृत-रूप ऐतिहासिक स्मृति का होता है और द्वितीय के अर्थ में उसका स्मृत-रूप अंतःस्मृति का होता है। दोनों ही स्थितियों में वह जीवित संप्रेषण नहीं बन पाती, जबतक कि उक्त ऐतिहासिक प्रवृत्ति को किसी सोद्देश्य सांस्कृतिक प्रयास से प्रतिबद्ध नहीं किया जाता। उल्लेखनीय है कि भूतकालिक स्मृति के अलावा परंपरा एक और भी महत्त्वपूर्ण ढंग से स्मृति के रूप में सक्रिय होती है—राष्ट्रीय या सांस्कृतिक एकरूपता के बोध के रूप में। जिस समाज को अपने भूतकाल के साथ अपनी एकरूपता का बोध नहीं, उसकी कोई सांस्कृतिक या राष्ट्रीय चेतना भी असंभव है।

कभी-कभी कहा जाता है कि आधुनिक बनने के लिए हमें परंपरा का मोह छोड़ना ही होगा। इस धारणा के पीछे अपनी परपरा को पिछड़ा समझने की मान्यता स्पष्ट है। किंतु यह ग़लत है—सुन-यात-सेन या गाँधी को कभी अपने सांस्कृतिक पिछड़ेपन का बोध नहीं हुआ। अवश्य १९४७ के बाद से भारत में उन लोगों का प्रभाव बढ़ा है जो अपने-आपको 'अर्ध विकसित' समझते हैं और इसलिए विकास की पश्चिमी मान्यता के अनुकूल बनना श्रेयस्कर समझते हैं। पर वे ग़लती पर हैं : वे भूल जाते हैं कि अपने भूत और वर्तमान को समझने का मार्ग हमारी अपनी परपरा के क्षेत्र में से होकर गुज़रता है, और इसीलिए अपने मूल्य-बोध और भविष्य-दर्शन के लिए भी हमें अपनी परंपरा से ही संवादरत होना पड़ेगा। मूल्य-बोध पुरुष के क्रमिक विकास की तरह है जो क्रमशः स्फुटित होता है। परंपरा का सार-तत्त्व भी यही है, वह मूल्य के आधारभूत अनुभव का विकासमान संवाद है। अतः उचित यही है कि हम समाज का सही रूप उसकी आत्मचेतना या संस्कृति में ढूंढें उस संस्कृति में जो स्वतः विशिष्ट मूल्यबोध में प्रतिष्ठित होती है। यह उच्च मूल्य ही परमात्मा है और उसके संदर्भ वाला विशिष्ट अनुभव ही समाज की उस 'साँस्कृतिक विश्व-दृष्टि' का निर्धारण करता है जो समाज की संस्थाओं, आस्थाओं और प्रतीकों में अभिव्यक्ति पाती है। अतः परंपरा और आधुनिकता का संघर्ष वस्तुतः एकाधिक विशिष्ट मूल्यों व मूल्य-बोधों—परंपराओं—का ही संघर्ष है। पश्चिम में वह क्रिश्चियानिटी और वैज्ञानिक भौतिकवाद के बीच है तो भारत में वही भारतीय और पश्चिमी संस्कृतियों के बीच विरोध के रूप में उपस्थित है।

पश्चिम में सदैव एक ऐसी निरंकुश संरचना के प्रति मोह रहा है जिसमें सभी-कुछ समा जाय। ग्रीकों के नगर (पोलिस), मध्य युग के चर्च और आजकल के राष्ट्र या राजनीतिक दल के रूप में राज्य इसी तरह की संरचनाएँ हैं। इसी तरह वहाँ एक ही प्रणाली या प्रविधि को प्रामाणिक अथवा सत्य मानने की प्रवृत्ति रही है ... प्राचीन काल में नगर-धर्म,

मध्य काल में क्रिश्चियानिटी और आज विज्ञान के प्रति यही धारणा है। प्रमाण और सत्य के प्रति अपने इसी ऐकांतिक आग्रह के चलते ही पश्चिम ने सदैव, जब भी उसे मौका मिला, अपनी विश्व-दृष्टि, संस्थाओं, आस्थाओं, प्रतीकों, को दूसरों पर थोपना चाहा। ग्रीकों, रोमनों और क्रिश्चियनों ने यही किया और आज भी पश्चिमी राष्ट्र अपनी भौतिक सफलता और शक्ति के प्रताप से यही करने में संलग्न हैं, यद्यपि अधिक सूक्ष्मतापूर्वक। इतिहास-क्रम को एक सीधी रेखा में गतिमान समझने के पीछे भी मूलतः यही धारणा है। किंतु यह सब एक सांस्कृतिक दंभ है। सही वस्तु-स्थिति यह है कि वैज्ञानिक-तकनीकी विकास और भौतिक समृद्धि स्वतः मूल्य-निरपेक्ष हैं; किंतु चूंकि वे वातावरण में नये तत्त्वों का समावेश करने में समर्थ हैं, वे हमारे मूल्यों को नये रूपों में प्रस्तुत करने वाले प्रेरक तत्त्व का भी काम करते हैं। इसके विपरीत, यदि उन्हें स्वतः ही मूल्यों या मूल्य-बोध के रूप वाला मान लिया जाय तो सांस्कृतिक संघर्ष की स्थिति अवश्यम्भावी है।

आज पश्चिम में सर्वाधिक शक्तिशाली विज्ञान तथा तकनीकी-ज्ञान की परंपरा में १९वीं-२०वीं सदी के विकसित मानवतावाद का केंद्रीय स्थान है, जिसके अनुसार मनुष्य ईश्वर का पुत्र न होकर प्रकृति का प्राणी मात्र है, जो भाग्य द्वारा परिचालित न होकर अबौद्धिक कारणों व आकस्मिक घटना-प्रवाहों से परिचालित है। उसकी आध्यात्मिक चेतना बस यही समझने में है नकि किसी परम सत्य की कल्पना में। इसमें पराभौतिकी (तत्त्वमीमांसा) का पतन और व्यवहारवाद की प्रतिष्ठा है। यही आज का वैज्ञानिक मानवतावाद है, जिसकी सामाजिक-ऐतिहासिक जड़ इस प्राचीन धारणा में है कि समस्त अर्थों और मूल्यों का प्रतिमान मानव-बुद्धि व क्रिया है, जबकि जगत् अपने-आप में मूल्य-निरपेक्ष है। इसी धारणा से अंततः मानस में अबौद्धिकता, व्यर्थता, एकाकीपन और निरर्थकता के भाव पैदा होते हैं।

द्रष्टव्य है कि सभी प्राचीन समाजों—ग्रीक, भारतीय, चीनी आदि—में विज्ञान का विकास एक सीमा तक हुआ; क्योंकि ये समाज भौतिक सफलता और समृद्धि को एक सीमा तक ही श्रेयस्कर मानते थे। उनकी दृष्टि में अधिक श्रेयस्कर कोई दार्शनिक या अभौतिक आदर्श रहा जिसके सहारे मनुष्य का उच्चतर विकास हो सके। दूसरी ओर, आज की वैज्ञानिक और औद्योगिक क्रांतियां मानो अन्य सब-कुछ को डुबा देने के लिए ही पैदा हुई हैं। विज्ञान १७वीं सदी में ज्ञान की सार्वभौम विधि के रूप में अवतरित हुआ था और आज निरंतर कायाकल्प से पुष्ट हुआ वह ज्ञान का सार्वभौम प्रतिमान बना हुआ गरज रहा है। जिस तरह पहले के समाज प्रकृति—संबंधी अपने ज्ञान-विज्ञान को भी मनुष्य की आध्यात्मिक चेतना के ही रूप वाला मान लेने के कारण उस क्षेत्र में देवताओं, भूत-प्रेतों, उद्देश्यमूलक जैविकता आदि के आरोपण से पिछड़े रह गये उसी तरह, किंतु उससे ठीक उलटे, आज पाश्चात्य जगत् में ज्ञान का विपरीत प्रतिमान स्वीकार कर लेने से आध्यात्मिक क्षेत्र में भौतिक-ज्ञान के मापों की अनुपयुक्तता के कारण उसके अस्तित्व से ही इन्कार किया जाने लगा है और उसकी जगह सामाजिक विज्ञानों की दुहाई दी जाने लगी है।

सभी समाजों में, अर्थात् सभी सांस्कृतिक दृष्टिकोणों के संदर्भ में, विज्ञान-तकनीकी को एक-जैसा बढ़ावा मिल सकना संभव नहीं (जैसाकि पहले भी कहा जा चुका है)। अभी तक केवल पश्चिमी समाजों में उसे इस तरह का बढ़ावा मिल सका है कि वह वहाँ सतत

क्रांति और प्रगति की स्थिति में है, और अंततः सांस्कृतिक दृष्टिकोण में ही अंशभूत हो गया है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि भारत सहित दक्षिण-पूर्व एशियायी देशों में, जहाँ विज्ञान-तकनीकी को वैसा बढ़ावा नहीं मिला है, उसकी प्रतिष्ठा का अर्थ ही पाश्चात्यीकरण हो। और ठीक इसीलिए भारत जैसे देशों में सतत वैज्ञानिक क्रांति और उस पर आधारित सतत औद्योगिक क्रांति की संभावना न्यूनतम है। सतत औद्योगिक क्रांति को बनाये रखने के लिए जो मूल्य-चेतना ज़रूरी है वह अधिकाधिक सुविधा-सेवित भौतिकता-परक है। अर्थात् वह न केवल सतत वैज्ञानिक क्रांति पर वरन् साथ-साथ उस सतत सामाजिक क्रांति पर भी निर्भर है जिसमें आर्थिक मूल्यों की सर्वोपरिता, प्रतिस्पर्धा, संघर्ष और तीव्र परिवर्तन सामाजिक गति के लक्षण हैं। यह न्यूनतम आवश्यकता पर नहीं, अधिकतम आवश्यकता पर आधारित जीवन है। आधुनिक काल में जनता की राजनीतिक प्रतिष्ठा का भी औद्योगिक क्रांति के एक प्रेरक तत्त्व के रूप में निर्णायक हाथ रहा है। सीधा-साधा जन-कल्याण का दर्शन आज सर्वाधिक प्रभावकारी है, जिसके चलते उच्च मूल्यों के दर्शन फीके पड़ जाते हैं। अब समाज का परिचालन नैतिक नियमों से नहीं, वरन् उन नियमों से होता है जिन्हें मानने के लिए किसी संकल्प मूलक आत्म-संयम की बाध्यता नहीं होती, वरन् बहु-मत का भय होता है। आधुनिक राजनीतिक क्रिया-कलाप ही इस सरल मान्यता पर आधारित है : वह सब, जिससे जन-समर्थन मिल सके, विधि के रूप में प्रचलन के योग्य है।

आधुनिकता की धारणा के भीतर से हमें 'व्यक्ति' और 'स्वतंत्रता' की आवाज़ भी काफी तेज़ सुनाई देती है, अतः एक दृष्टि उन पर भी डालना आवश्यक है। वस्तुतः व्यक्तिवाद का आधार तथाकथित स्वतंत्रता का सिद्धांत है। मनुष्य धरती पर उच्चतम प्राणी है और मूलतः व्यक्तिरूप है। वह सभी कुछ का चरम प्रतिमान बनने में प्रवृत्त होता है। इस दृष्टि से उसे ही जन-नीतियों व कानूनों का भी अंतिम निर्णायक होना चाहिये। इसी तरह सतत वृद्धिमान् ज्ञान के क्षेत्र में भी उसे अपने सुझाव-सम्मति की स्वतंत्रता होनी चाहिये। इस क्षेत्र में ग्रीक दार्शनिकों का परिप्रेक्ष्य कुछ और था : मनुष्य को अपनी मूल स्वतंत्रता का उपयोग आत्म-ज्ञान के लिए करना चाहिये। उनके अनुसार, 'लोकमत' (उपनियम) और 'ज्ञान' के बीच आवश्यक भेद है; 'लोकमत' के अंतर्गत मनुष्य परछाइयों की दुनियाँ में रहता है, जहाँ से निकल कर उसे सत् की दुनियाँ में आना चाहिये। यह सत् की दुनियाँ अनुभव की अस्थिरता से दूर तत्त्व रूप बौद्धिक अभिधारणाओं की दुनियाँ है, जहाँ शाश्वत सत्य का बोध होता है। इधर आज भी पश्चिम में बौद्धिकता की दुहाई दी जा रही है किन्तु यह ग्रीकों की बौद्धिकता से बिलकुल भिन्न है। आज वह इंद्रियानुभवों द्वारा प्रदत्त परछाइयों के ही सूक्ष्म और सूक्ष्मतर विश्लेषणों में फँसी हुई है। प्रत्ययों या बौद्धिक अभि-धारणाओं द्वारा सत्य का आभास भी अब असंभव है : वे मात्र अर्थ-क्रिया के संदर्भ वाली रचनाएँ हैं, और इसलिए सत्य भी वही है जिससे सफलतापूर्वक सक्रिय रहा जा सके। तदनुसार अब व्यक्ति हैं कम या अधिक दक्षता वाले कारीगर। यह व्यक्ति का सामूहीकरण करने वाला दृष्टिकोण है, और अवश्य मनुष्य इसके विरुद्ध अपनी स्वतंत्रता की आवाज ऊँची कर सकता है। किंतु वस्तुतः वह ऐसा करता नहीं है, क्योंकि समूह के साथ रह कर ही उसकी सुविधाओं की सुरक्षा है।

इस तरह स्पष्ट है कि आधुनिकता की धारणा विरोधाभासों से परिपूर्ण है। वस्तुतः उसकी नींव ही बुद्धि और चेतना को प्राकृतिक कोटि रूप मानने के भ्रम पर रखी गई है। यदि हम सही ऐतिहासिक दृष्टि से उसे एक परंपरा के रूप में देखें तो तुरंत स्पष्ट होगा कि मानव-इतिहास में यह कोई अत्यंत विशिष्ट और अपरिहार्य चरण नहीं है, वरन् केवल एक प्रायोगिक स्थिति है जिसे लाँघ कर मनुष्य आगे बढ़ेगा। इस आधुनिक परंपरा की तुलना में एक आध्यात्मिक परंपरा है जो सभी समाजों में कमोबेश रूप में विद्यमान है, भारतीय समाज में सर्वाधिक सशक्त रूप में, और जो अभी भी उस ऐतिहासिक काल की प्रतीक्षा में है जहाँ उसे स्पष्ट और सार्वभौम अभिव्यक्ति मिल सके। आधुनिकता के अंतर्गत आध्यात्मिक तटस्थता स्वाभाविक है। और यह तटस्थता बीसवीं सदी से लिए नयी चीज़ भी नहीं है: बहुत पहले यह प्रकाश में आ चुकी थी, जब लियोनार्दो दा विंची ने केवल धर्म को छोड़ सभी क्षेत्रों में निपुणता हासिल की, जब मार्टिन लूथर ने मानव-संकल्प को नितांत पापयुक्त और इसलिए शुभ कार्य के अत्यंत अयोग्य बताया, जब फ्रांसिसी राज्य-क्रांति के आदर्श के रूप में एक ऐसे जनराज्य की कल्पना की गई जो बौद्धिकता का उपासक हो, जब रूसी क्रांति में धर्म को मिटा देने का व्रत लिया गया। इसी प्रवाह में आज भारत में भी धर्म की बात को प्रतिक्रियावादी समझा जाता है और पाश्चात्यीकरण की संभावना के संदर्भ में आध्यात्मिक तटस्थता की बात कही जाती है।

अवश्य आधुनिक सभ्यता मनुष्य के उस चिरकालीन प्रयास की ऐतिहासिक संपूर्ति है जो उसने भौतिक सुरक्षा और सामाजिक न्याय के लिए किया; और इस दृष्टि से अवश्य उसकी सफलता उल्लेखनीय है। किंतु तभी सम्भवतः यह अपने आध्यात्मिक स्रोत और मानव-लक्ष्य की दृष्टि से अभाव-वृत्ति वाली है और इसलिए मानव-इतिहास से संघर्ष की स्थिति में है। इससे न केवल धर्म पर ग्रहण लगा हुआ है वरन् ठीक उसी के फलस्वरूप मनुष्य की आंतरिक शांति भी नष्ट हो गई है और उसकी बाह्य शांति के लिए सतत खतरा पैदा हो गया है। अतः इस संघर्ष की स्थिति से बचने के लिए एकमात्र उपाय बस यही है कि मानव-जीवन में मूल्य-निरपेक्ष विज्ञान साधन-रूप से ग्राह्य हो, जबकि आध्यात्मिकता उसमें चरम मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित रहे: अर्जुन शर-संधान करें, पर सारथी कृष्ण ही बने रहें।

समीक्षा

पांडेजी द्वारा की गई संस्कृति की व्याख्या में स्पष्ट ही हीगेल-संप्रदाय के आदर्श-परम-सत्तावाद, बौद्ध-दर्शन के विज्ञानवाद और श्री अरविंद के मानव-चक्र-सिद्धांत का काफी प्रभाव है। दूसरी ओर, चूंकि पांडेजी इतिहासज्ञ भी हैं, उन्होंने कतिपय प्रसिद्ध आधुनिक इतिहासज्ञों —मुख्यतः स्पेंगलर और टॉयनबी—की संस्कृति-संबंधी व्याख्याओं का भी ध्यान रखा है। किंतु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि उनकी अपनी व्याख्या उपर्युक्त सभी दृष्टिकोणों या सिद्धांतों का एक सम्मिश्रण मात्र है। इसके विपरीत वस्तुस्थिति यह है कि उनकी स्वयं अपनी कुछ मूल-मान्यताएँ और उनका विशिष्ट प्रयोग है जिनके प्रकाश में ही उक्त विविध मतमतान्तरों का स्वस्थ समन्वय संभव हो पाया है। संक्षेप में, उनकी अपनी मूल मान्यताएँ इस प्रकार हैं: कि मनुष्य स्वरूपतः श्रद्धामय (आस्थामय) है, नकि बुद्धि या

श्रम (कर्म) से तत्त्वतः विशिष्ट (पृ० ५४)—अर्थात् मनुष्य की भाववत्ता का अनिवार्य लक्षण किसी-न-किसी उच्चतर भाव (मूल्य) की चेतना है, नकि वास्तविकता-मूलक विश्लेषणात्मक-संश्लेषणात्मक बौद्धिक चेतना, और न ही वास्तविकता की उपयोगमूलक ग्राह्यता के लिए किया जाने वाला मानव-कर्म और उसके संदर्भ में फल-चेतना। यहीं पांडेजी के लिए एक और मूल मान्यता भी आवश्यक हो उठती है, जिसे उन्होंने रहस्यवाद कहा है (पृ० ३२) और जिसका आशय है कि भौतिक-जगत् की वास्तविकता से तत्त्वतः अलग चेतन मानस का एक आत्मबोधात्मक जीवन्त जगत् है। संस्कृति का आधार यही आत्मबोधात्मक जीवन्त जगत् है, क्योंकि आत्मबोध अनिवार्यतः मूल्यविद्ध है। और इसीलिए पांडेजी के लिए एक और भी मूल मान्यता की स्वीकृति आवश्यक है—यह कि सत् की स्वयं अपनी निजरूप भाववत्ता सांस्कृतिक व ऐतिहासिक प्रक्रिया से परे है (पृ० ३३) जिसका सीधा-साधा अर्थ यह है कि मानव-विकास और संप्रेषण की प्रामाणिकता स्वयं शुद्ध आत्मबोध या सत् के स्वरूप पर आधारित है, किसी व्यक्ति-विशेष या समूह की इच्छा या कल्पना पर नहीं। अब हम इन मूल मान्यताओं और पांडेजी द्वारा इनके विशेष प्रयोग पर ज़रा विस्तार से विचार करेंगे।

स्पष्ट है कि स्वतः आत्मबोध में मानस्क्रियाओं के आधार से विकास मानना आत्मबोध को प्रकृति में होने वाली क्रिया-प्रतिक्रियामूलक गति से तत्त्वतः पृथक् रूप में प्रस्तुत करना है; क्योंकि प्रथम सदैव उद्देश्यमूलक आत्म-संपूर्ति के लिए होती है जबकि द्वितीय यांत्रिक क्रिया है जो कारणात्मक या आकस्मिक होती है। आत्म-संपूर्ति की दृष्टि से आत्म-बोध में भविष्य की चेतना का केंद्रीय स्थान रहता है, जबकि यांत्रिक गतिशीलता के कारण प्रकृति के संदर्भ वाला काल भूतकाल विशिष्ट (कारणात्मक अवगमन की स्थिति में) या वर्तमान कालविशिष्ट (आकस्मिकता की अवस्था में) होता है। अतः स्वाभाविक है कि आत्मबोध के संदर्भ में चेतना का विकास 'प्रगति' (प्र-गति, अर्थात् भविष्योन्मुख गति) कहलाये, जबकि प्रकृति में होने वाले परिवर्त्तन को केवल 'विकास' (ऐसा कारण मूलक परिवर्त्तन जिसमें उपर्युक्त 'प्रगति' का अर्थ न हो) कहा जाय। यह सब कहने में ऐसा लगता है जैसे हम कोई स्वतःसिद्ध बात कह रहे हों; वस्तुतः पांडेजी की उपर्युक्त द्वितीय मूल मान्यता का रूप यही है। किंतु बात सचमुच वैसी नहीं है। यह प्रश्न करना कि आखिर किस आधार पर हम आत्म-बोध की उद्देश्यमूलक क्रिया और प्रकृति की यांत्रिक गति के बीच तात्त्विक अंतर कर सकते हैं, एक पूर्णतः उचित प्रश्न है।

पांडेजी कहते हैं कि मनुष्य की आरंभिक चेतना में सूक्ष्म-भौतिक, जैविक तथा बौद्धिक स्तरों के अनुभवों और उन पर आधारित धारणाओं का सम्मिश्रण होता है। पाश्चात्य परंपरा में साधारणतः बुद्धि को जीव के साथ विशिष्टतः संलग्न माना जाता है, जैसे मनुष्य को 'बौद्धिक जीव' कहने से प्रकट है; किंतु भारतीय परंपरा में सामान्य प्रवृत्ति बुद्धि को सूक्ष्म प्राकृतिक मानने की रही है जिसके फलस्वरूप शुद्ध चेतना के अतिरिक्त जीव का पूर्णतः सूक्ष्म प्राकृतिक में ही अंतर्भाव हो जाता है। भारतीय परंपरा की इसी मूल धारणा पर पांडेजी की तीन मूल मान्यताएँ आधारित हैं, और प्रकटतः वे तीनों ही 'बुद्धि' के संबंध में एक विशिष्ट दृष्टिकोण की उपज हैं। अतः जब वे इन मूल मान्यताओं के आधार से बुद्धि

के संबंध में पश्चिमी धारणा की विवेचना करते हैं, उसमें कई भ्रमों के लिए अवकाश हो जाता है। जैसे यह कि, चूंकि यह बुद्धि भौतिक विशिष्ट 'मृत्यु' भाव और जैविक विशिष्ट 'जीवन-भाव' के द्वंद्व को क्रमशः प्रथम पर द्वितीय की विजय के रूप में बदलती जाती है, और इसी बीच स्वयं अपनी आकारिकता की वृद्धि करती जाती है, वह अंततः आध्यात्मिक रूप से तटस्थ और मूल्य-सर्जन (उच्चानुभव-अर्जन) की दृष्टि से बांझ हो जाती है; और यह भी कि इस बुद्धि की आकारिक क्रियाशीलता के फलस्वरूप संभव हुए विज्ञान-तकनीकी से आध्यात्मिकता का किसी-न-किसी प्रकार का तात्त्विक विरोध अनिवार्य है। मेरी दृष्टि में ये दोनों धारणाएँ ठीक नहीं—जैसाकि बाद में स्पष्ट होगा। अभी हमें देखना चाहिये कि बुद्धि के संबंध में ये दो परस्पर विपरीत दृष्टिकोण न केवल 'सांस्कृतिक प्रगति' और 'प्राकृतिक परिवर्त्तन' के अंतर का कारण समझाते हैं वरन् साथ ही यह भी दिखाते हैं कि इस अंतर को कई तरह से समझा जा सकता है। पश्चिम में शुद्ध चेतना, शुद्ध भाव, के प्रति अधिकाधिक उदासीनता (वस्तुतः प्राचीन ग्रीक दर्शन में पारमिनीडीज़ और हेराक्लितस के बाद से) का कारण यही है कि वहाँ किसी भी गति को अनिवार्यतः बुद्धि की गति-प्रक्रिया के आधार से समझा गया और इसलिए 'ज्ञान' की सर्वोच्च स्थिति (विज़डम) को शुद्ध सैद्धांतिक रूप वाला माना गया (देखिये, हुस्सर्ल का एक महत्त्वपूर्ण लेख 'फिनामिनॉलाज़ी एंड मॉडर्न यूरोपियन क्राइसिस')। यह बौद्धिक गति 'विश्लेषणात्मक-संश्लेषणात्मक' रूप से होती है, अर्थात् विश्लेषणात्मक संदर्भ से आकारिक विकास तथा संश्लेषणात्मक संदर्भ से आकारिक विकास तथा संश्लेषणात्मक संदर्भ से रचनात्मक या सर्जनात्मक विकास होता है: जैसे, प्रथम आधुनिक गणित-शास्त्र और तर्कशास्त्र में अभिव्यक्त है, जबकि द्वितीय विज्ञान की विविध शाखाओं में (संभवतः ललितकलाओं की आधुनिक प्रवृत्तियों में भी)। ये दोनों गतियाँ प्रायः साथ-साथ या आगे-पीछे होती हैं। अब यह देखना चाहिये कि बुद्धि की संश्लेषमूलक रचनात्मक गति केवल आकारिकता के सहारे आगे नहीं बढ़ सकती, क्योंकि शुद्ध आकारिक गति पूर्वमान्य की पुनरुक्ति मात्र है—केवल इसके सहारे किसी नयी चीज़ की उद्भावना असंभव है, जबकि प्रत्येक बौद्धिक संश्लेषमूलक रचना में कुछ नयापन होता है। यह नयापन उसे उस 'अंतर्दृष्टि' से मिलता है जो शुद्ध चेतना से एकरूप है। वैज्ञानिक विधि के अन्तर्गत 'अंतर्दृष्टि' का तत्त्व पूर्णतः मान्य है, और इसलिए ज्ञानरूप में विज्ञान को कभी पूर्णतः आध्यात्मिकता से तटस्थ नहीं माना जा सकता (आधुनिक फिनामिनालॉजिकीय दर्शन का यह एक प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है।) और यही कारण है कि वैज्ञानिक विकास को भी 'सांस्कृतिक प्रगति-परक' समझ लिया जाता है, यद्यपि उसकी क्षमता का पूर्ण रूप प्रकृति में परिवर्त्तन कर सकने या उसमें होने वाले परिवर्त्तनों को नियंत्रित कर सकने की उसकी शक्ति में प्रकट होता है। परंतु यह विज्ञान का अनुप्रयोग रूप तकनीकी है जिसे हमें स्वतः ज्ञानरूप विज्ञान से एकीकृत नहीं मानना चाहिये, यद्यपि वह उससे अनिवार्यतः संबंधित अवश्य है। और जब हम ज्ञानरूप विज्ञान को उसके अनुप्रयोग रूप तकनीक से पृथक् करते हैं तब हमें—पश्चिमी विज्ञानवादी परंपरा में भी 'सांस्कृतिक प्रगति' और 'प्राकृतिक परिवर्त्तन' का अंतर एक सीमित रूप में स्पष्ट होता दीख पड़ता है: प्रथम में बौद्धिक क्रिया के अंतर्गत अंतर्दृष्टि की उपस्थिति से तथा द्वितीय में बौद्धिक क्रिया की यांत्रिकता के कारण

(द्रष्टव्य है कि प्राकृतिक परिवर्त्तन को कारणात्मक या आकस्मिक समझना बौद्धिकता के ही कारण संभव है)।

दूसरी ओर, भारतीय परंपरा में बुद्धि के प्रकृति में ही अंशभूत होने की मान्यता के कारण बुद्धि अपनी विश्लेषणात्मक-संश्लेषणात्मक क्रिया के लिए स्वतंत्र अवश्य है किंतु चूंकि उसमें चेतना स्वत: अपने शुद्ध रूप की उपलब्धि की दिशा में स्पष्ट होती है इसलिए न तो बुद्धि की विश्लेषणमूलक आकारिकता की प्रवृत्ति को पर्याप्त बढ़ावा मिल पाता है और न ही उसकी संश्लेषमूलक रचनात्मकता को अंतश्चेतना या अंतर्द्दष्टि से पर्याप्त सहायता मिलती है। शायद यही कारण है कि भारत में बौद्धिक आकारिकता और रचनात्मक उपलब्धियाँ एक विशेष सीमा से आगे नहीं बढ़ सकी हैं जबकि वहीं आध्यात्मिकता का काफी विकास हुआ है। पांडेजी के द्वारा किया गया 'सांस्कृतिक प्रगति' और 'प्राकृतिक परिवर्त्तनों' का भेद इसी भारतीय दृष्टिकोण पर आधारित है जिसे उन्होंने क्रमश: मानसिक-काल और भौतिक-काल में क्रिया और गति में भेद से (वस्तुत: काल सम्बन्धी बौद्ध मतानुसार) समझाया है और कहा है कि प्रथम अनिवार्यत: उच्च मूल्य के संदर्भ वाला है जबकि द्वितीय में इस संदर्भ का अभाव होता है। यही कारण है कि उन्होंने 'विज्ञान-तकनीक' को मूलत: मूल्य-निरपेक्ष माना है, यद्यपि अवश्य वे इनसे सफलता और सम्पन्नता जैसे अपेक्षाकृत 'निम्नस्तरीय' मूल्यों को संलग्न मानते हैं। पर यहाँ पांडेजी के चिंतन में एक आधारभूत अस्पष्टता जान पड़ती है : सभी प्रकार के मूल्य, सफलता और सम्पन्नता सहित, अनिवार्यत: आत्मबोध मूलक होते हैं, और जहाँ भी आत्मबोधात्मक प्रक्रिया होती है वहाँ सांस्कृतिक चेतना अनिवार्य है और इसलिए ज्ञानरूप विज्ञान (भले ही वह सर्वोच्च ज्ञान न हो) कभी मूल्य-निरपेक्ष नहीं हो सकता (यद्यपि इस 'ज्ञान' से भिन्न समझे गये तकनीक की मूल्य-निरपेक्षता अवगम्य है)। संभवत: विज्ञान के संबंध में पांडेजी के विचार, विशेषत: जहाँ वे भारतीय संस्कृति से उसके संघर्ष की बात कहते हैं, पश्चिम और पूर्व की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के बीच ऐकान्तिक अंतर की धारणा पर आधारित हैं, जबकि मेरी दृष्टि में उनमें यह अंतर केवल इसलिए पैदा हुआ है क्योंकि उनमें बुद्धि की एकरूप क्रियाओं को दो पृथक् परिप्रेक्ष्यों से देखा गया है, और अन्य चीजें दोनों के समान हैं (यद्यपि ये—सूक्ष्म भौतिक व शुद्ध चेतना—समानरूपेण ग्राह्य नहीं हैं)। अत: यह सर्वथा संभव है कि कोई एक सांस्कृतिक स्थिति से दूसरी सांस्कृतिक स्थिति में संक्रमण करे और फिर भी अपनी मूल संस्कृति का परित्याग न करे। शायद आज पूर्व और पश्चिम में आगे सांस्कृतिक प्रगति कुछ इसी रूप में संभव है। किंतु स्मरणीय है कि सांस्कृतिक प्रगति की यह धारणा एकदम नयी नहीं है। पश्चिम के संदर्भ में यह बहुत पहले ही प्लेटो और साक्रेटीज़ द्वारा 'आत्म-ज्ञान' के आदर्श, सत् के स्मृति-ज्ञान के रूप में, रहा है जो अंतत: समग्र प्रत्ययों की एक श्रेणीबद्ध मूल्य-तालिका के रूप में अभिव्यक्ति पाता है। भारत में इसकी धारणा आश्रम-विशिष्ट पुरुषार्थों के रूप में की गई है, जिसकी ओर पांडेजी ने कई बार संकेत किया है, किंतु इनकी स्पष्ट विवेचना से कई ऐसी बातें मालूम हो सकती हैं जो शायद पांडेजी के किन्हीं मतों से मेल नहीं खातीं। आगे कुछ विस्तार में हम इनकी विवेचना करेंगे।

यह तथ्य महत्त्वपूर्ण और रोचक है कि पश्चिम में मनुष्य की चेतना में ही विशिष्ट हुई

बुद्धि ने वहाँ आध्यात्मिकता की राह में बाधाएँ डालीं, जबकि भारत में वह अचेतन प्रकृति में स्थित होकर भी आध्यात्मिकता की विरोधी नहीं बनी। इसका कारण हम समझ सकते हैं यदि हम ध्यान रखें कि पश्चिम में बुद्धि-विशिष्ट होकर ही मनुष्य अपने-आपको सब-कुछ का मापदंड बना सकने का साहस जुटा सका; बुद्धि ही यह मापदंड बनी और उसने प्रकृति के साथ-साथ अंततः चेतना को भी नाप कर अपने अनुकूल बना लिया। दूसरी ओर, भारतीय परंपरा में बुद्धि का प्रथम महत्त्वपूर्ण चरण एक निर्वैयक्तिक नैतिक व्यवस्था (ऋत) थी; आगे चल कर यह महाकाव्यों के काल में अपने पूर्ण रूप में एक मानवीय नैतिक व्यवस्था के रूप में विकसित हुई, जो और भी आगे धर्मशास्त्रों के काल में केवल सामाजिक व्यवस्था—आकारिकाता—में **समृद्ध** हुई, किंतु मानव-चेतना भी व्यक्ति-स्वातंत्र्य की दृष्टि से दीन बन कर रह गई। इसीलिए यह बाद वाला काल भारतीय इतिहास में आध्यात्मिक प्रगति की दृष्टि से ऊसर काल है; यद्यपि बौद्धिक आकारिकता में वृद्धि से संभवतः यह काल वैज्ञानिक-तकनीकी क्षेत्र (स्मरणीयः आर्यभट्ट का सूर्यसिद्धांत तथा आयुर्वेद, गणितशास्त्र, व्याकरणशास्त्र आदि क्षेत्रों में इस काल में उच्च विकास, तथा साथ ही नौविद्या, शस्त्रविद्या आदि के तकनीकी क्षेत्रों में इस कालान्तर्गत विशिष्ट विकास, जिसके चलते भारतीयों ने भारतीय उपनिवेश स्थापित किये) में सर्वाधिक उत्पादक काल रहा। अतः यह सोचना बिल्कुल तर्क-संगत है कि यदि इसी बीच प्रबल विदेशी आक्रमण और प्रशासन के विरोधी तत्त्व इस वर्धमान बौद्धिक प्रवृत्ति की राह में बाधा न बनते तो भारत में यह वैज्ञानिक-तकनीकी विकास और भी आगे चलता। वस्तुतः यह विकास भारतीय मूल संस्कृति की आध्यात्मिकता का विरोधी नहीं है, जैसाकि पांडेजी समझते प्रतीत होते हैं, क्योंकि यहाँ बुद्धि का उत्कर्ष जिस रूप में हुआ वह पश्चिम में उसके उत्कर्ष से बिल्कुल भिन्न है। यहाँ बुद्धि एक अलग प्रेरक तत्त्व के रूप में सर्वप्रथम महाकाव्यों के काल में उदित हुई, जहाँ उसका रूप नैतिक नियामकता का है, यद्यपि वहाँ ईश्वर की सशरीर उपस्थिति से उसकी प्रतिष्ठा आध्यात्मिक-तत्त्व पर की गई है (यह वैदिक कालीन सार्वभौम नियामक तत्त्व 'ऋत' का मानव-क्षेत्र में प्रयोग है, जिससे भारतीय संस्कृति में 'अवतारवाद' संभव हो पाया है)। आशय यह कि भारतीय संस्कृति में बौद्धिकता की प्रतिष्ठा के साथ-साथ मानव-चेष्टा और परिवेश के संदर्भ में, जो बुद्धि की क्रिया के क्षेत्र हैं, क्रमशः सफलता और सम्पन्नता को स्वतंत्र **ऐहिक** मूल्यों (पुरुषार्थ के रूप में काम और अर्थ) का रूप मिल चुका है; किंतु चूँकि उनका आधार अभी भी मूल आध्यात्मिकता है, उन्हें 'धर्म' के **अतिक्रामक** मूल्यों के सहारे परमार्थ (भावरूप आध्यात्मिक या शुद्ध चेतना) के **परम** मूल्य से संबंधित समझा गया है। किंतु इससे आगे के कालों में—जैसे धर्मशास्त्र काल में—जहाँ बुद्धि की क्षमता और शक्ति अपेक्षया बढ़ी हुई है, उपर्युक्त संबंध का स्वरूप क्रमशः शिथिल होता गया है, और यही कारण है कि एक ओर परमार्थ से संबंधित सन्यासाश्रम कलियुग में वर्जित-सा हो गया है और दूसरी ओर परमार्थ के भाव-रूप अभाव के कारण स्वतः धर्म को चरम आध्यात्मिकता के रूप वाला माना गया है। इसके विपरीत भारतीय संस्कृति का वैदिक काल है जहाँ ऐहिक, अतिक्रामक और परम मूल्य परस्पर इतने संश्लिष्ट हैं कि उन्हें पुरुषार्थों के रूप में अलग-अलग स्तर से समझने की आवश्यकता नहीं हुई है, न ही जीवन को आश्रमों में बाँटने पर जोर

दिया गया है। वस्तुतः वास्तविकता और आदर्श का इतना पूर्ण समन्वय उस काल में हुआ है कि उस काल के मनुष्य को ईश्वर की स्तुति में अपने लिए भोग्य पदार्थों की आकांक्षा व्यक्त करने में, यज्ञ (त्याग) में सोम-रूप आनंद के उपभोग में भी कोई अड़चन नहीं होती। यह अकारण नहीं कि भारतीय-संस्कृति के अंतर्गत वैदिक काल को 'सतयुग' समझा जाता है और उसे भारतीय संस्कृति का आधार माना जाता है। आज भी प्रायः वही स्थिति है, यद्यपि आज उपलब्ध भारतीय परंपरा में उस काल के केवल प्रतीक रह गये हैं (जैसे, 'ॐ', 'पुरुष', 'प्रकृति' आदि), जिनका मूल आध्यात्मिक अर्थ या तो लुप्त हो चुका है ('ॐ' जैसे प्रतीकों का), या सीमित हो गया है ('पुरुष' जैसे शब्दों का) या बिल्कुल परिवर्त्तित हो चुका है ('प्रकृति' आदि शब्दों का बिल्कुल नया प्रयोग प्रकृति-विज्ञानों के अंतर्गत)।

अब यह स्पष्ट किया जा सकता है कि क्यों पांडेजी विज्ञान-तकनीक को मूल्य-रूप में भारतीय संस्कृति की मूल-आध्यात्मिकता का विरोधी मानते हुए उसे केवल साधन के रूप में सीमित कर देना चाहते हैं। हम ऊपर दिखा आये हैं कि न तो आधारभूत पुरुषार्थों की धारणा से ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है, यदि ऐहिक मूल्यों (सफलता और सम्पन्नता के आदर्श) को परम मूल्य से धर्म के अतिक्रामक मूल्यों द्वारा संयुक्त किया जाय, और न ही भारतीय परंपरा में उस आकारिक बौद्धिकता की अनुपलब्धि है केवल जिसके सहारे विज्ञान-तकनीक आगे बढ़ते हैं। वस्तुतः यदि हम वैदिक धारणा का भी स्मरण रखें तो यह मानने का भी कोई कारण नहीं कि ऐहिक मूल्य किसी तरह 'निम्न-स्तरीय' हैं—जैसाकि पांडेजी समझते हैं। किंतु पांडेजी का यह दृष्टिकोण भारतीय सांस्कृतिक विकास की एक विशेष स्थिति पर आधारित है : बौद्धिकता में आकारिकता की वृद्धि के फलस्वरूप जब ऐहिक मूल्यों का परम मूल्य से संबंध शिथिल होने लगता है तब इन ऐहिक मूल्यों के प्रति मोह बढ़ता जाता है और उसी अनुपात में आध्यात्मिक अंधता मनुष्य में बढ़ती जाती है—इसकी शुरूआत हम महाकाव्यों के काल में ही देखते हैं जो अंततः परीक्षित के उदाहरण (कलियुग के आरंभ) में अपने पूर्ण रूप में प्रकट है—और यही वह काल है जहाँ भावरूप आध्यात्मिकता (परमार्थ) की जगह अभाव रूप आध्यात्मिकता (धर्म) को मिल जाती है, क्योंकि अंधता की स्थिति में उचित मार्ग-निर्देश केवल आदेश-निषेध-निर्देश के रूप में ही संभव है। इसी 'धर्म' का ऐकांतिक विरोध 'विज्ञान-तकनीक से होता है, जहाँ निषेध-मूलक आदेशात्मक-निर्देशात्मक दृष्टिकोण प्रत्येक इच्छा-पूर्ति और साधन-वृद्धि को आशंका और भय की दृष्टि से देखता है। इसकी तुलना में शुद्ध भावरूप आध्यात्मिकता, शुद्ध चेतना रूप ज्ञान की स्थिति है जिसकी सम्यक् उपलब्धि की दृष्टि से यह आवश्यक समझा गया है कि प्रथम कर्मरूप 'अ—ज्ञान' (=विज्ञान=असम्भूति=विनाश) द्वारा मृत्यु को पार किया जाय और फिर शुद्ध ज्ञान (=आत्म ज्ञान=सम्भूति) द्वारा अमृत का आनंद लिया जाय। (इस दृष्टिकोण की अद्‌भुत विवेचना ईशावास्योपनिषत् में मिलती है।) यहाँ स्पष्ट है कि भावरूप आध्यात्मिकता के प्रकाश में कर्म-अर्थ-संबंधी ज्ञान (अर्थात् विज्ञान) स्वतः मूल्य के रूप वाला है क्योंकि वह स्वतः अपने उद्देश्य या आदर्श से चालित है।

अब हम पांडेजी की तृतीय मूल मान्यता पर ज़रा विचार करें, अर्थात् उनके इस मत

पर कि सत् सांस्कृतिक या ऐतिहासिक प्रक्रिया से परे है (पृ० ३३)। इस मत में ऐसा-कुछ नहीं जिसे शुद्ध व्याख्या की दृष्टि से आपत्तिजनक माना जाय। किंतु पांडेजी ने इसका विकास और प्रयोग इस तरह किया है कि उसके निहितार्थ में कई मतभेदों के लिए जगह निकल आती है। इसका विकास उन्होंने हीगेल की इस धारणा के आधार से किया है कि सत् विविध-स्तरीय अनुभवों में कमोवेश व्यक्त होता है, और केवल धर्म के स्तर पर वह रहस्यमय अनूभूति के रूप में पूर्ण अभिव्यक्ति पाता है। इस पूरी प्रक्रिया में स्वत: सत् को भावरूप से स्वरूपस्थ समझने का कारण यह है कि यद्यपि अनुभव-प्रक्रिया में तात्त्विक उद्देश्यमूलता के कारण क्रमश: उच्च मूल्यों का उन्मेष संभव होता है, तथापि स्वतः ये मूल्य अनुभवों की प्रक्रिया के भीतर ही स्वतंत्ररूपेण संरचित नहीं होते और इसलिए मूल्यों के भाव के संबंध में यह विचित्र स्थिति पैदा होती है कि स्वतंत्र मानव-चेतना से अनिवार्यत: संलग्न होकर भी वे उस चेतना में अपचयित नहीं समझे जा सकते। अवश्य प्लेटो-साक्रेटीज़ प्रभृति ज्ञान के स्मृतिवादी सिद्धांत और हीगेल के परम मनस् के स्वयं ज्ञान के सिद्धांत के प्रकाश में इस तरह के संभावित अपचयन का रूप समझा जा सकता है किंतु यह संभावना इतनी रूक्ष या अवैयक्तिक है कि इसे साधारण मानव-मनस् के आदर्श-बोध की शक्ति और सीमा के परे मानना अनुचित नहीं। वस्तुत: ऐसा अपचयन प्रस्तुत संदर्भ में न केवल अनिवार्य नहीं है वरन् उसका वैसा न होना ही संस्कृति की सार्थक व्याख्या के लिए आवश्यक है; क्योंकि अन्यथा सांस्कृतिक उत्थान-पतन, सांस्कृतिक उत्क्रांति-जड़ता, तात्त्विक और आकस्मिक ऐतिहासिकता के लिए कोई प्रामाणिकता नहीं रहेगी। यहाँ तक तो सब ठीक है और पांडेजी के मत के अनुकूल है, किंतु जब वे इस आधार से सांस्कृतिक अर्थाभ्युपगों के संबंध में स्तर-भेद की चर्चा चलाते हैं, बात कुछ और हो जाती है। अवश्य उन्होंने स्वीकार किया है कि उनके पास सांस्कृतिक स्तर-भेद-मूलक अर्थाभ्युपमों के बारे में कोई पूर्णत: विकसित सिद्धांत नहीं है, किंतु वे समझते हैं कि मूल्यों के बीच स्तर-भेद मानना चाहिये (पृ० ३२)। उदाहरणार्थ वे कांट के शुद्ध अवगमनात्मक अर्थाभ्युपगों की कोटि से भिन्न समझेंगे—प्रथम प्राकृतिक अनुभव-संदर्भ वाला और द्वितीय आत्मचेतन अनुभव-क्रिया के संदर्भ वाला––और परम मूल्य के अर्थाभ्युपगम को इन दोनों ही प्रकार के अर्थाभ्युपगमों से उच्च मानेंगे। किंतु वस्तुस्थिति यह है कि ये स्तर, अपने शुद्ध अनुभव-रूप में, इतने झीने हैं कि साथ-साथ रख कर देखने से इनके बीच कोई सीमाएँ नज़र नहीं आतीं, जबकि पृथक्-पृथक् अनुभव-रूप होने से अवश्य उनमें अंतर्वस्तुमूलक भेद है। प्रथम स्थिति इससे स्पष्ट है कि स्वत: हीगेल के उच्चस्तरीय अर्थाभ्युपगम कांट के शुद्ध अवगमनात्मक अर्थाभ्युपगमों को इस तरह अपने अंदर समेट लेते हैं कि वे अपनी वृत्ति कायम रखते हुए भी भावरूपात्मक अर्थाभ्युपगमों से अलग-अलग नहीं रह पाते, और भारतीय परंपरा में परमार्थ (परम मूल्य) से ही अन्य पुरुषार्थों (मूल्यों) को स्थिर मूल्य की स्थिति मिलती है (जैसाकि मैंने अन्यत्र प्रतिपादित किया है, विशेष विस्तार के लिए देखें मेरा लेख 'प्रगति: एक विश्लेसण', तत्त्व-चिन्तन, अंक १, १९६७)। तात्पर्य यह कि स्वत: मूल्य की दृष्टि से, स्वत: सत् की निर्देशक अभिव्यक्ति की दृष्टि से, मूल्यों का स्तर-भेद कोई महत्त्व नहीं रखता; किंतु एक विशिष्ट अनुभव-प्रक्रिया से होकर गुज़रने वाली मानव-चेतना की

दृष्टि से अवश्य मूल्यों के बीच स्तर-भेद का एक सापेक्षिक महत्त्व होता है—सापेक्षिक इसलिए क्योंकि ऐतिहासिक प्रक्रिया के अंतर्गत वास्तविकीकृत मूल्यों का त्याग कर उच्चतर मूल्यों की उपलब्धि नहीं की जाती वरन् उच्चतर मूल्यों के प्रकाश में क्रमशः वास्तवीकृत मूल्यों का अर्थ भी बदलता रहता है; यहाँ तक कि परम मूल्य की वास्तवीकृत स्थिति तक पहुँची चेतना में भी पहले के वास्तवीकृत मूल्य एक विशिष्ट रूप में सक्रिय रहते हैं (द्रष्टव्य, **भगवद्गीता** में श्री कृष्ण द्वारा स्वयं अपनी सांसारिक सक्रियता के रूप की विवेचना)। इसका निहितार्थ यह है कि भावरूपेण मूल्य अनैतिहासिक सत् के रूप वाला होकर भी केवल ऐसे अनुभव में से और अनुभव के द्वारा प्रकाश में आता है जिसकी सप्रयास उपलब्धि करनी होती है और जिस उपलब्धि की स्थिति में मनुष्य को कभी नीचा नहीं देखना पड़ता—कर्मक्षेत्र के बाहर मूल्य उपलब्ध नहीं होते, और कर्मक्षेत्र के भीतर उनकी उपलब्धि से स्वतः कर्म में गुणात्मक विकास होता है, और पुनः कर्मक्षेत्र में मूल्य तभी उपलब्ध होते हैं जबकि वही कर्मक्षेत्र धर्मक्षेत्र भी हो। स्पष्ट है कि पांडेजी द्वारा संस्कृति के अर्थाभ्युगमों की पूरी विवेचना और भी अधिक विकास की अपेक्षा रखती है।

पांडेजी ने एक और भी महत्त्वपूर्ण बात यह कही है कि संस्कृति को केवल उसमें भागीदार होकर समझा जा सकता है, जो बिल्कुल ठीक है। किन्तु आश्चर्य यह है कि उन्होंने संस्कृति को जैविक या भौतिक प्रतिमान के आधार से समझने के पश्चमी प्रयास को वहाँ की आधुनिक सांस्कृतिक-आध्यात्मिक जड़ता (उसे केवल आध्यात्मिक तटस्थता कहना अपर्याप्त है) के प्रकाश में समझने का कोई यत्न नहीं किया। 'संस्कृति' की कोई सर्वमान्य परिभाषा न तो सम्भव है न ही उचित : उन्होंने ठीक ही कहा है कि वह स्वरूपेण परिभाषित है, अर्थात् प्रत्येक संस्कृति का पारिभाषिक रूप उसी में तत्त्वतः प्रकट है। अतः यह भी स्पष्ट है कि किन्हीं वस्तुतः दो भिन्न संस्कृतियों की परिभाषा एक नहीं हो सकती : इस तरह के कथन कि 'संस्कृति मूल्यों या आत्मबोध की परम्परा है, वस्तुतः हमारे लिए कोई अर्थ इसीलिए रखते हैं क्योंकि हम किसी विशेष सांस्कृतिक परम्परा में अपना स्थान समझते हैं—एक भारतीय भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में, एक चीनी चीनी सांस्कृतिक परम्परा में, एक पाश्चात्य पश्चिमी सांस्कृतिक परम्परा में। अवश्य कोई इतिहासज्ञ काल्पनिक भागीदारी से अपनी वास्तविक सांस्कृतिक परम्परा से अलग अन्य सांस्कृतिक परम्पराओं में भी हिस्सा ले सकता है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह संस्कृति की कोई ऐसी सर्वमान्य परिभाषा या समझ दे सकता है जो सभी संस्कृतियों पर समानरूपेण लागू हो। यदि पश्चिमी मनुष्य जैविक या भौतिक आधार से अपनी संस्कृति की समझ प्राप्त करता है तो उसे कभी गलत नहीं ठहराया जा सकता, जबतक कि उसके सांस्कृतिक जगत् में कोई गुणात्मक परिवर्त्तन न हो। जैसाकि पहले कहा गया, आधुनिक पाश्चात्य मनुष्य पारम्परिक रूप से भी अपने-आप को एक 'बौद्धिक जीव' रूप वाला समझता है—और इसी के अनुसार वह अपने लिए 'पादार्थिक या भौतिक जगत्' तथा 'सांस्कृतिक जगत्' का रूप स्थिर करता है, इस तरह कि वह अपनी बौद्धिक रचना की क्षमता द्वारा एक जगत् से दूसरे जगत् में स्वतन्त्रतापूर्वक संक्रमण कर सके, यहाँ तक कि सिद्धान्ततः एक जगत् का दूसरे में अंतर्भाव भी कर सके। यह बाद वाली सम्भावना ही वह स्थिति पैदा करती है जब

वह संस्कृति के लिए जैविक या भौतिक प्रतिमान प्रतुस्त करना अनुचित नहीं समझता। मूलतः यह एक सैद्धान्तिक प्रवृत्ति है जिसका आधार यह धारणा हैं कि वैज्ञानिक विधि ही ज्ञानोपलब्धि की सर्वोच्च विधि है। विज्ञान के एक क्षेत्र में (जैसे प्राणीविज्ञान, समाज-विज्ञान आदि में) यह विधि प्रधानतः साहृश्यमूलक है; जबकि एक अन्य क्षेत्र में (भौतिकी, गणितशास्त्र आदि में, जहाँ स्वयं मनुष्य गवेषणा का विषय नहीं) यही विधि प्रधानतः निगमनात्मक है। तनिक और ध्यान दें तो पायेंगे कि विज्ञान की वे शाखाएँ, जो सीधे स्वतः मनुष्य से सम्बन्धित हैं, प्रधानतः साहृश्यमूलक विधि का ही प्रयोग करती हैं, यद्यपि वहाँ भी साधारण मान्यता यही है कि शुद्ध और निश्चित ज्ञान के लिए निगमनात्मक विधि आवश्यक (यद्यपि सदैव पर्याप्त नहीं) है। अतः यह केवल अत्यन्त स्वाभाविक है कि विज्ञान की विधि से पूर्णतः प्रभावित पश्चिमी बुद्धिजीवी संस्कृति और इतिहास जैसे मानव-क्षेत्रीय विषयों को जैविक जीवन के संरचनात्मक साहृश्य के आधार से समझने की चेष्टा करें, या फिर यदि वे अधिक महत्त्वाकांक्षी हैं तो भौतिक वास्तविकता की अधिक आधारभूत संरचना में संस्कृति और इतिहास के आधारभूत प्रत्ययों का अन्तर्भाव कर दें। व्याख्या के इन दोनों ही प्रकारों के बीच यह मान्यता समान है कि मूल्य अतात्त्विक और सापेक्ष होते हैं, और इसलिए वर्तमान मूल्यों में अपरिवर्त्तन की स्थिति ही सांस्कृतिक जड़ता या अवरोध का कारण है। चाहे जैविक प्रतिमानवादी हों या भौतिक प्रतिमानवादी, चाहे नीट्शे हो चाहे मार्क्स, वे सभी मानते हैं कि सप्रयास परिवर्त्तन सांस्कृतिक जगत् के जीवन के लिए अनिवार्य है। मूल्य भी एक सार्वभौम प्रक्रिया द्वारा जन्म लें और मरें, जबतक कि ऐसे अपेक्षया स्थिर मूल्यों की प्रतिष्ठा न हो जाय जिनकी उद्भावना के लिए उस प्रक्रिया का आरम्भ हुआ। संस्कृति और इतिहास इसी प्रक्रिया का नाम है, मानव-दृष्टि से सोद्देश्य, किन्तु जीवन-चक्र या परिर्त्तन-चक्र की दृष्टि से यांत्रिक; और चूँकि पश्चिम में संस्कृति और इतिहास की यह प्रक्रिया अभी भी गतिमान् है, यह मानने का उचित आधार नहीं है कि वहाँ की सांस्कृतिक धारा में सफलता और सम्पन्नता को परम मूल्य की मान्यता मिल चुकी है। वस्तुस्थिति वहाँ प्रकट सांस्कृतिक जड़ता के बावजूद इतनी गम्भीर नहीं है; क्योंकि सफलता और सम्पन्नता की स्पृहणीय प्रतिष्ठा के चलते, शायद उसी के कारण, वहाँ अन्दर-बाहर का द्वन्द्व, मानसिक अलगाव और उद्देश्यशून्यता की तीव्रता इतनी विस्तृत और बढ़ी-चढ़ी है कि वहाँ निकट भविष्य में 'सांस्कृतिक क्रान्ति' अनिवार्य है। वैसे इसकी सैद्धान्तिक भूमिका पहले भी अतिमानव के उच्च संकल्प या सामाजिक न्याय और समता के रूप में रखी जा चुकी है और ये दोनों ही मानव-भाव में ऐसे गुणात्मक परिवर्तन की अपेक्षा रखते हैं जिससे शुद्ध आन्तरिकता या आध्यात्मिकता का विकास (सांस्कृतिक प्रगति) सम्भव है।

सारांश यह है कि संस्कृतियों की टकराहट या संघर्ष, चाहे वह पश्चिम में भौतिकवाद और धर्म के बीच हो या भारत में पारम्परिकता और तथाकथित आधुनिकता के बीच हो, केवल एक ऐसी ऐतिहासिक स्थिति है जिसमें नये मूल्यों के उन्मेष और प्रतिष्ठा द्वारा सांस्कृतिक प्रगति का अवसर उपस्थित होता है। और यह केवल इसलिए सम्भव हो पाता है क्योंकि संस्कृतियाँ एक ऐसी 'विश्वदृष्टि' की उद्भावना में लगी होती हैं जिसकी मूल्यवत्ता

सार्वभौम हो सके : अतः 'सांस्कृतिक ढंग' केवल वहीं उपस्थित होता है जहाँ किसी एक विशिष्ट ऐतिहासिक सांस्कृतिक स्थिति को ही सार्वभौम मान लिया गया है, और स्पष्ट ही पश्चिम में यही ढंग १८वीं सदी, १९वीं सदी और वर्तमान २०वीं सदी के प्रथम अर्धांश तक बड़ा प्रबल रहा है। भारत में भी अभी यह प्रवृत्ति किसी न किसी रूप में प्रकट है और यही कारण है यहाँ का बुद्धिजीवी वर्ग अपने-आप को 'या तो यह या वह' : या तो पश्चिमी सभ्यता-संस्कृति या भारतीय परम्परा : के द्वन्द्व से मुक्त नहीं कर पाता, और फलतः या तो उसे आत्म-वंचना में पड़ना होता है या फिर विशेष प्रकार की उपलब्धियों (भौतिक सफलता और सम्पन्नता) से वंचित रहना होता है। किन्तु ये दोनों ही आवश्यक नहीं हैं, और वस्तुतः भारतीय संस्कृति को ठीक-ठीक न समझने से ही वे उत्पन्न होती हैं। सामान्य रूप से किसी भी संस्कृति के बारे में यह कहा जा सकता है कि उसमें उत्पन्न होने वाला प्रत्येक गतिरोध इस बात का सूचक है कि उसकी परम्परा जारी रखने वाले बुद्धिजीवियों ने कहीं-न-कहीं उसकी व्याख्या में ग़लती की है और उसे ठीक किया जाना चाहिए जिससे कि उसमें नये मूल्यों की उपलब्धि का मार्ग खुल सके। यह द्रष्टव्य है कि आध्यात्मिकता के राजमार्ग पर अग्रसर मन के रथ के सारथी कृष्ण भी अपने नर-रूप अर्जुन का शर-संधान युद्ध-जय और राज्योपभोग (सफलता और सम्पन्नता) के लिए ही चाहते थे।

विश्वभारती, शान्ति निकेतन

श्रामण्य और निर्वाण का लोकव्यवस्था से सम्बन्ध

हर्षनारायण

लोक में शास्ताओं की कमी नहीं रही है। किन्तु लोक का दायित्व वहन करने का साहस और सामर्थ्य विरलों में ही दृष्टिगत होता है। घोर अराजकता से त्रस्त मानवता ने जब वैवस्वत मनु से राजा बनने का आग्रह किया तो वे प्रस्ताव टाल न सके और अन्ततः उन्होंने राज्य का दायित्व स्वीकार कर लिया।[1] प्लातोन के दार्शनिक भी राज्य की धुरी संभालने का जनता का आग्रह अन्ततः स्वीकार ही कर लेते हैं। मुहम्मद ने इस्लाम का प्रभुत्व स्थापित हो जाने के बाद उसकी देखरेख दूसरों को सौंप कर सन्यास नहीं ले लिया, अपितु शासन-सूत्र स्वयं संभालते हुए उसका पूरा दायित्व झेला। ईसा को एक बार राज्य-सत्ता संभालने के लिए आहूत किया गया, किन्तु वे पर्वतों में भागते फिरे।[2] मार्क्स की दायित्व-चेतना ने उसे क्रान्ति के प्रयत्नों में संलग्न कर दिया। गांधी ने क्रान्ति के सूत्रधार की भूमिका निभायी, किन्तु राष्ट्र की धुरी संभालने का अवसर उपस्थित होने पर वे उसे अन्यों के कन्धों पर डाल कर विरत हो गये—उनके कन्धों पर जिन्हें उनके जीवन-दर्शन में आस्था ही नहीं थी। इस प्रकार राष्ट्र एक बहुत बड़े सांस्कृतिक-राजनीतिक प्रयोग से वञ्चित रह गया। साक्षात् कर्मयोग के मार्ग से विरत और सामाजिक जीवन से अत्यन्त निवृत्त श्री अरविन्द की भी यही दशा कही जा सकती है। इसी प्रकार बुद्ध जब बोधि-वृक्ष के तले ध्यानमग्न थे तब उन्हें सूचना मिली कि देवदत्त ने कपिलवस्तु पर अधिकार करके उनकी भार्याओं को स्वायत्त कर लिया है और शुद्धोदन को कारागार में डाल दिया है। इस उपद्रव की शान्ति के लिए बुद्ध को आहूत किया गया। किन्तु उनके मन में विचार आया कि देवदत्त का कृत्य काम और द्वेषभाव की उपज है और शाक्यों ने कायरता का परिचय दिया है, और यह सब हेय है, संसार ही हेय है। अतः इसके स्थान पर कि वे कपिलवस्तु की दुःस्थिति सुधारने की चेष्टा करते, उनका वैराग्य और दृढ़ हो गया। वस्तुतः मूल्यों का उपदेश देकर विरत हो जाना सरल है, महत्त्व उन्हें कल्पनाकाश से व्यवहार-भूमि पर लाने, उन्हें संस्थाबद्ध करने, उनके द्वारा लोकव्यवस्था सम्पन्न करने, में है। ब्रह्म और क्षत्र के समन्वय का आदर्श शाश्वत आदर्श है।

अस्तु, उक्त कथाओं से लोकव्यवस्था के सम्बन्ध में दो प्रकार के दृष्टिकोण उभरते हैं। एक दृष्टिकोण के अनुसार लोकव्यवस्था उपादेय है, जबकि दूसरे के अनुसार वह हेय और उपेक्षणीय है। संसार की स्थिति सुधार कर लोक-श्री की अभिवृद्धि की बात बुद्ध की दृष्टि में गौण प्रतीत होती है। वे ईर्ष्या-द्वेष, काम-क्रोध, से भरे संसार की समस्याओं, न्याय-अन्याय के प्रश्नों, को ध्यातव्य ही नहीं समझते प्रतीत होते हैं। गीता के कृष्ण लोकव्यवस्था को गम्भीरता से लेते हैं, अतः वे अर्जुन को आततायी-आततायी के विरुद्ध युद्ध

में प्रवृत्त करके ही दम लेते हैं। यहां इससे कोई अन्तर नहीं आता कि बुद्ध-सम्बन्धी उक्त कथा में कपिलवस्तु के उपद्रव की सूचना में मार का षड्यन्त्र था। कृष्ण भी अपने को विधि-निषेध से परे मानते प्रतीत होते हैं, किन्तु लोकव्यवस्था के हित में वे कर्मक्षेत्र में उतरना वरण करते हैं--

उत्सीदेदिमे लोका, न कुर्यां कर्म चेदहम्
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥[३]

जैसे ईसा ने ईश्वरीय राज्य और सीज़रीय राज्य में गठबन्धन वर्जित किया है वैसे ही बुद्ध के विषय में समझना चाहिए। बुद्ध के पिता, माता, पत्नी, पुत्र और शाक्य राजकुमारों के एक बड़े समुदाय ने अपना भौतिक ऐश्वर्य त्याग कर भिक्षु बनना पसन्द किया। हां, अशोक, कनिष्क जैसे सम्राटों तथा कई अन्य राजाओं ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने आत्मानुशासन से अधिक लोकानुशासन को गौरव दिया। यह भी ज्ञातव्य है कि अशोक के शिलालेखों में 'निब्बान' का नाम तक नहीं; उनमें सदाचरण और पुण्य-संभार का फल लौकिक तथा पारलौकिक कल्याण बतलाया गया है।

बौद्ध धर्म घोर वैराग्यवादी, निवृत्तिवादी धर्म है। इसका विनयपिटक केवल भिक्षुओं के लिए है। बौद्ध धर्म ने उपासकों और गृहस्थों को कोई धर्मशास्त्र नहीं दिया है। दीघनिकाय के तृतीय, पाथिक-वग्ग के नवम्, सिंगालवाद-सुत्त में बुद्ध ने छह दिशाओं को नमस्कार करने वाले ब्राह्मण को छह प्रकार के कर्तव्यों के पालन द्वारा दिशाओं को नमस्कार करने की जो विधि बतायी है उससे उपासकों को कुछ शिक्षा अवश्य मिलती है। उनके द्वारा उपदिष्ट कर्तव्य-षट्क यह है--पिता का कर्तव्य पुत्र के प्रति और पुत्र का पिता के प्रति, शिष्य का गुरु के प्रति और गुरु का शिष्य के प्रति, पति का पत्नी के प्रति और पत्नी का पति के प्रति, मित्र का मित्रों के प्रति और मित्रों का उस मित्र के प्रति, स्वामी का सेवकों के प्रति और सेवकों का स्वामी के प्रति, उपासकों का भिक्षुओं के प्रति और भिक्षुओं का उपासकों के प्रति। किन्तु इस प्रकार के छिटपुट अपवादभूत उपदेशों से लोकव्यवस्था नहीं बनती। बौद्ध धर्म द्वारा अनागरिक भिक्षु-जीवन की गार्हस्थ्य से श्रेष्ठता का भूरि-भूरि प्रतिपादन सिद्ध करता है कि उसका मूल स्वर लोकव्यवस्था-निरपेक्ष वैराग्यवाद ही है। भिक्षु बनाने की प्रक्रिया समाज-निरपेक्षकरण की प्रक्रिया नहीं तो और क्या है? वस्तुतः उसमें उपासक-जीवन को अनुकम्पापूर्वक सहन ही किया गया है, प्रोत्साहित नहीं किया गया है। यह सही है कि बुद्ध ने कहा है कि लोक से वैसी ही ममता रखनी चाहिए जैसी माता अपने इकलौते पुत्र से रखती है और कि सबसे मैत्री की भावना होनी चाहिए--

माता यथा नियं पुत्तं आयुसा एकपुत्तमनुरक्खे,
एवं पि सब्बभूतेसु मानसं भावये अपरिमाणं ॥
मेत्तं च सब्बलोकस्मिं मानसं भावये अपरिमाणं ।
उद्धं, अधो च, तिरियं च असम्बाधं अवेरमसपत्तं ॥[४]

किन्तु यह वैसा ही हुआ जैसे कोई 'अत्तदीपो भव' जैसे वचन के आधार पर बुद्ध को आत्मवादी घोषित करे। सामान्य नीति-नियमों का उपदेश और बात है और लोकव्यवस्था-

पन और ही। लोकव्यवस्था वस्तुतः राग और ममता का खेल है, जबकि बुद्ध राग और ममता के उच्छेद का उपदेश करते हैं। मैत्री और करुणा वैदिक धर्म में केवल उपदेश की वस्तु नहीं हैं, उन्हें लोकव्यवस्था का अभिन्न अङ्ग बनाने के निमित्त पञ्च महायज्ञों द्वारा संस्थाबद्ध करने की चेष्टा की गयी है। वैदिक धर्म में गार्हस्थ्य को आश्रमों में ज्येष्ठ बतलाकर उसका विरुद गान किया गया है--

> यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः,
> तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ।।
> यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्
> गृहस्थेनैव धार्यन्ते, तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ।।[५]

मनु यहाँ तक कह जाते हैं कि गार्हस्थ्य के कर्तव्यों का भलीभाँति पालन किये बिना, ऋणत्रय का सम्यक् निर्मोचन किये बिना, सन्यास आश्रम में प्रवेश करने से मनुष्य नरक का भागी होता है--

> ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्,
> अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ।।
> अधीत्य विधिवद् वेदान्, पुत्रानुत्पाद्य धर्मतः,
> इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर् मनो मोक्षे निवेशयेत् ।।
> अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान्,
> अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश् च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ।।[६]

बौद्ध धर्म में ऋणत्रय की कल्पना नितान्त शून्य है। यह कल्पना कि समाज-धारणा में योगदान प्रत्येक मनुष्य का धार्मिक कर्तव्य है, कि लोक का 'संग्रह होना चाहिए नकि उच्छेद, कि प्रजातन्तु को टूटने नहीं देना चाहिए, वैराग्यवाद से सर्वथा बेमेल है।

वैदिक धर्म में पुरुषार्थों, मानों, मूल्यों का वर्गीकरण चार शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है--धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। यह वर्गीकरण प्रवृत्ति, भोग और वैराग्य, लोक और परलोक के सुन्दर समन्वय पर प्रतिष्ठित है। किन्तु वैराग्यवादी धर्म इस पुरुषार्थ-चतुष्टय में से केवल धर्म और मोक्ष को मान्यता दे सकते हैं; वे अर्थ और काम को सहन तो कर सकते हैं किन्तु उन्हें परम पद की प्राप्ति में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सहायक कथमपि स्वीकार नहीं कर सकते। तैत्तिरीयोपनिषद् का आदेश है--प्रजातन्तु को टूटने न दो (प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः)।[७] बुद्ध ऐसे उपदेश का दायित्व लेने को तैयार नहीं दिखायी देते। उन्हें सन्तति के सातत्य में कोई रुचि नहीं। बल्कि उनका स्पष्ट उपदेश है कि पुत्र, धन और राज्य की इच्छा ही नहीं करनी चाहिए, न अपने लिए, न दूसरे के लिए--

> न अत्तहेतु न परस्स हेतु न पुत्तमिच्छे, न धनं, न रट्ठं।
> न इच्छेय्य अधम्मेन समिद्धिमत्तनो--स सीलवा, पञ्ञवा, धम्मिको सिया ।।[८]

वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि लोक का संवर्द्धन करना ही नहीं चाहिए --

हीनं धम्मं न सेवेय्य, पमादेन न संवसे,
मिच्छादिट्ठि न सेवेय्य, न सियालोकवड्ढनो ।।[९]

शङ्कर का कहना है कि ब्रह्मज्ञान हो जाने पर हमारा कोई भी कर्तव्य नहीं रह जाता है और कि यह नैष्कर्म्य हमारा दूषण नहीं भूषण है (अलङ्कारो ह्यस्माकं यद् ब्रह्मावगतौ सत्यां सर्वकर्तव्यताहानि:) ।[१०] ठीक इसी स्वर में नागार्जुन का कहना है कि कर्म तो अज्ञानी करता है, जिसे तत्त्वदर्शन हो गया उसे कोई कर्म नहीं करना होता--

अखिद्वान्कारकस् तस्मान्, न विद्वांस् तत्त्वदर्शनात् ।।[११]

चन्द्रकीर्ति भी लिखता है—'न क्वचिद् धर्मे मुह्यति, अमूढश् च कर्म न करोति ।'[१२] अत: लोकव्यवस्था अज्ञानियों की चीज़ होकर रह जाती है ।

बुद्ध की लोकव्यवस्था के प्रति उदासीनता का सीधा अर्थ तो यही निकलता है कि उनकी दृष्टि में लोक का कोई महत्त्व नहीं था । कहने वाले यह भी कह सकते हैं कि बौद्ध धर्म मूलत: भिक्षु-धर्म के रूप में उभरा, जिसकी श्रौत-स्मार्त धर्म से कोई प्रतिस्पर्धा अथवा विरोध न था । बौद्ध धर्म भिक्षुओं के लिए था और श्रौत-स्मार्त धर्म मुख्यत: गृहस्थों के लिए । चूंकि गृहस्थों के लिए विधि-निषेध उपस्थित ही थे, अत: बौद्ध धर्म को इस विषय में कुछ भी करणीय नहीं था । बुद्ध-धर्म वस्तुत: कोई स्वतन्त्र, सर्वाङ्गपूर्ण, स्वत:पूर्ण धर्म न होकर श्रौत-स्मार्त परम्परा में विकसित एक सम्प्रदाय मात्र था । उसकी हैसियत वैदिक धर्म रूपी आधार के आधेय (सुपर-स्ट्रक्चर) की सी थी । हो सकता है कि इस दृष्टिकोण में बल हो, किन्तु यह मानना ही होगा कि बुद्धोत्तर बौद्ध धर्म वैदिक परम्परा से अधिकाधिक स्वतन्त्र होता गया है, चाहे माहायानिक तत्त्वज्ञान वेदान्त के सन्निकट ही क्यों न पहुँच गया हो ।

बौद्ध धर्म में लोकव्यवस्थापरक आगम, धर्मशास्त्र, के अभाव तथा बौद्धों की एतद्विषयक परमुखापेक्षिता की कई दार्शनिकों ने खिल्ली उड़ायी है । वाचस्पतिमिश्र का कथन है कि बौद्धागम में न तो लोकव्यवस्था के लिए कोई विधान है और न वैयक्तिक अथवा पारिवारिक संस्कार के लिए कोई योजना । अत: बौद्धों को विवश होकर लोकयात्रा के लिए श्रुति-स्मृति का अनुसरण करना पड़ता है—'न चैतेषामागमा वर्णाश्रमाचारव्यवस्थाहेतवो, नो खलु निषेकाद्या: क्रिया: श्मशानान्ता: प्रजानामेते विदधति । न हि प्रमाणीकृतबौद्धाद्यागमा अपि लोकयात्रायां श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणनिरपेक्षागममात्रेण प्रवर्तन्ते । अपितु तेऽपि सांवृतमेतदिति ब्रुवाणा लोकयात्रायां श्रुत्यादीनेवानुसरन्ति ।'[१३] जयन्त भट्ट का कथन है कि बौद्ध आदि वैदिक मर्यादा के प्रभाव में ही चाण्डाल आदि को अस्पृश्य मानते हैं— 'बौद्धादयोऽपि दुरात्मानो वेदप्रामाण्यनियमिता एव चाण्डालादिस्पर्शं परिहरन्ति ।'[१४]

बौद्ध नीतिशास्त्र व्यक्तिवादी नीतिशास्त्र है, उसके लिए पारिवारिक-सामाजिक संबंधों का विशेष महत्त्व नहीं है । उसका आदर्श है सबको भिक्षु बनाकर निर्वाणपुरगामिनीप्रतिपद पर आरूढ़ करना । बौद्ध धर्म वस्तुत: वैयक्तिक धर्म है, सामाजिक धर्म नहीं; व्यक्ति-परक

धर्म है, लोक-परक नहीं। बौद्ध संघ की परिकल्पना कुछ इस प्रकार हुई है कि उसमें सामाजिक-सामूहिकता (कलेक्टिविटी) नहीं अपितु सामूहिक एकाकिता (कलेक्टिव लोनलीनेस) को ही प्रश्रय मिलता है।

लोक में रस लेने वाला धर्म ही लोकव्यवस्था में रुचि ले सकता है। वैराग्यवादी धर्म लोक को हेय समझता है और उसकी सारी चेष्टा एक ही ओर केन्द्रित होती है—लोकोच्छेद की ओर। अतः वैराग्यवाद लोक-विवृद्धि का स्वप्न भी नहीं देख सकता। मानव और मानवीय सम्बन्धों की पवित्रता में आस्था ही लोकव्यवस्था का मूलाधार है। इसके विपरीत वैराग्यवाद मानव के शरीर, मानवीय सम्बन्धों, मानव-जीवन, के विरुद्ध घृणा का भाव उत्पन्न करता है, अतः वह लोकव्यवस्था के सर्वथा प्रतिकूल पड़ता है। इस्लाम शूकर को हराम समझता है, अतः उससे यह आशा कि वह शूकर-वंश की वृद्धि में उसी प्रकार रुचि लेगा जैसे हिन्दू धर्म गोवंश की वृद्धि में लेता है, दुराशा मात्र है। बौद्ध धर्म से ही उदाहरण लीजिए। वह लोक का, जीवन का, विश्लेषण करके उसे निस्सार, निरर्थक, और गर्हणीय पाता है। स्त्री के कटाक्ष पर रीझने वालों को वह बतलाता है कि वह परमाणु-पुञ्ज के अतिरिक्त कुछ नहीं है—

नर्तकी भ्रूलताक्षेपो न ह्येकः परमार्थतः।
परमाणुसमूहत्वादेकत्वं तस्य कल्पितम्॥[१५]

शान्तिदेव मानव-शरीर का विश्लेषण करके उसे असार घोषित करते हैं—

इमं चर्मपुटं तावत् स्वबुद्धयैव पृथक् कुरु,
अस्थिपञ्जरतो मांसं प्रज्ञाशस्त्रेण मोचय,
अस्थीन्यपि पृथक् कृत्वा पश्य मज्जानमन्ततः,
किमत्र सारमस्तीति स्वयमेव विचारय॥[१६]

विसुद्धिमग्ग में मानव में विरक्त की अरुचि और मानव की सत्ता के अस्वीकार का एक मार्मिक उदाहरण प्राप्त होता है। कोई किसी स्थविर से पूछता है कि क्या आपने इधर जाती हुई स्त्री को देखा है? स्थविर का उत्तर है—

नाभिजानामि इत्थी वा पुरिसो वा इतो गतो।
अपि च अट्ठिसंघातो गच्छते स महापथे॥[१७]

अर्थात् मैं यह तो नहीं जानता कि इधर से स्त्री गयी अथवा पुरुष गया, किन्तु इस मार्ग से एक अस्थिसंघात अवश्य जा रहा है।

वैराग्यवाद में मानव-मानव के बीच प्रेम और ममता का विकास ही नहीं हो सकता, क्योंकि मानव का व्यक्तित्व अस्थि और मांस के पुञ्ज से अधिक कोई मूल्य ही नहीं रखता। एक फ़ारसी-कवि कहता है—

गर दिल ब-मज़हबे तू हमीं गोश्त-पारः ईस्त,
क़स्साबे शहर बिह जि तू दानद बहा-इ दिल

अर्थात् यदि हे प्रेयसि ! तुम्हारी दृष्टि में दिल मांस का एक लोथड़ा मात्र है, तब तो तुम्हारी अपेक्षा नगर का मांसिक (क़साई) ही दिल की क़ीमत अच्छी आँक सकता है।

यही कारण है कि अर्हत् प्रेम को महत्त्व नहीं देता, ज्ञान को महत्त्व देता है, जिस से वह वैयक्तिक निर्वाण का प्रतिलाभ कर सके। महायान के अनुसार अर्हत् का आदर्श मूलत: स्वार्थपरक है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि जब ज्ञान का स्वरूप यह है कि न आत्मा है, न जीव, न पुद्गल, न मानव, तो शीलप्रयोग और संवरक्रिया से ही क्या बनेगा? यह आशङ्का बौद्धों में भी उठी थी, ऐसा प्रतीत होता है—

यत्रात्म नास्ति, न च जीवो देशित, पुद्गलोऽपि न कथञ्चित्,
व्यर्थ: श्रमोऽत्र घटते य: शीलप्रयोग संवरक्रिया च।
यद्यस्ति चैव महायानं नात्र हि आत्म, सत्त्व, मनुजो वा,
व्यर्थ: श्रमोऽत्र हि कृतो मे यत्र न चात्मसत्त्व उपलब्धि: ।।[१८]

किसी भी धर्म अथवा दर्शन की जीवन-व्यवहार, लोक-व्यवस्था, के प्रति प्रासङ्गिकता और सार्थकता का निकष है व्यक्तित्व का वह चरम आदर्श जो वह धर्म अथवा दर्शन प्रस्तावित करता है। आदि बौद्ध धर्म का, जिसे मैं बुद्ध-धर्म (Buddha-ism) कहता हूँ, चरम आदर्श है सम्यक्सम्बुद्ध, जो आर्यसत्यचतुष्टय का साक्षात्कार कर दु:खनिरोध और सम्बोधि का प्रतिलाभ कर लोककल्याणार्थ, बहुजनहिताय, धर्मोपदेश करता है। आदि बौद्ध धर्म सम्यक्सम्बुद्धत्व की सिद्धि सबके लिए सम्भव मानता है। वह यह भी मानता प्रतीत होता है कि बुद्ध और उनके प्रबुद्ध शिष्यों—अनुयायियों में केवल तारतम्य-भेद है, प्रकार-भेद नहीं। आगे चलकर इस सम्बन्ध में एक त्रिविध प्रकार-भेद प्रकाश में आया—श्रावक, प्रत्येकबुद्ध और सम्बुद्ध, यह भेद हीनयान में विकसित हुआ था। महायान ने इसे अपने ढंग से लिया।

श्रावक चार प्रकार के माने गये हैं—स्रोतआपन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत्। स्रोतआपन्न श्रावक वे हैं जो निर्वाण-पथ पर अभी-अभी आरूढ़ हुए हैं। सकृदागामी श्रावकों को लोकधातु-त्रय में बस एक बार जन्म लेना शेष है, उसके पश्चात् वे निवृत्त हो जाने वाले हैं। अनागामी श्रावक उक्त लोकधातु त्रय से निवृत्त होकर पुनर्जन्म से विरत हैं और अगली बार निर्वृत हो जाने वाले हैं। अर्हत् श्रावक वे हैं जो जीते-जी निर्वाण-लाभ कर रहे हैं और शरीर छूटते ही स्कन्धों से पूर्णत: निवृत्त होकर परिनिर्वाण प्राप्त कर लेते हैं।

आदि बौद्धधर्म और हीनयान में निर्वाण के दो प्रकार हैं—सोपधिशेष और निरुपधिशेष। शरीर रहते प्राप्य निर्वाण सोपधिशेष और शरीरपात, स्कन्धनिवृत्ति के अनन्तर प्राप्य निर्वाण निरुपधिशेष निर्वाण कहलाता है। सोपधिशेष निर्वाण प्राप्त करने वाला श्रावक ही अर्हत् का महनीय अभिधान प्राप्त करता है।

वैयक्तिक दु:ख और दस संयोजनों का नाश करके वैयक्तिक निर्वाण प्राप्त करने वाला श्रावक अर्हत् बनता है। उसमें पहले सत्त्वावलम्बना करुणा का उदय होता है, जिसका उपयोग वह वैयक्तिक निर्वाण के हित में करता है। उसके दु:ख:निरोध का साक्षात् कारण

है पुद्गलनैरात्म्य-ज्ञान अथवा प्रतीत्यसमुत्पाद-ज्ञान। किसी श्रावक को पुद्गलनैरात्म्य-ज्ञान से दुःखनिरोध सिद्ध होता है तो किसी को प्रतीत्यसमुत्पाद-ज्ञान से। अर्हत् का ज्ञान परोपदेशहेतुक ज्ञान, औपदेशिक ज्ञान, होता है। महायान का आरोप है कि तीव्र करुणा के अभाव में वह संसार के त्रास से पीड़ित रहता है। महाकरुणा की अवस्था में तो वह परार्थ बड़े-से-बड़े दुःख को झेलने के लिए तय्यार रहेगा, संसार से किसी प्रकार के त्रास का प्रश्न ही नहीं उठेगा। अर्हत् का द्वैत-बोध भी बना रहता है, ज्ञेयावरण भी बना रहता है, केवल क्लेशावरण क्षीण होता है। महायान के अनुसार अर्हत् का निर्वाण वास्तविक निर्वाण न होकर संसार से निर्गम जैसा है। आदि बौद्ध-धर्म और हीनयान के अनुसार अर्हत् शील, समाधि, प्रज्ञा और अनुत्तरा विमुक्ति द्वारा निर्वाण की उपलब्धि करता है।[१९] अन्यत्र श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा नामक इन्द्रियों द्वारा निर्वाण की प्राप्ति मानी गयी है।[२०] श्रावक अपनी निर्वाण-यात्रा अष्टाङ्गिक मार्ग से आरम्भ करता है। वह कुल मिलाकर कर्मग्रही ठहरता है।

प्रत्येकबुद्ध वह ज्ञानी पुरुष है जो वैयक्तिक दुःख का विरोध कर एक प्रकार से स्वान्तःसुखाय बोधि लाभ करता है। उसकी करुणा भी सत्त्वावलम्बना करुणा है। वह पूर्वश्रुतादि अभिसंस्कारों द्वारा स्वतः बोधिलाभ करता है, बुद्धत्व की प्राप्ति करता है। उसे उपदेश ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं होती, उसका ज्ञान एक प्रकार से प्रातिभ ज्ञान कहा जा सकता है, जो तन्मयता मात्र से उद्भूत स्वयंबोध रूप होता है। वह ऋद्धि, आदेशना और अनुशासनी नामक प्रतिहार्यत्रय के सामर्थ्य से अन्यों को कुशल आदि में प्रवृत्त करता है। उसका द्वैत-बोध भी पूरा जा नहीं पाता। बोधि से बुद्धत्व प्राप्त होता है, किन्तु सम्बुद्धत्व के लिए महाबोधि और महाकरुणा की अपेक्षा होती है। प्रत्येक बुद्ध अर्हत् की अपेक्षा अधिक ज्ञानाग्रही होता है, किन्तु उसका ज्ञान प्रायः उसी के लिए होता है, परार्थ नहीं। प्रत्येकबुद्ध का क्लेशावरण तो क्षीण होता ही है, उसमें ज्ञेयावरण के एक-देश ग्राह्यावरण का भी क्षय हो जाता है; केवल ग्राहकावरण शेष रहता है।

सम्बुद्ध सर्वोपरि है। वे महाबोधि-सम्पन्न और अद्वय-भूमि में पूर्णतः प्रतिष्ठित होते हैं। वे अनन्त ज्ञान और अनन्त करुणा का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनकी महाबोधि का अर्थ है पारमिता-चर्या की पूर्ति से प्राप्त भगवत्ता से मण्डित शुद्ध बोधि। उनकी विशेषता यह है कि वे अपना सारा ज्ञान-पुण्य लोककल्याणार्थ सञ्चित करते हैं।

महायान के अनुसार श्रावक और प्रत्येकबुद्ध पुद्गल-नैरात्म्य का साक्षात्कार करते हैं, जबकि सम्बुद्ध धर्म-नैरात्म्य का दर्शन करते हैं। यही कारण है कि श्रावक और प्रत्येकबुद्ध की करुणा सत्त्वालम्बना होती है, प्राणियों का दुःख देख कर उत्पन्न होती है, जबकि बुद्ध की करुणा वस्तुधर्मातात्त्विक अन्तर्दृष्टि (Metaphysical insight) से उत्पन्न होती है। जैसाकि धर्मकीर्ति कहता है—

> दुःखज्ञानेऽविरुद्धस्य, पूर्वसंस्कारवाहिनी।
> वस्तुधर्मादयोत्पत्तिर्, नसा सत्त्वानुरोधिनी ॥[२१]

योगाचार के अनुसार करुणा का मूल है क्षणिकत्व और नश्वरत्त्व की चेतना, किन्तु माध्यमिक करुणा को शून्यता से अभिन्न मान कर ही उसे महाबोधि का हेतु मान सकता है।

हीनयान के अनुसार सामान्यजन केवल अर्हत् बन सकते हैं, लाखों में एक प्रत्येकबुद्ध बन सकता है और अनेक कल्पों में कोई एक बुद्ध बन सकता है।

महायान ने श्रावक, प्रत्येकबुद्ध और सम्बुद्ध के प्रकार-भेद को हटाने और 'उच्छिन्न-गोत्र' व्यक्तियों को छोड़कर सम्बुद्धत्व का द्वार प्रायः सबके लिए खोलने का स्तुत्य प्रयास किया है। श्रावक-यान, प्रत्येकबुद्ध-यान और बोधिसत्त्व-यान, करके यान तीन प्रकार के माने गये हैं। विचारान्तर से उक्त तीनों यान एक ही यान, महायान, के विविध सोपान हैं। प्रासंगिक और स्वातन्त्रिक माध्यमिक तथा युक्तानुयायी विज्ञानवादी एकयान-वादी कहे जाते हैं। उनका कहना है कि बोधिसत्त्वयान महायान ही एकमात्र यान है और कि श्रावक, प्रत्येकबुद्ध और बोधिसत्त्व सबका अन्तिम प्राप्य फल एकमात्र बुद्धत्व है। बुद्ध-गोत्र सबमें व्यापक है। श्रावक और प्रत्येकबुद्ध के लिए निरुपधिशेष-निर्वाण प्राप्त कर लेने के बाद भी बोधिसत्त्व-यान में प्रवेश और बुद्धत्व-लाभ अनिवार्य है। आगमानुयायी विज्ञानवादी त्रियानवादी कहलाता है। उनके अनुसार उक्त तीनों यानों में से प्रत्येकयान स्वतन्त्र और अन्तिम है। तथापि इनकी मान्यता है कि यद्यपि श्रावक और प्रत्येकबुद्ध की चरम गति निरुपधिशेष निर्वाण है, तथापि इस निर्वाण की प्राप्ति के पूर्व वे बोधिसत्त्वयान में प्रविष्ट होना चाहें तो होकर बुद्धत्व लाभ कर सकते हैं। निरुपधिशेष निर्वाण की प्राप्ति के फलस्वरूप अनेक कल्पों तक निर्वाण-धातु में लीन रहने के बाद भी श्रावक और प्रत्येकबुद्ध एक-न-एक दिन बोधिसत्त्वयान में प्रविष्ट हो बुद्धत्व-लाभ अवश्य करेंगे। धर्मकीर्ति के अनुसार चित्तसन्तति अनादि और अनन्त है।[२२] वह निरुपधिशेष निर्वाण में भी विद्यमान रहती है। संयुत्तनिकाय के इस वाक्य की भी यही ध्वनि है—'यञ्च ख्वस्स चित्तं दीघरत्तं सद्धापरिभावितं सील-सुत-चाग-परिभावितं, तं उद्धगामि होति विसेसगामि।'[२३] (अर्थात् यदि शरीर काकों और गृध्रों द्वारा भक्षित भी हो जाय तो भी चित्त श्रद्धा आदि से परिभावित होकर ऊर्ध्वगामी बना रहता है। अतएव बोधिचित्त का उत्पाद उस अवस्था में भी सर्वथा सम्भव है।) अभिसमयालङ्कारालोक के अनुसार श्रावक और प्रत्येकबुद्ध केवल त्रैधातुक जन्म का उपराम लाभ करते हैं, किन्तु वे मनास्रव धातु अर्थात् परिशुद्ध बुद्ध-क्षेत्रों में कमल-पत्रों में जन्म लेकर समाधि की अवस्था में वहीं अवस्थित रहते हैं। पुनः, अमिताभ आदि बुद्ध आक्लिष्ट ज्ञान की हानि के लिए उसका प्रबोध करते हैं और बोधिचित्त का ग्रहण कर लोकनायक बनते हैं। बुद्ध-धातु, बुद्ध-बीज, बुद्ध-गोत्र तथागत-गर्भ शब्द पर्याय हैं। बुद्धगोत्र का धर्म-धातु से तादात्म्य है—

धर्मधातोरसम्भेदाद् गोत्रभेदो न युज्यते।
आधेयधर्मभेदात् तु तद्भेदः परिगीयते॥[२४]

इस वचन से धर्मधातु में भेद का निषेध होता है और इस प्रकार गोत्र-भेद भी समाप्त हो जाता है।

आदि बौद्ध धर्म से लेकर महायान तक की यह पूरी प्रक्रिया लोकव्यवस्थानिरपेक्ष है। निर्वाण की प्राप्ति का प्रश्न व्यक्ति का निजी मामला है, उससे समाज को कुछ भी लेना-देना नहीं। तदर्थ कारुण्य आदि का अभ्यास अवश्य प्रतिपादित है, किन्तु उससे लोकव्यवस्था में विशेष अन्तर नहीं आता। जब तक जीवन के प्रति सहज अनुराग, जोशे जिन्दगी, न

पैदा हो तब तक मनुष्य लोकव्यवस्था की कोई दीर्घसूत्री योजना नहीं बना सकता। यही कारण है कि बौद्ध आचार्यों ने समाज के संस्कार, मूढ़ग्राहों के उच्छेद, सुराज्य की परिकल्पना, आदि लोकव्यवस्थात्मक क्रिया-कलाप में कभी रुचि ही नहीं ली। बुद्ध ने, जहाँ आवश्यकता पड़ी, प्राचीन वर्णव्यवस्था को आगे करके काम चला लिया। वे जब कर्मणा वर्णव्यवस्था के प्राचीन आदर्श का बखान करने लगते हैं तो प्रतीत होता है कि वे वैदिक परम्परा से सर्वथा स्वतन्त्र किसी अपने में परिपूर्ण, स्वतःपूर्ण धर्म की योजना लेकर नहीं आये थे, बल्कि उनका धर्म वैदिक परम्परा का आधेय मात्र है। जो हो, बौद्ध धर्म में लोकव्यवस्था के प्रति दायित्व-चेतना का अत्यन्ताभाव ही परिलक्षित होता है।

सोपधिशेष-निर्वाण-प्राप्त अर्हत् स्खलन-भय से लोक से अपने को असम्पृक्त ही रखता है। उस अवस्था में उपादान-रूपी ईन्धन विद्यमान रहता है, अतः तृष्णा की अग्नि कभी भी भड़क सकती है। निरुपधिशेष निर्वाण में, जैसा कि ऊपर कहा गया है, चित्त शेष रहता है, किन्तु वह बुझी हुई अग्नि अथवा प्रशान्त, गम्भीर महासमुद्र के समान हो जाता है।[२५] और यह अवस्था लोकव्यवस्था के लिए उपयुक्त नहीं है। संयुत्तनिकाय के एक वचन के अनुसार क्षीणास्रव अर्हत् के लिए लाभ, सत्कार आदि अन्तराय सिद्ध होते हैं (यो भिक्खवे! भिक्खु अरहं खीणासवो तस्स पाहं लाभ-सक्कार-सिलोकं अन्तरायाय वदामीति)।[२६] अतः ऐसा अर्हत् न पुण्य कर्म करता है, न अपुण्य कर्म करता है, और न तटस्थ प्रकार का कर्म करता है (यतो....भिक्खुनो अविज्जा पहीना होति विज्जा उप्पन्ना, सो....नेव पुञ्ञाभिसङ्खारं अभिसङ्खरोति, न अपुञ्ञाभिसङ्खारं अभिसङ्खरोति, न आनेञ्जाभिसङ्खारं अभिसङ्खरोति)।[२७] यह वह अवस्था है जिसमें सारी क्रियाएँ शान्त हो जाती हैं (पदं सन्तं सङ्खारूपसमं सुखं)[२८] वह शरीर-क्रियाओं के उपशम का अभ्यास करता रहता है (कायसङ्खारं अस्ससिस्सामीति)।[२९] वह केवल राग-द्वेष-निरोध-रूपी कार्य करता है (कम्मसेट्ठस्स कारका—रागं, दोसं, पजहन्ति)।[३०] अर्हत् रुग्ण भिक्खुओं की परिचर्या आदि कर सकता था,[३१] किन्तु उसका नियमित कार्य उन्हें उपदेश करना मात्र था।[३२] एक कृषक ब्राह्मण ने बुद्ध से कहा कि आप खेती करके क्यों नहीं खाते, जैसा मैं करता हूँ? बुद्ध ने उत्तर दिया कि मैं भी खेती करके खाता हूँ, मेरी खेती के लिए बीज श्रद्धा है, वृष्टि तप है, आदि-आदि।[३३] सारिपुत्त मोग्गलान को पापगर्ही बतलाया गया है (पापगरही आयस्मा सारिपुत्तो)।[३४] अन्यथा, अर्हत् के लिए कुछ भी करणीय नहीं है (नत्थि....अरहतो उत्तरिकरणीयं।[३५]

बोधिसत्त्व का आदर्श लोकव्यवस्था के लिए अधिक उपयुक्त है। बोधिसत्त्व की विशेषता है कि वह लोककल्याण में प्रवृत्त होने के लिए निर्वाण को भी ठुकरा देता है। उसकी घोषणा है—

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं, मोक्षेणारसिकेन किम्? ॥[३६]

वह लोक को पुण्य-दान करने के लिए तो तय्यार है ही, अन्न, पान आदि की व्यवस्था करके क्षुधा-पिपासा की व्यथा हरने के लिए भी सन्नद्ध बताया गया है—

क्षुत्पिपासा-व्यथां हन्यामन्नपाणप्रवर्षणैः।
दुर्भिक्षान्तरकल्पेषु भवेयं पानभोजनम् ॥[३७]

उसे वीर्य-पारमिता की भी साधना करनी पड़ती है, जिसे कर्म के लिए आह्वान समझना चाहिये। शान्तिदेव बोधिसत्त्व के लिए इस सन्दर्भ में इस प्रकार उपदेश करते हैं--

यदेवापद्यते कर्म तत्कर्मव्यसनी भवेत् ।
तत्कर्मशौण्डोऽतृप्तात्मा क्रीडाफलसुखेप्सुवत् ।।[३९]

अर्थात् प्रवाहपतित कर्म बोधिसत्त्व के लिए अवश्य करणीय हैं। यह भी कहा है--

सुखार्थं क्रियते कर्म तथाऽपि स्यान् न वा सुखम् ।
कर्मैव तु सुखं यस्य निस्कर्मा स सुखी कथम् ?
कामैर् न तृप्तिः संसारे क्षुरधारामधूपमैः
पुण्यामृतैः कथं तृप्तिर् विपाकमधुरैः शिवैः ?[४०]

हमारे प्रतिपाद्य विषय में एक महत्त्वपूर्ण विचार-पद अभी शेष है। वैराग्य का लोक-व्यवस्था में स्थान एक बात है और लोकव्यवस्था-निरपेक्ष वैराग्य दूसरी बात। वैराग्य दो प्रकार का होता है : एक है जीवन की बाधाओं, अभावों से पराजित पुरुष का ऐहिक-नैराश्यमूलक वैराग्य, जिसके परिणामस्वरूप पुरुष सर्वविध सुख-सुविधाओं से परिपूर्ण स्वर्ग आदि की कल्पना करके मनस्तोष प्राप्त करता है। दूसरे प्रकार का वैराग्य मूलतः वैयक्तिक दुःख नहीं बल्कि एक प्रकार के सामान्व तत्त्वज्ञानमूलक (मैटाफ़िज़िकल) दुःख की उत्कट चेतना का प्रतिफल होता है, जिस अर्थ में 'सर्वं दुःखं' अथवा 'सर्वं दुःखं विवेकिनः' जैसे वाक्य बोले जाते हैं। यह जीवन की सीमाओं के तीव्र बोध और तज्जनित औदासीन्य का परिणाम है। यह भौतिक अपकर्ष का नहीं, बल्कि जीवन के गहरे, व्यापक, और युग-युग से संचित अनुभव का फल है। अतः ऐसे वैराग्य का उदय जीवन के अनुभवों के परिपाक के फलस्वरूप ही हो सकता है। वैदिक आश्रम-व्यवस्था में ऐसे वैराग्य को जीवन के चौथे, अन्तिम चरण में स्थान दिया गया है जो सर्वथा स्वाभाविक और समीचीन लगता है। ऐसे विरक्त पुरुष समाज से अनासक्त रहकर उसकी बेलाग समीक्षा कर सकने की स्थिति में होते हैं और इस प्रकार लोक का सही मार्ग-दर्शन करने की क्षमता रखते हैं। ऐसे विरक्त समाज के लिए वरदान सिद्ध होते हैं। गीतोक्त लोकसंग्रही सिद्ध पुरुष इसी कोटि के अन्तर्गत आता है। उसका अनासक्त भाव से किया हुआ कर्म लोक के लिए उदाहरण बनता है, जिसके अभाव में लोक के कुकर्म में फँस जाने का अन्तराय उपस्थित हो जाता है। कृष्ण कहते हैं कि यदि अनासक्त होते हुए भी स्थितप्रज्ञ कर्म न करे तो लोक उत्सन्न हो जांय, अव्यवस्था उत्पन्न हो जाय और प्रजाओं का नाश हो जाय--

उत्सीदेयुरिमे लोकाः न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ।।[४१]

इस प्रकार के वैराग्य की कल्पना बौद्ध परम्परा में अलीक है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

संदर्भ

१. सहितास् तास् तदा जग्मुरसुखार्ताः पितामहम्
अनीश्वरा विनश्यामो, भगवान् ! नीश्वरं दिश,
यं पूजयेम सम्भूय यश् च नः प्रतिपालयेत्।। महाभारत (गीता प्रेस) ६७.२०-२१
२. जॉन ६.१५.
३. गीता ३.२४.
४. सुत्तनिपात, उरग-वग्गो, मेत्त-सुत्त (नालन्दा), चतुर्थ खण्ड, १४९–१५०
५. मनुस्मृति ३.७७–७८.
६. तवव ६.३५–३७.
७. तैत्तिरीयोपनिषद् १.१०.१.
८. धम्मपद (नालन्दा) ८४.
९. तत्रैव १६७.
१०. शारीरकभाष्य १.१.४ (निर्णय सागर प्रेस), पृ० ८५.
११. मध्यमकशास्त्र २६.१०.
१२. मध्यमकशास्त्र-प्रसन्नपदारीका (मिथिला) २६.११, पृ० ४३२.
१३. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका २.१.६८ (चौखम्बा), पृ० ४३२.
१४. न्यायमञ्जरी, प्रमाण-प्रकरण (चौखम्बा) पृ० २४३.
१५. तु० तत्त्वसङ्ग्रहह (वाराणसी) २००.
१६. बोधिचर्यावतार (मिथिला) ५.६२–६३.
१७. बिसुद्धिमग्गा (वाराणसी), भाग १ पृ० ६७.
१८. राष्ट्रपाल-परिपृच्छा (मिथिला), १७४–१७५.
१९. दीध-निकाय, महापरिनिब्बान-सुत्त (नालन्दा), खण्ड २ पृ० ९५.
२०. संयुत्त-निकाय (नालन्दा), महावग्गा, इन्द्रिय-संयुत्त, पृ० १६७ से.
२१. प्रमाणवार्तिक (वाराणसी) १.१९६–१९७.
२२. तत्रैव १.४६–४७.
२३. संयुत्त-निकाय, महावग्गा, सोतापत्ति-संयुत्त, पठममहानाम-सुत्त, चतुर्थ खण्ड (नालन्दा), पृ० ३१५.
२४. अभिसमयालङ्कार कारिकाः (मिथिला) १.४०, पृ० ३०७.
२५. मज्झिम-निकाय (नालन्दा)।
२६. संयुक्त-निकाय, निदान-वग्ग (२) लाभसक्कार-संयुत्त (१७), भिक्खु-सुत्त (३०), खण्ड २, पृ० १९९.
२७. तत्रैव, निदान-संयुत्त (१२), परिवीमंसन-सुत्त (५१) पृ० ७०.
२८. धम्मपद ३६८.
२९. मज्झिम-निकाय, मूल-पण्णासक (१), सतिपट्ठान-सुत्त (१०), पृ० ७७.
३०. थेरीगाथा (नालन्दा)
३१. संयुत्त-निकाय (नालन्दा)

३२. सुत्त-निपात (नालन्दा), महावग्गा. २३१.
३३. तत्रैव, उरगवग्गा, कसि भारद्वाज-सुत्त, पृ० २८१.
३४. संयुत्त-निकाय, सगाथ-वग्गा (१), देवपुत्त-संयुत्त (२), सुसिम-सुत्त (२९), पृ० ६२.
३५. तत्रैव, खन्ध-वग्गा (३), खन्ध-संयुत्त (२२), सङ्किवन्त-सुत्त (१२२) पृ. ३८१-३८३.
३६. बोधिचर्यावतार (मिथिला) ८.१०८.
३७. तत्रैव ३.६.
३८. तत्रैव ३.८.
३९. तत्रैव ७.६२.
४०. तत्रैव ७.६३–६४.
४१. गीता ३.२४.

सिक्ख धर्म में ईश्वर की एकता

छाया राय

सिक्ख धर्म के आदिग्रन्थ "श्री गुरु ग्रन्थ साहिब" का प्रारम्भ जिस मूलमन्त्र से होता है उससे ही इस धर्म की ईश्वर सम्बन्धी धारणा स्पष्ट हो जाती है। यह मूलमन्त्र है :-

"१ ओंकार सतनाम करता पुरख निरभउ निरवैर अकाल-मूरत अजूनि सेभं गुरु प्रसादि।"

ईश्वर का स्वरूप समझने के लिए हम इसे निम्न शब्द-खण्डों में विभाजित कर सकते हैं :

(१) १ ओंकार	(२) सतनाम	(३) करता पुरख
(४) निरभउ	(५) निरवैर	(६) अकालमूरत
(७) अजूनि	(८) सेभं	(९) गुरु-प्रसादि

इस तरह मूलमन्त्र बताता है कि ईश्वर एक ही है, वह त्रिकालाबाधित सत्ता है, पर यह सत्ता केवल निर्गुण-निराकार ही नहीं, वरन् सगुण साकार भी है। करता पुरख, अर्थात् ईश्वर सृष्टिकर्त्ता है। वह निर्भय है, निर्वैर है। अकाल अर्थात् अनन्त है। अजूनि का अर्थ है अजन्मा, अतः ईश्वर अनादि है। वह स्वयंभू (सेभं) है। 'गुरु-प्रसादि' शब्द-खण्ड अनेकार्थक है, पर इसका अर्थ मुख्यतः 'महान अनुग्रहकर्त्ता,' अथवा, 'जो गुरु द्वारा जाना जाता है,' अथवा 'स्वयं-प्रकाश' किया जाता है।

यहाँ हम केवल प्रथम शब्द-खण्ड- '१ ओंकार'-की चर्चा करने जा रहे हैं। यह ईश्वर की "एकता" का प्रतिपादक है। 'ईश्वर एक है', यह सिक्ख धर्म की मूल मान्यता है। अतः आदि ग्रन्थ में इस सम्बन्ध में अनेक उक्तियाँ मिलती हैं जैसे-"नानक एको रव रिहा, दूसरा हुआ ना होगा।" अथवा "साहिब मेरा एको है, एको है भाई, एको है"[1] इत्यादि।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखें तो हम पाते हैं कि सिक्ख धर्म के पूर्व तथा समकालीन जितने भी ईश्वरवादी धर्म थे वे सभी ईश्वर की 'एकता' स्वीकार करते थे। उदाहरणार्थ यहूदी धर्म मानता था कि-"केवल यहोवा ही एकमात्र सत् है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई ईश्वर नहीं है।" ईसाई धर्म भी एक ईश्वर को मानता है। बाइबिल में लिखा है—"सुनो, हे इसराईल, प्रभु ही हमारा ईश्वर है, प्रभु एक है"। इस्लाम धर्म भी "ला इलाह इल अल्लाह" अर्थात् एक अल्लाह के अतिरिक्त अन्य कोई ईश्वर नहीं है, स्वीकार करता था। अतः प्रश्न उठता है कि ऐसी स्थिति में गुरुनानक को

१. वाक्कबाणी, आसाराम, सबद-४।

पुनः इस सत्य पर बल देने की आवश्यकता क्यों अनुभव हुई, तथा इस पुनर्कथन में नवीनता क्या है ?

उत्तर खोजते समय हमें यह ज्ञात होता है कि सिक्ख धर्म ने ईश्वर सम्बन्धी धारणा की अपनी नवीन व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए ही ईश्वर की 'एकता' सम्बन्धी पुनर्कथन की आवश्यकता अनुभव की। यद्यपि ईश्वर की एकता सम्बन्धी विचार का बीज वेदों में मिलता है, तथापि उस समय "बहुदेववाद" प्रचलित था, यहाँ तक कि अग्नि, सूर्य, चन्द्र इत्यादि सृष्टि के पदार्थों को भी देवता मान कर पूजा जाता था। सिक्ख धर्म एक सर्वोच्च ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी भी देवी-देवता को स्वीकार नहीं करता, अतः यह बहुदेववाद-विरोधी है। इस तथ्य पर प्रकाश डालने के लिए ही एकता-सम्बन्धी पुनर्कथन की आवश्यकता पड़ी।

अन्य ईश्वरवादी धर्मों के सन्दर्भ में एक तथ्य और द्रष्टव्य है कि पारसी, ईसाई, इस्लाम इत्यादि प्रचलित धर्म पाप (इविल) की व्याख्या के लिए ईश्वर के समानान्तर एक अन्य सत्ता भी स्वीकार करते हैं। जैसे पारसी धर्म "अंगरा मैन्यु" को पाप का स्रोत मानता है। ईसाई धर्म ने इसे 'शैतान' कहा है। इस्लाम 'इबलिस' की सत्ता पर विश्वास करता है जिसने अल्लाह के आदेश को अस्वीकार करने की धृष्टता की थी। सिक्ख धर्म पाप के कारण के रूप में ऐसी किसी समानान्तर सत्ता पर विश्वास नहीं करता। अतः सिक्ख गुरु कहते हैं—"एको कहिए नानका दूजा काहे कू"।[1]

उपनिषद्-काल में ईश्वर की एकता सम्बन्धी विचार विकसित तो अवश्य हुआ पर उसमें एक गंभीर दोष था। ऋषियों ने 'एक ईश्वर' को अद्वयब्रह्म के रूप में वर्णित किया, जिसे निर्गुण, निरपेक्ष, निराकार, अनिर्वचनीय, आप्तकाम इत्यादि कहा। अतः प्रश्न उठा कि शून्य, आप्तकाम ब्रह्म को सृष्टि-रचना की आवश्यकता क्यों पड़ी ? प्रश्नोत्तर में कहा गया कि विश्व 'ब्रह्म' द्वारा नहीं, 'ईश्वर' द्वारा रचित है। ईश्वर सगुण, सापेक्ष व साकार है। इस तरह अद्वैती उपनिषदों ने 'ब्रह्म' व 'ईश्वर' शब्दों का प्रयोग किया; किन्तु यदि वे ब्रह्म के अतिरिक्त ईश्वर की भी सत्ता स्वीकार करते तो अद्वैतवाद खण्डित हो जाता, अतः अपने बचाव के लिए वे यह मानने को बाध्य हुए कि ईश्वर पृथक् सत्ता न होकर माया की उपाधि से युक्त ब्रह्म ही है। इस तरह 'आप्तकाम परम तत्त्व की एकता' व 'सृष्टि की उत्पत्ति' दोनों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए माया के प्रत्यय की आवश्यकता पड़ी। किन्तु सिक्ख धर्म ने ईश्वर को माया की उपाधि से युक्त नहीं माना है, इसे "निरंजन" (मायारहित) कहा है। जपुजी की ५वीं पोरी की प्रथम पंक्ति—'आपे आपि निरंजन सोई'—तथा अन्य स्थल पर आयी ऐसी अनेक उक्तियाँ इस बात की प्रमाण हैं। वस्तुतः जिसे शंकर 'ब्रह्म' कहते हैं उसे ही नानक 'निरंजन' कहते हैं। भेद स्वरूप को लेकर नहीं है, जगत् और जीव की व्याख्या के सन्दर्भ में है। "एक" ईश्वर और "ब्रह्म" में भेद की सम्भावना ही नहीं। वर्णनों में भिन्नता इसलिए परिलक्षित होती है कि शंकर दार्शनिक हैं, जबकि नानक भक्त—कवि। कवि होने के नाते उनसे दार्शनिक विवेचना की

१. नानकबाणी, मलार की वार।

सम्पूर्णता का उत्तरदायित्व निभाने की अपेक्षा नहीं की जा सकती।

सिक्ख धर्म अद्वैत वेदान्तियों के "जगन्मिथ्या" के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता, क्योंकि वह यह मानता है कि परमतत्त्व की एकता स्वीकार करने पर जगत् को मिथ्या मानने की कोई बाध्यता नहीं है। जगत् की सत्ता मानने से ईश्वर की एकता पर कोई आंच नहीं आती। सिक्ख धर्म जगत् को एक ऐसी वास्तविक सत्ता मानता है जिसमें एक ईश्वर की सर्वव्यापी आत्मा क्रियाशील है। यहाँ प्रश्न उठता है कि जगत् ईश्वर ही है या उससे भिन्न? सिक्ख धर्म उनमें सृष्टि का स्रष्टा से भेद स्वीकार करता है। ईश्वर अनादि, अनन्त है, जबकि उसने सृष्टि की रचना अपनी इच्छाशक्ति द्वारा "शून्य" से की है। इस तरह सृष्टि "वास्तविक" सत्ता तो है, किन्तु "परम" सत्ता नहीं। किन्तु "गुरु ग्रन्थ साहिब" में अनेक जगह ऐसे वर्णन हैं जिनसे यह ध्वनित होता है कि निर्गुण ईश्वर ही जगत् के रूप में सगुण, साकार हुआ। उदाहरणार्थ एक अन्य स्थल पर लेख है कि अव्यक्त और मायारहित स्वयं ही उत्पन्न हुआ, फिर निर्गुण से सगुण हुआ।[1] श्री गुरु ग्रन्थ साहिब के राग माझ, महला ३ में स्पष्ट लिखा है—"निरगुण सरगुण आपे सोई, ततु पछाणै पंडितु होई।"

१ ओंकार की व्याख्या यह भी दर्शाती है कि बहुदेववाद का विरोधी सिक्ख धर्म ब्रह्मा, विष्णु, महेश को तीन स्वतन्त्र देवता न मान कर एक ही ईश्वर की तीन शक्तियाँ—सृजन, पालन व संहार—मानता है। कहा भी है—"ब्रह्मा, बिसनु, महेश एक मूरति आपे करता कारी।"[2] वस्तुतः ओंकार शब्द से ऐसा प्रतीत होता है मानो सिक्ख धर्म "त्रिमूर्ति" को स्वीकार करता है। जो लोग ऐसा मानते हैं वे अपने कथन की पुष्टि के लिए जपुजी के ३०वें पद का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं जिसमें यह कहा गया है कि एक माया ने युक्ति से तीन प्रामाणिक चेलों (पुत्रों) को उत्पन्न किया। उन तीनों में से एक संसार का निर्माता अर्थात् ब्रह्मा, एक भण्डारी, पोषक अर्थात् विष्णु और एक प्रलय करने वाला महेश है।[3] किन्तु यदि हम अन्य सन्दर्भ व पदों को देखें तो उपर्युक्त कथन पुष्ट नहीं होता। आदि ग्रन्थ के जपुजी के ही ३१वें पद में कहा गया है कि "इसे (सृष्टि को) रचना के बाद स्रष्टा ने स्थिर रखा है।" इस तरह एक ईश्वर स्वयं ही स्रष्टा, पालक व संहारक है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश—ये नाम कथ्य को सरल व सुबोध बनाने के लिए ही प्रयुक्त किये गए हैं। ये ईश्वर के अतिरिक्त किन्हीं अन्य सत्ताओं की ओर संकेत नहीं करते। यह भी कहा गया है कि स्रष्टा होने से ईश्वर अपूर्ण नहीं हो जाता, क्योंकि वह सृजन से ऊपर है, बेपरवाह है।

एकता सम्बन्धी इस पुनर्कथन के पीछे धार्मिक सम्प्रदायों में बढ़ती हुई कट्टरता भी एक कारण है। तत्कालीन प्रायः समस्त धार्मिक सम्प्रदाय यह स्वीकार करते थे कि "परम-

१. 'अबिगतो निरमाइलु उपजे, निरगुण ते सरगुण थीआ।"
श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, रामकली, सिधगोसटि, पौरी २४।
२. श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, रामकली, महला १, असटपदीआं, पौरी ६।
३. एका माई जुगति विआई तिनि चेले परवाणु।
इकु संसारी, इकु भंडारी, इकु लाए दीबाणु।

तत्त्व" एक ही है, किन्तु उनकी यह मान्यता केवल पुस्तकों व प्रवचनों तक ही सीमित रह कर "शाब्दिक प्रपंच" बन कर रह गई थी। इसे व्यवहार में उतार कर, जीवन का सत्य बनाने में वे असमर्थ थे। धार्मिक युद्ध व विभिन्न धर्मावलम्बियों के पारस्परिक व्यक्तिगत संघर्ष इसके प्रमाण हैं। गुरु नानक ने व सिक्ख धर्म ने ईश्वर की एकता पर बल देते हुए इस सत्य को निरन्तर स्मरण रखने का तथा इसके अनुकूल व्यवहार व आचरण करने का न केवल उपदेश दिया वरन् इसे व्यवहार में उतार कर दिखाया। आज भी गुरुद्वारे में होने वाले "लंगर" (सार्वजनिक धार्मिक भोज) इसके प्रमाण हैं जिनमें जातिगत, लिंगगत, वर्गगत, देशगत इत्यादि सभी भेदभाव भुला कर स्त्री-पुरुष, अमीर-गरीब, हिन्दू-पारसी, देशी-विदेशी, क्षत्रिय-शूद्र सभी भाग लेते हैं।

सिक्ख धर्म हिन्दू धर्म के समान यह भी मानता है कि नामों के वैभिन्य से ईश्वर की एकता खण्डित नहीं होती। यही कारण है कि आदि ग्रन्थ में ईश्वर के लिए वैष्णव, यहाँ तक कि मुस्लिम नामों तक का प्रयोग किया गया है। जैसे, "एक ईश्वर ही हरि, राम तथा गोपाल है और वही अल्लाह, खुदा, साहिब व रहमान है।" रामकली, असटपदीआँ महला१ में कहा गया है—"नानक नाउ भइयो रहमाणु, करि करता तू एको जाणु।" वस्तुतः नानक ने नाम की अनेकता के पीछे छिपी ईश्वर की 'एकता' से लोगों को परिचित करवाना चाहा।

ईश्वर की एकता का स्पष्ट प्रतिपादन सिक्ख धर्म बार-बार करता है। एकता-सम्बन्धी इन कथनों से एक प्रश्न उठता है कि सिक्ख धर्म का ईश्वर एकेश्वरवाद का एक है या एकत्ववाद (अद्वैतवाद) का एक? क्या "एक" शब्द ईश्वर की अद्वितीयता का प्रतिपादक है? अर्थात् क्या इससे यह ध्वनित होता है कि ईश्वर स्वरूपतः अन्य समस्त वस्तुओं से पूर्णतः भिन्न है, या वह उस एकता की ओर संकेत करता है जो व्यावहारिक सत्ता की परम सत्यता को अस्वीकार करती है?

इस सम्बन्ध में सिक्ख धर्म के अध्येताओं में मत-भेद है। कुछ व्याख्याकार इसकी अद्वैतवादी व्याख्या करते हैं तो कुछ एकेश्वरवादी। उदाहरणार्थ डब्लू. एच. मैकलियॉड[1] के मतानुसार नानक की एकेश्वरवादी विचारधारा को शंकर व रामानुज की अद्वैतवादी विचारधारा से पृथक् दर्शाने व समझाने के लिए शब्दावली के चयन में सतर्कता बरतनी चाहिए। शेरसिंह ने अपनी पुस्तक "फिलॉसफी ऑफ सिक्खिज़्म" में अद्वैतवादी व्याख्या को निम्नलिखित तर्कों[2] के आधार पर स्वीकार किया है। वे कहते हैं कि सिक्ख धर्म न तो जीव-ब्रह्म की एकता स्वीकार करता है, और न ब्रह्म और सृष्टि की एकता। इसके अलावा सिक्ख धर्म-ग्रन्थों में "सोऽहं" आदि अद्वैतवादी शब्दावली भी नहीं पायी जाती। फिर शंकर के अद्वैतवाद में भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं है, जबकि सिक्ख धर्म में भक्ति का तत्त्व है। डॉ. जयराम मिश्र शेरसिंह से सहमत नहीं हैं। वे शेरसिंह के प्रथम तीन तर्कों का खंडन करके यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि सिक्ख धर्म अद्वैतवादी है। वे

१. डब्लू० एच० मैकलियॉड, दि रिलीजन ऑफ सिक्खिज़्म, पृ० ४८।
२. वहीं, पृ० ८२, ८३, ८४।

कहते हैं कि जीव-ब्रह्म की एकता स्वीकार की गई है। इसकी पुष्टि "सागर महि बूँद-बूँद महि सागरु"[१] तथा "आतम महि रामु, राम महि आतमु"[२] इत्यादि कथनों से होती है। जयराम मिश्र यह भी कहते हैं कि "व्यावहारिक" दृष्टि से सिक्ख धर्म जीव व परमात्मा को भिन्न मानता है, किन्तु "पारमार्थिक" दृष्टि से दोनों में भेद नहीं मानता। कहा भी है कि "आतम चीन्हि भए निरंकारी" तथा "आतमा परातमा एको करै" (आसा राग, असटपदी, ८)। इसके विरोध में यह कहा जाता है कि सिक्ख धर्म में एकत्व का अर्थ सत्ता की दृष्टि से आत्मा-परमात्मा का एक हो जाना नहीं, वरन् गुणों की दृष्टि से एकता का प्रतिपादन, "आपीन्है आपु साजिओ, आपीन्है रचिऔ न ़नाउ" (परमात्मा ने अपने को ही सृष्टि के रूप में साजा है) इत्यादि पंक्तियों से किया गया है। इसी तरह "सोऽहं" शब्दावली का भी प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ एक स्थल[३] पर नानक कहते हैं "ततु निरंजन जोति सबाई, सोहं भेदु न कोई जीउ"। भक्ति सम्बन्धी तर्क के विरोध में श्री मिश्र ने कुछ नहीं कहा है।

यदि हम 'माया' के प्रत्यय पर विचार करें तो हम पाते हैं कि यद्यपि सिक्ख धर्म वेदान्तियों की भाँति माया का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानता तथापि वह माया को ब्रह्म की शक्ति न मानकर उसे ईश्वर-रचित मानता है।[४] यहाँ 'माया' शब्द का प्रयोग 'कुदरत', 'प्रकृति', "प्राकृतिक पदार्थों" व "भौतिक ऐश्वर्य" के लिए किया गया है।

कुछ विद्वानों का मत है कि यदि उपर्युक्त दो विरोधी मतों में से हम किसी एक के चयन के लिए बाध्य हैं तो हमें "एकेश्वरवादी विकल्प" ही चुनना होगा, क्योंकि सिक्ख धर्म में एकता सम्बन्धी विचार को तब तक अद्वैतवादी सिद्धान्त की श्रेणी में नहीं ला सकते जब तक कि उसके ईश्वर के प्रत्यय को शांकर-दर्शन के अन्ततः असत्य ईश्वर के समान न मान लें। मैं इस बात से सहमत नहीं हूँ, क्योंकि सम्पूर्ण सिक्ख धर्म का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार का प्रयास नितान्त असम्भव है।

"जहँ देखा तहँ एको सोई" तथा "तुझु बिनु दूजा अवरु न कोई"[५] इत्यादि वाणियों के आधार पर इसे कट्टर सर्वेश्वरवाद भी नहीं कहा जा सकता। ईश्वर, जीवन व जगत्, सभी की यथार्थ सत्ता यह धर्म स्वीकार करता है। यदि कोई नाम देना आवश्यक ही हो तो इसे "एकेश्वरवाद" कहना ही सर्वाधिक उपयुक्त होगा।[६] हमें केवल यह याद रखना होगा

१. गुरु ग्रन्थ साहिब, रामकली, सबद ९।

२. गुरु ग्रन्थ साहिब, भैरउ, असटपदी। इसी तरह मारु सोलहे. १०। "आतम रामु, रामु है आतम"।

३. नानकवाणी, सोरठि, सबद ११।

४. आपे आपि निरंजना जिनि आपु उपइया।
आपे खेलु-रचाइओनु समु जगत सबाइया"—ग्रंथ साहिब, मारु, सोलेहे १।

५. श्री गुरु ग्रंथ साहिब, महला ४।

६. अद्वैतवादी व्याख्या के समर्थक श्री जयराम मिश्र भी यह कहते हैं कि सिक्ख धर्म ने "एकेश्वरवाद" का स्वरूप प्रतिष्ठित किया। अधिकांश विद्वान यही स्वीकार करते हैं।

कि एक ईश्वर की अभिव्यक्ति सृष्टि की असीम अनेकता के माध्यम से होती है।

मैकलियॉड के मतानुसार नानक के निजी अनुभव यह दर्शाते हैं कि जिस ईश्वर की चर्चा उन्होंने की है वह "वैयक्तिक ईश्वर" (Personal God) है। वह एक ऐसा अनुग्रही ईश्वर है जिसे मनुष्य प्रेम करता है। ईश्वर को स्रष्टा कहे जाने के साथ-साथ "दिव्य अनुग्रह" की चर्चा किये जाने से यह स्पष्ट है। मैकलियॉड का उद्देश्य "भक्ति-भावना" की चर्चा करके यह दर्शाना प्रतीत होता है कि अद्वैतवादी व्यवस्था अनुचित है।

ईशरसिंह "ब्रह्मज्ञानी आपे परमेश्वर" इत्यादि वाणियों का उद्धरण देकर इसे "अद्वैत" वादी मानते हैं, पर इसे शंकर के अद्वैत व रामानुज के विशिष्टाद्वैत से भिन्न दर्शाने के लिए "प्रत्यक्ष अद्वैत" कहने का सुझाव देते हैं।[१] इसके लिए उनके तर्क हैं कि वेदान्त ने मनुष्य के सन्दर्भ में माया को "अविद्या" कहा है जो एक निषेधात्मक पद है। सिक्ख धर्म में इसे "होमै" (अहंकार) कहा गया हैं, जो भावात्मक है व सहज रूप से दृश्यमान् है। यह धर्म मानता है कि "होमै" का पर्दा जिस दिन बीच से उठ जायेगा, उस दिन ईश्वर व मनुष्य 'प्रत्यक्ष सत्' (प्रैक्टिकल रियलिटी) के रूप में आमने-सामने खड़े होंगे।[२] वे उसे एक नया नाम "प्रत्यक्ष अद्वैतवाद" देना पसन्द करते हैं।

कुछ अन्य विद्वानों का अभिमत है कि अधिक से अधिक इतना सम्भव था कि नानक शुद्धाद्वैतवादी न होकर, विशिष्टाद्वैतवादी होते। किन्तु वास्तव में नानक शुद्धाद्वैतवादी हैं।

उपर्युक्त विवाद में उलझने की अपेक्षा समन्वयवादी दृष्टिकोण ही सम्यक् प्रतीत होता है जिसके अनुसार गुरु नानक व अन्य सिक्ख गुरुओं के लिए सत्य का उद्घाटन दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण था। दूसरे, इस धर्म ने अपनी समकालीन व पूर्ववर्ती प्राय: सभी धार्मिक विचारधाराओं के विकृत अंशों की आलोचना की है, जैसे हिन्दू धर्म के "अवतारवाद" की आलोचना। यह धर्म कहता है कि एकमात्र परमात्मा ही निर्भय व निरंकार है, रामादिक तो धूल के समान तुच्छ हैं।[३] दूसरी ओर इसने उपयोगी अंशों को स्वीकार भी किया है, जैसे ईश्वर को स्वयंभू, निरवैर, अजूनि इत्यादि मानना। यही कारण है कि अन्य मतों से इसका आंशिक साम्य भी दिखलाई पड़ता है, तो भिन्नता भी। फिर भी, इतना तो निर्विवाद सत्य है कि यह धर्म ईश्वर की "एकता" पर पूर्ण विश्वास करता है। अतः बार-बार उल्लेख है—"साहिबु मेरा एकु है, अवरु नहीं भाई"।[४]

जबलपुर विश्वविद्यालय
जबलपुर

१. दि फिलॉसफी ऑफ़ गुरुनानक, पृ० १४७।
२. "नानक का पादशाह दिसाई जाहिरा"—रागुजासा. महला ५।
३. नानकवाणी, सुखमणी ५, "नानक निरभऊ, निरंकारु होरि केते राम खाल"।
४. श्री गुरु ग्रंथ साहिब, आसा–काफी, असटपदीआं १८।

समीक्षा

टू पीरियड पोसिज़: ले. ए. पी. राव, प्रकाशक लेखक स्वयं, पता :—
सी–२४५, दयानंद मार्ग, तिलक नगर, जयपुर–३०२००४,
मूल्य ५.०० (साइक्लोस्टाइल्ड).

डॉ० ए० पंपापति राव ने साइक्लोस्टाइल्ड रूप में डॉ० देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय (भूतपूर्व केन्द्रीय मंत्री) की एक पुस्तक **हिस्ट्री, सोसाइटी एण्ड पालिटी** की समीक्षा तथा एक और लेख 'ए फिलॉसफी ऑफ टेक्नॉलोजी' प्रकाशित किये हैं। यह दूसरा लेख उनकी इसी शीर्षक एक अप्रकाशित पुस्तक का सारांश है। उन्होंने इनका इस प्रकार प्रकाशन क्यों किया, इसका एक प्रसंग है: ये लेख उन्होंने 'इंडियन फिलासफीकल क्वार्टरली में प्रकाशनार्थ भिजवाये थे। संपादक ने पहले ये प्रकाशनार्थ स्वीकार कर लिये और पीछे यह कह कर लौटा दिये कि "बदली हुई परिस्थितियों के कारण वे इनका प्रकाशन नहीं कर पायेंगे।" डॉ० राव के अनुसार 'इसका कारण हमारे शिक्षा-क्षेत्र में कुछ प्रभावशाली लोगों का उनसे नाराज़ होना है, और 'प्रभावशाली लोग' हमारे देश के शिक्षा-जगत् में बहुत अधिक और कुत्सित रूप से प्रभावशाली हैं।" इस बात का सत्यासत्य सबके लिए शोचनीय है।

इस पुस्तक के समीक्षा-लेख का शीर्षक है—**'ऑन ट्रेंडिंग फिलासफी'**, इसी शृंखला में उनका एक लेख पहले इंडियन फिलासफीकल क्वार्टरली के जनवरी १९७७ अंक में प्रकाशित हुआ था जिसका शीर्षक था **'पॉलिटिक्स आफ फिलासफी'**। यह दूसरा लेख साम्यवादी देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय की पुस्तक **'ह्वाट इज़ लिविंग एण्ड ह्वाट इज़ डैड इन इंडियन फिलासफी'** की समीक्षा है। इन समीक्षाओं के शीर्षक कहाँ तक उचित हैं, यह कहना मेरे लिए कठिन है। डॉ० राव का कहना हैं कि भूतपूर्व मंत्री देवीप्रसाद की पुस्तक दक्षिणपंथी राजनीति के मार्ग से लाभार्जन के प्रयोजन से लिखी गयी है और दूसरे देवीप्रसाद की पुस्तक वामपंथी राजनीति के मार्ग से लाभार्जन के प्रयोजन से। मुझे ऐसा मानने के लिए कोई कारण दिखायी नहीं देता, यद्यपि यह बात स्वतःस्पष्ट प्रतीत होती है कि दोनों देवीप्रसादों को निःश्रेयस सिद्धि राजनीतिक मार्ग से ही मिली है।

मैंने डॉ० राव द्वारा समीक्षित दोनों पुस्तकें न पढ़ी हैं और न आगे पढ़ने का विचार है—फीस मिले तब भी नहीं। इसका कारण "शब्दशास्त्र का अनंत-पार होना और स्वल्पायु का विघ्न-बहुल होना" है, ऐसी अवस्था में फल्गु का त्याग अनिवार्य हो जाता है। किन्तु इन पुस्तकों की फल्गुता का ज्ञान मुझे दो सर्वथा भिन्न प्रकारों से हुआ—वामपंथी का प्रागनुभविक प्रकार से और दक्षिणपंथी का आनुभविक प्रकार से। प्रागनुभविक इस

प्रकार :—वामपंथी प्रत्येक विचार को वर्ग-स्वार्थ-जनित मानते हैं, अपने को अपवाद मानते हुए। इस प्रकार वामपंथी देवीप्रसाद के अनुसार "शंकराचार्य ने जो लिखा वह केवल श्रमिक वर्ग को दबाये रखने के लिए।" रोचक बात यह है कि ये वामपंथी-श्रमिकोद्धारक धन और सुविधाओं के संग्रह में "बुर्जुआ लेखकों" से कहीं अधिक सफल हैं। अंतर केवल यह है कि ये इस सब माखन-मिश्री का उपयोग "श्रमिक के प्रति समर्पण-भाव" से करते हैं। किन्तु खैर, इनके ईमान की चर्चा यहाँ मेरा उद्देश्य नहीं है, पुस्तक नहीं पढ़ने का कारण पहला ही है। मैं दूसरे देवीप्रसाद की पुस्तक क्यों नहीं पढ़ पाया ? इसका कारण इस प्रकार है—एक बार डॉ० राव ने इनकी एक दूसरी पुस्तक "इंडिविड्यअल्स एण्ड सोसाइटीज" की प्रशंसा की। मैंने वह पढ़ने की इच्छा प्रकट करते हुए उन्हें इसकी प्रति देने के लिए कहा। किन्तु पुस्तक के दो-तीन पृष्ठ पढ़ने पर ही मैंने पाया कि इसमें वे सब 'गुण' हैं जो डॉ० राव ने पीछे इनकी दूसरी पुस्तक में पाये। मैंने दूसरे दिन उन्हें पुस्तक लौटाते हुए बताया कि मुझे वह क्यों बेकार लगी। बाद में डॉ० राव ने जब उनकी दूसरी पुस्तक में भी वही विशेषताएँ देखीं तब उन्होंने मुझे उतने श्रम से भी बचा दिया। किन्तु डॉ० राव ने ये दोनों बृहदाकार पुस्तकें पूरी पढ़ी हैं और दिखाया है कि किस प्रकार ये घटिया स्तर की कृतियाँ हैं। मुझे इस दृष्टि से उनकी समीक्षा पूर्णत: विश्वसनीय प्रतीत होती है।

किन्तु समीक्षक का एक दूसरा कार्य भी होता है और वह यह कि वह समीक्ष्य पुस्तक के विचार पर भी टिप्पणी करे। डॉ० राव ने दक्षिण-पंथी देवीप्रसाद की पुस्तक पर इस दृष्टि से कोइ चर्चा नहीं की है, जिससे उनकी यह समीक्षा बहुत कमजोर रह गयी है। वामपंथी देवीप्रसाद के विचार की कुछ चर्चा उन्होंने की है, यद्यपि बहुत ही अपर्याप्त रूप से। इस प्रसंग में उन्होंने दो बातें प्रत्यक्ष रूप से कही हैं और एक परोक्ष रूप से। प्रत्यक्ष कथन ये हैं : (१) दर्शन की वर्तमान प्रासंगिकता किस बात में है, और (२) क्या प्राचीन भारतीय दर्शन में कुछ जीवित है या कि सब कुछ मृत ही है ? डॉ० देवीप्रसाद वर्तमान प्रासंगिकता विज्ञान, बुद्धिवाद और ऐहिकतावाद (साइंस, रैशनलिज़्म एण्ड सेक्युलरिज़्म) के त्रिक में देखते हैं और डॉ० राव इसे बिना किसी ननु-नच के स्वीकार करते हैं। किन्तु क्यों ? यह त्रिक. जिसे डॉ० राव एक ही बात के तीन पक्ष कहते हैं, पूर्वमान्यता है या कि सुविचारित दृष्टि है ? जैसाकि स्पष्ट है, यह यूरोपीय संस्कृति के वर्तमान चरण की दृष्टि है और सांस्कृतिक दृष्टि विचार का फल नहीं होकर उसका आधार होती है। यह सब स्वीकार करेंगे कि भारतीय संस्कृति के वर्तमान या अतीत किसी भी चरण की यह दृष्टि नहीं है; तब डॉ० राव किस आधार पर इसे प्रासंगिकता की कसौटी बना रहे हैं ? यदि वे इस दृष्टि को स्वीकार करने का प्रस्ताव कर रहे हों तो दूसरी बात है, किन्तु तब यह प्रासंगिकता नहीं हुई, प्रस्ताव हुआ।

दूसरी बात के संबंध में डॉ० राव डॉ० देवीप्रसाद से असहमत हैं, और मैं मानता हूँ कि ठीक ही। डॉ० देवीप्रसाद जबकि झूठमूठ भारतीय दर्शन में उपर्युक्त तीन तत्त्वों को भी पर्याप्त मात्रा में देखते हैं, डॉ० राव यह नहीं देखते और इस कारण उसे पूर्णत: मृत मानते हैं और परामर्श देते हैं कि हमें उस मृत लोथ का बोझ नहीं ढोना चाहिए। किन्तु यदि किसी संस्कृति या दर्शन का प्राण विज्ञान ही है, तब भारतीय दर्शन सदैव मृत ही था, अभी ही उसे मृत क्यों कहा जाय ? क्या डॉ० राव यह कहना चाहेंगे ?

डॉ० देवीप्रसाद से जिस बात में वे असहमत हैं वह यह कि डॉ० देवीप्रसाद मृत (आदर्शवादी) दार्शनिक लेखकों को धूर्त, (अर्थात् मृत दर्शन की जानबूझ कर सृष्टि करने वाले बुद्धिमान बुद्धिवादी) मानते हैं और डॉ० राव उन्हें मूर्ख मानते हैं, अर्थात् मृत दर्शन के बुद्धिहीन सर्जक। (देखें, इं० फि० क्वा०, जनवरी १६७७, पृ० २०५)।

डॉ० राव के मताग्रह को दिखाने के लिए यहाँ मैं उनके केवल एक प्रतिपादन का उल्लेख और करूँगा—यह कहने के बाद कि म क्स विट्गिंस्टाइन के समान ही सत् का विवरण मिल जाने के बाद दर्शन का कार्य समाप्त मानता है, कहते हैं कि "इस विवरण की संभावना किसी भी समय-विशेष में उस समय के वैज्ञानिक विकास की सापेक्ष होती है।" (पृ० २१२) यदि यह बात हो, जैसाकि वास्तव में प्राय: सभी लॉजीकल पॉज़िटिविस्ट मानते हैं, तब दर्शन के लिए स्थान ही कहाँ रह जाता है? विवरण तो विज्ञान ही देता है, तब दर्शन क्या करता है? इसके बाद डॉ० राव कहते हैं कि विज्ञान के वर्तमान पैमाने के अनुसार 'मस्तिष्क भौतिक वस्तु है, यद्यपि अभी हम इसके परमाणुओं की पूरी कहानी नहीं जानते।' (२१२) अर्थात् विज्ञान ने सत्यांश तो बता दिया और पूर्ण सत्य की खोज जारी है, जो मस्तिष्क की भौतिक संरचना जान लेने पर पूरी हो जायगी। किन्तु इस प्रकार के 'क्रांतिकारी-विचारों' का क्या औचित्य है और यहाँ इनकी प्रासंगिकता क्या है, यह मैं समझ नहीं पाया।

अब डॉ० राव के स्वतंत्र लेख के बारे में, जोकि वास्तव में उनकी अप्रकाशित पुस्तक का सारांश है। लेख का शीर्षक है "प्री-स्क्रिप्ट टू ए फिलासफी आफ टेक्नालोजी।" लेख से अनुमान लगाया जा सकता है कि पुस्तक विद्वत्तापूर्ण और विचारपूर्ण होगी। पुस्तक में १८ अध्याय हैं जिनका संक्षेप उन्होंने यहाँ २५ पृष्ठों में किया है। यह बात निस्संदिग्ध रूप से कही जा सकती है कि डॉ० राव के कुछ विचार यहाँ बहुत क्रांतिकारी हैं, किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी क्रांतिकारिता उतनी गंभीर चिन्तन का परिणाम नहीं है जितनी चिंतन की जल्दबाज़ी का। इस प्रसंग में कुछ कहने से पहले यहाँ मैं यह स्वीकार करना चाहूँगा कि उनके कुछ प्रतिपादनों पर, विशेषत: भारत में विज्ञान का विकास होने—नहीं होने के कारणों और तथ्यों पर, टिप्पणी करने में मैं अपने को सक्षम नहीं पाता हूँ, कुछ पर टिप्पणी करना प्रतिपादन के बहुत अधिक संक्षिप्त होने के कारण संभव नहीं है, किन्तु दो ऐसे प्रतिपादनों पर टिप्पणी अवश्य करना चाहता हूँ जिनकी अन्तर्वस्तु दार्शनिक है और जो डॉ० राव के विचार की जल्दबाज़ी के सूचक हैं। ये निम्न हैं :—

१. डॉ० राव तकनीकी के दो स्तर मानते हैं—प्रथम स्तर उनके अनुसार 'हाथ की शक्ति का विस्तार' परक है, जिसे वे टेक्ने (Techne) की संज्ञा देते हैं, दूसरा स्तर तकनीकीय : मशीन द्वारा मशीन के उत्पादन की अनंत शृंखला-परक : है। उनके अनुसार, इन दो स्तरों में मौलिक भेद यह है कि प्रथम में मनुष्य प्रकृति को प्रदत्त तथ्य मानता है जिसको वह 'नियुक्त' (मैनीपुलेशन) कर सकता है, किन्तु दूसरे में वह प्रकृति को पूर्णत: अपने द्वारा सर्जित मानता है—आमूलत: सर्जन-व्यापार की विषयभूत। मुझे लगता है कि डॉ० राव का यह एक सांप्रदायिक विचार है—कुछ विज्ञान-दार्शनिक यह मानते हैं कि विज्ञान-विषय

प्रकृति प्रदत्त नहीं है, किन्तु दूसरे मानते हैं कि यह प्रदत्त है। उदाहरण के लिए, सापेक्षता-सिद्धान्त और क्वांटम भौतिकी दोनों में बहुत कुछ विषयिनिष्ठतावादी प्रवृत्तियाँ हैं, किन्तु बहुत से विज्ञान-दार्शनिक हैं जो मानते हैं कि प्रकृति को प्रदत्त नहीं मानना अयुक्तिसंगत है।[1] डॉ० राव कहेंगे कि दार्शनिकों की बात छोड़िये, वैज्ञानिकों की बात कीजिए, आज के वैज्ञानिक जीवाणु और परमाणु सबको रचनीय मानते हैं। किन्तु प्रश्न है कि इस विवाद को निपटाये या बढ़ायेगा कौन, टेक्नीशियन तो यह नहीं कर सकेगा, दार्शनिक ही करेगा। किन्तु मानलें कि डॉ० राव की बात सही है, उस अवस्था में यह द्रष्टव्य है कि जादुई व्यवस्था में मनुष्य और भी अधिक मौलिक रूप से प्रकृति को सर्जना-विषय मानता है, तकनीकीय चिंतन इस दृष्टि से उतना मूलगामी नहीं होता। इसी प्रकार योग में भी प्रकृति को पूर्णतः नियोज्य माना गया है, प्रदत्त नहीं माना गया है—और ये दोनों व्यावहारिक व्यवस्थाएँ हैं। इसलिए प्रकृति मूलगामी नियोज्यता या सृजनीयता के विचार को तकनीकी का विच्छेदक गुण नहीं माना जा सकता।

२. अनुच्छेद १६ में डॉ० राव कहते हैं—"तकनीकी का तत्त्व ही मनुष्य का तत्त्व है, तकनीकी से रहित मनुष्य मनुष्यता से रहित है।"[2] यह जिस प्रसंग में लिखा गया है वह इस कथन को और भी मूर्खतापूर्ण बना देता है—वे लिखते हैं कि कुछ जातियाँ तकनीकी में आगे हैं कुछ पीछे, और इनमें जो आगे हैं वे पिछड़ों का शोषण करती हैं।

"इस एकाधिकारवादी (मोनोपलिस्टिक) नियोजन-सामर्थ्य ने सामान्य को विशिष्ट बना दिया है और तकनीकी रूप से पिछड़े हुओं का अमानवीकरण कर दिया है।" (पृ. ५१) अब इससे यह निष्कर्ष कैसे निकलता है कि मनुष्य का तत्त्व तकनीकी है, क्या डॉ. राव यह मानते हैं कि मनुष्य का अमानवीकरण करने वाले मनुष्य उत्कृष्टतर–उसी सीमा तक उत्कृष्ट जिस सीमा तक वे अमानवीकरण करते हैं—मनुष्य हैं? किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि वे ऐसा मानते हैं। वे अनुच्छेद १५ में लिखते हैं—**इस प्रकार तकनीकी एक ओर मनुष्य और समाज के बीच और दूसरी ओर समाज तथा प्रकृति के बीच के द्वैतों को मिटा देती है और इन्हें एक ऐसी अवधारणात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत समन्वित कर देती है जिसके केन्द्र में तकनीकी की अवधारणा है।** (रेखांकन डॉ० राव द्वारा) इसका अर्थ हुआ कि कोई भी स्कूटर-मेकेनिक डॉ० राव से उत्कृष्टतर मनुष्य है। वास्तव में डॉ० राव को कोई मशीन चलानी तक नहीं आती, बनाने की बात तो दूर, किन्तु मैं नहीं समझता कि वे अपने को कुशल से कुशल मिस्त्री से कम मनुष्य मानेंगे, कम से कम मैं उनके लिए ऐसा नहीं मान सकता।

मैंने डॉ० राव से पूछा कि वे इस प्रकार की बात कैसे कह सकते हैं? क्या उनके विचार में १६ वीं शताब्दी से पहले मनुष्य था ही नहीं, (क्योंकि उनके अनुसार, तब तक तकनीकी नहीं थी, हस्त-कौशल था) और क्या १६ वीं शताब्दी के बाद से मनुष्य क्रमशः

1. Harold J. Brown--Objective Knowledge in Science and Humanities, Diogenes, No 97.
2. "For the Essence of Technology is the essence of man, sans technology man is bereft of humanity". (p. 59)

अधिक मनुष्य हो रहा है ? इसका उत्तर उन्होंने जो दिया उससे स्पष्ट है कि उनका यह प्रतिपादन सुचिन्तित नहीं था, उन्होंने कहा कि "यह आज के मनुष्य का तत्त्व है, सब युगों के मनुष्य का नहीं।" इस पर मैंने आपत्ति की "किन्तु आपने तो मनुष्य के तत्त्व की बात की है, इस युग के मनुष्य के तत्त्व की नहीं, और इसका कोई अर्थ भी नहीं बनता कि इस या उस युग के मनुष्य-तत्त्व की बात की जाय !" तब उन्होंने कहा कि "वास्तव में मनुष्य का कोई तत्त्व नहीं है, इस बात में मैं अस्तित्त्ववादियों से सहमन हूँ, युग विशेष के मानव का तत्त्व होता है।" विचित्र, मैंने आपत्ति की, यदि आप मनुष्य का तत्त्व नहीं मान सकते तब युग का तत्त्व कैसे मानेंगे ? युग, समाज आदि तो आपके लिए केवल काल्पनिक वस्तुएं ही हो सकती हैं। इसका उन्होंने कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया, न वे दे ही सकते थे, क्योंकि विज्ञान मनुष्य का तत्त्व तो "मानव-व्यक्ति के मस्तिष्क की भौतिकीय संरचना"[3] के आधार पर स्थिर कर ही सकता है, समाज और युग के तत्त्व को किस आधार पर स्थिर करेगा ? जहाँ तक डॉ० राव के मनुष्य के तत्त्व की बात से फिरने के प्रयत्न का सम्बन्ध है, वह भी सम्भव नहीं है क्योंकि वे स्पष्ट कह रहे हैं, यद्यपि नितांत भ्रामक रूप से, कि तकनीकी-सम्पन्न लोग तकनीकी-विपन्न लोगों में से मनुष्य का तत्त्व नष्ट कर रहे हैं। अस्तित्त्ववादी तो "डी-ह्यूमनाइज़ेशन" (मनुष्यत्व-ह्रास) तकनीकी-विपन्नों का ही नहीं मानते, तकनीकी-सम्पन्नों का भी मानते हैं और 'मनुष्यत्व-ह्रास' में 'मनुष्यत्व' पद उनके लिए किसी तत्त्व का वाचक नहीं है, जबकि डॉ० राव के लिए है।

इस आलोचना का यह आशय नहीं समझा जाय कि तकनीकी सम्बन्धी डॉ० राव के लेख में कुछ सराहनीय नहीं है। निश्चय ही यह उनके विस्तृत अध्ययन का फल है और उनकी पैनी सूझ का द्योतक है, केवल निष्कर्षों पर पहुँचने में जल्दबाज़ी दिखायी देती है। जहां तक समीक्षा-लेखों का प्रश्न है, वे समीक्ष्य पुस्तकों के ही बेतुके होने से महद्-अर्थपूर्ण नहीं हो सकते थे। किन्तु तब भी डॉ० राव उस बेतुकेपन से बच सकते थे जो उन्होंने वामपंथी देवीप्रसाद की पुस्तक की समीक्षा के प्रसंग में प्रकट किया है।

यशदेव शल्य

3. यह डॉ० राव की तीसरी जल्दबाज़ी है, यद्यपि इसकी मौलिकता का श्रेय कार्नप-क्वाइन को है। किन्तु द्रष्टव्य है कि यह प्रतिपादन वैज्ञानिक-तकनीकीय नहीं, दार्शनिक है। देखें—यशदेव शल्य—संस्कृति: मानव-कर्तृत्व की व्याख्या में "प्राकृतिक विज्ञान" अध्याय। प्रका. राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९६९।



अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के प्रकाशन

१.	अनुभववाद	स. यशदेव शल्य	७.००
२.	समकालीन दार्शनिक समस्याएँ	सं. यशदेव शल्य	२०.००
३.	दार्शनिक विश्लेषण	ले. यशदेव शल्य	२०.००
४.	विषय और आत्म	ले. यशदेव शल्य	२०.००
५.	समकालीन भारतीय दर्शन	सं. के. सच्चिदानन्द मूर्ति	२०.००
६.	भारतीय मनोविज्ञान	सं. नारायणशास्त्री द्राविड़	१५.००
७.	अपोहसिद्धि, अनुवाद एवं व्याख्या	गोविन्दचन्द्र पाण्डे	३.००
८.	न्यायबिन्दु, अनुवाद एवं व्याख्या	गोविन्दचन्द्र पाण्डे	८.००
९.	नृतत्त्व तथा समाजदर्शन (९ खंड)	सं. दयाकृष्ण, गोविन्दचन्द्र पाण्डे, यशदेव शल्य	५८.००

श्री यशदेव शल्य द्वारा अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के लिए डी ३१, बा[illegible]
जयपुर से संपादित तथा प्रकाशित एवं जयपुर मान प्रिंटर्स, बाण वालों का द[illegible]
चौड़ा रास्ता, जयपुर से मुद्रित।

संपादक : यशदेव शल्य

वर्ष २३, अंक ३, जुलाई १९७७

दार्शनिक त्रैमासिक

इंडियन इंस्टीट्यूट आफ ओरियण्टल फिलासफी, वृन्दावन में २७-२९ दिसम्बर १९७७ को संपन्न अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के २३वें वार्षिक अधिवेशन की कार्यवाही

विषय सूची

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् ।

वार्षिक मूल्य : १५.००

शोक प्रस्ताव

१८ दिसम्बर १९७७ के पूर्वाह्न में अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के अधिवेशन की कार्यवाही के बीच पद्मभूषण डा० भीखनलाल आत्रेय के देहावसान का समाचार अकस्मात् मिला और एकाएक सम्पूर्ण सभा शोक-संतप्त हो उठी, क्योंकि उस सभा में अधिकाँश सभासद या तो उनके शिष्य थे अथवा उनसे किसी प्रकार निकट रूप से सम्बन्धित थे और उनका स्नेह प्राप्त कर चुके थे। डा० देवराज, डा० रमाशंकर श्रीवास्तव, डा० रामजीसिंह, प्रो. नित्यानन्द मिश्र, डा. ह. माहेश्वरी, श्री यशदेव शल्य, डा. ब्रह्ममित्र अवस्थी आदि ने अपने उद्गार व्यक्त किये। यह न केवल इसलिए स्वाभाविक था क्यों कि डा. आत्रेय भारतीय दर्शन के आकाश में लगभग आधी शताब्दी तक एक भास्वर नक्षत्र के तुल्य रह चुके थे बल्कि इसलिए भी था क्योंकि उनका परिषद् से भी आरम्भ से ही निकट संपर्क था और वे १९५९ से १९६७ तक परिषद् के अध्यक्ष रहे थे।

अधिवेशन ने डा. आत्रेय के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उनके परिवार को यह दुःख सहन करने की शक्ति प्रदान करने के लिए प्रार्थना की।

दार्शनिक त्रैमासिक

वर्ष २३ जुलाई १६७७ अङ्क ३

भारतीय दर्शन का भावी स्वरूप*

रमाशकर श्रीवास्तव

सर्वप्रथम मैं अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के सदस्यों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने मुझे २३वें अधिवेशन का अध्यक्ष चुनकर गौरवान्वित किया है। मैं इस विद्वत परिषद् का ध्यान भारतीय दर्शन की भावी प्रवृत्तियों की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ तथा इसके अपेक्षित मूल्यों पर विचार-विमर्श करना चाहता हूँ। 'दर्शन' मानव का पथ-प्रदर्शक रहा है। समाज के निर्माण और विकास में इसका महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। मानव का परम लक्ष्य सच्चिनानन्द की प्राप्ति है। जबतक जीवात्मा ममत्व एवं परत्व की भावना में लीन रहता एवं बुद्धिवाद के कारण विभाजन प्रणाली को अपनाता रहता है तबतक उसमें आत्मीयता नहीं आती। वह आनन्द के अविरल स्रोत से दूर रहता है। दर्शनशास्त्र मानव के समक्ष उन्हीं रहस्यों को अनावरित करता है और अखण्ड आनन्द को प्रदर्शित करता है। मैं आप लोगों के समक्ष भावी भारतीय दर्शन के स्वरूप को स्पष्ट करना चाहता हूँ।

आज जीवन के हर क्षेत्र में पाश्चात्य प्रभाव दृष्टिगोचर हो रहा है। दर्शन के क्षेत्र में भी पाश्चात्य दर्शन अपना आधिपत्य रखना चाहता है। कुछ भारतीय विद्वान, जो पाश्चात्य दर्शन से अत्यधिक प्रभावित हैं, वे भारतीय दर्शन को भी उसी घेरे में सीमाबद्ध करना चाहते हैं। भारतीय संस्कृति और दार्शनिक विचारों को निरर्थक सिद्ध कर वे उस ओर हमें ले जाना चाहते हैं जहाँ अतीव अन्धकार का ही अनुभव होता है। उनमें से कुछ

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के २३वें वार्षिक अधिवेशन (२७-२९ दिसम्बर, १९७७) के अध्यक्ष-पद से भाषण।

विट्गेंस्टीन, एयर, राइल, कार्नप और बर्ट्रेन्ड रसेल के अनुयायी हैं। वे भारतीय दर्शन को प्रतिज्ञप्तियों में आबद्ध रखना चाहते हैं। उनके अनुसार दर्शन का विषय और क्षेत्र मनुष्य की रहस्यानुभूतियाँ नहीं हैं और न दर्शन का कार्य मानव-जीवन के आदर्श, लक्ष्य और नैतिकता का निर्देश करना है। दर्शन का सही लक्ष्य जीवन के मूल्य और मोक्ष की व्याख्या करना है। ये विद्वान् भाषा को प्रांजल और अर्थपूर्ण बनाने का आग्रह करते हैं, किन्तु मानवीय विकास एवं मार्ग-निर्देशन के कार्यों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता है।

वर्त्तमान युग एक विषम परिस्थिति में जी रहा है। इस संकट कालीन अवस्था में मानव मार्ग-दर्शन न मिलने के कारण भटक रहा है। वह केवल भौतिक उपलब्धियों एवं पाशविक सुखों की पूर्ति में संलग्न है। उसकी आध्यात्मिक आकांक्षाएँ पूरी नहीं हो रही हैं। मानव अपने में ईश्वरीय स्वरूप को प्राप्त करना चाहता है। ऐसी दशा में आधुनिक भारतीय दर्शन ही अपने परिवर्तित रूप में मानव का पथ-प्रदर्शन करने की क्षमता रखता है।

'मानव' ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति है। परमेश्वर मानव की सृष्टि में अपनी पूर्ण मूलभूत आध्यात्मिक शक्ति का प्रदर्शन करना चाहता है। सच्चिदानन्द मानव में छिपा हुआ है। मानव का आध्यात्मिक विकास अनवरत ढंग से होता रहता है। 'मानव' की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि सच्चिदानन्द की प्राप्ति है। जब मानव-समूह का संसर्ग परमेश्वर से हो जाता है तो उन्हें जीवन की सभी उपलब्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। मानव का आध्यात्मिक विकास सभी शुभ की प्राप्ति में निहित है और यह शुभ उस सच्चिदानन्द को प्राप्त कर लेना ही है। यही मानव की सर्वोच्च उपलब्धि है। इसी लक्ष्य की प्राप्ति में मार्ग-निर्देशन करना भावी दर्शन का उद्देश्य है।

भारतीय दर्शन का भावी विकास अपने स्वाभाविक एवं नैसर्गिक वातावरण पर निर्भर है जो बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित होता है। इसका विषय और विकास असीमित है। उसे किसी निश्चित परिधि में बाँधा नहीं जा सकता, अगर अत्युक्ति न हो तो वह विश्व के सभी आध्यात्मिक आदर्शों का समन्वय प्रस्तुत करता है।

अगर दर्शन को पुनः अपना सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त करना है और उसे कलाओं की कला और विज्ञानों का विज्ञान होने का दावा करना है तो उसमें सर्वांगिक ज्ञान का रहना आवश्यक है। आज का युग विज्ञान का युग है। दर्शन पर भी विज्ञान का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। मनोविज्ञान और परा-मनोविज्ञान मनुष्य को उच्चतर स्तरों से परिचित कराते हैं। भौतिक विज्ञान मनुष्य को जड़ जगत् की मूलभूत सत्ता का परिचय देता है, जैविक शास्त्र जीव-सम्बन्धी तथ्यों को प्रकाश में लाता है। इन विज्ञानों के द्वारा जो ज्ञान उपलब्ध है उनका संश्लेषण दर्शन में भी हो रहा है। विज्ञान, जो जड़, जीवन और चेतन की व्याख्या करता है, उन्हीं सिद्धान्तों को एक पूर्ण पद्धति में सूत्रबद्ध करना दर्शन का कार्य है। वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में जिन तथ्यों का रहस्योद्घाटन होता है वे ही दर्शन के द्वारा रहस्यानुभूति में प्राप्त होते हैं। अध्यात्मवेत्ता तत्त्वज्ञान एवं रहस्यानुभूति के द्वारा जो अनुभव करता है, वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में उसी का अन्वेषण करता है। यौगिक प्रत्यक्षानुभूति और वैज्ञानिक तथ्यों में हम अत्यधिक समानता पाते हैं। रहस्यानुभूति का बौद्धिक

ज्ञान से सम्बन्ध है और दोनों में हम तारतम्य पाते हैं। बौद्धिक ज्ञान और विज्ञान, रहस्यानुभूति के आँशिक ज्ञान हैं, सभी ज्ञानों की परिपूर्णता हम रहस्यानुभूति में पाते हैं।

आधुनिक भारतीय दर्शन केवल तत्त्व दर्शन नहीं है। वह सामाजिक सिद्धान्तों, मानवीय मूल्यों, धार्मिक तथ्यों, नैतिक मूल्यों का समन्वय है। दार्शनिक ज्ञान वह पूर्ण ज्ञान है जो विभिन्न सिद्धान्तों को आत्मसात् और समाहित करता है। अतएव भावी दर्शन में सभी शास्त्रों का समन्वय होना अनिवार्य है। भारतीय दर्शन के भावी स्वरूप में रहस्यानुभूतिक एवं व्यावहारिक तथ्यों का समुचित समावेश होना आवश्यक है। वह परम्परागत बँधी हुई सीमाओं को तोड़कर सक्रिय, गतिशील, सृजनात्मक रूप में व्यक्त होगा। दर्शन के विषय में विज्ञान, तर्क, नैतिकता, राजनीति और अध्यात्म-शास्त्र सभी की अभिव्यक्ति अनिवार्य होनी चाहिये।

हम देखते हैं कि भारतीय दर्शन भौतिक और चैतन्य तत्त्वों की एकता प्रतिष्ठित कर रहा है। उसके अनुसार जड़ तत्त्व की मूल सत्ता अमूर्त, अनिश्चित, पारदर्शी चैतन्य है। भौतिक एवं चैतन्य तत्त्वों में कोई भेद नहीं, दोनों एक ही तत्त्व के दो रूप हैं। जड़ आध्यात्मिक तत्त्व ही है। चेतन तत्त्व का ही विभिन्न स्वरूप अनेक वस्तुओं में मिलता है। जड़ चैतन्यस्वरूप ब्रह्म ही है। प्रकृति अपनी चेतनशक्ति द्वारा सभी तत्त्वों का सृजन और विकास करती है। जड़, ब्रह्म, प्रकृति, आध्यामिक चेतन तत्त्व सभी परम तत्त्व के विभिन्न स्वरूप हैं। सृष्टि की रचना, विकास, लक्ष्य और दिशा परम तत्त्व की अपनी हैं, और ये सभी उसी से निर्देशित होते हैं। जड़ तत्त्व ठोस पदार्थ नहीं है बल्कि सूक्ष्म चेतन सत्ता है। जीवन, मानस, अतिमानस, प्रज्ञान, दिव्य चेतन इत्यादि, सभी इसकी विकास-प्रक्रिया की अवस्थाएँ हैं। उस चेतन-प्रवाह और शक्ति के ही ये सभी सीमित स्वरूप हैं। भौतिक और आध्यात्मिक तत्त्व एक ही हैं। अतएव भौतिक विज्ञान और दर्शन एक सूत्र में बँधे हैं। भौतिक विज्ञान और दर्शन दोनों का विषय और कार्यक्षेत्र एक ही है।

भारतीय दर्शन के अगले चरण में 'ईश्वर' और 'ब्रह्म' सम्बन्धी दार्शनिक विवाद समाप्त होने की सम्भावना दिखलायी पड़ती है। 'निर्गुणवाद' और 'सगुणवाद' का विवाद अब समाप्त हो रहा है। ब्रह्म और ईश्वर में कोई भिन्नता नहीं है। ईश्वरवाद का स्थान अब गौण हो रहा है परन्तु उसके स्थान पर दार्शनिकों का विश्वास ईश्वर के अस्तित्व की ओर अधिक हो रहा है। वे उसकी एकता, सर्वज्ञता, असीमता और दिव्य नियम की अभिव्यक्ति से प्रभावित हो रहे हैं। उनके दार्शनिक विचार में विश्व का नियन्त्रण और संचालन उसी परम शक्ति के द्वारा हो रहा है, पर उसे सगुण और निर्गुण के रूप में रूपायित नहीं किया जा सकता है। वह अनुभूति का विषय है। वह परम सत्य तत्त्व है।

आत्मन् सम्बन्धी विचार में भी आमूल परिवर्तन परिलक्षित होता है। आत्मन् परमेश्वर का अंश तथा केन्द्र-बिन्दु है। मानव का आध्यात्मिक जीवन आत्मन् के निर्देशन एवं प्रभाव द्वारा ही संभव है। आत्मन् की दैवी शक्तियों से मानव अतिमानव एवं परमेश्वर की प्राप्ति करता है। मानव एवं समाज का आध्यात्मिक रूपान्तर 'आत्मन्' निरन्तर करता रहता है। 'जीवनमुक्ति' या पूर्ण-मानव की अवस्था की प्राप्ति आत्मन् की शक्तियों

द्वारा ही सम्भव है। आत्मन् के अभाव में मानव किसी भी दैवी गुणों की उपलब्धि करने में असमर्थ रहता है। प्राचीन भारतीय दर्शन में आत्मन् को निष्क्रिय सत्ता समझा जाता था। वह मानव को ईश्वर-मानव में विकसित करने में असमर्थ था। मानव की आध्यात्मिक उपलब्धि में उसका कोई योगदान नहीं था किन्तु आधुनिक तथा भावी दार्शनिक विचारों में यह मान्यता परिलक्षित है कि 'आत्मन्' ही 'मानव' का ईश्वरीय रूपान्तर कर सकता है तथा 'मानव' के सभी कार्यों में उसका योगदान रहता है।

मुक्ति तथा निर्वाण सम्बन्धी विचार दार्शनिकों के लिए गौण हो रहे हैं। 'मानव' की 'पूर्णमानव' या 'अतिमानव' की अवस्था को ही सर्वश्रेष्ठ समझा जा रहा है। जब मनुष्य का आध्यात्मिक रूपान्तर कृष्ण, ईसामसीह तथा 'दिव्य-पुरुष' में हो जाता है तो वह सर्वोत्तम अवस्था को प्राप्त कर लेता है। वह सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान् और आनन्द की अतिमानवीय दशा को प्राप्त करने की आकाँक्षा रखता है। यही मोक्षावस्था या पूर्णवस्था है। यह मानव का भावी ईश्वरीय जन्म है।

'योग' वैज्ञानिक विधि है। इसके अभ्यास से व्यक्ति अतीव चेतना और शक्ति को प्राप्त करता है। इसे दर्शन के व्यावहारिक क्षेत्र में उचित स्थान देना आवश्यक है। राज-योग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, हठयोग, क्रियायोग इत्यादि, जिससे मनुष्य का उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास होता है, उसका दर्शन में समुचित स्थान रखना अनिवार्य है।

भारतीय दर्शन में विभिन्न यौगिक विधियों का प्रयोग, निरीक्षण और अन्वेषण आवश्यक है। 'योग' का महत्त्व शारीरिक एवं मानसिक रोग-चिकित्सा, स्वास्थ्यलाभ, चेतना के विकास तथा आध्यात्मिक और दैवत्व की उपलब्धि में अत्यधिक है। दार्शनिक एवं आध्यात्मिक व्यक्तियों से समुचित योग की विधियों की माँग बढ़ रही है। 'योग' का प्रयोग मानव-विकास के हरेक क्षेत्र में है। इसका अभ्यास प्रत्येक परिवार, समाज एवं धर्मावलम्बी द्वारा किया जाना चाहिए। 'योग' का प्रयोगशालाओं द्वारा निरन्तर सुधार और आधुनिकीकरण करने की आवश्यकता है। व्यावहारिक दृष्टि से 'योग परम उपयोगी है। भारतीय दार्शनिकों को 'योग' की पद्धतियों का विकास और उसका प्रसार करना लाभप्रद है।

आधुनिक युग में धर्मों के अन्ध विश्वास, धार्मिक अनुष्ठान, असामाजिक, अनैतिक और अमानवीय प्रथाएँ समाज को अमान्य हो रही हैं। दार्शनिकों का यह कर्त्तव्य है कि वे धर्मों के सभी तथ्यों का मूल्यांकन करें तथा विवेक द्वारा उन हानिकारक और अमानवीय अंगों को धर्म से अलग करदें। उन्हें धर्म को मानवीय, बौद्धिक, तार्किक, सामाजिक और आदर्शात्मक बनाने के लिए उनका परीक्षण करना चाहिये। जब सभी धार्मिक अनुष्ठान धार्मिक कृतियाँ और अन्ध-विश्वास समाप्त हो जायेंगे तो धर्म, अध्यात्म और दर्शन में कोई भेद नहीं रह जायगा। भावी धर्म, अध्यात्म और दर्शन एक होना चाहिये, और उनमें भेद करना अनुचित भी है। ऐसे दार्शनिक एवं आध्यात्मिक धर्म सभी श्रेष्ठ मूल्यों का समावेश करेंगे, अतएव भावी दार्शनिक पद्धति में आध्यात्मिक एवं धार्मिक मूल्यों के समन्वय की रूपरेखा रहनी चाहिये।

भावी भारतीय दर्शन को मानव-केन्द्रित होना चाहिये। मानव जीवन इस संसार में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। भावी भारतीय दर्शन को मानवमुखी होना चाहिये। मानव सांसारिक जीवन में ही पूर्णता, अतिमानवता या ईश्वरत्व की प्राप्ति चाहता है। भावी भारतीय दार्शनिक पद्धतियों में मानव-जीवन की पूर्णता पर अत्यधिक ध्यान देना अपेक्षित है।

दार्शनिकों का भविष्य में कर्तव्य है कि वे नैतिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मूल्यों एवं साधनों के सामूहिक योग से एक नवीन दर्शन तैयार करें जो मानव-जीवन का पूर्णरूप से पथ-प्रदर्शन कर सकने में समर्थ हो। मनुष्य के विकास के लिए ही धर्म, दर्शन, नैतिक शास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, विज्ञानादि के नियम हैं।

भारतीय दर्शन को मानवतावाद, सहकारिता, समता, भ्रातृत्व तथा एकता के सिद्धान्तों का प्रसार करना है। धर्मों में साँस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मूल्यों का चित्रण आवश्यक है। दर्शन यदि मानव-जीवन एवं समाज की व्याख्या है तो इसमें समस्त अंगों का चित्रण अपेक्षित है। जीवन की समग्रता की दार्शनिक व्याख्या तथा उसके मूल्यों का संयोजन दर्शन में अपेक्षित है। दर्शन का भावी कर्तव्य नैतिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक मूल्यों तथा आदर्शों का संयोजन करना है। तार्किक ज्ञान, समाज शास्त्र, नैतिक शास्त्र और आध्यात्मिक मूल्यों का एक दर्शन में संयोजन करना आवश्यक है। प्रकृति एवं ईश्वर भी मानव-समूह के लिए ही हैं जिनसे उसे शान्ति एवं सुरक्षा मिलती है। अतएव मुख्य उद्देश्य व्यावहारिक ही है। दर्शन वस्तुतः जीवन-दर्शन ही नहीं बल्कि जीवन का मिशन भी है। दर्शन मनुष्य के लिए है, ईश्वर के लिए नहीं। दर्शन मानव के अतिमानवों में रूपान्तरण एवं मार्ग-निर्देशन के लिए अपेक्षित है। अतिमानव सभी चीजों को अपने में देखता है और अपने को ईश्वर में; यहाँ तक कि यह सब प्रत्यक्ष की भाँति उसे ईश्वरमय लगता है।

अपूर्ण मानव अपूर्ण दर्शन की ही रचना करता है। पूर्ण मानव ही पूर्ण दर्शन की रचना कर सकता है। दर्शनों का भी विकास और परिवर्तन होता रहता है। जब मनुष्य और समाज श्रेष्ठतर चेतना एवं शक्ति की उपलब्धि करते हैं तो समग्र दर्शन का सृजन होता है। उस अतिमानवीय दर्शन की रचना किसी वर्ग, आदर्श या धर्म से सम्बन्धित न होकर परमेश्वर के आध्यात्मिक आदर्शों की रूपरेखा प्रस्तुत करती है।

अनेकानेक दर्शन समाज का संगठन तो अवश्य करते हैं किन्तु वे किसी एक विचार की परिधि में स्थिर समाज का संगठन करते हैं। बौद्धिक दर्शनों के घेरे के अन्दर विभिन्न समाज निर्मित होते हैं। हरेक दर्शन के घेरे अलग-अलग होते हैं और अपने में समन्वित रहते हैं। इन दर्शनों का मूल्यांकन किस प्रकार होगा, और उनके क्या आधार होंगे, यह प्रश्न उत्पन्न होते हैं। मेरे विचार में दर्शनों के मूल्याँकन का आधार मानव की आध्यात्मिक रूपान्तरण की क्षमता है। दर्शन वही श्रेष्ठ है जो मानव को आध्यात्मिक तथा दिव्य-मानव की उपलब्धि सुगमतापूर्वक करा सके। वह दर्शन जो मानव को क्रमशः आध्यात्मिक कर सके, वही दर्शन श्रेष्ठ है, और सभी उसकी तुलना में गौण हैं। ऐसे ही दर्शन के सिद्धान्त सभी दर्शनों के मूल्यांकन के मापदण्ड हैं। जिस दर्शन का सिद्धान्त जितना ही मनुष्य की

उपलब्धि की प्राप्ति में सहायक है वह उतना ही उत्तम दर्शन है ।

अतएव मेरे विचार में भावी भारतीय दर्शनों के मुख्य स्वरूप और लक्षण इस प्रकार होंगे : ये भौतिक विज्ञान, जैविक विज्ञान, मनोविज्ञान एवं परामनोविज्ञान के तथ्यों को समन्वित करेंगे । ये भौतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों को मानवीय जीवन में आत्मसात् करेंगे । इनमें भौतिक और आध्यात्मिक तथ्यों के भेद नहीं रहेंगे । यह ब्रह्म-ईश्वरवाद या ईश्वर-ब्रह्मवाद के विभिन्न पक्षीय होंगे । भावी दर्शनों में आत्मन् का स्वरूप सृजनात्मक एवं मानव के दैवीकरण की असीम आध्यात्मिक शक्ति होगी । ये दर्शन मानव-केन्द्रित होंगे । जीवन्मुक्ति की अवस्था मनुष्य की पूर्णता की अवस्था होगी तथा वैयक्तिक मोक्ष के स्थान पर सभी मानवों की मुक्ति सम्बन्धी विचार होंगे । दर्शनों में योग का समुचित स्थान होगा और उनके सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष पर अत्यधिक महत्त्व दिये जायेंगे । दर्शन, धर्म और अध्यात्म के भेद समाप्त हो जायेंगे । दर्शन मानव-जीवन-दर्शन होगा जो उसके शारीरिक, जैविक, मानसिक तथ्यों का रूपान्तर करेगा । दर्शन मानव की आकाँक्षाओं की पूर्ति करेगा और जीवन के श्रेष्ठ मूल्यों की उपलब्धि में सहायक होगा । यह मानव-जीवन के आध्यात्मिक, नैतिक, मानवीय, सामाजिक एवं राजनीतिक विकासों का मार्ग-निर्देशन करेगा ।

रांची विश्वविद्यालय, रांची

हमारी राजनीतिक परिस्थिति*

यशदेव शल्य

गत वर्ष परिषद् के चण्डीगढ़ अधिवेशन के अवसर पर मैंने समकालीन भारतीय दार्शनिक परिस्थिति पर अपने विचार व्यक्त करते हुए हमारे देश में कुछ ऐसी प्रवृत्तियों की ओर ध्यान आकर्षित किया था जो हमारे वैचारिक, राजनीतिक और सामाजिक गतिरोध या दिग्भ्रम की कारण हैं। इन सब कारणों का मूल कारण मैंने 'विचार को आत्मबोध-पूर्वक नियुक्त नहीं करना' कहा था। मैंने कहा था कि स्वतन्त्रता के बाद से हम यूरोप के अंधानुकरण में प्रवृत्त हो गए हैं और यह बात हमारी बोध-हीनता और जड़ता की द्योतक है। इससे हम में भयानक चरित्रहीनता भी आयी है। हम १९७५ में लागू की गई आपात-स्थिति के लिए श्रीमती इन्दिरा गाँधी को दोषी ठहरा रहे हैं, जोकि न्यायालय में अभियोग चलाने की दृष्टि से तो ठीक है किन्तु जो विचार के लिए ठीक नहीं है। श्रीमती इन्दिरा गाँधी केवल एक निमित्त थीं, एक उपकरण, इसका कर्त्ता हमारे सम्पूर्ण देश का विकृत मानस था। आपात-स्थिति लागू होने के दो-चार मास बाद मैंने श्री विनोबा भावे को लिखा था कि "उन्होंने आपात-स्थिति को अनुशासन-पर्व कहा है। यह बात सही होती यदि सरकार स्मगलरी और भ्रष्टाचार के लिए कांग्रेस के कम से कम कुछ मन्त्रियों को पहले कैद करती, क्योंकि अधिकाँश मन्त्री खुल्लम-खुल्ला भ्रष्टाचार करते रहे हैं और कर रहे हैं।" तब मैंने उनसे अपील की थी कि वे श्रीमती इन्दिरा गाँधी को समझायें कि वे भ्रष्टाचारी मन्त्रियों को कैद करें और आपात स्थिति हटायें। इसी प्रसंग में मैंने एक बात और उन्हें लिखी थी और वह यह कि श्रीमती गाँधी ने जो एकाएक बड़े से बड़े नेताओं को पकड़ लिया और जनता का वह सारा प्रकोप ठठरा गया जो दो ही दिन पहले प्रचंड दिखाई दे रहा था, उसका कारण था कि सरकार के विरोध के पीछे भी चरित्रबल और विचारबल नहीं था। वह क्रोध भ्रष्टाचार के विरुद्ध था किन्तु वह सदाचारमूलक नहीं था, वह भ्रष्टाचार की सामर्थ्य अपने हाथ में नहीं होने के कारण था; बोधमूलक तो वह था ही नहीं। प्रजातन्त्र की समाप्ति श्रीमती गाँधी ने जून १९७५ में की थी, किन्तु उससे पहले तो प्रजातन्त्र ही था ! विरोध तो श्रीमती गाँधी का उसी समय हो रहा था ! वह किस बात पर हो रहा था ? इस बात पर कि सरकार भ्रष्टाचारी थी ? किन्तु क्या सरकार जनता के बिना भ्रष्टाचारी थी ? और क्या आज जनता सरकार को भ्रष्टाचार से उबरने दे रही है ? इसी प्रकार, यह सही है कि श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने आपातस्थिति

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के २३ वें वार्षिक अधिवेशन (२७—२९ दिसम्बर १९७७) के उद्घाटन समारोह में परिषद् के अध्यक्ष—पद से भाषण ।

घोषित की। किन्तु क्या इसके लिए इसे अनुशासन-पर्व कहने वाले विनोबा भावे, सम्पूर्ण मन्त्रीमण्डल और राष्ट्रपति आदि-आदि भी उत्तरदायी नहीं थे जिन्होंने न केवल इस बात का विरोध नहीं किया कि प्रजातन्त्र का दमन किया गया था बल्कि इस बात का भी विरोध नहीं किया कि श्रीमती गाँधी ने इसकी घोषणा अवैधानिक रूप से की थी ?

मेरा निवेदन है कि यह सब परिस्थिति है जिसमें आपात-स्थिति की घोषणा हुई और उस परिस्थिति में हम आज भी उतना ही रह रहे हैं जितना जून १९७५ के पहले रह रहे थे। यह केवल एक आकस्मिक बात है कि इसके बावजूद हम आपात स्थिति के बँधनों से मुक्त हो गये। इस मुक्ति के कारण आध्यात्मिक नहीं होकर नितान्त आगन्तुक घटनाएँ और अनितिहासिक संयोग हैं।

किन्तु आपात-स्थिति लागू होना अनितिहासिक संयोग नहीं होकर एक दुर्निवार विकास-क्रम की निष्पत्ति थी, और जैसाकि मैंने ऊपर कहा, हम उस निष्पन्न स्थिति से अब भी मुक्त नहीं हुए हैं। यह और भी भयानक बात है, क्योंकि आपात-स्थिति की घोषणा ने हमें भयावह रोग के लक्षण प्रकट कर चेतावनी दी, उनसे हम अकस्मात् उबर गये, किंतु तब भी हम चेते नहीं हैं। रोग का एक अत्यन्त स्थूल प्रमाण यह है कि पहले स्वतन्त्रता-प्राप्ति के ऐतिहासिक अवसर का हमने कोई लाभ नहीं उठाया और उसे चुपचाप तिरोहित हो जाने दिया, उसी प्रकार इस दूसरे अवसर को भी हमने खो दिया और इसकी चरम प्राप्यता जाँच आयोगों की स्थापना को मान लिया। हमारे खोखलेपन का इससे बड़ा प्रमाण अकल्पनीय है।

× × ×

परिषद् के पूना अधिवेशन के अध्यक्षीय भाषण में और गत वर्ष के अधिवेशन में अपने व्याख्यान में तथा कुछ अन्य सम्बन्धित लेखों में मैंने आज की इस ऐतिहासिक परिस्थिति की ओर ध्यान आकर्षित किया था कि यूरोपीय सभ्यता ने आज संसार के सब समाजों को, भारतीय समाज को विशेष रूप से, दो अन्ध-विश्वास दे दिये हैं, जिनमें एक है ज्ञान और सुख के एकमात्र साधन के रूप में तकनीकी और दूसरा है विवेक तथा प्रामाण्य की धातृ के रूप में लोक-साधारण बुद्धि। ये धारणाएँ कोई ऐसी नहीं हैं कि 'जल्दी पहुंचने के लिए मोटर-गाड़ी का होना अच्छा है' और कि 'सब मनुष्य समान हैं और सबके जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिये।' यदि ये मान्यताएँ इस रूप में होतीं तो प्रायः निरापत्तिक होतीं और इनका प्रकोप जीवन को निस्सत्व नहीं बना देता। किन्तु ये अन्ध-विश्वास आज का इतिहास-दर्शन तथा जीवन और जगत् के समग्र पक्षों के आधार हो गये हैं। उदाहरण के लिए, आज का इतिहास-दर्शन इतिहास की गति को भी यन्त्र पर ही प्रतिष्ठित कर रहा है, तकनीकी को आधुनिकता और सामाजिक गतिशीलता का एकमात्र वाहक माना जा रहा है।* इसी प्रकार, न केवल प्रजातन्त्र को ही एकमात्र वरेण्य तन्त्र माना जा रहा है बल्कि इंग्लैंड और अमरीका में लोक-साधारण-भाषा, अर्थात् जीवन-दृष्टि को ही

* इस पर मेरे निम्न लेख द्रष्टव्य—"विषय और आत्म" पुस्तक में–"भारतीय संस्कृति : जीवित या मृत ?, नया प्रतीक, जुलाई १९७६ अंक में" तकनीकी और सामाजिक प्रगति।

सत्य की एकमात्र अधिकरण माना जा रहा है, जबकि अमरीका और यूरोप के कुछ दूसरे देशों में यन्त्र को ही प्रमाण भी माना जा रहा है। इस प्रकार प्रत्यक्षवाद और लोकभाषा-विश्लेषणवाद आज के मुख्य दर्शन हुए। अवश्य अस्तित्ववाद और फिनामिनालॉजी भी यूरोप के प्रतिष्ठित दर्शन हैं, किन्तु इनके अनुसार भी अतत्त्व, एबसर्ड और विषयतन्त्र बुद्धि ही मनुष्य का स्वरूप है। हमारे लिए इसमें कोई चिन्ता की बात नहीं होती यदि ये कठिनाइयाँ यूरोप की ही होतीं, हमारे लिए शोचनीय बात यह है कि हमारे देश के शिक्षा-जगत् तथा राजनीति-जगत् के शासक और आग्रणी लोग भी इन अन्धविश्वासों को ही समर्पित हैं। उदाहरण के लिए लोक-बुद्धि-प्रमाण के राजनीतिक पक्ष प्रजातन्त्र को लें। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का प्रतीक 'गुरु रामदास के सम्मुख नतमस्तक शिवाज हैं,' अर्थात् अध्यात्म के नियमन में शौर्य, किन्तु यह दल भी आज प्रजातन्त्र की ही दुहाई दे रहा है। इसी प्रकार, गाँधी जी कभी भी लोक-बुद्धि के कायल नहीं रहे, वे तपःपूत एक आत्मा* की आवाज़ के सामने करोड़ों आवाज़ों को निरर्थक मानते थे, किन्तु तब भी श्री मोरारजी देसाई और श्री चरणसिंह प्रजातन्त्र को स्वतःसिद्ध सत्य मानते हैं। ये ग्राम-मूलक अर्थ-व्यवस्था में ही गाँधीवाद की इतिश्री मान लेते हैं।

यहाँ मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मेरी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से कभी कोई सहानुभूति नहीं रही है, क्योंकि इसकी दृष्टि सदैव नितांत संकुचित रही है और इसने वास्तव में उपर्युक्त प्रतीक में गुरु रामदास को कभी महत्त्व नहीं दिया और न उस हिन्दुत्व के तत्त्वों को कभी समझा जिसकी रक्षा का यह दावा करता है। इसका हिन्दुत्व केवल औरंगज़ेब-कालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में ही परिभाषित हुआ है। यहाँ मैंने इसका उल्लेख केवल उस अन्ध-विश्वास के प्रताप की प्रचंडता दिखाने के लिए किया है जिसे प्रजातन्त्रवाद कहा जाता है।

अवश्य प्रजातन्त्रवाद का लक्षण "मनमानापन और व्यक्तिनिष्ठता के विपरीत युक्ति, विवेक और विधि-सम्मत शासन" भी किया जाता है। किन्तु क्या विवेक और विधि का अधिष्ठातृत्व जनमत को दिया जा सकता है? दूसरे, विवेक का विवेच्य क्या है और युक्ति किस युक्त को सिद्ध करने के काम में लायी जाती है, ये प्रश्न भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। किन्तु विवेक और युक्त का निर्णय जनमत के हाथ देने से बड़ा वदतोव्यघात दूसरा नहीं हो सकता, और वह भी तब जब यह जनमत केवल तकनीकी द्वारा साध्य सुख की धारणा को समर्पित हो।

इधर 'प्रजातन्त्र' के साथ 'समाजवाद' विशेषण भी लगाया जाने लगा है, अर्थात् समानता के आधार पर जनमत का शासन। किन्तु समानता किसकी ? समानों की या असमानों की ? फिर किस आधार पर समानता ? अर्थ के आधार पर ? किन्तु अधिकार और अन्याय का आप क्या करेंगे ? इनके दुरुपयोगों को रोकने के लिए मार्क्स ने केवल सर्वहारा को शासन देने की बात की, जिसके रूप हम रूस और अन्य समाजवादी देशों में देख रहे

* वास्तव में तपःपूत आत्मा 'एक' या 'अनेक' नहीं होती, वह 'सार्वभौम' होती है। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह अवांतर है।

हैं। यदि सर्वहारा का शासन भी केवल शक्ति और अधिकार के दुरुपयोग में ही पर्यवसित होता है तब निरंकुश जनमत के शासन से क्या अपेक्षा हो सकती है ?

इस सब का बचाव विधि-सम्मत शासन को बताया जाता है। किन्तु 'विधि-सम्मत' में और 'विधि-सम्मत शासन' में बहुत अन्तर है। 'विधि-सम्मत' में विधि का रूप वास्तव में केवल आकार-मूलक रह जाता है। प्रश्न यह है कि आप इसे किस द्रव्य से, किस वस्तु से, सम्बन्धित करना चाहेंगे ? और दूसरे, जहाँ केवल आकार नहीं, तथ्य भी प्रासंगिक हैं, वहाँ आप किस प्रकार शासक की स्वैरता से मुक्ति पायेंगे ? जो लोग कानून की वस्तुस्थिति को जानते हैं उन्हें इस तथाकथित विधि-सम्मत शासन और जुडीश्यरी की स्वतन्त्रता की बात में कोई अर्थ दिखाई नहीं दे सकता है।

इधर हमारे देश में जनमत के प्रति आदर जनमत-शासन-सिद्धान्त के प्रवर्तक देशों से भी अधिक दिखाई दे रहा है। श्री जयप्रकाश नारायण ने लोक-समितियों और सिटिज़ंस् फार डिमोक्रेसी का विचार दिया है। पता नहीं उन्हें यह क्यों नहीं पता कि प्रजातन्त्र या भीड़तन्त्र में सब संगठन वास्तव में शक्ति और दबाव के संगठन ही होते हैं, इस तन्त्र में वाच डॉग्स वास्तव में केवल हाउंड्स ही होते हैं और वे ऊपर के हाउंड्स को दाँत दिखा कर उन्हें माँस के लोथड़े इनके साथ बाँटकर खाने मात्र को बाध्य करते हैं। इसका एक दूसरा पक्ष भी है और वह यह कि ये सब राजनीतिक संस्थाएँ हैं। पहले राजनीतिक संस्थाएं विधान सभाओं तक सीमित थीं, नेहरू जी ने ये पंचायत समितियों के द्वारा ग्रामों तक पहुँचा दीं ; श्री जयप्रकाश अब इन्हें हमारे संपूर्ण कार्य-कलाप में व्याप्त कर देना चाहते हैं, अर्थात् अब आप एक ही बात सोचें, एक ही करें और एक ही का अनुध्यान करें, और वह है राजनीति।

× × ×

ऊपर मैंने केवल निषेधात्मक बातें ही कहीं हैं। प्रश्न हो सकता है कि इसका विकल्प क्या है ? यहाँ मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मैं विकल्प के सम्बन्ध में पर्याप्त स्पष्ट नहीं हूँ। तो भी मैं अभी इतना सुझाव अवश्य देना चाहता हूँ कि इस 'जनमतवाद' का और 'राजनीतिक' का संकोच तो तुरंत ही कर देना चाहिये। उदाहरण के लिए, शिक्षण संस्थाओं में विद्यार्थियों और अध्यापकों की यूनियनें बिल्कुल समाप्त कर देनी चाहिएँ, विद्यार्थियों को अपने स्वार्थ केवल अध्ययन तक सीमित देखने चाहिएँ। अध्यापकों के संगठन भी केवल शिक्षा संस्था के तन्त्र-मूलक ही होने चाहिएँ और उससे पृथक् केवल अध्ययन-मूलक होने चाहिएँ। इसी प्रकार अन्यत्र भी सामाजिक और धार्मिक संस्थाएँ ही होनी चाहिएँ और राज्य को उनका आदर करना चाहिये। यह द्रष्टव्य है कि इन संस्थाओं पर जैसा कुठाराघात स्वतन्त्रता के बाद हुआ है वैसा उसके पहले कभी नहीं हुआ था, सामंततन्त्र में तो ज़रा भी नहीं हुआ था। आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक सभी प्रकार की संस्थाएँ राज्य से स्वतन्त्र थीं और परिणामतः लोक-जीवन राज्य के नियंत्रण से स्वतंत्र था। हमें इन संस्थाओं को स्वतन्त्र विकसित होने देना चाहिये। इस विधि से राजनीति का स्थान और क्षेत्र न्यूनतम करना सुलझाव का एक मार्ग है और पर्याप्त महत्त्वपूर्ण मार्ग।

इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं सामंतवाद का समर्थन कर रहा हूँ। सांमतवाद की पुन: स्थापना आज संभव भी नहीं है। किन्तु उसका उचित विकल्प प्रजातन्त्र (लोक-साधारण बुद्धि का शासन) है, यह भी मुझे ग्राह्य प्रतीत नहीं होता। सच बात तो यह है कि प्रजातन्त्रवाद के मूल में ऐसी अनेक पूर्वमान्यताएँ हैं जो सहज ग्राह्य नहीं हैं और जिनके संबंध में विचार किये बिना ही हम इस वाद को आज राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन का सर्वोच्च मूल्य माने हुए हैं। इनमें प्रमुख धारणा है: कि सत्य और श्रेयस् क्रमश: संवेदमूलक और वसना-तृप्तिमूलक हैं, इसलिए प्रमातृत्व और विवेक सबको बराबर सुलभ हैं, परिणामत: सत्य का निर्णायक लोकमत ही हो सकता है।' यहाँ मैं इस विवाद में नहीं पड़ूँगा कि यह धारणा सही है या नहीं, मेरा प्रश्न यह है कि क्या हमने इस पर विचार कर लिया है और तब इसे स्वीकार किया है? मैं समझता हूँ कि ऐसा नहीं है, हमारे देश ने इस पर और अन्य संबद्ध बातों पर विचार नहीं किया है और इसके बिना ही इसकी प्रशस्ति गानी आरम्भ कर दी है।

इसका अर्थ यह भी नहीं है कि विवेक का अधिकार किसी वंश को सौंप देना चाहिये। मेरा सुझाव केवल इतना ही है कि राज्य को नितांत गौण स्थान देकर सामाजिक, शैक्षिक तथा आध्यात्मिक संस्थाओं को मुख्य स्थान देना चाहिए और इन संस्थाओं का मेरुदण्ड प्रजातांत्रिकता नहीं होकर ज्ञान और विवेक होना चाहिये।

डी ३१, बापूनगर, जयपुर–४

बुद्ध दर्शन में दुःख एवं दुःख आर्य-सत्य की मीमांसा*

उमाचरण झा

श्रद्धेय सभापति महोदय एवं उपस्थित सज्जन वृन्द !

अखिल भारतीय दर्शनपरिषद् के तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा विभाग के अध्यक्ष पद पर निर्वाचित कर आपने मुझ पर जो अनुग्रह किया है उसके लिए मैं अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। इसे मैं अपनी योग्यता का नहीं बल्कि आपके स्नेहिल ममत्व का परिचायक मानता हूँ।

सम्प्रति आपके समक्ष मैं बुद्ध-दर्शन में दुःख एवं दुःख आर्य-सत्य की मीमांसा से सम्बन्धित अपने विचार प्रस्तुत करने की अनुमति चाहता हूँ। बुद्ध की समस्त विचार-धारा उनके चार आर्य सत्यों के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित की गई है। सर्वं दुःखम्: सब कुछ दुःख है : इस तथ्य का प्रतिपादन बुद्ध अपने प्रथम आर्य सत्य में करते हैं। इस सत्य के सम्यक् बोध के लिए बुद्ध के त्रिलक्षण सिद्धान्त का विवेचन अनिवार्य प्रतीत होता है। संसार की सभी वस्तुएँ अनित्य हैं, दुःख हैं एवं अनात्म हैं। अनित्यता, दुःख एवं अनात्मत्व उनका स्वरूप-लक्षण है। जिस प्रकार सांख्य दर्शन में सम्पूर्ण सृष्टि को त्रिगुणात्मक, अर्थात् सत्व-रज-तमसात्मक माना गया है उसी तरह बुद्ध-दर्शन में सभी संघात पदार्थ त्रिलक्षणात्मक हैं। पालि निकायों में बुद्ध के ये वचन बार-बार दुहराये गए हैं :—

'सब्बे संखारा अनिच्चा'
सब्बे संखारा दुक्खा'
सब्बे धम्मा अनत्ता'।[1]

इन तीनों लक्षणों का किसी भी पदार्थ में अविनाभाव रूप से होना बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में बतलाया है :

"यद् अनिच्चम् तद दुक्खम्। यद् दुक्खं
तद् अनत्ता। यद् अनत्ता तद् 'नेतम्
मम्, नेसो अहमस्मि, न मेसो अत्ता इति'।"[2]

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के २३वें वार्षिक अधिवेशन (२७–२६ दिसंबर १६७७) में तत्त्व-मीमांसा-ज्ञानमीमांसा विभाग के अध्यक्ष पद से भाषण।

१. अंगुत्तर निकाय–१११–१३४।

२. संजुक्त निकाय १११–२२।

"जो अनित्य है वह दुःख है। जो दुःख है वह अनात्म है। जो अनात्म है वह 'मेरा' नहीं है, 'मैं हूँ' नहीं है, अथवा 'मेरी आत्मा' नहीं है।"

उपर्युक्त तीनों लक्षणों की चर्चा त्रिपिटक में सर्वत्र देखने में आती है। इन लक्षणों की सम्यक् अनुभूति के बिना कोई भी बुद्ध-शासन में निर्वाण का भागी नहीं हो सकता। प्रथम आर्य सत्य की मीमांसा में यद्यपि इन तीनों लक्षणों की व्यवस्था आवश्यक है तथापि प्रस्तुत लेख में हम मात्र दुःख-लक्षण पर ही विचार करने जा रहे हैं।

बुद्ध-दर्शन में दुःख शब्द का अपना विशिष्ट अर्थ है। जैसे अद्वैत वेदान्त में 'मिथ्या' शब्द का पर्यायवाची शब्द भाषान्तर में भी दुष्प्राप्य है वैसी ही स्थिति यहाँ 'दुःख' शब्द के प्रसंग में भी है। पालि अंग्रेजी कोशकारों ने इस शब्द का सही रूपान्तर देने में अपनी कठिनाई बतलायी है। उन्होंने स्वीकार किया है कि अंग्रेज़ी भाषा में कोई भी ऐसा शब्द नहीं है जो बुद्ध-दर्शन में व्यवहृत 'दुःख' शब्द के विवक्षित अर्थ को बतला सके। (१) यह समस्या और भी जटिल हो जाती है जब हम देखते हैं कि स्वयं पालि त्रिपिटक में 'दुःख' शब्द की व्यापकता सर्वत्र एक-जैसी नहीं मानी गयी है।

विसुद्धिमग्ग में 'दुःख' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है: 'दु' अर्थात् 'कुत्सित', जैसे 'दुपुत्त—कुत्सित बालक'। 'खं' का अर्थ 'तुच्छ' कहा गया है। यह शून्यता का द्योतक है। संसार के सब पदार्थ नानाविध अनर्थों की जड़ होने से कुत्सित हैं और निस्सार होने से शून्य हैं। (२) इसी अर्थ में सब कुछ दुःख माना गया है।

'दुःख' शब्द की यह व्युत्पत्ति अपने में संतोषप्रद लगते हुए भी सभी प्रसंगों में 'दुःख' शब्द का प्रयोग करते हैं तब इस शब्द की व्युत्पत्ति कुछ बदल जाती है। यहाँ 'दु' का अर्थ 'कष्ट साध्य' माना गया है और 'खं' का अर्थ 'सहना', अर्थात् जो कष्ट से सहा जाय या जिसे सहने में कष्ट हो उसे दुःख कहते हैं। अतः 'दुःख' शब्द का सही अर्थ आँकने में प्रसंग-विशेष का ध्यान रखना आवश्यक प्रतीत होता है।

त्रिपिटिक में प्रयुक्त 'दुःख' के अनेक भेदों पर विचार करने से 'दुःख' शब्द के अर्थ-गाम्भीर्य को और भी स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। दुःख के तीन भेद मुख्य रूप से विचारणीय हैं: प्रथम कोटि में कायिक तथा मानसिक कष्ट को दुःख कहा गया है। द्वितीय कोटि के दुःख के अन्दर सभी कायिक एवं मानसिक सुखात्मक वेदनाएँ भी आती हैं। इस दुःख को विपरिणाम दुःख की संज्ञा दी गई है। हमारी सुखात्मक वेदना भी भविष्य के लिए दुःख की उत्पत्ति का कारण-रूप है, जबकि सुखात्मक वेदना का कालक्रम में रूपान्तर अर्थात् अभाव हो जाता है। अतः परिणाम में दुःखावह होने से हमारा तथाकथित सुख भी दुःख का ही भेद है। दुःख की तीसरी कोटि के अन्दर हमारी सुख-दुःख निरपेक्ष सभी उदासीन वेदनाएँ तथा अन्य सभी संघात-पदार्थ रक्खे गए हैं। इस दुःख को 'संसार-दुःख', अर्थात् 'संघात-दुःख' कहा गया है। सभी संघात उत्पाद और व्यय धर्म वाले हैं, अतः स्वरूपतः दुःख ही हैं।

१. पालि—अंग्रेज़ी कोश, पृ० ३२४।
२. विसुद्धि मग्ग—पृ० ५६३।

बुद्ध-दर्शन में दुःख की सम्यक् मीमांसा के लिए वेदना के प्रकार के रूप में 'दुःख' तथा दुःख आर्य सत्य में प्रयुक्त दुःख शब्द के अन्तर को स्पष्ट करना आवश्यक है। अभिधर्म-पिटक के ग्रन्थों में इस भेद की चर्चा अधिक विस्तार से की गई है। वेदना के प्रकार के रूप में दुःख का अर्थ है वास्तविक दुःखात्मक अनुभूति। इसे दुःख-वेदना की संज्ञा दी गई है। दुःख आर्य सत्य में प्रयुक्त दुःख शब्द का अर्थ है सभी संघात-पदार्थों के अनित्यता-नियम की सर्वोपरि व्यापकता के कारण, दुःख-बीज होने की, अर्थात् दुःख उत्पन्न करने की क्षमता। अतः दुःख आर्य सत्य मात्र दुःखात्मक वेदना का ही द्योतक नहीं है। इसके अनुसार सभी प्रतीयमान घटनाएँ, सर्वोच्च सुखात्मक वेदनाएँ भी, संघात-रूप होने से तथा परिवर्तन नियम की व्याप्ति के कारण भावी दुःख की सृष्टि के बीज-रूप होती हैं, अतः वे भी दुःख ही हैं। इस प्रकार दुःख आर्य सत्य में आये हुए दुःख से दुःख-वेदना, दुःख-मूल (दुःख का आधार), दुक्खारम्मज अर्थात् दुःख का विषय तथा दुःख-हेतु सभी अभिप्रेत हैं। किसी की जीवन-यात्रा में दुःख की अपेक्षा सुख के क्षणों का आधिक्य हो सकता है, किन्तु इससे बुद्ध की यह शिक्षा बाधित नहीं होती : सब्बं दुक्खम्, अर्थात् सब कुछ संसार में दुःख है। दुःख का अर्थ मात्र अनुभूत दुःख वेदना ही नहीं है। दुःख का अर्थ इसके तात्त्विक सन्दर्भ में ग्रहण किया जाना चाहिए।

दुःख तथा दुःख आर्य सत्य के उपर्युक्त अन्तर को प्रश्नोत्तर शैली में सरलता से बोधगम्य बनाने का इस प्रकार प्रयास किया गया है :

(अ) क्या दुःख-वेदना दुःख-आर्य सत्य में समाविष्ट है? अर्थात्, क्या दुःख आर्य सत्य के अन्दर दुःख-वेदना का अस्तित्व है? उत्तर है—हाँ। क्योंकि दुःख आर्य सत्य व्यापक है और दुःख-वेदना व्याप्य। कोई भी फल-विशेष क्यों न हो, उसमें फलत्व तो रहेगा ही, ऐसा हो नहीं सकता कि कहीं आम्रत्व तो हो, पर वहाँ फलत्व नहीं हो। अतः दुःख-वेदना तो दुःख-आर्य सत्य ही है।

(ब) परन्तु, क्या दुःख आर्य सत्य से हमेशा दुःख-वेदना का बोध होता है? उत्तर है—नहीं। जैसे कायिक और मानसिक दुःखात्मक वेदना को छोड़कर अन्य सभी दुःख नहीं है, फिर भी वे सब के सब दुःख आर्य सत्य हैं। कायिक तथा मानसिक दुःखात्मक वेदना दुःख भी है और दुःख-आर्य सत्य भी है।

दुःख एवं दुःख आर्य सत्य के उपर्युक्त अन्तर का ध्यान नहीं रखने से बुद्ध दर्शन के बारे में कुछ लोगों में ऐसी भ्रान्ति हो सकती है कि यह बुद्ध-दर्शन दुःख दर्शन है, नैराश्य और अनुत्साह का दर्शन है। त्रिपिटक के, विशेषकर अभिधम्म पिटक के सम्यक् अवलोकन करने पर यद्यपि दुःख और दुःख आर्य सत्य का भेद निस्सन्देह स्पष्ट हो जाता है किन्तु स्वयं बुद्ध के द्वारा दी गई प्रथम आर्य सत्य की व्याख्या में यह अन्तर उतना स्पष्ट नहीं हो पाता, प्रत्युत इस निरूपण से उक्त भ्रान्ति की संभावना बढ़ जाती है। अपने शिष्यों के समक्ष प्रथम आर्य सत्य की व्याख्या करते हुए बुद्ध के ये वचन विचारणीय हैं :

"जाति पि दुक्खा जरा पि दुक्खा: मरणम्पि दुक्खम्, सोक-परिदेव दुक्खम्, दोमनस्स उपायासाति दुक्खा, अप्पिएहि सम्पयोगो दुक्खो, पिये विप्पयोगो दुःखो, यम्पि इच्छं न लभति तं दुक्खम्, संखितेन पंच उपादान खन्धा दुक्खा"।

"जन्म भी दुःख है, वार्धक्य भी दुःख है, मरना भी दुःख है, शोक, परिताप, कष्ट मानसिक पीड़ा, नैराश्य भी दुःख है, अप्रियों का सहवास दुःख है, प्रियों से विछुड़ना दुःख है, अभीष्ट की अप्राप्ति दुःख है। संक्षेप में, पंच उपादान स्वयं ही दुःख हैं"।

बुद्ध के उपर्युक्त कथन में प्रथम और अंतिम अंश को छोड़कर बाकी जितने भी उदाहरण चुने गये हैं वे सब वेदयित दुःख, अर्थात् दुःखात्मक वेदना, के उदाहरण हैं। इस से स्वाभाविक रूप में यह भ्रान्ति हो सकती है कि बुद्ध जीवन की ललित एवं मनोहर अनुभूतियों की ओर उदासीन थे। यह भ्रान्ति और भी दृढ़ हो जाती है जब हम देखते हैं कि बुद्ध दर्शन के आचार्य-गण इन उदाहरणों की व्याख्या में उनकी सारी विभीषिकाएँ हमारे समक्ष सशक्त रूप से उपस्थित करते हैं। यह तथ्य है कि हममें से प्रायः कोई भी बुढ़ापे को पसन्द नहीं करता। किन्तु अश्वघोष के मुख से इसी बुढ़ापे का दर्शन सुन कर हम सहसा डर जाते हैं :

रूपस्य हंती व्यसनं बलस्य
शोकस्य योनिर्निधनं रतीनाम्।
नाशः स्मृतीनां रिपुरिन्द्रियानाम्।
एषा जरा नाम ययैष भन्नः ॥

सौंदर्य को हनन करने वाला, बल को क्षीण करने वाला शोक का जन्मदाता, सब प्रकार के आनन्दों को समाप्त करने वाला, स्मृति को नष्ट करने वाला, तथा इन्दियों का दुश्मन यह जरा है जिसके वशीभूत होने से यह आदमी लाचार है।

अश्वघोष द्वारा बुढापा का यह चित्रण उसे मात्र दुःख कहने की अपेक्षा कहीं डरावना बना देता है। बौद्ध आचार्यों में ख्यातिप्राप्त बुद्धघोष का वर्णन दुःख को और भी निखार देता है। उन्होंने कहा है कि दुःख की व्यापकता का वर्णन निश्शेष रूप से हो ही नहीं सकता, चाहे युगों तक वह वर्णन चलता रहे। समुद्र के समस्त जल में जैसे खारापन व्याप्त है वैसे ही जीवन में सर्वत्र दुःख की व्यापकता उन्होंने बतलायी है।

दुःख शब्द से लोग प्रायः वेदनामूलक दुःख का ही अर्थ ग्रहण करते हैं। इसलिए, संसार दुःख तथा विपरिणाम दुःख के परिभाषिक अर्थ को ध्यान में रखे बिना बुद्ध दर्शन पर निराशावाद का आरोप सहज हो जाता है।

पर सहज होते हुए भी यह आरोप समीचीन नहीं लगता। जगत् को दुःख रूप में ग्रहण करना बुद्ध की ही विशेषता नहीं है। अद्वैत वेदान्त ने इसे मायाकल्पित कह कर ब्रह्म की ही परमार्थ-सत्ता बतलाया है : ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या। सांख्यकारिकाकार ने दर्शन का उद्देश्य समझाते हुए प्रथम श्लोक में ही त्रिविध दुःख की व्यापकता दिखलाई है। सुख-दुःख दोनों प्रकृति के गुण हैं और शुद्ध चैतन्य-रूप आत्मा से उनका कोई तात्त्विक संबंध नहीं है। न्याय की आत्मा तो मोक्षावस्था प्राप्त कर लेने पर चैतन्य से भी शून्य हो जाती है। अतः यहाँ भी सुख का नितान्त अभाव हो जाता है।

इस संबंध में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्रथम आर्य सत्य अथवा दुःख आर्य सत्य ही बुद्ध का समग्र दर्शन नहीं है। तीसरे आर्य सत्य में दुःख के अन्त का, अर्थात् निब्बानं

परमं सुखं का, संदेश भी है, चौथे आर्य सत्य में दुःख-निरोध के साधन भी निर्दिष्ट किये गए हैं। फिर निराशावाद का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

किन्तु ऐसा प्रतीत होता है, जैसा कि उपर्युक्त विवेचन में स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है, कि दुःख आर्य सत्य के विवेचन में यदि दुःख शब्द की मीमांसा बौद्ध आगम के पारिभाषिक अर्थ में नहीं की गई तो सम्पूर्ण बुद्ध दर्शन को समझने की प्रक्रिया ही भ्रामक हो जायगी।

रांची विश्वविद्यालय, रांची

श्रद्धा का महत्त्व*

ब्रह्ममित्र अवस्थी

आदरणीय अध्यक्ष महोदय, एवं बन्धुओ !

अपनी कोई भी बात कहने से पूर्व सर्वप्रथम मैं आप सबके प्रति आभार प्रकट करना चाहता हूँ कि आपने मुझे धर्म-दर्शन विभाग की अध्यक्षता के लिए मनोनीत किया है। मुझे विश्वास नहीं होता कि इस गुरुतर पद की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रख सकने का सामर्थ्य मुझ में है। तथापि आप सबने मुझे मनोनीत किया है तो निश्चय ही इस पद के गौरव के अनुरूप प्रतिष्ठा के लिए अपनी शक्ति, अपने गौरव का अंश भी मुझे प्रदान किया है जो अप्रत्यक्ष रूप से मुझे शक्ति-सम्पन्न कर रहा है। कहते हैं — समस्त देवों ने अपनी शक्ति देकर देवी दुर्गा को शक्ति-सम्पन्न कर उसे दुर्गा और असुरनिषूदनी बना दिया था। निश्चय ही आपका अंश, आपकी शक्ति मुझे सामर्थ्य प्रदान करेगी।

दार्शनिकों के मध्य धर्मविषयक दर्शन पर और उसके मूल आधार पर विचार करते हुए मैं बड़े असमंजस में पड़ रहा हूँ, क्योंकि धर्म की मूल आधार-भित्ति दार्शनिकों की प्राथमिक मान्यता से सर्वथा विपरीत दिखाई पड़ रही है। अतः मेरे वाक्य यदि दर्शन के सर्वसामान्य सिद्धान्त से मेल न खाएँ तो भी मुझे क्षमा किया जाय और मेरे कथन पर कुछ गम्भीरता से विचार किया जाय। क्योंकि धर्म और दर्शन में एक मौलिक अन्तर है— धर्म रहस्य की खोज है और दर्शनशास्त्र सत्य की। धर्म एक ऐसा विषय है जिसकी वास्तविक व्याख्या बुद्धि नहीं दे सकती, वह अनुभूति का विषय है। दर्शन और धर्म की दिशाएँ ही परस्पर भिन्न हैं, विपरीत हैं। दार्शनिक जहाँ तर्क के औज़ार को संभाल कर गणित बिठाने में लगा रहता है वहाँ धार्मिक उसको उखाड़ने में। दर्शनशास्त्री जहाँ तर्क की सहायता से निगमन और निष्पत्तियाँ निकालता है, वहाँ धार्मिक सन्त सब निष्पत्तियों तोड़ कर, सब निगमनों को बिखेर कर जो अनन्त-अज्ञात हैं, रहस्यमय है, उसमें कूद जाता है। वह रहस्यवादी होता है, उसकी मान्यता होती है कि तार्किक की ज्ञान की घोषणा उसके अपने अज्ञान का प्रमाण है, क्योंकि जिस सत्य को जानने का प्रयत्न दार्शनिक करता है, जिसके जान लेने का दावा करता है, वह सत्य इतना बड़ा है कि वह (सत्यान्वेषी) उसमें कूद सकता है, किन्तु उसे मुट्ठी में नहीं बांध सकता, उसकी इयत्ता निर्धारित नहीं कर सकता।

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के २३वें वार्षिक अधिवेशन (२७–२९ दिसम्बर, १९७८) में धर्म-दर्शन विभाग के अध्यक्ष-पद से भाषण।

दार्शनिक का मुख्य शस्त्र होता है—तर्क, जिसे मशाल की भाँति संभाल कर वह ले चलता है, उसकी सहायता से अपने गन्तव्य पर पहुँचना चाहता है, जबकि धार्मिक का मूल शस्त्र होता है—श्रद्धा और विश्वास। श्रद्धा के संबल को लेकर ही वह अपनी यात्रा आरंभ करता है, उसकी ही सहायता से वह अन्तिम रहस्य को खोजना चाहता है, अपने लक्ष्य पर पहुँचना चाहता है। श्रद्धा और विश्वास एक ही भावना के दो पहलू हैं। श्रद्धा के बिना विश्वास न उत्पन्न हो सकता है, न पनप सकता है और न स्थिर रह सकता है। अतः श्रद्धा को विश्वास का भी मूल कहा जा सकता है। इसीलिए मैंने विश्वास को भी श्रद्धा का अन्यतम पहलू कहा है।

श्रद्धा की चर्चा करते समय उसके विरोधी भाव को पहचान लेना उचित होगा, उससे भी श्रद्धा को पहचानने में कुछ सुविधा हो सकती है। श्रद्धा से विरोधी भाव सन्देह है। ये दोनों भाव परस्पर विरोधी हैं। दोनों एक-साथ नहीं रह सकते। जहाँ श्रद्धा होगी वहाँ सन्देह को स्थान नहीं है। जिसके प्रति सन्देह रहेगा उसके प्रति श्रद्धा नहीं हो सकती। श्रद्धा की पुष्टि निष्ठा को जन्म देती है और सन्देह की पुष्टि अविश्वास को, जिसका परिणाम होता है—अस्वीकृति, निषेध।

सन्देह से भरा चित्त नकारात्मक होगा, श्रद्धा से भरा चित्त विधायक होगा। सन्देह से भरे हुए चित्त वाले व्यक्ति का विश्व के सम्बन्ध में वक्तव्य निषेधात्मक होगा, विश्व मिथ्या प्रतीत होगा, मायामय दिखाई देगा, जबकि श्रद्धा-सम्पन्न व्यक्ति को विश्व रहस्य से परिपूर्ण महिमामय दिखाई देगा। 'तत्र को मोहः, कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः' की स्थिति होगी, वह निर्द्वन्द्व स्थिरचित्त होगा। इसीलिए केन उपनिषद् ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि अमरत्व की इच्छा वाले मानव को समस्त प्राणियों में, समस्त पदार्थों में इस परम चेतन तत्त्व का चिन्तन करना चाहिए, उसका साक्षात्कार करना चाहिए।[२] सन्देह से, विचिकित्सा से मुक्त होने का यही एक मार्ग है तथा सन्देह से मुक्त होना शान्ति के लिए, मोक्ष की प्राप्ति के लिए आवश्यक है, अनिवार्य है।

किन्तु दार्शनिक सन्देह के बिना एक पग आगे न बढ़ सकेगा, इसीलिए गौतम ने संशय को सोलह पदार्थों में अन्यतम माना है और तत्त्व-ज्ञान के लिए तथा उसके द्वारा निःश्रेयस के लिए, मोक्ष के लिए संशय (सन्देह) को आवश्यक स्वीकार कर लिया है। वेदान्त में इसे ही जिज्ञासा कह दिया गया है। किन्तु संशय और जिज्ञासा में थोड़ा अन्तर है। जिज्ञासा में संशय के विरोधी भाव श्रद्धा का मिश्रण होता है, मूलमिति के रूप में। संशय में, ईश्वर है या नहीं ? है तो कैसा है ? क्यों है ? इत्यादि समग्र रूप से अनिश्चित स्थिति रहती है। सम्भावना के सभी प्रकारों पर प्रश्न-चिह्न लगा रहता है। जिज्ञासा में पदार्थ की सत्ता की स्वीकृति रहती है, उस पर प्रश्न-चिह्न नहीं होता। पदार्थ की सत्ता है, यह विश्वास बना रहता है। उसके बाद उसके स्वरूप की जिज्ञासा होती है, जानने की इच्छा होती है। इसीलिए न्याय को ईश्वर की सिद्धि के लिए हेतु खोजने पड़ते हैं, कहीं

१. ईशोपनिषद्, ६७।
२. भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृताः भवन्ति। के०।

वे हेतु हेत्वाभास तो नहीं हैं, इसकी चिन्ता करनी पड़ती है, किन्तु वेदान्ती ब्रह्म की सत्ता के सम्बन्ध में निश्चिन्त रहता है, आश्वस्त रहता है। यही कारण है कि अनेक दार्शनिक वेदान्त दर्शन की दार्शनिकता पर भी प्रश्न-चिह्न लगा देते हैं, उसे धर्म की सीमा में ढकेल देते हैं। किन्तु जिज्ञासा में भी संशय रहता है जो जिज्ञासु को अनुसन्धान के लिए उन्मुख किये रहती है, उसे अन्वेषी बनाती है, दार्शनिक बनाती है। 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' में ब्रह्म की सत्ता की स्वीकृति है, ब्रह्म की सत्ता के प्रतिपादक वचनों के प्रति श्रद्धा है। अतः वेदान्ती के लिए ब्रह्म की सत्ता संदिग्ध नहीं है। श्रद्धा की सीमेंट ने ब्रह्मविषयक विश्वास को सुदृढ़ कर रखा है, जिज्ञासा केवल उसके स्वरूप के सम्बन्ध है। ब्रह्म का स्वरूप यह है या वह ? यही सन्देह है, पर सत्ता निस्संदिग्ध है।

सन्देह व्यक्तित्व को विखण्डित करता है, श्रद्धा व्यक्तित्व को पूर्ण बनाती है, यदि उसमें कहीं विखण्डन है तो उसे जोड़ देती है। दर्शन और विज्ञान दोनों का आरम्भ सन्देह से होता है, प्रक्रिया-भेद से दोनों सत्य की खोज करते हैं। पश्चिम जगत् में जहाँ विज्ञान तथा सन्देह पर आधारित दर्शन बहुत समुन्नत हैं वहाँ व्यक्ति का व्यक्तित्व विखण्डित होकर उसे विशृङ्खलित कर रहा है। इसलिए अब वहाँ भी श्रद्धा के आश्रय धर्म की खोज होने लगी है, लोगों का झुकाव इस ओर हुआ है। यही कारण है कि छान्दोग्य उपनिषद् का याज्ञवल्क्य श्वेतकेतु से कहता है—'श्रद्धत्स्व सौम्य' [1] —तुम श्रद्धा करो सौम्य ! और ऐसी श्रद्धा करने को कहता है जिस पर तार्किक को विश्वास हो ही नहीं सकता, उसे हँसी आएगी ऐसे कथन पर। किन्तु वह कहता है 'य एषोऽणिमा, एतदात्म्यमिदं। तत्सत्यं, स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो।[2] यह जो अणिमा है, अत्यन्त सूक्ष्म सूक्ष्मतम है, यह स्थूलतम विश्व-तद्रूप है, दोनों में तादात्म्य है, यही सत्य है। इतना ही नहीं, हे श्वेतकेतु ! तुम भी तद्रूप ही हो। छान्दोग्य का यह ऋषि इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होता। वह श्रद्धा पर इतना बल देता है कि वह घोषित करता है : जब श्रद्धा होती है तभी जानता हैं, तभी मानता है। श्रद्धा के बिना ज्ञान सम्भव नहीं है। ज्ञान होकर भी टिक नहीं सकता। अतः सर्वप्रथम श्रद्धा के लिए ही सचेष्ट होने की आवश्यकता है : 'यदा वै श्रद्धाति अथ मनुते। ना श्रद्धानः मनुते। श्रद्धदेव मनुते। श्रद्धात्वेव विजिज्ञासितव्या, श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति।[3] उसके अनुसार श्रद्धा और निष्ठा एक-दूसरे की पूरक हैं, क्योंकि उनकी मान्यता है कि जहाँ निष्ठा श्रद्धा होने पर ही होती है वहाँ जब निष्ठा होती है तभी श्रद्धा होती है, निष्ठा के बिना श्रद्धा का होना सम्भव नहीं है, निष्ठावान् होकर ही व्यक्ति श्रद्धा करता है। यदा वै निस्तिष्ठति अथ श्रद्धाति, नानिस्तिठञ्च्छ्रद्धाति, निस्तिष्ठन्नेव श्रद्धाति।[4]

१. यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति॥ ईश ६
२. वेदान्त सूत्र।
१. छान्दोग्य, ६।१२।२।
२. वही, ६।१२।३।
३. वही, ७।१९।१।
४. वही, ७।२०।१।

इस सन्दर्भ में यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि धर्म के क्षेत्र में श्रद्धा को इतना अधिक महत्त्व क्यों प्रदान किया गया है ? इस प्रश्न के समाधान हेतु श्रद्धा के स्वरूप को जान लेना उचित होगा और एतदर्थ श्रद्धा पद के अर्थ को । श्रद्धा पद श्रत् औणादिक उपसर्गपूर्वक धा धातु से निर्मित है, जिसका यौगिक अर्थ विश्वास करना, भरोसा रखना होता है । विश्वास या भरोसा वह भाव है जो किसी न किसी आलम्बन की अपेक्षा रखता है । यह आलम्बन देव, गुरु आदि के रूप में मूर्त्त भी हो सकता है और उपासना, आराधना, यजन आदि की भाँति अमूर्त्त भी । किसी भी मूर्त्त अथवा अमूर्त्त आलम्बन के प्रति विश्वास या भरोसा तभी सम्भव है जब श्रद्धा के आश्रय का चित्त निर्मल हो, प्रसाद सम्पन्न हो। निर्मलता (प्रसाद) और श्रद्धा का कार्यकारण भाव इतना सुनिश्चित है कि बहुधा प्रसाद और श्रद्धा में तादात्म्य भी स्वीकार कर लिया जाता है, अभेद मान लिया जाता है । यही कारण है कि योग भाष्यकार व्यास ने श्रद्धा का अर्थ ही चित्त का प्रसाद किया है ।[1] लौकिक कार्यों में ही नहीं, समाधि की साधना में भी चित्त के प्रसाद का अत्यधिक महत्त्व है । योग सूत्रकार पतंजलि के अनुसार चित्त प्रसादन से समस्त अन्तरायों की भी निवृत्ति हो जाती है । इसीलिए उन्होंने योगी के लिए मैत्री आदि परिकर्मों की व्यवस्था की है ।[2] इसी कारण भाष्यकार व्यास ने तो चित्तसंप्रसादरूप श्रद्धा को जननी की उपमा देते हुए उसे साधक का परिपालक स्वीकार किया है ; इतना ही नहीं, उनकी मान्यता है कि विवेकाभिलाषी व्यक्ति जब श्रद्धावान् होता है तो उसे शक्ति (वीर्य) प्राप्त होती है, जिसके फलस्वरूप वह स्मृति-सम्पन्न होता है, जिसका परिणाम होता है—चित्त की आकुलता का विलय । अनाकुल चित्त ही समाहित हो पाता है तथा समाहित होने पर ही चित्त में प्रज्ञा का, विवेक का उदय होता है, यथावस्तु बोध होता है ।[3] केवल स्मृति में श्रद्धा को परिभाषित करते हुए उसमें सत्कार भावना और अनसूया को भी आवश्यक माना गया है ।[4] यह सत्कार भावना और अनसूया स्थिर होनी चाहिये, अस्थिर नहीं ।[4] आचार्य शंकर के अनुसार श्रद्धा में आस्तिक्य, बुद्धि, निष्ठा तथा गुरुसुश्रूषा आदि की भावना भी आवश्यक है ।[5] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि श्रद्धा चित्त की वह स्थिति है जिसमें वह प्रसादसम्पन्न आस्तिकता, सत्कार भावना आदि से युक्त तथा असूया, आकुलता आदि से रहित रहता है । प्रसाद आदि से युक्त होने तथा आकुलता आदि से रहित होने से चित्त सहज रूप से समाहित हो जाता है, क्योंकि चित्त-प्रसाद के कारण उसमें उन विविध भावों का उदय नहीं होता जिससे चित्त में चंचलता उत्पन्न होती है । अनाकुलता के कारण वह

१. श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः । व्यास भाष्य १.२०, पृ० ६० ।
२. योगसूत्र, ३०, ३२, ३३ ।
३. सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति. तस्यहि श्रद्धानस्य विवेकार्यिनोवीर्यमुपजायते, समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते, स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते, समाहित चित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्तते, येन यथावद्वस्तु जानाति । योगभाष्य १.२०, पृ० ६० ।
४. सत्कृतिश्चानुसूया च सदा श्रद्धेति कीर्त्तिता । देवलस्मृति ।
५. (क) श्रद्धात्वास्तिक्यबुद्धिः । छान्दो० भाष्य ७.१९.१ ।
(ख) निष्ठा गुरुशुश्रूषादिस्तत्परत्वं ब्रह्मज्ञानाय । छान्दोग्य भाष्य, ७.२९.१ ॥

निस्तरंग सरोवर की भाँति स्वच्छ और सुस्थिर हो जाता है। चित्त की इस अवस्था में सत्त्व गुण का प्राधान्य रहता है, रजस् और तमस् का संश्लेष केवल इतना ही रहता है कि चित्त, जो त्रिगुणात्मक प्रकृति का विकार है, की सत्ता बनी रहे। अन्यथा रजस् और तमस् पूर्णतः उपमर्दित अतएव प्रशान्त रहते हैं। रजस् और तमस् के प्रभाव के अभाव के कारण दुःख और मोह आदि भावों का सर्वथा विलय हो जाता है, बुद्धि स्थिर हो जाती है। इसीलिए भगवद्गीता में—

प्रसादे सर्व दुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्न चेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥[1]

कहते हुए न केवल चित्तप्रसाद को समस्त दुःखों की हानि और बुद्धि की स्थिरता का उपाय माना है अपितु यह भी स्वीकार किया है कि इस बुद्धि की स्थिरता से ही भावना और उससे शान्ति और सुख की प्राप्ति होती है, इसके अतिरिक्त सुख और शान्ति प्राप्त करने का कोई अन्य उपाय नहीं है।

समाहित चित्तता किसी भी कार्य की सफलता की कुंजी है; लक्ष्यवेध-परीक्षा के समय अर्जुन को समस्त गुरुजन, साथी, पक्षी का आश्रय ही नहीं, नेत्र के अतिरिक्त पक्षी के अन्य अंग तक नहीं दिखाई दे रहे थे, केवल लक्ष्यभूत पक्षी का नेत्र ही दिखाई दे रहा था। तभी वह लक्ष्यवेद्य-परीक्षा में सफल ही नहीं सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुआ। यह आख्यानक लोक-विश्रुत है, जो लौकिक जीवन में समाहित-चित्तता के महत्त्व का उत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है। चित्त-प्रसाद से प्राप्त यह समाहित-चित्तता मनुष्य को उसके प्रत्येक कार्य में सफलता प्रदान करती है और उसके अभाव में कोई भी साधना पूर्ण सफल नहीं हो पाती। इसी कारण चित्त-प्रसाद के मूल कारण श्रद्धा को प्रत्येक शुभ कार्य की सफलता के लिए आवश्यक स्वीकार किया गया है :—

श्रद्धापूर्वा इमे धर्माः श्रद्धामध्यान्तः स्थिताः।
श्रद्धानित्या पूजिताश्च धर्माः श्रद्धैव कीर्तिताः।
श्रुतिमात्ररसाः सूक्ष्माः प्रभाव पुरुषेश्वराः
श्रद्धामात्रैश्च गृह्यन्ते न करेण न चक्षुणा।[2]

इत्यादि अग्निपुराण-वचन इसके प्रमाण हैं। इतना ही नहीं, वहीं यह भी स्वीकार किया गया है कि, ये धर्म-कार्य हाथ आदि कर्मेन्द्रियों अथवा नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों से नहीं, अपितु श्रद्धा मात्र से सम्पन्न होते हैं। श्रद्धा के अभाव में देवगण भी चाहे जितना कष्ट सहें, चाहे जितना अर्थ-व्यय करें किन्तु धर्म की सिद्धि नहीं हो सकती।[3] अतः श्रद्धा ही सब धर्मों का

१. गीता, २.६५-६६।
१. अग्निपुराण, अध्याय २०।
२. कायक्लेशैर्न बहुभिः तथैवार्थस्य राशिभिः।
धर्मः सम्प्राप्यते सूक्ष्मः श्रद्धाहीनः सुरैरपि॥ वही अ. २१०

मूल है, श्रद्धा ही ज्ञान और तप है, वही स्वर्ग और मोक्ष है। जगत् के समस्त व्यवहार भी श्रद्धा द्वारा ही विधिवत् सम्पन्न हो पाते हैं।[1] इतना ही नहीं, अग्निपुराणकार की यह भी मान्यता है कि श्रद्धा के अभाव में जीवन का दान भी निष्फल हो जाता है। अतः समस्त धर्मों का मूल श्रद्धा है। श्रद्धा से ही विष्णु की प्राप्ति और उसकी पूजा-उपासना हो सकती है, अन्यथा नहीं।[2] सम्भवतः इसीलिए महानारायणोपनिषद् में श्रद्धा को आत्म-रूपी यजमान की पत्नी कहते हुए श्रद्धा के अभाव में यज्ञ की करणीयता को ही अस्वीकृत कर दिया गया है।[3]

तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में श्रद्धा की और उससे प्राप्त चित्तप्रसाद की सर्वाधिक आवश्यकता है। इसीलिए अग्नि विद्या का उपदेश चाहता हुआ कठोपनिषद् का नचिकेता 'प्रब्रूहि त्वं श्रद्धानाय मह्यम्[4] कहते हुए विद्या की प्राप्ति के लिए अपनी योग्यता का, अपनी अर्हता का, परिचय देते हुए स्वयं को श्रद्धायुक्त स्वीकार करता है। गीता का अर्जुन भी 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितंब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'[5] कहते हुए स्वयं को प्रपन्न अर्थात् 'श्रद्धावश शरण को प्राप्त' कहते हुए मार्गदर्शन, अर्थात् उपदेश ग्रहण करने की अपनी योग्यता, का परिचय देता है। गीता श्रद्धासम्पन्न पुरुष को ही ज्ञान का अधिकारी स्वीकार करती है, इतना अवश्य है कि गीता में श्रद्धा के साथ कार्यपरता और इन्द्रिय-संयम दोनों को समान रूप से ज्ञान की प्राप्ति के प्रति, दूसरे शब्दों में कार्य की सफलता के प्रति, हेतु माना है।[6] इस प्रसंग में यह भी स्मरणीय है कि तत्परता और इन्द्रिय-संयम श्रद्धा से सर्वथा भिन्न अथवा विरोधी न होकर श्रद्धारूपी मनोभाव से उत्पन्न क्रियाएँ हैं। अतः तत्परता और इन्द्रिय-संयम के उल्लेख को श्रद्धा से ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया मानना अधिक उपयुक्त होगा। इसीलिए इस प्रक्रिया-निर्देश के अन्त में फल-निर्देश करते हुए पद्य के उत्तरार्ध में 'ज्ञानं लब्ध्वा' कहकर प्रक्रिया की पूर्णता का संकेत कर दिया है।

इस संदर्भ में एक प्रश्न हो सकता है, श्रद्धा और क्रिया-विधि में किसे अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिये। अर्थात् एक व्यक्ति किसी कार्य को कर रहा है, तत्त्वज्ञान के लिए साधना-रत है, अथवा पिता, गुरु, देवता आदि की उपासना में संलग्न है, उसकी कार्य-विधि सदोष है अथवा प्रतिकूल प्रतीत होती है, किन्तु वह पूर्ण श्रद्धापूर्वक उस कार्य की संपन्नता के

१. श्रद्धा धर्म : परः सूक्ष्मः श्रद्धा ज्ञानं श्रुतं तपः।
श्रद्धा स्वर्गश्च मोक्षश्च श्रद्धा सर्वमिदं जगत् ॥ वही, अ. २१०

२. सर्वस्य जीवितं चापि दद्यादश्रद्धया यदि।
नाप्नुयात्तत्फलं किंचित् श्रद्धावानं ततो भवेत्।
एवं श्रद्धान्वयाः सर्वे सर्वधर्माः प्रकीर्तिताः।
केशवः श्रद्धां गम्यो ध्येयः पूज्यश्च सर्वदा ॥ वही अ. २१०

३. आत्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी। महानारायणोपनिषद् २५:।

४ कठोपनिषद १.१.१३

५. भगवद्गीता २।७

६. श्रद्धावान्लभते ज्ञानं, तत्परः संयतेन्द्रियः
ज्ञानं लब्ध्वा परां भक्तिमचिरेणधिगच्छति। गीता-४.३९

लिए तत्पर है। दूसरा व्यक्ति है जिसमें श्रद्धा का अभाव है किन्तु क्रिया-विधि पूर्णत निर्दोष और अनुकूल है, दोनों व्यक्तियों को धर्म का फल मिलना है। अब प्रश्न यह है कि प्रथम व्यक्ति अर्थात् श्रद्धासम्पन्न व्यक्ति को अधिक प्रशस्त फल मिलना चहिये अथवा निर्दुष्ट क्रिया-विधि के अनुष्ठाता दूसरे व्यक्ति को ? इस प्रसंग में मेरा उत्तर होगा, प्रशस्ततर फल का अधिकारी श्रद्धासम्पन्न व्यक्ति होगा, भले ही उसकी क्रिया-विधि में कुछ दोष विद्यमान हों। श्रीमद्भगवद्गीता और कठोपनिषद् मेरे अभिमत का ही समर्थन करती हैं। गीता में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में एक स्थल पर कहा गया है कि—

ये अन्यदेवताभक्ताः यजन्ते श्रद्धान्विताः।
तेऽपि मामेव कौंतेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।[1]

अर्थात् जो भक्त मेरी अर्थात् परमदेव की भक्ति न करके किसी अन्य देवता की भक्ति कर रहा है किन्तु श्रद्धा-सम्पन्न है, उस स्थिति में विधि-विपर्यय होते हुए भी श्रद्धा के कारण उसकी भक्ति विष्णुभक्ति अर्थात् परमदेव की भक्ति ही मानी जायेगी।

एक अन्य स्थल पर श्रद्धा और क्रियाविधि में अन्यतम के प्रश्न पर गीताकार ने स्वयं प्रश्न करके उत्तर दिया है। गीता का अर्जुन कृष्ण से पूछता है कि, 'यदि एक साधक पूर्ण यतात्मा नहीं है और अभी उसको योगसिद्धि प्राप्त नहीं हुई और पहले ही उसका मन योग से चंचल हो गया है, किन्तु वह श्रद्धासम्पन्न है, उसकी क्या गति होगी ?

अयतिः श्रद्धयोपेतः योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ?[2]

गीता में कृष्ण इस प्रश्न का जो उत्तर देते हैं इस प्रसंग में वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उनका कहना है कि—'कल्याण की कामना से (अर्थात् श्रद्धापूर्वक) कर्म करने वाले व्यक्ति का विनाश नहीं होता, कल्याण की कामना करने वाले को कभी दुर्गति प्राप्त नहीं होती—

पार्थ नैवे नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥[3]

इतना ही नहीं, वह चिरकाल तक पुण्यकर्मी जनों के निवास-योग्य लोकों में निवास कर पवित्र श्रीसम्पन्न पुरुषों के यहाँ, अथवा योगिजनों के यहाँ, पुनर्जन्म प्राप्त करता है जो कि विश्व में अन्य कर्मियों के लिए सर्वथा दुर्लभ है :

प्राप्य पुण्यकृतान् लोकानुषित्वा शाश्वती समाः।
शुचीनां श्रीमतांगेहे योगभ्रष्टोभिजायते।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥[4]

इसका तात्पर्य यह है कि गीता के अनुसार क्रियाविधि की अपेक्षा श्रद्धा का महत्त्व

१. भगवद्गीता ९.२३
२. वही, ६.३७
३. वही ६.४०
४. वही ६.४१–४२।

अधिक है । कठोपनिषद् में भी इसी मान्यता का समर्थन उपलब्ध होता है । कठोपनिषद् के याजश्रवस् सर्ववेदस् यज्ञ करते हुए सर्वस्व दान करते हैं, गौओं का दान करते हुए अत्यंत वृद्ध गौओं का भी दान करने लगते हैं । इसे देखकर उनके पुत्र नचिकेता की श्रद्धा जागृत होती है,[१] गौओं के प्रति नहीं, पिता के प्रति ,[२] क्योंकि ऐसी गौओं का दाता अकल्याण का भागी होता है । पिता की कल्याण-कामना का उसे एक ही उपाय सूझता है, पिता की इच्छा के विरुद्ध स्वयं का दान किया जाना । और इसके लिए पिता से बार-बार आग्रह करने पर वह पिता के क्रोध का भागी बनता है । विचित्र स्थिति है, पिता के ही कल्याण की कामना है, श्रद्धा है, और उसके लिए पिता की इच्छा के विरुद्ध, पिता की भावना के विरुद्ध कार्य करता है और क्रोध का भागी बनता है । यहाँ श्रद्धा है, किन्तु क्रियाविधि अनुकूल नहीं, प्रतिकूल है । किन्तु इसका परिणाम नचिकेता के लिए अकल्याणकर नहीं है, उसे अभीष्ट वरदान मिलता है । वह अग्नि विद्या को ही नहीं, आत्मज्ञान को भी प्राप्त करता है । प्रतिकूल क्रियाविधि में भी श्रद्धा के कारण अनुकूल फल प्राप्त करता है ।[३]

इस आधार पर हम निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि क्रियाविधि की अपेक्षा भी श्रद्धा का अधिक महत्त्व है । श्रद्धा के रहने पर साधक की कभी क्रियाएं सफल होती हैं, अनुकूल फल प्रदान करती हैं । श्रद्धा के अभाव में उसके सभी कर्म निष्फल होने लगते हैं । यही कारण है कि वृहदारण्यक उपनिषद् में यज्ञ की प्रतिष्ठा श्रद्धा में ही स्वीकार की गयी है ।[४] धर्मशास्त्र में तो यहाँ तक कह दिया गया है कि श्रद्धा के अभाव में साधक धर्म-कार्य का अधिकारी ही नहीं होता ।[५] यही कारण है कि छांदोग्य का ऋषि श्वेतकेतु से कहता है, 'श्रद्धत्स्व सौम्य इति:' हे सौम्य, श्रद्धा करो, श्रद्धावान् बनो ।

यहाँ एक प्रश्न विचारणीय हो सकता है कि क्रियाविधि की अपेक्षा भी श्रद्धा का महत्त्व अधिक क्यों है ? मेरी दृष्टि से इसका उत्तर यह है कि श्रद्धा का सीधा सम्बन्ध हृदय में है ।[६] हृदय से सम्बन्ध होते ही वह वस्तु, वह क्रिया, वह व्यक्ति अन्तरंग भाव को प्राप्त हो जाता है, उसमें स्वत्व का अनुभव होता है, अभेद की भावना उत्पन्न हो जाती है । हृदय के सम्बन्ध के अभाव में यह निकटता, यह अभेद उत्पन्न ही नहीं हो सकता । समस्त क्रियाविधि, ज्ञान, चिन्तन का सम्बन्ध मस्तिष्क से है, पर श्रद्धा का हृदय से है । यही उसकी अन्तरंगता का कारण है । इसीलिए छांदोग्य का ऋषि कहता है 'श्रद्धात्वेव विजिज्ञासितव्या,

१. तं ह कुमारं सन्तं दक्षिणास्तु नीयमानासु श्रद्धा आविवेश । कठोपनिषद् १ १.२।
२. श्रद्धा आस्तिक्यबुद्धिः पितुर्हितकाम्य प्रयुक्ता । शांकरभाष्य, कठ. ३.१.१.२. ।
३. पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रिया: ।
अनन्दा नाम ये ओका: तान् स गच्छति ता ददत् ।। कठ. उप. १.१.३ ।
४. कस्मिन्नु यज्ञ: प्रतिष्ठित: इति । दक्षिणायाम् । कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठिता इति । श्रद्धायामिति । यदा ह्येव श्रद्धात्तेऽथ दक्षिणां ददाति, श्रद्धायां ह्येव दक्षिण प्रतिष्ठितीति । —वृहदारण्यक ३,९.२१.
५. प्रत्ययो धर्म कार्येषु तथा श्रद्धेत्युदाहृता ।
नास्ति ह्यश्रद्धधानस्य धर्मकृत्ये प्रयोजनम् । स्मृति, वाचस्यत्येसे उद्घृत ।
६. कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति हृदये होवाच ; हृदयेन हि श्रद्धा जानाति । हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीति एवमेतद् याज्ञवल्क्य । वृह. ३.९.२१ ।

श्रद्धा भगवो विजिज्ञासस्वेति ।[1] अर्थात् श्रद्धा ही जानने योग्य है, उसे ही जानो । मुण्डक उपनिषद् के अनुसार तप, सत्य, ब्रह्मचर्य एवं क्रियाविधि के साथ श्रद्धा के विद्यमान रहने पर प्राण उत्पन्न होते हैं, अर्थात् जीवन में जीवन आ जाता है, शक्ति आ जाती है,[2] अतः श्रद्धा का क्रियाविधि की अपेक्षा अधिक महिमाशाली होना अत्यन्त स्वाभाविक है ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जीवन के सभी क्षेत्रों, मुख्यतः साधना के क्षेत्र में, तत्त्वज्ञान के अनुसंधान के क्षेत्र में, श्रद्धा का सर्वाधिक महत्व है । एक तार्किक भी यदि अपने शस्त्र तर्क पर श्रद्धावान् नहीं होगा तो वह तर्क के प्रचार में उद्विग्न होकर सत्य की परीक्षा से विरत हो जाएगा । एक प्रमाता अपने प्रमेय के प्रति, प्रमाण के प्रति एवं न्याय अर्थात् प्रमाणों से अर्थ की परीक्षा के प्रति यदि श्रद्धावान् न होगा तो वह अर्थ की परीक्षा में व्याप्त न हो सकेगा, अथवा सिद्धान्त तक पहुंचने से पूर्व ही परीक्षा से विरत हो सकता है । श्रद्धा ही एक ऐसा मनोभाव है जो व्यक्ति को प्रभु के प्रति, माता-पिता-गुरु आदि के प्रति, राष्ट्र या समाज के प्रति अथवा किसी क्रिया और क्रियाविधि के प्रति एकनिष्ठ रखने में समर्थ है । श्रद्धा ही शिष्य को गुरु से विद्याग्रहण में समर्थ बनाती है । इतना ही नहीं, वह व्यक्ति को भी विखण्डित होने से रोकती है, उसे पूर्ण बनाती है । अतः जीवन के सभी क्षेत्रों में सफलता के लिए, समग्र सुखों की प्राप्ति के लिए, एवं जीवन की पूर्णता के लिए श्रद्धा को अपनाने की नितान्त आवश्यकता है :

श्रद्धत्स्व सौम्य इति, श्रद्धत्स्व सौम्य इति, श्रद्धत्स्व सौम्य इति ।

केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद

१. छान्दोग्योपनिषद् ७,१६,१ ।
२. प्राथापाना व्रीहि यवौ तयपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च । सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् । मुण्डक २.१.७८
३ प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः । न्यायभाष्य १.१.१,

समाज-दर्शन : कुछ प्रश्न*

सतिन्दर महाजन

समाज-दर्शन के स्वरूप, आधार एवं उसकी सार्वभौमिकता अथवा सापेक्षता का प्रश्न, इनका सम्यक् विवेचन एवं निर्धारण एक अत्यन्त रुचिकर दार्शनिक समस्या है। वास्तव में ये तीनों प्रश्न परस्पर गुंथे हुए दीखते हैं। इस लेख में मैंने इसी बहुमुखी एवं जटिल प्रश्न पर कुछ विचार किया है। चूंकि इन तीनों में भी, समाज-दर्शन का स्वरूप क्या है, यही प्रश्न प्रमुख दीखता है, अतः पहले में इसी पर विचार किया गया है। तदनन्तर इसके आधार का तथा अन्त में इसकी सार्वभौमिकता का प्रश्न उठाया गया है।

(१)

समाज-दर्शन की प्रकृति क्या है? इस सरल से दीखने वाले प्रश्न का कोई सरल उत्तर नहीं है, अपितु इसको कई पृथक् दिशाओं में बढ़ाया जा सकता है।

(क) सर्वप्रथम, समाज दर्शन की व्याख्या 'समाज का दर्शन' इस प्रकार की जा सकती है, अथवा समाज को सामान्यतम अर्थ में लेते हुए, उसका दार्शनिक विवेचन। समाज क्या है?—इसका तात्त्विक ज्ञान, यानी उस के सत्य को, उसको, सार रूप से जानना। उपनिषद् में समग्र सृष्टि के परम तत्त्व के विषय में जिज्ञासा करते हुए याज्ञवल्क्य से यह अनुरोध किया जाता है कि वे उस तत्त्व का ज्ञान प्रदान करें जिसे जानकर और कुछ जानना शेष न रहे। समाज-दर्शन के प्रसंग में हम उपनिषद् के प्रश्न को सीमित करके यों कह सकते हैं कि समाज के स्वरूप का ऐसा ज्ञान जिसे प्राप्त कर समाज के विषय में और कुछ जानना शेष न रहे। इस सन्दर्भ में निम्न प्रश्न उठते हैं: समाज की प्रकृति क्या है? क्या यह एक नैसर्गिक सत्ता है अथवा कृत्रिम सत्ता? व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध का क्या आधार और स्वरूप है? इसकी उत्पत्ति के विषय में, इसकी विभिन्न संस्थाओं, जैसेकि राजनीतिक, आर्थिक, पारिवारिक आदि के स्वरूप, उपयोगिता, उचित स्थान, पारस्परिक सम्बन्ध, इनकी अनिवार्यता अथवा आगंतुकता के विषय में भी प्रश्न उठते हैं जिन का दार्शनिक विवेचन समाज-दर्शन से अपेक्षित है।

(ख) उपर्युक्त प्रत्यय एवं समस्याएँ इतनी सामान्य प्रकृति की हैं और उनके प्रस्तुत वैकल्पिक विवेचन में कौनसा मान्य है, कौनसा अमान्य — इसका निश्चय इतना कठिन है, और इस विषय में दिये गए किसी उत्तर का ठीक स्थान निर्धारित करना इतना

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के २३वें वार्षिक अधिवेशन (१७-२९ दिसम्बर, १९७७) में समाज-दर्शन विभाग के अध्यक्ष पद से भाषण।

अनिश्चित है कि इस पर दार्शनिक आपत्ति उठना स्वाभाविक ही है। यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार की समस्याओं से उलझना केवल हवाई उड़ानें लेना और अधिक से अधिक बुद्धि-विलास में पड़ना ही है जिसे एक ज़िम्मेदार दर्शन में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया जा सकता। अतः समाज-दर्शन का कार्य समाज मात्र सम्बन्धी समस्याओं से व्यर्थ में उलझना न होकर किसी समाज विशेष को सम्यक् रूप से समझ कर उसका दार्शनिक विवेचन करना ही होगा, ऐसा दूसरा उत्तर है। किसी समाज को सम्यक् रूप से समझने तथा उसके दार्शनिक विवेचन का स्वरूप क्या है—इस प्रश्न पर हम आगे चल कर विचार करेंगे।

(ख) की पुष्टि में यह कहा जा सकता है कि समाज नाम की कोई सत्ता ही नहीं है। भिन्न-भिन्न समाज विशेष ही हैं और उनके अपने जीवन-दर्शन, जीवन-शैलियाँ, विभिन्न नियम और उन्हीं सब से जुड़े हुए उनके सामाजिक विचार, संस्थाएँ तथा परम्पराएँ होती हैं। अतः उपर्युक्त अर्थों में समाज का बोध एवं दार्शनिक विवेचन, जो कि इन सब में सक्रिय भाग लेने से ही सम्भव हो सकता है, किसी समाज विशेष के सन्दर्भ में ही कुछ सार्थकता रख सकता है। उदाहरण स्वरूप भारत में समाज-दर्शन का कार्य भारतीय समाज को समझने हेतु उसके इतिहास, परम्परा, दर्शन, नीति, धर्म, आचार इत्यादि का गहन अध्ययन होगा और इस सब के आधार पर भारतीय समाज क्या है, इसकी स्वाभाविक दिशा, आदर्श क्या हैं इस पर हमारी अन्तर्दृष्टि को तीक्ष्ण कर भ्रान्तियों को नष्ट करना होगा।

(ग) समाज-दर्शन के स्वरूप एवं कार्य के विषय में एक और महत्त्वपूर्ण उत्तर उसके मानक होने में दिया जाता है। समाज-दर्शन से यह अपेक्षा रहती है कि वह समाज की संस्थाओं, परम्पराओं, नियम-आदर्शों पर समालोचनात्मक विचार-विनिमय सम्भव करे और उसके सही अर्थ, अभिप्राय और महत्त्व का हमें ज्ञान कराये, हमें एक मानक दृष्टिकोण बनाने में योग दे जिसके परिप्रेक्ष्य में हम समाज की प्रचलित प्रथाओं, परम्पराओं, मूल्यों, नीतियों आदि का मूल्यांकन कर सकें। अतः इस दृष्टिकोण से सामाजिक नीतियों के मूल्यांकन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना, वह बुनियाद डालना जिस पर सामाजिक समीक्षा या मूल्यांकन की भव्य इमारत खड़ी की जा सके, यह समाज-दर्शन का विशिष्ट कार्य होगा। किन्तु स्पष्ट है कि मूल्यांकन का कार्य तभी सम्पन्न हो सकता है जब हमारे पास कुछ मानदण्ड हों। अतः प्रश्न उठता है कि मूल्यांकन के मानदण्ड, जो निर्विवाद मान्य हों, कहाँ तक उपलब्ध हैं? पुनश्च, क्या हम सार्वभौम मूल्यों एवं मानदण्डों की बात कर सकते हैं, या कि वे भी समाज व संस्कृति-सापेक्ष हैं? इस प्रश्न को यदि इस समय स्थगित भी कर दिया जाय तो भी मूल्यांकन विषय समाज-दर्शन के स्वरूप को तनिक और विशदता से तो समझना ही होगा।

समाज-दर्शन के इस पहलू में (१) सर्वप्रथम कार्य समाज में प्रचलित संस्थाओं, रीति-रिवाजों, सामाजिक विचारों आदि का मूल्यांकन है। समाज का लम्बा इतिहास है, उसमें समय-समय पर परिस्थितिवश कई प्रकार के विचार और रीति-रिवाज अंकुरित हुए, पले, पनपे। उनकी सामयिक आवश्यकता या कदाचित् अनिवार्यता भी रही हो सकती है।

किन्तु यह आवश्यक नहीं कि वे अब भी उतने ही आवश्यक या उपयोगी भी हों, बल्कि ऐसा भी सम्भव है कि उल्टे अब वे एक मृत बोझ मात्र ही रह गये हों और अब केवल इनका व्यर्थ बोझ ही ढोया जा रहा हो। मानव-समाज या समाजों के इतिहास में ऐसा प्राय: ही देखने में आया है कि कई विचार, मूल्य, आदर्श अपने समय एवं / अथवा अपने मूल रूप में बहुत सुन्दर एवं मानव के स्वस्थ चहुंमुखी विकास के लिए अत्यन्त उपयोगी होते हुए भी बाद में समय के चक्कर से गुज़रते-बीतते अपने मूल सुन्दर रूप को खो कर विकृत हो जाते हैं। या फिर उन पर इतने बाह्य, अनावश्यक, अनचाहे आवरणों का मकड़जाला लग जाता है कि उनका असली रूप ही छिप जाता है—या कुरूप हो जाता है। सामाजिक संस्थाओं, प्रथाओं और व्यवस्था को समय-समय पर तर्क, सूझ-बूझ और बुद्धि की कसौटी पर कसना होता है और उनके आधार पर बनी आदतों को काटना-छाँटना होता है।

(२) समाज किस दिशा में अग्रसर हो, भविष्य के लिए कौनसी नीतियों को अपनाये ? जो सामाजिक समस्याएँ प्रस्तुत हैं उनका समाधान किस प्रकार से किया जाय ? सामाजिक व्यवस्था, विचार, मूल्य, आदर्श किस दिशा में अग्रसर हों ? और उन्हें किस सिद्धान्त के आधार पर स्वीकार किया जाय ? बजाय इसके कि समाज को एवं अपने आप को हम आँख मूंद प्राप्त परिस्थितियों और प्रभावों के अधीन इतस्तत: भटकने दें, उससे यह कहीं बेहतर है कि जो हो रहा है और जो होने वाला है उसके प्रति हम सजग और सचेत रहें, उसको साफ-साफ देखने का प्रयत्न करें और उस पर अपने चयन, निर्णय, चिन्तन, संवेदना की छाप लगाएं।

(३) आदर्श समाज कैसा हो—यह समाज-दार्शनिकों का एक प्रिय प्रश्न रहा है। मानक समाज-दर्शन का यह एक बहुत सामान्य एवं व्यापक प्रश्न है तथा इसकी व्यापकता उपरिलिखित (१) (२) दोनों से अधिक है। यह भी स्पष्ट है कि आदर्श समाज का सफल चित्रण पहले दोनों प्रश्नों (१) और (२) के सम्यक् विवेचन का आधार बनने के योग्य है। आदर्श समाज की रूपरेखा खींचकर उसके निहितार्थ पर गौर करें तो समाज की प्रस्तुत संस्थाओं, रीति-रिवाजों, प्रथा-परम्पराओं, नीतियों की तर्कसंगत समालोचना का आधार हमें मिल जाता है तथा उनका संशोधित रूप एवं दिशा क्या हो, इस पर भी समीचीन उत्तर दिया जा सकता है। तो भी, (१, २) में उठाये गये प्रश्नों का उत्तर देने के लिए ३ के प्रस्तुत होने पर सुभीता होगा ऐसा मान लेने पर भी यह मानना आवश्यक नहीं कि ३ को १,२ के लिए अनिवार्य मानें। आदर्श समाज के चित्रण के अभाव में भी हम प्रस्तुत नीतियों आदि का समीक्षात्मक विवेचन कर सकते हैं और प्राय: ऐसा करने पर बाध्य भी होते हैं।

(घ) समाज-दर्शन के विषय में एक दार्शनिक मत ऐसा भी है जो उपर्युक्त तीनों विचारों को रद्द करता है। दर्शन का स्वरूप क्या है, इस प्रश्न पर बीसवीं शताब्दी में आंग्ल-अमरीकी जगत् में एक नयी क्रान्तिकारी विचारधारा प्रकट हुई और एक लम्बी अवधि तक वह एक प्रभावशाली स्थान भी प्राप्त किये रही। विज्ञान से प्रभावित इस विचारधारा के अनुसार वे सभी कथन, जिनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से ऐन्द्रिय अनुभव द्वारा सत्यापन

या असत्यापन सम्भव नहीं है, वे निरर्थक हैं। दर्शन की कई शाखाएँ ऐसे ही कथनों से भरी पड़ी हैं—जैसे तत्वमीमाँसा, नीति-दर्शन आदि। यह भी कहा जाता है कि आनुभविक सत्यापन के अभाव में तत्वमीमाँसा जैसे दर्शन के अङ्ग केवल अटकल-बाजी और कोरी कल्पनाओं से भरे पड़े हैं, अतः ये दर्शन से निष्कासित कर दिये जाने चाहिएं। इसी प्रकार के चिन्तन के प्रभाव में आदर्शात्मक, मानक क्रिया पर भी चोट की गई और यह सुझाव दिया गया कि अच्छा हो यदि दर्शन इन दोनों से अपने हाथ धो ले। इनके स्थान पर भाषा एवं संप्रत्ययात्मक विश्लेषण को प्रतिष्ठित किया जाना चाहिये। यह कार्य दार्शनिकों के वश का है और बहुत उपयोगी भी है। हमारे विचारों में अस्पष्टता तथा भ्रान्ति के मकड़-जाले लगे हैं, उनको विश्लेषण से साफ कर दिया जा सकता है। कपोल-कल्पनाओं पर आधारित हवाई किलों को मिट्टी में मिला, दार्शनिक क्रिया को भाषा एवं विश्लेषण के ठोस तथा साफ-सुथरे धरातल पर लाया जा सकता हैं। इस परिप्रेक्ष्य में, जिसे हम समाज-दर्शन कहते हैं, उसका कार्य 'समाज का तात्त्विक ज्ञान' या 'आदर्श समाज का रूप' इन मायावी हेम-मृगों के पीछे दौड़ना न होकर समाज सम्बन्धी भाषा तथा संप्रत्ययों का विश्लेषण तथा स्पष्टीकरण करना मात्र होगा। दार्शनिक का यह अपेक्षा करना कि वह किसी गूढ़ तत्व, रहस्य का सार जानने की अथवा समाज का पथ-प्रदर्शन करने की कोई विशेष योग्यता रखता है, एक भ्रान्ति ही है।

समाज-दर्शन के विषय में इस प्रकार का मत दर्शन के स्वरूप सम्बन्धी मत से ही जुड़ा हुआ है और उसी पर निर्भर करता है। नयेपन के आकर्षण की समाप्ति पर अब दर्शन-सम्बन्धी इस अनुभव-प्रमाणीकरणवादी मत की मान्यता नहीं रही। अतः समाज-दर्शन से भी इसकी छाया हट सी गई है। तो भी, सामान्यतया दार्शनिक इस बात को मानते हैं कि इस आन्दोलन से दर्शन को अपेक्षतया स्पष्टता तथा प्रखर विश्लेषण का लाभ हुआ है और अनुत्तरदायी मनोकल्पना तथा मात्र बुद्धि-विलास पर अंकुश लगा है। विषय-प्रवेश से पहले ही यदि हम अपनी समस्या को भाषा तथा संप्रत्यय की कठोर समीक्षा द्वारा स्पष्ट, निश्चित करलें तो निश्चय ही हम अपने विचार-विनिमय एवं विवेचन में कई गलतफहमियों तथा भ्रान्तियों से बच सकते हैं। अतः जहाँ तक विश्लेषणात्मक धारा ने समाज-दर्शन को भी इस प्रकार प्रभावित किया है वहाँ तक इसका लाभकारी योग रहा है। तथापि विश्लेषण को लेकर एक संकीर्ण और कट्टर सम्प्रदाय बना लेना और यह मानना और आग्रह करना कि दशंन का कार्य मात्र इतना ही है, एक गलत-फहमी को पालना होगा और दर्शन के क्षेत्र एवं स्वरूप को नितान्त अनावश्यक ढंग से सीमित करना होगा, जिसका कोई औचित्य नहीं है। विचार, मनन, अनुशीलन आदि के आधार पर समाज के अस्तित्व एवं सत्ता के बारे में तथा उसके आदर्श रूप एवं भविष्य के लिए दिशा-निर्धारण करने में अन्तर्दृष्टि प्राप्त करना असम्भव है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। वास्तव में ऐसा करना न केवल सम्भव ही है, किसी भी समाज के कल्याण के लिए अनिवार्य भी है। ऐन्द्रिय आनुभविकता को ही सर्वेसर्वा मानना एक भारी भूल है, और केवल मात्र उसकी कसौटी पर सदियों से चली आ रही मानव की विशद दार्शनिक-नैतिक विचार-परम्परा को दुत्कारना तथा नकारना सर्वथा त्याज्य ही नहीं हास्यास्पद भी है। अस्तु, समाज-दर्शन से अब यह

पारम्परिक अपेक्षा की जाती है कि वह समाज की गहराई में जाकर उसके तत्त्व को समझने में, मूल्यांकन के लिए मानदण्ड निर्धारण करने में एवं आदर्श समाज के चित्र चित्रण में योग दे कर समाज के पथ-प्रदर्शन में अपना उत्तरदायित्व निभाये। स्पष्टता, सुनिश्चितता एवं तलस्पर्शी गहन चिन्तन इन दोनों के योग से ही एक असंदिग्ध किन्तु गूढ़ समाज-दर्शन का निर्माण हो सकता है।

(ङ) समाज-दर्शन के अन्तर्गत कुछ ऐसी समस्याएँ भी समाविष्ट की जाती हैं जिनका सम्बन्ध समाज-अध्ययन की विषय-वस्तु से न होकर समाज-अध्ययन की उपयुक्त प्रणाली या विधि से है। अर्थात् ये प्रश्न समाज-अध्ययन सम्बन्धी प्रणाली-विज्ञान से जुड़े हुए हैं। संक्षेप में, मुख्य प्रश्न यही है कि समाज का अध्ययन करने की तथा समाज जिनकी विषय-वस्तु है ऐसे विज्ञानों की, सही प्रणाली क्या है ? भौतिक विज्ञान की अप्रत्याशित सफलता से चकाचौंध कई समाज-अध्येता, जैसे मनोवैज्ञानिक, राजनीति-वैज्ञानिक एवं अर्थशास्त्री तथा समाजशास्त्री भी इस प्रयत्न में संलग्न दीखते हैं कि जहाँ तक हो सके भौतिक विज्ञान की पद्धति को ही समाज के अध्ययन तथा अनुशीलन में प्रयुक्त किया जाय। इसके पीछे यह कारण रहता है कि वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग से हम समाज-अध्ययन को अधिक प्रतिष्ठित बना सकते हैं, आनुभविक सत्यापन एवं परिमाणन के प्रयोग से समाज-शास्त्रों के परिणामों की ग़लत-सही, सत्य-असत्य ठहराने की सुनिश्चित कसौटी प्रस्तुत कर सकते हैं जिससे समाज-शास्त्रों में से अनिश्चितता, आत्मनिठता और कोरी काल्पनिकता आदि को समाप्त कर उन्हें एक ठोस, निश्चयात्मक एवं दुविधा तथा भ्रान्ति-रहित धरातल पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है। किन्तु इसके विपक्ष में भी काफी शक्तिशाली दलीलें दी जा सकती हैं। परिमाणीकरण, सही-ग़लत के स्पष्ट मानदण्डों की तथा परिमाणन की उपलब्धि तथा मतभेद एवं अनिश्चितता को समाप्त करने के प्रयत्न सराहनीय हैं किन्तु सम्यक् बोध और अन्तर्दृष्टि की बलि देकर नहीं, विषय के महत्त्व को खो कर नहीं। एक अत्यन्त सरल एवं घरेलू उदाहरण से हम इस बात को तनिक जाँचें। यह सर्वविदित है कि गीता की कितनी ही भिन्न-भिन्न टीकाएँ, भाष्य, व्याख्याएँ हमें उपलब्ध हैं। यह भी सब जानते हैं कि एक व्याख्याकार का मत दूसरे व्याख्याकार से नहीं मिलता। शब्दों तक के अर्थों में सहमति नहीं है, सिद्धान्त या संदेश के विषय की बात तो दूर रही। यह भी नहीं कहा जा सकता कि इन मतों में से किस को अपनाया जाय और किस को छोड़ा जाय, इसके लिए कोई निश्चित परीक्षा विद्वानों ने निर्धारित कर रखी है या करना सम्भव है। अब मान लीजिए कि हम इस सब अनिश्चितता को समाप्त करने के लिए परिमाणन का प्रयोग करने का निश्चय करते हैं। यह हो सकता है कि कौन से शब्द कितनी बार प्रयुक्त हुए हैं, इसकी हम गणना करलें और इन सब गणनाओं को कम्प्यूटर के अर्पण भी करदें। यह भी सम्भव है कि इस सब जानकारी के आधार पर कोई उत्साही विज्ञान-विधि-प्रेमी कुछ सह-संबंध भी निकाल दिखाये। किन्तु क्या हम इस प्रकार की गिनती से गीता को समझने के कहीं पास भी पहुँच सकते हैं ? निश्चय ही हमारे पास परीक्षणीय, सत्यापनीय आँकड़े तो होंगे किन्तु गीता क्या है यह समझना तो दूर की बात ही रह जायगी। स्पष्ट है कि यहाँ पर यद्यपि हमें सत्यापनीय परिणाम प्राप्त हुए, मत-वैभिन्य भी समाप्त हुआ, तो भी यह पद्धति इस

विषय को समझने के लिए अनुचित है, अनुपयुक्त है। एक और उदाहरण लें—मेरे मित्र का कुछ लम्बाई है, कुछ भार है, कुछ अवयव हैं जो गिनती के हैं। आँखों ; बालों तथा त्वचा का कोई रंग है, जन्म-स्थान, तिथि आदि हैं। संक्षेप में कुछ पास-पोर्ट तथ्य हैं। इसी प्रकार कुछ मैडिकल तथ्य, आर्थिक तथ्य भी हैं। किन्तु क्या एक मित्र को जानना इन तथ्यों के समूह को जानना है ? एक अजनबी तो क्या, एक कम्प्यूटर भीं इन तथा और भी कई तथ्यों के समूह की जानकारी रख सकता है, और यद्यपि बीमा करने वाले एजेण्टों को या डाक्टरों को या वकीलों को इस प्रकार के तथ्यों से अधिक लगाव हो सकता है और यह भी हो सकता है कि ऐसे तथ्य उनके लिए अधिक उपयोगी भी सिद्ध हों। तो भी यह सब जानकर भी किसी व्यक्ति को हमने सही अर्थ में जाना—समझा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। एक बेजान वस्तु के विषय में विभिन्न तथ्यों को जान कर उसे जान लेने का हमारा दावा मान्य हो सकता है किन्तु एक मानव को समझने के लिए हमें निश्चय ही इन तथा और भी वैज्ञानिक रूपेण उन्नत पद्धति से प्राप्त किये गए हैं। तथ्यों से आगे जाना होता है। उसके साथ मानवता, सौहार्द, सहानुभूति, कुछ मैत्री-प्रेम का रिश्ता जोड़ना होता है। अपने-आप को उसकी जगह खड़ा करके, या मानो उसके हृदय में बैठ कर, संसार को उसकी दृष्टि से देखने का प्रयत्न करना होता है। इस प्रकार का प्रयत्न और संवेदनशीलता बैज्ञानिक विधि की नाप तौल से चाहे बाहर हो किन्तु व्यक्ति की सही समझ के लिए यह ही आवश्यक है। वस्तुतः जितना कोई ब्यक्ति ऐसा सब करने में अधिक समर्थ होता है उतना ही अधिक वह दूसरे व्यक्ति को सच्चे अर्थों में जानता-समझता है। इसी प्रकार, जब हमारा उद्देश्य समाज को सही प्रकार से समझना है तो हमें प्रणाली भी वैसी ही अपनानी होगी जो इस कार्य के लिए अनुकूल एवं उपयुक्त हो। समाज विज्ञानों के विषय हैं—सामाजिक वास्तविकता का अध्ययन, समाज में मानव-व्यवहार का अध्ययन। किन्तु इनको समझने के लिए हमारे लिए उस समाज की विश्व-दृष्टि, सत्ता के प्रति उसकी विचारधारा, समाज और मानव के विषय में उसके दार्शनिक विचार इन सबको जानना होगा। क्योंकि सामाजिक वास्तविकता, समाज में मानव-व्यवहार, जो हमारे अध्ययन-विषय हैं—वे इन सब से बारीकी और गहराई से जुड़े हुए हैं। किसी समाज के सदस्यों के आपसी सम्बन्ध एवं व्यवहार, उनकी संस्थाएँ, परंपराएँ यह सब उनकी विश्व-दृष्टि, विशेषतः उनकी समाज-दृष्टि की अभिव्यक्तियाँ हैं अतः सामाजिक वास्तविकता को उनके विश्व-दर्शन, सत्ता-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में समझना ही समाज-विज्ञानों एवं शास्त्रों की विशिष्ट प्रक्रिया है, और स्पष्ट ही इस प्रकार के कार्य के लिए जो प्रणाली उपयुक्त है वह उस विधि से सर्वथा भिन्न होगी जो कि उदाहरण-स्वरूप सौर-मण्डल के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए उपयुक्त है। यहाँ पर प्रश्न आनुभविक तरीके से व्यवहार की नियमितताओं को प्रतिपादित करने का नहीं है अपितु सम्यक् समझ का है। इस बोध के लिए समाज के व्यवहार, मूल्य, संस्थाओं आदि की जानकारी प्राप्त कर उनकी व्याख्या करनी होती है और यह व्याख्या हमारे द्वारा इस समाज की जीवन-दृष्टि के निरूपण के साथ जुड़ी हुई है। इस समाज की परीक्षा, स्थापना, वैधीकरण के लिए परिकल्प-निगमनात्मक प्रतिमान प्रयोग में नहीं लाया जा सकता, कोई एक व्याख्या नहीं हो सकती। व्याख्या अधिक या कम संगत, निर्दोष, अधिक या कम मान्य,

सतही या तलस्पर्शी होती है। समाज-विज्ञान के विषय के समुचित अध्ययन के लिए हमें कर्म के अर्थ और सार्थकता पर ध्यान देना होता है। यदि हम बाह्य व्यवहार में पायी जाने वाली नियमितताओं के अध्ययन पर ही अपने को सीमित रखते हैं तो हम वैज्ञानिक परिकल्पों और निगमनात्मक विधि का प्रयोग तो कर सकते हैं किन्तु इससे समाज-विषय के स्वरूप की समझ नहीं मिल सकती। जो वस्तु सामाजिक कर्म को विशिष्ट रूप से सामाजिक कर्म की संज्ञा देती है और अन्य क्रियाओं या गतियों से उसका भेद करती है वह उसकी बाह्य नियमितता नहीं है अपितु अर्थ-महत्ता या सार्थकता है जो कर्त्ता उस कर्म को देता है। जिन कारणों से कर्त्ता क्रिया को करता है; जिस रूप में, जिस अर्थ में और जिस मनुष्य में वह उसे देखता है, उसको जाने-समझे बिना तथा उसमें अन्तर्दृष्टि के बिना हम यह दावा नहीं कर सकते कि हमने इस विषय को समझ लिया है। और कर्त्ता के दृष्टिकोण में अन्तर्दृष्टि के लिए हमें मानो उनके हृदय में बैठ कर जीवन, समाज, संसार को उसके दृष्टिकोण से देखना होता है। दूसरे शब्दों में, किसी भी समाज को सम्यक् गूढ़ रूप से समझने के लिए हमें उसके अन्तर में प्रवेश करना होगा, उसके दर्शन—उसके नियमों और जीवन-शैली में भाग लेना होगा। संक्षेप में, समाज के बोध का स्वरूप-निरूपण करने में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यहाँ पर वैज्ञानिक विधि और वास्तविक सूझ में विरोध है। मुख्य स्थान विज्ञान को दें तो सामाजिक वास्तविकता की बलि होती है। अर्थात् अध्ययन तो वैज्ञानिक कर लिया किन्तु जिसका अध्ययन करने चले थे वह इस बीच कहीं छूट गया। और यदि सामाजिक यथार्थ को प्रमुख रखते हैं तो उसकी समझ मिलती है, व्याख्या मिलती है, दार्शनिक अध्ययन संभव होता है, किन्तु विज्ञान हाथ नहीं लगता।

ऊपर हमने समाज-दर्शन क्या है, इस प्रश्न को लेकर पाँच मुख्य उत्तरों का संक्षिप्त विवरण दिया है। अब हमें यह विचार करना है कि इसमें अन्ततः हम किस निष्कर्ष पर पहुँचे? उपर्युक्त विभिन्न मतों का सही स्थान देखने का प्रयास करें तो हमें यही कहना होगा कि यह आवश्यक नहीं कि समान-दर्शन को इनमें से किसी एक मत तक सीमित रखा जाय। बल्कि इन विभिन्न उत्तरों को सम्पूर्ण सन्तोषजनक उत्तर के अंश मान कर उनके सही सामंजस्य में ही समाज-दर्शन के पूर्ण स्वरूप एवं कार्य-विधि का सम्यक् स्थान खोजना होगा।

आई. आई. टी., कानपुर

आकारिक तर्कशास्त्र एवं दार्शनिक विवेचन*

विमलेन्दु नारायणसिंह

सर्वप्रथम मैं अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की कार्यकारिणी समिति के सदस्यों के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करना चाहूँगा, जिन्होंने मुझे परिषद् के तर्क एवं वैज्ञानिक पद्धति विभाग में सभापति होने के लिए आमन्त्रित कर गौरव प्रदान किया है। परन्तु मैं आप विद्वानों के समक्ष तर्क एवं वैज्ञानिक पद्धति की समस्याओं पर बोलने का अधिकारी अपने को नहीं मानता, अतः यह आमन्त्रण मेरी योग्यता का परिचायक न होकर उन लोगों के मेरे प्रति स्नेह का ही अधिक प्रतिफल है। फिर भी में आपका ध्यान जिस समस्या की ओर अभी खींचना चाहता हूँ उसे आप विचार के अयोग्य नहीं समझेंगे, ऐसी मेरी आशा है। मैं अभी आपका ध्यान दार्शनिक विवेचन में आकारिक तर्कशास्त्र की उपयोगिता की ओर ले जाना चाहता हूँ।

आकारिक तर्कशास्त्र की मुख्य समस्या उन नियमों तथा सिद्धान्तों का निरूपण करना है जिनके आधार पर वैध तर्कों को अवैध तर्कों से अलग किया जाता है। अतः उनका मुख्य पाठ्य-विषय तर्क या युक्ति ही है। युक्ति कथनों के ऐसे समूह को कहते हैं जिसमें किसी एक कथन की सत्यता को उस समूह के दूसरे कथनों की सत्यता के आधार पर स्वीकारा जाता है। इन कथनों में से जिस कथन को उस समूह के दूसरे कथनों की सत्यता के बल पर स्वीकारा जाता है उसे उस युक्ति या तर्क का, निष्कर्ष एवं उस समूह के दूसरे कथन या कथनों को आधार-वाक्य कहा जाता है। वैध तथा अवैध तर्कों में भेद आधार-वाक्य (या वाक्यों) की सत्यता से निष्कर्ष की सत्यता को मिलने वाले अवलम्ब के आधार पर किया जाता है। वैध तर्कों में आधार-वाक्य की सत्यता से निष्कर्ष की सत्यता को पूर्ण अवलम्ब मिलता है। ऐसा नहीं होने पर निगमनात्मक तर्क को अवैध कहा जाता है। आधार-वाक्य से निष्कर्ष को पूर्ण अवलम्ब मिलने का अभिप्राय यह है कि यदि किसी युक्ति के आधार-वाक्य या वाक्यों को सत्य मान लिया जाय तो उसके निष्कर्ष को, बिना वदतोव्याघात किये, असत्य नहीं माना जा सके। इस प्रकार हम देखते हैं कि आकारिक तर्कशास्त्र में तर्क की वैधता या निष्कर्ष की सत्यता उसके आधार-वाक्य की सत्यता से आपादित होने पर एवं उससे असंगत नहीं होने पर निर्भर करता है।

आकारिक तर्कशास्त्र में निष्कर्ष की सत्यता की घोषणा उस तर्क के आधार-वाक्यों की सत्यता की घोषणा के बल पर की जाती है, इसी से उस तर्कशास्त्र का सम्बन्ध मात्र उन्हीं तर्कों से होता है जिनके सभी घटक-वाक्य घोषणात्मक होते हैं। अतः इस तर्कशास्त्र में

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के २३वें वार्षिक अधिवेशन (१७-२६ दिसम्बर, १९७७) में तर्कशास्त्र और वैज्ञानिक पद्धति विभाग के अध्यक्ष पद से भाषण।

मात्र उन्हीं युक्तियों का विश्लेषण एवं विवेचन होता है जिनके घटक कथनों का व्यापार संज्ञानात्मक हो। ऐसे कथन जिनमें सत्य या असत्य होने की क्षमता नहीं रहती उनमें आकारिक तर्कशास्त्र की कोई दिलचस्पी नहीं होती।

एक बात और ध्यान देने की है। आकारिक तर्कशास्त्री युक्तियों की वैधता का निकष स्थापित करने के लिए जब तर्क-विशेषों का विश्लेषण एवं विवेचन करते हैं तो उनकी अभिरुचि उन तर्क-विशेषों की अन्तर्वस्तु में नहीं होती बल्कि उस तर्क के आकार में होती है। इसी से यदि किसी युक्ति के निष्कर्ष की सत्यता को उसके आधार-वाक्य की सत्यता के आधार पर स्वीकारा भी जा सके तो वे उस तर्क को तब तक वैध नहीं कहेंगे जब तक उस आकार के सभी तर्कों के निष्कर्ष को उनके आधार-वाक्यों से पूर्ण अवलम्बन मिलता हो। इसी से जब वे किसी तर्क-विशेष में आधार-वाक्य से निष्कर्ष को मिलने वाले अवलम्ब की परीक्षा करते हैं उस समय भी उनका ध्यान उस तर्क के घटक वाक्यों की अन्तर्वस्तु पर न होकर उस तत्व के अन्वेषण में होता है जिसके कारण उस आकार के सभी तर्कों के निष्कर्ष को उनके आधार-वाक्यों से अवलम्ब मिलता है। यही कारण है कि आकारिक तर्कशास्त्रियों की अभिरुचि सत्यता-फलित संक्रियाओं एवं परिमाणकों में हो जाती है। इसीसे वे निषेध, संयोजन, वियोजन तथा आपादन आदि संक्रियाओं का अध्ययन करते हैं तथा उनसे उत्पन्न संयोजक, वियोजक, आपादक तथा निषेध-वाक्यों की सत्यता-सम्भावनाओं का अध्ययन करते हैं। पर इन संक्रियाओं को अभिव्यक्त करने वाले शब्दों का प्रयोग वे उनके उन सभी अर्थों में नहीं करते जिनमें आम बोलचाल की भाषा में उनका व्यवहार होता है बल्कि उन अभिव्यक्तियों के विभिन्न अर्थों में से एक अर्थ को चुन कर उनका उसी अर्थ में प्रयोग रूढ़ कर लेते हैं। ऐसा करने से ही वे तर्कों की अन्तर्वस्तु से अपना ध्यान हटाकर उसके आकार पर अपना ध्यान केन्द्रित करने में सफल होते हैं।

परन्तु दार्शनिक विवेचन में तर्कों का व्यवहार अधिकांशत. निष्कर्षों की सत्यता प्रमाणित करने के लिए नहीं वरन् सहमति प्राप्त करने के लिए होता है। अतः विचाराधीन कथनों की अन्तर्वस्तु का बहुत ही महत्त्व होता है। दार्शनिकों के बीच असहमति प्रायः 'किसी वस्तु विशेष के लिए किसी सम्प्रत्यय विशेष का प्रयोग किया जाना उचित हैं या नहीं' इसी प्रश्न को लेकर होती है। अतः विचाराधीन कथनों में प्रयुक्त सम्प्रत्ययों का विवेचन एवं उनको परिभाषित करने का काम दार्शनिकों के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण बन जाता है। यहाँ दार्शनिकों का काम मात्र यह दिखलाना ही नहीं होता कि किसी सम्प्रत्यय विशेष का व्यवहार आम बोलचाल की भाषा में कैसे होता है वरन् यह दिखाना भी होता है कि उस संप्रत्यय का व्यवहार कैसे होना चाहिये। अतः वे अपने नये प्रस्तावित प्रयोगों को स्वीकृति दिलाने के लिए तर्क देते हैं। ऐसी स्थिति में युक्तियों का प्रयोजन संज्ञानात्मक न होकर व्यावहारिक उपयोगिता मूलक हो जाता है। यही कारण है कि अधिकतर दार्शनिक-विवेचन में जिन तर्कों का व्यवहार होता है उनमें सत्यता-फलित संक्रियाओं अथवा परिमाणकों की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं होती।

मैं अपनी बात एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करना चाहूँगा। बुद्ध-दर्शन का प्रथम आर्य-सत्य है 'सर्वं दुःखम्'। बुद्ध इस सत्य को दूसरे लोगों की स्वीकृति दिलाने के प्रयास में न

इस कथन के आनुभविक सत्यापन को आधार बनाते हैं, न दूसरे कथनों से ही इसे निगमित करते हैं। दुःख की अनुभूति में दुःख शब्द का जो प्रयोग है वे उसकी भी उपेक्षा करते हैं। अपने कथन से लोगों की सहमति प्राप्त करने का प्रयास वे दुःख शब्द की एक नयी परिभाषा प्रस्तावित कर करते हैं। वे कहते हैं 'यद् अनित्तम् तद् दुक्खम्' अर्थात् जो अनित्य है वह दुःख है। 'दुःख' के इस प्रयोग के लिए सहमति प्राप्त करते ही उनके लिए अपने कथन को स्वीकृति दिलाने में कठिनाई नहीं होती, क्योंकि इस संसार की सभी चीजें अनित्य हैं, अतः वे दुःख हैं।

यदि दर्शनशास्त्र के इतिहास में परम सत्ता के स्वरूप संबंधी सिद्धान्तों एवं उनमें परस्पर चल रहे विवादों पर हम ध्यान दें तो वहाँ भी युक्तियों का प्रयोग हमें इसी रूप में मिलेगा न कि उस रूप में जिसमें आकारिक तर्कशास्त्र में युक्तियों का प्रयोग हमें मिलता है। चरम सत्ता के स्वरूप संबंधी सिद्धान्तों पर तथा उनसे संबंधित तर्क पर ध्यान देते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सिद्धान्त किसी तथ्य के संबंध में कोई सूचना नहीं देते बल्कि विश्व को देखने का एक परिदृश्य देते हैं। यदि ऐसी बात नहीं होती तो हम यह सिद्ध कर सकते कि प्रत्ययवाद तथा भौतिकवाद सदृश विरोधी सिद्धान्तों में से कौन सत्य या असत्य है। परन्तु अब तक के सारे दार्शनिक तर्क ऐसा करने में सफल नहीं हो सके हैं। भविष्य में भी तर्क के सहारे इन सिद्धान्तों में से किसी एक को सत्य या असत्य सिद्ध किया जा सकेगा इसकी संभावना हमें नहीं दीखती है, क्योंकि इन सिद्धान्तों में असहमति का आधार संज्ञानात्मक नहीं है। जब मतभेद दो परिदृश्यों में होता है तो उनमें से किसी एक को सत्य या असत्य प्रमाणित कर इस असहमति को दूर नहीं किया जा सकता बल्कि इनमें से किसी एक को स्वीकार या अस्वीकार कर दिया जा सकता है। यह स्वीकरण या अस्वीकरण किसी तथ्य के कारण नहीं वरन् भावनात्मक आकर्षण के कारण होता है।

जैसा मैंने अभी आप से कहा कि दार्शनिक परिचर्चाओं में असहमति का केन्द्र प्रायः कथनों की सत्यता की स्थापना न होकर किसी शब्द या सम्प्रत्यय विशेष का प्रयोग या परिदृश्य की स्वीकृति होता है। ज्ञानमीमांसा में जब परिचर्चा उस वस्तु के स्वरूप की होती है जिसका हमें साक्षात् ज्ञान होता है तब भी असहमति का केन्द्र घटना न होकर उसके वर्णन का ढंग ही होता है। इसे ए० जे० एयर जैसे दार्शनिक भी स्वीकारते हैं। वे अपनी पुस्तक 'फाउंडेशन आफ एम्पिरिकल नौलेज' में इसी प्रसंग में लिखते हैं कि यहाँ विवाद दो असंगत प्राक्कल्पनाओं के प्रामाण्य को लेकर नहीं वरन् दो भिन्न प्रकार की भाषाओं के चयन को लेकर है। यह विवाद तथ्य-संबंधी इसलिए नहीं लगता कि दोनों पक्ष शब्दों के एक ही प्रकार का प्रयोग करते हैं, परन्तु जिन आनुभविक साक्ष्यों को एक पक्ष अपने कथनों का औचित्य सिद्ध करने वाला मानता है दूसरा पक्ष उसे वैसा नहीं मानता है। अतः यह निष्कर्ष निकालना पड़ता है कि प्रयुक्त शब्दों या सम्प्रत्ययों का व्यवहार जिस अर्थ में एक पक्ष करता है उसी अर्थ में उसका व्यवहार दूसरा पक्ष नहीं करता है। ज्ञानमीमांसा में जब असहमति इस बात को लेकर होती है कि साक्षात् ज्ञान वस्तुओं का होता है या इन्द्रिय-प्रदत्तों का, तब जिन तर्कों का व्यवहार होता है उनका प्रयोजन किसी तथ्य की स्थापना करना नहीं बल्कि भाषा के वैकल्पिक प्रयोगों में से किसी एक को स्वीकृति या अस्वीकृति दिलाना होता है।

जो लोग तर्कों के इस प्रयोजन को नहीं स्वीकरते एवं इस असहमति को तथ्य विषयक मानते हैं उनके लिए प्रत्यक्ष एवं भ्रम में भेद करना असंभव हो जाता है।

तब क्या आकारिक तर्कशास्त्र दार्शनिक विवेचन के लिए पूर्णतः अनुपयोगी है? नहीं, ऐसा मानना ग़लत होगा। दार्शनिक विवेचनों में भी जहाँ युक्तियों का प्रयोजन किसी परिदृश्य के लिए स्वीकृति प्राप्त करना या किसी सम्प्रत्यय या शब्द विशेष के किसी अर्थ-विशेष में व्यवहार के लिए स्वीकृति प्राप्त करना होता है वहाँ भी व्यक्ति यदि किसी एक बात को स्वीकार ले तो उसके लिए उस बात के सभी निहितार्थों को स्वीकारने की मजबूरी हो जाती है। किसी एक बात को स्वीकार कर उसके किसी निहितार्थ को वह व्यक्ति, बिना वदतोव्याघात किये, अस्वीकार नहीं कर सकता है। और इन निहितार्थों को प्रभाव-शाली ढंग से उपस्थित करने में आकारिक तर्कशास्त्र बहुत ही उपयोगी सिद्ध होता है। यही नहीं, आकारिक तर्कशास्त्र का अध्ययन, अभ्यास दार्शनिक विवेचन में युक्तियों का प्रयोजन समझने और किसी तर्क विशेष को अमान्य सिद्ध करने के लिए उसके विरोधी तर्क के निर्माण के लिए प्रेरणा देता है। आकारिक तर्कशास्त्र का उपयोग दार्शनिक विवेचन के लिए कुछ उसी प्रकार का है जिस प्रकार का उपयोग सेना के जवानों का शान्तिकाल में किया गया अभ्यास लड़ाई के मैदान के लिए है। मैं अपने इस मत के समर्थन में दो उदाहरण प्रस्तुत कर अपना यह भाषण समाप्त करूंगा।

चरम सत्ता के स्वरूप के सम्बन्ध में एक सिद्धान्त है भौतिकवाद। इसके अनुसार एक-मात्र चरम सत्ता भौतिक तत्त्व है। इस वाक्य से आपादित होने वाले वाक्य निम्नलिखित हैं—भौतिक द्रव्य के सिवा दूसरा कोई तत्त्व चरम सत्ता नहीं है। इस विश्व के सभी जड़ एवं चेतन तत्त्व भौतिक द्रव्य से ही उत्पन्न हैं। इस प्रकार के निहितार्थों को स्पष्ट रूप से प्रकट करने का काम आकारिक तर्कशास्त्र करता है। 'एक मात्र और चरम सत्ता' संप्रत्ययों के विश्लेषण से ही उपर्युक्त वाक्य के ये निहितार्थ स्पष्ट होते हैं।

आकारिक तर्कशास्त्र का अभ्यास विरोधी तर्क के निर्माण के लिए प्रेरणा भी देता है। देकार्त जब अपने दर्शन के आरम्भ में सभी वस्तुओं पर सन्देह कर उनकी वास्तविकता को अस्वीकारने लगते हैं उस समय जिस प्रथम तत्त्व की वास्तविकता वे स्वकारते हैं वह है 'मैं-आत्मा या चिन्तनशील मस्तिष्क। वे कहते हैं कि मुझे सन्देह हो रहा है अतः मैं हूँ। अर्थात् आत्म तत्त्व की सत्ता है। यहीं आकारिक तर्कशास्त्र का अभ्यास किया मस्तिष्क उनके ही तर्क को उनके विरुद्ध व्यवहार कर उनकी इस स्थापना को अमान्य प्रमाणित कर देता है। वह कहता है कि यह ठीक है कि जब सन्देह हो रहा है तब संदेह-कर्त्ता है, परन्तु जब संदेह नहीं हो रहा है उस समय संदेह-कर्त्ता की सत्ता असंदिग्ध नहीं है। अर्थात् उस चिन्तनशील आत्म तत्त्व का अस्तित्व मात्र उतनी ही देर के लिए असंदिग्ध होता है जब तक संदेह की प्रक्रिया चल रही होती है। संदेह की प्रक्रिया समाप्त होते ही संदेहकर्त्ता का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है क्योंकि संदेहकर्त्ता की सत्ता संदेह पर ही निर्भर करती है। ऐसी स्थिति में वह चिन्तनशील मस्तिष्क कहाँ से आता है, जिसका एक जन्मजात प्रत्यय ईश्वर है? अतः देकार्त के दर्शन का आधार इतना ठोस नहीं रह जाता जितना वे उसे मानते हैं।

मगध विश्वविद्यालय, बोध गया

बौद्ध दृष्टि में अस्तित्व की अवधारणा और उसका सामाजिक संदर्भ

जगन्नाथ उपाध्याय

सम्पूर्ण भारतीय दर्शनों के बीच बौद्धों की अस्तित्व सम्बन्धी अवधारणा मौलिक रूप से अत्यन्त भिन्न रही है। परम्परा के अनुसार अस्तित्व का जड़ या चेतन में विभाजन करें तो उनकी किसी भी अवस्था में कालिक या दैशिक स्थिरता या दीर्घता नहीं मिलती है। प्रयोजन-निष्पत्ति वस्तु की असाधारणता को स्पष्ट करती है। अस्तित्व का विशेष ही होता है, सामान्य नहीं। प्रतीतिगत सामान्य का अस्तित्व असाधारणता के अर्थ में स्वीकार नहीं किया जाता। अस्तित्व की असाधारणता का अधिक स्पष्टीकरण उसमें गर्भित नास्तित्व से होता है। 'उत्पत्ति के अनन्तर विनाश' यह बाह्य और आन्तर पदार्थों की नियति है। इन दोनों के बीच अन्तर सिर्फ इतना ही है कि अस्तित्व प्रयत्न-साध्य होता है जबकि नास्तित्व के लिए अतिरिक्त प्रयत्न नहीं करना पड़ता। 'अस्तित्व सकारण और नास्तित्व अकारण' का सिद्धान्त बौद्धों की अस्तित्व सम्बन्धी सारवत्ता को खड़ा करता है। इस तरह सभी प्रकार के अस्तित्व अपने नास्तित्व से सम्पुटित रहते हैं। उत्पत्ति के साथ ही विनाश की यह अनिवार्यता अस्तित्व, दैशिक और कालिक विस्तार या दैर्घ्य की संभावना समाप्त कर देती है। यह ध्यान देने की बात है कि उत्पत्ति और विनाश के बीच कहीं भी स्थिरता के लिए अवकाश नहीं है। अस्तित्व का बौद्धिक आकलन सामान्यगत प्रवाह के रूप में ही संभव है, जिसमें सादृश्य-बोध का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। इस प्रकार जब स्थिरता के लिए किसी भी प्रकार की गुंजायिश नहीं है तो वस्तुगत नित्यता की बात करना तो अस्तित्व को नहीं समझना है। ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता एक ही अस्तित्व-बिन्दु के त्रिधा विभाजन या विश्लेषण हैं। इसका अनुभव ही वास्तविक अस्तित्व-बोध है। प्रातीतिक स्तर इससे भिन्न है। अस्तित्वानुभव की सूक्ष्मता इससे अधिक स्पष्ट होती है कि भाषा सीधे अस्तित्व को विषय नहीं बना पाती, अन्य-व्यावृत्ति के द्वारा वस्तु की व्यावहारिक प्रतीति करा पाती है। संक्षेप में यही अस्तित्व की वस्तुगत एवं प्रातीतिक अवधारणा है।

प्रयोजन की निष्पत्ति का सिद्धान्त कार्यकारण के सिद्धान्त से अतिशय रूप में सम्बद्ध है। जैसे प्रयोजन-निष्पत्ति अनित्यता-आधारित है वैसे ही कार्यकारण भाव की व्यवस्था भी है। अनित्यता की दृष्टि से कारण और कार्य के बीच भी कोई अन्तर नहीं है। जैसे कार्य अपने कारणों से उत्पन्न और अनित्य है, वैसे ही कारण भी अपने कारणों से उत्पन्न और स्वयं में अनित्य है। 'कार्य से पूर्व होना' मात्र कारणता है। कारण स्वयं अनित्य रह कर

ही अनित्य कार्य को उत्पन्न कर सकते हैं। नित्यता और कारणता परस्पर अत्यन्त विरोधी हैं। जैसे कार्य का किञ्चित् मात्र अस्तित्व कारण में नहीं होता वैसे ही कारण भी किंचित् मात्र कार्य में अनुस्यूत नहीं होते। इस प्रकार कारणता एक संकेत मात्र है। उससे एक ओर कार्य को अस्तित्व मिलता है दूसरी ओर किसी कार्य या घटना की आकस्मिकता या रहस्यमयता खण्डित होती है। कर्त्ता भी कारणों में से ही एक है। अतः उसका अस्तित्व भी अन्य की तरह ही अनित्यता से कवलित है। किसी भी दशा में किसी घटना के घटकों में से कोई भी एक अंशतः या पूर्णतः अनित्यता एवं परिवर्तन से अस्पष्ट या तटस्थ नहीं रह सकता। वास्तव में कर्त्ता, कर्म, कारण आदि किसी एक ही घटना के विश्लेषण का प्रयास करते हैं।

प्रयोजन-निष्पत्ति के द्वारा जिस अस्तित्व-बिन्दु को समझने की चेष्टा की गयी है उसे अधिक स्पष्ट करने के लिए इस प्रश्न का उत्तर होना चाहिए कि क्या अस्तित्व की कोई अपनी आत्मा, केन्द्र, अवयवी या स्वभाव होता है ? स्थिरता एवं नित्यता के अर्थ में आत्मा या स्वभाव आदि से सम्बन्धित प्रश्न है तो उसका बौद्ध-सम्मत उत्तर 'नहीं' में होगा। इससे भिन्न अभिप्राय में किये गए प्रश्न के मोटे रूप में दो उत्तर होंगे। एक वस्तुवादी दार्शनिकों द्वारा अनित्य सद्-बिन्दु के रूप में, दूसरा शून्यवादी दार्शनिकों द्वारा सर्वथा अनात्म, निः-स्वभाव एवं अस्वीकार के रूप में। इन दो परस्पर विरोधी उत्तरों में भी अस्तित्व की प्रयोजन-निष्पत्ति बाधित नहीं होती। अस्तित्व के सम्बन्ध में ये दोनों निष्कर्ष कार्य-कारण सिद्धान्त 'प्रतीत्य समुत्पाद' से ही प्रतिफलित होते हैं। दोनों के दर्शन भिन्न हैं, अतः जीवन-दर्शी भी भिन्न हैं, किन्तु अस्तित्व की अवधारणा बहुत कुछ समान है। एक सत्ता-आधारित अस्तित्व है और दूसरा अनस्तित्वाधारित अस्तित्व है। जहाँ तक अस्तित्व की अवधारणा की सुसंगति और उसके व्यापक आयाम का प्रश्न है, उसमें प्रथम (सत्ताधारित) पक्ष से द्वितीय (असत्ताधारित) पक्ष अधिक महत्त्वपूर्ण है। इन दोनों की स्थितियों में जो अन्तर है वह आगे स्पष्ट होगा।

उपर्युक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि अस्तित्व के सन्दर्भ में गतिहीनता या नित्यता के लिए किसी प्रकार की भी गुञ्जाइश नहीं है। इसलिए आत्मवादी ईश्वरवादियों से बौद्धों की अस्तित्व-धारणा नितान्त भिन्न है, किन्तु इसका ध्यान रखना होगा कि बौद्धों द्वारा शाश्वतवाद का विरोध उन्हें उच्छेदवादी नहीं बना देता। उच्छेदवाद का पर्यवसान जीवन की निरन्तरता को अस्वीकार करने में होता है, जबकि बौद्ध जीवन को गतिमय प्रवाह में देखते हैं। शाश्वत एवं उच्छेद-दृष्टियों से प्रतिफलित जीवन-मूल्य प्रायः समान होते हैं, जबकि बौद्धों का मध्यम-मार्ग इन दोनों का निषेध है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो जीवन और दर्शन के प्रत्येक, स्तर पर शाश्वतवादी एवं उच्छेदवादी प्रवृत्तियों का विभाजन करती है और उनका वर्जन कर नये जीवन-मूल्यों की स्थापना के लिए अवसर देती है। मध्यम-मार्ग एक सम्यग्दृष्टि और सम्यग्जीवन है जो प्रत्येक नये सन्दर्भों में मिथ्या दृष्टियों का प्रहाण करता है।

मानव के सन्दर्भ में अस्तित्व की अवधारणा से एक ऐसे विशेष व्यक्तित्व का संयोजन होता है जो स्वयं में न तो नित्य एवं रहस्य है और न उसके संयोजन में अचिन्त्य बाह्य

शक्तियों के हस्तक्षेप की गुन्जाइश है। मानव-व्यक्तित्व में एक ओर जड़ और चेतन सहवर्ती रूप में रहते हैं, दूसरी ओर चेतना और उसके सभी व्यापार एवं प्रवृत्तियाँ सहयुक्त एवं अन्योन्याश्रित रहती हैं। जड़ से चेतन या चेतन से जड़ का प्रश्न यहाँ नहीं है और न तो चेतना और उसके व्यापारों के बीच परस्पर में आश्रयाश्रयी-भाव है। मनुष्य को अपने जीवन के साथ ही कुछ प्राकृतिक साधन एवं कुछ सहज एषणाएँ प्राप्त हैं जो उसके व्यक्तित्व के अभिन्न अंग हैं। प्राप्त साधनों के प्रयोग के बीच उसके विवेक का स्वातन्त्र्य विकसित होता है। उसमें अनेक ज्ञात प्रवृत्तियों के साथ कुछ अज्ञात तत्त्व भी रहते हैं। अज्ञात अंग भी उपार्जित हैं जो अविज्ञापित रह कर उसके पूरे व्यक्तित्व को प्रभावित करते रहते हैं। इस जीवन-सातत्य में बौद्धों का कर्म-सिद्धान्त बहुत ही महत्त्वपूर्ण है जो पूर्व से पर के जीवन को जोड़ता है। कर्म-मूल में एक चेतना है जो मानस-व्यापार के रूप में खड़ा होता है, काय-वाक् आदि अन्य सभी व्यापारों का वही प्रेरक है। सम्पूर्ण कर्म चेतना के रूप में व्यक्तित्व से अभिन्नता प्राप्त करते रहते हैं। सभी दशा में व्यक्ति की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रहती है। कुशल-अकुशल, उचित-अनुचित, पाप-पुण्य, नीति-अनीति के निर्धारण में तथा अन्य का निषेध कर अन्य के वरण में व्यक्ति स्वतन्त्र है। व्यक्तित्व की अनन्यता की पहचान उसकी स्वतन्त्रता है। व्यक्ति की अनन्यता उसकी स्वतन्त्रता है। यह ठीक है कि चित्त व्यक्ति का अपना है, किंतु वह अन्योन्यापेक्ष अनेकानेक कारणों से मिल कर निर्मित है। एक ऐसे बड़े परिवेश में उसका अस्तित्व खड़ा है कि जगत् से विच्छिन्न कर उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। उस परिवेश के अन्तर्गत ही उसमें उत्तरदायित्व की चेतना भी खड़ी होती है। किन्तु बाहरी आरोपण या दबाव में न आकर उत्तरदायित्व की भावना को उत्तरोत्तर मूल्य प्रदान करना और उसे समाज में स्थापित करना व्यक्तित्व का शौर्य है। सतत गतिशील अस्तित्व के प्रवाह में अतिक्रमण की पूरी संभावना सुरक्षित है।

व्यक्ति अपना विधाता स्वयं है, वह आत्म-दीप और अनन्य-शरण है। उसमें अपना निरीक्षण करना और अपनी ही बौद्धिक प्रामाणिकता के आधार पर देय और उपादेय का निर्णय लेना, सहज हो जाना चाहिये। ऐसे निर्णय की प्रामाणिकता का आधार होता है श्रेष्ठ प्रयोजन की निष्पत्ति, जो व्यक्ति के बौद्धिक अस्तित्व को अर्थवत्ता प्रदान करती है। इसी प्रक्रिया में व्यक्ति को मूल्यात्मक उत्तमता के विकास का अवसर मिलता है। स्वगत हीनांश के विरोध में स्वयं ही प्रतिपक्ष खड़ा कर 'सम्यक्' अस्तित्व का वरण करना व्यक्ति का निरपेक्ष पुरुषार्थ है। कहना नहीं है कि व्यक्ति के अस्तित्व के अन्तर्गत ही है—उत्पत्ति-विनाश, सत्व-असत्व और निषेध-निर्माण। स्पष्ट होगा कि व्यक्तित्व का संकट और उसका निवारण उसके अस्तित्व का ही अंग है। एक ओर व्यक्ति ने मिथ्या धारणाओं के आधार पर एषणाओं को बढ़ाया है और उसकी तृप्ति में राग-द्वेषादि में प्रेरित सम्बन्धों को खड़ा किया है। तो दूसरी ओर यथाभूत सत्य के आकलन के आधार पर ऐसा मार्ग भी रखा है, जिसमें वह अपनी मिथ्या रचनाओं का अतिक्रमण कर सके।

वास्तव में अस्तित्व 'जो है' उतना मात्र है, किन्तु 'जो था', 'जो होना है' उन्हें भी वह अपने स्व में रखता है। इस प्रकार का स्वत्व-बोध परत्व के प्रसंग में ही संभव है। इस प्रकार व्यक्ति का दूसरों से सम्बन्ध उसके व्यक्तित्व का अंग बन जाता है। व्यक्ति का अन्य

व्यक्ति या समाज से सम्बन्ध किस प्रकार का होगा, यह निर्भर करता है अस्तित्व सम्बन्धी उसकी अवधारणा पर। बौद्ध दृष्टि में तृष्णा वह विभाजक रेखा है जिसके आधार पर श्रेष्ठता या हीनता का निर्णय लिया जा सकता है। तृष्णा दृष्टि है और व्यवस्था भी है। तृष्णा की मूल वे मिथ्या दृष्टियाँ हैं जो व्यक्तित्व को अयथार्थ बना देती हैं। व्यक्ति के साथ अपनी और अपने परिवेश की अभिलाषाएँ और आकांक्षाएँ सापेक्षसमूह के रूप में जुटी हुई हैं। उसके साथ व्यक्ति का जितना और जैसा आग्रह एवं तृष्णा लगी रहेगी उसी के अनुपात में स्व-पर के बीच परिग्रह और द्वेषादि से प्रेरित उसके सम्बन्ध खड़े होंगे।

व्यक्ति की स्वतंत्रता के प्रसंग में व्यक्तित्व के परिष्कार की बात ऊपर कही गयी है। उसके बावजूद क्या किसी ऐसे जीवनास्तित्व की कल्पना की जा सकती है जिसमें जगत् के साथ स्वापेक्षी सम्बन्धों की जगह नये प्रकार के सम्बन्धों को खड़ा किया जा सके? बौद्ध दृष्टि से उत्तर में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति जैसे अपने श्रेष्ठ एवं प्रामाणिक अस्तित्व को जान कर हीन आकांक्षाओं और अभिलाषाओं के स्थूल बन्धनों का अतिक्रमण कर सकता है वैसे ही उन सारे आधारों को भी तोड़ सकता है जिन पर उसके व्यक्तित्व की सारी इमारत खड़ी है। यह एक प्रकार का व्यक्तित्व-विलोप है जो व्यक्ति का परम पुरुषार्थ है। इस पर यह शंका व्यक्त की जा सकती है कि यदि यह व्यक्तित्व की निःशेषता है तो इसके लिए क्या व्यक्ति प्रवृत्त हो सकता है? उत्तर है कि यह तृष्णा की निःशेषता है, और तृष्णा-हीन अस्तित्व की कल्पना की जा सकती है। प्रश्न है कि अस्तित्व-ग्रह जब स्वयं में एक तृष्णा है तो क्या उसका अतिक्रमण करना स्व-स्कन्धारोहण के समान असंभव नहीं होगा? असंभव नहीं होगा, क्योंकि व्यक्तित्व के कुशल-अकुशल दोनों ही पक्ष व्यक्ति द्वारा स्व निर्मित हैं। कुशल के द्वारा अकुशल का अपनयन श्रेष्ठ तृष्णा से हीन तृष्णा का अपनयन है। पुनः, आधारभूत तृष्णा को निःशेष करना, जिसमें आगे चलकर इस प्रकार के नैतिक द्वन्द्वों की समस्या व्यक्ति या समाज में खड़ी न हो, इसकी पूरी संभावना है। इस अवस्था में कारणों का केवल अपनयनमात्र नहीं होता प्रत्युत उनका सर्वथा अभाव हो जाता है। बौद्ध दृष्टि में यह निर्वाण-प्राप्त जीवन की अवस्था है। यह आधारभूत व्यक्तित्व की मूलभूत परावृत्ति है या परिवर्तन है, या निषेधावारित नव-निर्माण है।

प्रश्न है कि ऐसे व्यक्ति के जीवन का भविष्य क्या है और उसके प्रयोजन का निर्धारण कौन करेगा? स्पष्ट है कि इन प्रश्नों का उत्तर व्यक्ति के अस्तित्व-परिवेश में ही प्राप्त होना चाहिये। ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह प्रतिफलित होता है कि सभी प्रकार के वैयक्तिक या सामाजिक अवमूल्यन का कारण तृष्णा है। तृष्णा स्वयं में मिथ्या दृष्टिकोण है, जिसके कारण जीवन और जगत् के प्रति अनेकानेक प्रकार के मिथ्या अध्यारोप खड़े होते हैं। ये अध्यारोपण ही दुःख के स्रोत बनते हैं, जिसमें व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध और उसकी सभी प्रकार की मान्यताएँ परिचालित हैं। इन सारे आरोपणों को हटा कर 'यथाभूत दर्शन' के द्वारा दुःख के सामूहिक कारणों को समाप्त करने की चेष्टा में सतत एवं सहज रूप से लगे रहना एक आदर्श व्यक्तित्व का लक्षण है। दुःख एक व्यापक सत्य है, जिसने व्यक्ति एवं समाज के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित कर रखा है। उसका यथावद् संवेदन तृष्णा-परिचालित समाज में नहीं होता। इस व्यापक दुःखता के साक्षात्कार एवं संवेदन के

साथ व्यक्ति के अस्तित्व का आनुगुण्य होना चाहिये, जो मिथ्या दृष्टियों और मिथ्या आचारों से घिरे तृष्णावान् के लिए संभव नहीं है। इस व्यापक तृष्णा-व्यूह समस्या को तोड़ने वाले पुरुषार्थी की वंदना इतनी तीव्र होनी चाहिये कि उसके सामने दुःखता की व्यक्तिपरकता नहीं रहे। ऐसा महापुरुष उस व्यवस्था या स्रोत को सुखा देने की चेष्टा करता है जहाँ से दुःख पीड़ा-प्रवाह चलता है। इस प्रकार की श्रेष्ठ संवेदना के साथ एक ऐसी व्यापक एवं सूक्ष्मदर्शी बौद्धिकता चाहिये जो विश्लेषण से दुःख एवं पीडा के व्यापक कारणों की और उनके निवारण को भलीभांति जान सके। यह महान कार्य अविद्या, तृष्णा और उनसे प्रेरित आचरणों के अभ्यास को छोड़े बिना कदापि संभव नहीं है।

अस्तित्व-बोध का यह नया धरातल है जिसमें करुणा और प्रज्ञा की युगनद्धता या सहजता है। इससे अस्तित्व की नयी अवधारणा खड़ी हो जाती है। इसे 'अनस्तित्वाधारित अस्तित्व' कह सकते हैं। यहाँ का मानस एक ऐसे श्रेष्ठ चित्त को धारण करता है जिसे 'अचित्ताधारित-चित्त' कह सकते हैं। इस परिवेश के व्यक्ति की अपने प्रति आत्म-दृष्टि उन्मूलित है, इसलिए उसका मानस एवं व्यवहार स्व-केन्द्रित न होकर समस्या-केन्द्रित हो चुका है, इसके दोष उन्मूलित हो चुके हैं, रागद्वेषादि के उपद्रव शान्त हैं, अतः स्वयं में वह सुखी एवं शान्त जीवन व्यतीत कर सकता है किन्तु करुणा के कारण एक ओर वह आर्त जगत् छोड़ नहीं सकता और दूसरी ओर व्यापक एवं सूक्ष्मदर्शी प्रज्ञा के कारण जगत् में व्याप्त मिथ्या आचार-विचारों में फँस नहीं सकता। ऐसे व्यक्ति का जीवन पराधीन है। इस पराधीनता को उसने स्वयं वरण किया है। उसके अस्तित्व की अवधारणा को 'अनस्तित्वाधारित अस्तित्व' के रूप में समझा जा सकता है। अस्तित्व सम्बन्धी अवधारणाओं में मौलिक परिवर्तन के कारण करुण का आलम्बन दुःखी व्यक्ति नहीं, प्रत्युत दुःख-प्रवाह या दुःख-व्यवस्था है। उस दुःख का संस्पर्श होने मात्र से व्यक्ति में करुणा का उदय होगा। अब मानवीय समस्या का स्वरूप अपने या अपने आत्मीय जनों के अस्तित्व की रक्षा एवं सुखसुविधा नहीं रह गया है अपितु 'सर्व' या 'बहुजन' की समस्या खड़ी हो गयी है। इस महान उत्तरदायित्व के वहन के लिए इस आदर्श व्यक्ति ने दुःख में निमग्न जगत् का आवाहन किया है। उसकी सारी चेष्टाएँ सकारण नहीं सहज होंगी, ससीम नहीं निःसीम होंगी। उसे श्रेष्ठ व्यक्तित्व का स्वयं अन्दाज़ मिल चुका है। वह उस श्रेष्ठता का भी विसर्जन एवं विचरण अन्य सत्त्वों के लिए कर रहा है। यह प्रज्ञा एवं करुणा का महान प्रयोग है। समस्याओं के नये-नये सन्दर्भों में इसके नये-नये समाधान प्रस्तुत होंगे। यह एक बड़ी मानवीय योजना का महान प्रयोग है। यह परिवर्तन की वह गतिशील प्रक्रिया है जिसमें धर्म, दर्शन, संस्कृति की प्रचलित आंस्थाएँ बदलेंगी। इसमें निषेध-निर्माण, सत्-असत्, विलासिता और दरिद्रता, राग-द्वेष के द्वन्द्व समाप्त होंगे।

संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी.



वैयक्तिक अनन्यता

नित्यानन्द मिश्र

सामाजिक व्यवहार, नैतिकता, कानूनी अधिकार, दण्ड और पुरस्कार, उत्तरदायित्व आदि कुछ ऐसे विषय हैं जिनके सन्दर्भ में वैयक्तिक अनन्यता का प्रश्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण होता है। इस प्रश्न के साथ व्यक्ति के स्वरूप का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। जब तक हम व्यक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में स्पष्ट ज्ञान नहीं पा लेते, तब तक हम उसकी अनन्यता के सम्बन्ध में विवेचन नहीं कर सकते है।

व्यक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक मत प्रस्तुत किये गये हैं। उनमें कुछ मत ये हैं :—

१. व्यक्ति आत्मा है।
२. व्यक्ति भौतिक शरीर है।
३. व्यक्ति आत्मा और शरीर का योग है।
४. व्यक्ति अविश्लेष्य मौलिक सत्ता है जिसके मानसिक एवं भौतिक गुण होते हैं।
५. व्यक्ति अनुभूतियों का समूह है।
६. व्यक्ति अनुभूतियों का तथा शरीर का योग है।

इन्हीं मतों के सन्दर्भ में हम वैयक्तिक अनन्यता के सम्बन्ध में विवेचन करेंगे।

आत्मा मत के अनुसार व्यक्ति नित्य एवं चेतन द्रव्य है जो तत्त्वत: भौतिक द्रव्य से भिन्न है। चेतन द्रव्य अनेक होते हैं। इस मत के अनुसार व्यक्ति इसलिए अनन्य है कि वह स्वभाव से ही नित्य है। उसके अन्य समझे जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु इस मत के विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ उठ सकती हैं। एक आपत्ति तो यह है कि यदि आत्मा शरीरहीन है तो वह व्यक्ति नहीं है, बल्कि मात्र आत्मा है। व्यक्ति हम उसे कहना चाहते हैं जो सांसारिक जीवन-यापन करता है। शुद्ध आत्मा मात्र एक चेतन द्रव्य है जो जीवन-परक लक्षणों से मुक्त रहता है। अत: वह व्यक्ति नहीं है।

व्यक्ति के स्वरूप-निर्धारण के समय हमें यह ध्यान में रखना चाहिये कि वैयक्तिक स्वरूप या वैयक्तिक एकता का प्रश्न वैयक्तिक अनन्यता के प्रश्न से भिन्न है। वैयक्तिक एकता के संबंध में विवेच्य विषय यह है कि कोई व्यक्ति अन्य व्यक्तियों या अन्य वस्तुओं से किस कारण भिन्न है। किन्तु वैयक्तिक अनन्यता के संबंध में विवेच्य विषय यह है कि कोई एक व्यक्ति किस लक्षण के कारण विभिन्न समयों में एक या अनन्य रहता है और समझा जाता है यों तो शुद्ध आत्म-सिद्धान्त के पास वैयक्तिक एकता तथा वैयक्तिक अनन्यता के प्रश्नों के लिए उत्तर वर्तमान हैं, किन्तु वे प्रभावकारी नहीं हो सकते। आत्मा सिद्धान्त कह तो सकता

है कि कोई व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से इसलिए भिन्न है कि वह एक विशेष द्रव्य है और चूंकि ऐसा प्रत्येक द्रव्य नित्य एवं शाश्वत है इसलिए वह भिन्न कालों में एक ही, अर्थात् अनन्य रहता है।

किन्तु यहाँ एक समस्या उठ खड़ी होती है। यह ठीक है कि हम व्यक्ति को नित्य चेतन द्रव्य मानकर उसकी एकता एवं अनन्यता की व्याख्या करने का दावा कर ले सकते हैं। किन्तु क्या हमारा यह दावा प्रमाणशास्त्रीय दृष्टि से उचित है? कोई मत प्रस्तुत कर देना एक बात है किन्तु प्रामाणिकता की कसौटी पर उसे कसना दूसरी बात है। दर्शन का इतिहास इस बात का साक्षी है कि दर्शन में दावे तो अनेक किये गये हैं किन्तु कसौटी पर कसे जाने पर अनेक दावे खरे नहीं उतर सके हैं। वैयक्तिक एकता तथा वैयक्तिक अनन्यता का शुद्ध आत्मापरक सिद्धान्त ऐसे ही दावों में एक है। दूसरों की आत्मा की बात कौन कहे, अपनी आत्मा भी पकड़ के बाहर है। हम अपनी हर्ष, विषाद जैसी क्षणिक आन्तरिक अनुभूतियों का साक्षात्कार तो कर लेते हैं किन्तु किसी नित्य, अपरिवर्तनशील आत्मा द्रव्य का साक्षात्कार नहीं कर पाते। इस तरह यदि आत्मा-द्रव्य का सिद्धान्त अप्रामाणिक सिद्ध होता है तो उसके आधार पर हम वैयक्तिक एकता तथा अनन्यता की सही व्याख्या नहीं कर सकते। फलस्वरूप वैयक्तिक अनन्यता की कसौटी शुद्ध आत्मा-द्रव्य को नहीं माना जा सकता।

तो क्या हम वैयक्तिक अनन्यता की कसौटी मात्र भौतिक शरीर को मान सकते हैं? कुछ दार्शनिकों ने ऐसा माना है। ऐसे दार्शनिक भौतिकीवादी कहे जाते हैं। इस मत के अनुसार साधारण भौतिक वस्तु की अनन्यता की जो कुछ भी कसौटी है वही वैयक्तिक अनन्यता की भी कसौटी होगी। अतः हमें यह विचार करना चाहिये कि हम किसी भौतिक वस्तु की अनन्यता का निरूपण किस प्रकार करते हैं। उदाहरण के लिए मैं अपनी कलम की अनन्यता पर विचार करता हूँ।

अपने लिखने का काम समाप्त कर लेने के बाद रात मैंने अपनी कलम अपनी मेज़ पर रख दी थी, आज मैं पुनः अपनी कलम से लिख रहा हूँ। प्रश्न उठता है कि क्या यह कलम वही है जिसको मैंने कल रात अपनी मेज़ पर रख दिया था? हाँ, यह वही कलम तो है! वही रंग, वही रूप, वही आकार सभी लक्षण तो पूर्ववत् ही हैं। लेकिन क्या इसी रूप, रंग, इसी आकार-प्रकार की दूसरी कलम नहीं हो सकती? हो तो सकती है। तो फिर क्या यह संभव नहीं है कि किसी व्यक्ति ने चुपके से मेरी कलम से मिलती-जुलती दूसरी कलम मेरी मेज़ पर रख दी, और मेरी कलम अपने पास रखली? संभव तो है। तो हो सकता है कि इसी तरह की घटना घट गई हो। लेकिन मान लीजिए कि किसी व्यक्ति ने कलम को स्थानान्तरित नहीं होने देने के लिए बराबर उस पर निगरानी रक्खी और उसको स्थानान्तरित नहीं होने दिया। तब यह कहना ग़लत हो जायगा कि यह कलम मेरी वही कलम नहीं है जिसको मैने कल रात लिखने के बाद अपनी मेज पर रक्खा था। इसका तात्पर्य यह होता है कि यदि किसी भौतिक वस्तु के संबंध में काल एवं दिक् की निरंतरता बनी रहे तो वह वस्तु वही है जो वह पहले थी। यहाँ निरन्तरता से स्थिरता या अचलता नहीं समझना चाहिये, वरं सान्निध्य-सहित पूर्वापरता समझना चाहिए।

यहाँ एक आपत्ति यह उठाई जा सकती है कि दिक्-कालिक निरन्तरता के रहते हुए भी यदि किसी कारणवश वस्तु का स्वभाव बिल्कुल बदल जाय तो क्या बदली हुई अवस्था में भी वह वस्तु वही मानी जायेगी जो वह पहले थी ? उपर्युक्त उदाहरण में कलम की दिक्-कालिक निरंतरता कायम रहने पर भी यदि उसकी स्याही जम जाय और पूरी कलम ही एक ठोस चुम्बक का काम करने लगे तो क्या हम तब भी उसे कलम ही कहेंगे ? स्पष्ट ही उसे कलम नहीं मानना चाहिये। अतः वस्तु की अनन्यता के लिए दिक्-कालिक निरंतरता के साथ-साथ सारभूत स्वभाव की निरंतरता भी आवश्यक है। इस प्रकार व्यक्ति यदि एक विशेष प्रकार की भौतिक वस्तु ही है, जैसा कि भौतिकीवादी मानते हैं, तो उसकी अनन्यता की कसौटी दिक्-कालिक तथा स्वभावगत निरंतरता होगी।

किन्तु क्या व्यक्ति मात्र एक विशेष प्रकार की भौतिक वस्तु है ? कम से कम अपने संबंध में तो मैं कह सकता हूं कि मैं मात्र भौतिक वस्तु नहीं हूँ। यदि मैं अपने संबंध में स्वीकार करूं कि मैं मात्र भौतिक वस्तु हूँ तो मेरा वैसा स्वीकार करना एयर के विचारानुसार यह स्वांग करना होगा कि मैं सतत मूर्च्छावस्था में रहता हूँ। अन्य व्यक्तियों की मानसिक अनुभूतियों का प्रश्न अवश्य ही विवादास्पद है, लेकिन मैं उस प्रश्न पर यहाँ विचार नहीं करूंगा। अपने में मानसिक क्रियाओं का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकने की वजह से इस लेख के लिए मैं यह मान लेना चाहता हूँ कि अन्य व्यक्ति भी मानसिक प्रक्रियाओं का अनुभव करते है।

व्यक्ति को मात्र शुद्ध आत्मा या मात्र भौतिक वस्तु नहीं मानने पर हमारे सामने एक विकल्प यह उपस्थित होता है कि हम व्यक्ति को आत्मा-द्रव्य तथा भौतिक द्रव्य का योग मानें। इस मत के समर्थकों के लिए भी वैयक्तिक अनन्यता की समस्या का समाधान सरल हो जाता है, क्योंकि व्यक्ति की अनन्यता का निर्धारण उसके शरीर के आधार पर कर लिया जा सकता है। किन्तु आत्म द्रव्य की ग्राह्यता के संबंध में जो आपत्तियाँ हमने ऊपर उठाई हैं वे यहाँ भी लागू हो जाती है। अतः व्यक्ति को आत्मा-द्रव्य के बजाय मानसिक अनुभूतियों तथा शरीर का संयोग मानना श्रेयस्कर होगा। लेकिन यहाँ भी अनेक कठिन प्रश्न उठ खड़े होते हैं। मानसिक अनुभूतियाँ तात्त्विक रूप से भौतिक एवं सार्वजनिक नहीं हैं। वे भौतिक वस्तु के गुण भी नहीं हो सकतीं, भले वे अपनी उत्पत्ति के लिए भौतिक शरीर पर निर्भर रहती हैं। अतः मानसिक अनुभूतियों का किसी विशेष शरीर के साथ आवश्यक संबंध नहीं बल्कि आगन्तुक संबंध ही हो सकता है। यदि ऐसी बात सत्य है तो फिर इस बात का निरूपण हो सकेगा कि किसी अनुभूति का अनुभवकर्त्ता कौन है ? आत्मा-द्रव्य के निराकरण के कारण अनुभूति किसी आत्मा-द्रव्य पर आश्रित नहीं हो सकती और तब अनुभूति के तादात्म्यीकरण का प्रश्न उठ खड़ा होता है। हम यह नहीं कह सकते कि अनुभूति का आश्रय शरीर है। यही कारण है कि स्ट्रासन इस मत को 'अनाश्रय मत' कहते हैं। वे इस मत की कठिनाइयों से मुक्त रहने के लिए अपना एक नया मत प्रस्तुत करते हैं।

स्ट्रासन के अनुसार व्यक्ति एक अविश्लेष्य मौलिक सत्ता है। उनका कथन है कि व्यक्ति को मानसिक अनुभूतियों तथा शरीर का योग नहीं मानना चाहिये। व्यक्ति तो स्वयं

मूलभूत इकाई है जिसके दो प्रकार के गुण होते हैं—मानसिक तथा भौतिक। व्यक्ति तत्त्वतः न तो मन है, न शरीर, व्यक्ति व्यक्ति है और अविभाज्य है, वह मानसिक तथा भौतिक गुणों को धारण करता है। यह मत द्वैतवादी न होकर एकवादी है। इस मत के अनुसार वैयक्तिक अनन्यता का प्रश्न इसलिए कठिन नहीं है कि इसके अनुसार व्यक्ति में भौतिक गुण भी होते हैं। भौतिक गुणों तथा लक्षणों के आधार पर वैयक्तिक अनन्यता का निर्धारण किया जा सकता है।

किन्तु क्या स्ट्रासन का सिद्धान्त स्वीकार-योग्य है? स्ट्रासन के अनुसार व्यक्ति की मानसिक अनुभूतियों का तदात्म्यीकरण दो तरीकों से होता है। कोई व्यक्ति अपने सम्बन्ध में तो उनका तदात्मीकरण अन्तर्निरीक्षण द्वारा करता है, किन्तु दूसरों के सम्बन्ध में उनके आचरण के आधार पर करता है। मानसिक अनुभूतियों के स्वरूप के कारण ही इस प्रकार की द्वैत विधि आवश्यक होती है। लेकिन इस सम्बन्ध में एक कठिनाई उपस्थित हो जाती है: क्या अन्य व्यक्ति का आचरण छद्मपूर्ण नहीं हो सकता? आपका शारीरिक आचरण क्रोध को इंगित कर रहा है, लेकिन यह ज़रूरी नहीं है कि आप वस्तुतः क्रोध में हों। शारीरिक आचरण तथा तदनुरूप मानसिक अनुभूति में आवश्यक सम्बन्ध नहीं है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व सम्भव है। दोनों दो भिन्न प्रकार की सत्ताएँ हैं। इस प्रकार व्यक्ति का विश्लेषण मानसिक तथा शारीरिक कारकों के माध्यम से किया जा सकता है। अतः स्ट्रासन का व्यक्ति को अविश्लेष्य इकाई मानना उचित नहीं प्रतीत होता।

संवृतिवादी यह आपत्ति उठा सकते हैं कि भौतिक सत्ता जैसी कोई सत्ता है ही नहीं। व्यक्ति-प्रत्यय का विश्लेषण मानसिक एवं भौतिक कारकों में नहीं किया जाना चाहिए। व्यक्ति, जैसा ह्यूम ने कहा है, केवल अनुभूतियों का समूह है। व्यक्ति की संरचना जिन अनुभूतियों से होती है वे पूर्वापर क्रम से घटित होती रहती हैं। इस अनुभूति-परक सिद्धान्त में ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसके अनुसार न तो कोई आत्म द्रव्य है, न कोई भौतिक शरीर। ऐसी स्थिति में इस सिद्धान्त के सामने वैयक्तिक एकता तथा वैयक्तिक अनन्यता की समस्याएं अत्यन्त विकट रूप धारण कर उपस्थित होती हैं। पहली समस्या तो यह है कि कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से किस आधार पर पृथक् माना जाय, और दूसरी समस्या यह है कि कोई व्यक्ति भिन्न-भिन्न समयों में एक ही या अनन्य व्यक्ति किस आधार पर माना जाय। दोनों ही समस्याओं के समाधान के लिए स्मृति की सहायता ली जाती है। मान लिया जाय कि क, ख, ग, च, छ, ज, भिन्न-भिन्न अनुभूतियाँ हैं, और क, ख, ग, में पूर्वापर स्मृति सम्बन्ध है, च, छ, ज में भी पूर्वापर स्मृति सम्बन्ध है। अतः क, ख, ग एक समूह में तथा च, छ, ज दूसरे समूह में समाविष्ट होंगे। इस प्रकार क, ख, ग की शृंखला एक व्यक्ति है तथा च, छ, ज की शृंखला दूसरा व्यक्ति है। वैयक्तिक अनन्यता के लिए भी स्मृति ही कसौटी होती है। आपका व्यक्तित्व कल और आज एक ही, अर्थात् अनन्य, इसलिए है कि आपकी कल की अनुभूति का स्मरण आज की अनुभूति द्वारा हुआ है।

यहाँ यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि स्मृति के द्वारा जिस बात की व्याख्या

की जाती है उसका निर्धारण तो पहले से हुआ ही रहता है, आपकी आज की अनुभूति ख के द्वारा आपकी कल की अनुभूति क का स्मरण हुआ है। यहाँ जब यह मान ही लिया जाता है कि क और ख आपकी ही अनुभूतियाँ हैं तब तो आपकी अनन्यता पहले से निर्धारित है ही। और तब आपकी अनन्यता को आपकी स्मृति के आधार पर निर्धारित करने की आवश्यकता ही क्या है? किन्तु यह आपत्ति बहुत बलवती नहीं है। ऐसी बात नहीं है कि हम पहले स्मृति से भिन्न आधार पर किसी व्यक्ति को एक एवं अनन्य स्वीकार कर लेते हैं और तब फिर उसकी एकता और अनन्यता को निश्चित करने के लिए स्मृति की कसौटी का सहारा लेते हैं। हमारी व्यक्तिपरक धारणा प्रारम्भ से ही यह है कि जिन अनुभूतियों में पूर्वापर स्मृति-सम्बन्ध है उनकी शृंखला ही व्यक्ति है। उपर्युक्त उदाहरण में समझाने के लिए जो 'आप' शब्द का प्रयोग हुआ है वह तो भाषागत लाचारी है।

किन्तु स्मृति-कसौटी पर दूसरी आपत्ति यह लगाई जा सकती है कि यह व्यक्ति की एकता या अनन्यता के लिए पर्याप्त नहीं है। मैं अपने जीवन के अनेक अनुभवों का स्मरण नहीं कर सकता हूँ। इस मत के अनुसार ऐसे अनुभवों को मेरे जीवन के अंग नहीं मानना चाहिये। लेकिन क्या ऐसा करना उचित होगा? स्पष्ट ही नहीं होगा। इस कठिनाई को दूर करने के लिए यह कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व की तर्कीय संरचना उन सभी अनुभवों से होती है जिनमें स्मृति-सम्बन्ध कभी भी सम्भव हो सकता है, भले ही मैं किसी विशेष अनुभूति का स्मरण अभी नहीं कर पा रहा हूँ। लेकिन यदि मैं उस अनुभूति का स्मरण कभी भी कर सकूं, अर्थात् यदि वह अनुभूति मेरी अनुभूतियों की स्मृति की परम्परा में कभी भी आ जाय, तो वह मेरे व्यक्तिव का अंग होगी।

लेकिन मान लीजिये कि मैं आपके जीवन की किसी घटना का स्मरण करता हूँ या कर सकता हूँ। क्या वह घटना मेरे जीवन का अंग मानी जायगी? संवृति दर्शन (फिनामिनलाजी) की भाषा में इस आपत्ति का रूप इस प्रकार होगा— क्या कोई एक अनुभूति दो या अधिक व्यक्तियों की स्मृति-शृङ्खलाओं में स्थान पा सकती है? लेकिन स्मृति-कसौटी मत के अनुसार यह प्रश्न ही बेतुका है। स्मृति-शृङ्खला में जो भी अनुभूतियाँ स्थान पा लेती हैं उन सब के मेल से एक ही व्यक्ति की रचना होती है, दो या अनेक व्यक्तियों की नहीं।

लेकिन क्या स्मृति अयथार्थ नहीं हो सकती? मैं किसी पुरानी अनुभूति के स्मरण का दावा करता हूँ, बाद में अकाट्य स्रोतों से पता चलता है कि मेरा दावा उचित नहीं है। इसका तात्पर्य यह होता है कि स्मृति भ्रामक भी हो सकती है। ऐसी स्थिति में, यदि स्मृति-कसौटी ही एकमात्र कसौटी है और अनुभूतियों की परम्परा में स्मृति-भिन्न कोई दूसरा सम्बन्ध नहीं है जिसके आधार पर व्यक्तित्व की संरचना हो सकती है तो हमारा स्मृति कसौटी के आधार पर व्यक्तित्व की एकता और अनन्यता का निर्धारण करना उचित नहीं हो सकता। कुछ विचारक स्मृति की आन्तरिकता तथा उसकी अपरोक्षानुभूति के आधार पर उसे यथार्थ मानना चाहेंगे। किन्तु ऐसे आधार भी स्मृतियों को यथार्थता प्रदान नहीं कर सकते। मात्र आन्तरिकता तथा विश्वासपूर्णता के कारण कोई भी स्मृति यथार्थ नहीं मानी जा सकती। अनुभूतियाँ यदि परस्पर भिन्न हैं और यदि वे केवल स्मृति द्वारा ही

एक-दूसरे से सम्बद्ध हो सकती हैं तो वैयक्तिक अनन्यता के लिए स्मृति पर्याप्त कसौटी नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में हम या तो आत्मा-द्रव्य की सहायता लें या फिर भौतिक शरीर की। किन्तु हमने ऊपर देखा है कि आत्मा-द्रव्य का सिद्धान्त प्रमाणशास्त्रीय दृष्टि से बहुत कमज़ोर है और शुद्ध भौतिकवादी सिद्धान्त भी स्वीकार योग्य नहीं है।

अतः यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम व्यक्ति को मानसिक अनुभूतियों तथा भौतिक शरीर का संयोग मानें। इस मत के अनुसार हम वैयक्तिक अनन्यता का निर्धारण शारीरिक अनन्यता के आधार पर कर सकते हैं। किन्तु यह मत भी आपत्तियों से मुक्त नहीं है। मान लीजिये कि राम और श्याम दो व्यक्ति हैं। एक दिन ऐसा होता है कि राम श्याम की अनुभूतियों का स्मरण करता है और श्याम की तरह आचरण भी करता है। दूसरी ओर श्याम राम की अनुभूतियों का स्मरण करता है और राम की तरह आचरण भी करता है। क्या हम ऐसी स्थिति में शारीरिक अनन्यता के आधार पर वैयक्तिक अनन्यता निश्चित कर सकते हैं? पुनर्जन्म, अवतार, विभक्त व्यक्तित्व, शरीर-परिवर्त्तन आदि के संबंध में लोग न केवल बोधगम्य सम्भाषण कर सकते हैं बल्कि अनेक व्यक्ति इनके प्रति गहरा विश्वास भी रखते हैं। यह तो स्पष्ट है कि ये धारणाएँ आत्म-विरोधी नहीं हैं, इनकी कल्पना तो अवश्य की जा सकती है। ऐसी स्थिति में वैयक्तिक अनन्यता के लिए शरीर को महत्त्व देना बहुत उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है।

लेकिन यदि हम शारीरिक कसौटी का परित्याग कर देते हैं और स्मृति-कसौटी को ही प्रश्रय देते हैं तो हम फिर स्मृति-कसौटी की कठिनाइयों में फँस जाते हैं। अतः हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम दोनों ही कसौटियों को यथोचित स्थान दें। एक मुर्दे को हम व्यक्ति नहीं कह सकते, न ही हम किसी प्रेत को व्यक्ति कह सकते हैं। यह सही है कि मृत व्यक्ति का शव न्यूनाधिक समय के लिए टिक सकता है और किसी व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसकी जीवनकालीन अनुभूतियों की स्मृतियाँ प्रेत के रूप में सम्भव हो सकती हैं। किन्तु न तो शव ही व्यक्ति है और न प्रेत ही व्यक्ति है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या हम दोनों ही कसौटियों को समान स्थान दें? सामान्यतः हम उन्हें समान स्थान नहीं देते और समान स्थान देना उचित भी नहीं है। साधारणतः हम शारीरिक कसौटी के आधार पर ही वैयक्तिक अनन्यता का निर्धारण कर लेते हैं। चेहरा, रंग-रूप, बोलने का ढंग, अंगूठे का निशान, विशेष शारीरिक चिह्न आदि के आधार पर ही प्रायः व्यक्ति की पहचान हो जाती है। जब बहुत अधिक समय के बाद किसी व्यक्ति से भेंट होती है और शारीरिक लक्षण सहायक सिद्ध नहीं होते हैं तब उस व्यक्ति की स्मृतियों का सहारा लेना पड़ता है। लेकिन उसकी स्मृतियों की प्रामाणिकता के लिए हम यह भी निश्चित कर लेना आवश्यक समझते हैं कि वह व्यक्ति जिन अनुभवों के स्मरण का दावा कर रहा है वे उसके जीवन में घटित हो सके होंगे या नहीं। अर्थात् वह व्यक्ति सार्वजनिक रूप से, अर्थात् सशरीर, उन अनुभवों का अनुभवकर्त्ता रह सका होगा या नहीं। इस प्रकार अन्ततोगत्वा स्मृति की यथार्थता सिद्ध करने के लिए शरीर का सहारा लेना ही पड़ता है।

शरीर-परिवर्त्तन, अवतार, पुनर्जन्म, विभक्त व्यक्तित्व आदि सम्भव घटनाओं के सम्बन्ध में परस्पर बोधगम्य सम्भाषण शारीरिक प्रसंग में ही होता है। जब हम यह कहते हैं कि राम श्याम में अवतरित हुआ है, तो हम यह कहना चाहते हैं कि राम और श्याम दो भिन्न व्यक्ति हैं। राम भी शरीरी था या है, श्याम भी शरीरी है और श्याम कुछ ऐसी घटनाओं का स्मरण कर रहा है जिनका पूर्वानुमान श्याम ने स्वयं नहीं किया है वरन् एक शरीर-धारी के रूप में राम ने किया था। हम इस वस्तुस्थिति पर आश्चर्य प्रकट करते हैं। हम इन स्मृतियों के दावों को मान लेना नहीं चाहते और उन्हें झूठा सिद्ध करने का यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं। शारीरिक कसौटी के रूप में अभ्यस्त रहने के कारण हम अन्तर्वैयक्तिक स्मृतियों के प्रति स्वाभाविक तौर पर आस्था नहीं रखते। जब हम ऐसी स्मृतियों के दावों को किसी भी प्रकार से झूठा साबित नहीं कर पाते तभी हम उन्हें सत्य जानना चाहते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में, जब हम सभी तरह से आजमाकर देख लेंगे कि विवेच्य स्मृतियाँ राम के ही पूर्वानुभव हैं, तभी हम कहना चाहेंगे कि राम श्याम में अवतरित हुआ है और ऐसा हम केवल श्याम की उपर्युक्त स्मृतियों के बारे में ही कहेंगे। अन्य बातों में श्याम श्याम ही रहता है। हमारा ऐसा कहना कि राम श्याम के शरीर में अवतरित हुआ है इस बात का द्योतक है कि श्याम का शरीर श्याम का ही रहता है, उसके वर्तमान अनुभव उसी के हैं, केवल उसकी स्मृतियों के पूर्वानुभव राम के जीवनान्तर्गत हुए हुए हैं। अनुभवों के इस प्रकार के स्थानान्तरण का बोधगम्य होना इस बात पर निर्भर करता है कि सम्बद्ध व्यक्तियों के व्यक्तित्व स्मृति-भिन्न आधार पर पहले से ही स्थिरीकृत रहे और ऐसा स्थिरीकरण शारीरिक माध्यम से ही हो सकता है। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि व्यक्तित्व-निर्धारण के लिए स्मृति-कसौटी का प्रयोग तभी सम्भव हो सकता है जब हमारे चिंतन की पृष्ठभूमि में विवेच्य व्यक्तियों का व्यक्तित्व शारीरिक आधार पर स्थिरीकृत होकर वर्तमान रहे।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि शारीरिक कसौटी के आधारभूत होने का कारण यह है कि शरीर-परिवर्तन, अवतार, इतर के अनुभव का स्मरण प्रायः नहीं के बराबर होते हैं। फलस्वरूप व्यक्तित्व की अनन्यता सम्बन्धी हमारे सोचने की रीतियाँ तथा सम्भाषण की आदतें स्मृति-केन्द्रित नहीं होकर शरीर-केन्द्रित होती हैं। लेकिन यदि उपर्युक्त घटनाएँ क्षण-क्षण घटने लगें तो हम शारीरिक कसौटी को महत्त्व नहीं देंगे। लेकिन तब वस्तुस्थिति क्या होगी इसकी कल्पना करना भी अत्यन्त कठिन है। ऐसी स्थिति में यह कहना भी कठिन हो जायगा कि कौन व्यक्ति किस व्यक्ति के अनुभवों का स्मरण कर रहा है, क्योंकि तब कोई भी व्यक्ति शरीरी होने के कारण वह व्यक्ति नहीं है, वरन् केवल स्मृतियों के कारण वह व्यक्ति है। शारीरिक परिवर्तन, अवतार, पुनर्जन्म आदि धारणाएँ, जिनके कारण हम स्मृति कसौटी को कुछ महत्त्व देना चाहते हैं, स्वयं दुर्बोध हो जाएँगी। यहाँ तक कि स्मृति सम्बन्धी धारणाओं का सीखना एवं उनका प्रयोग भी कठिन हो जायगे।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मानव-व्यक्तित्व एक जीवंत भौतिक शरीर है जो मानसिक अनुभूतियों से युक्त है या जिसमें मानसिक अनुभूतियाँ सम्भव होती हैं।

मानव-व्यक्ति की अनन्यता उसके शरीर के आधार पर निर्धारित होती है। चमत्कारपूर्ण घटनाएँ, जिनका उल्लेख हमने ऊपर किया है, शारीरिक सन्दर्भ में ही बोधगम्य हो सकती हैं। स्मृति-कसौटी स्वतन्त्र नहीं मानी जा सकती। यह कसौटी विशेषत: चमत्कारपूर्ण घटनाओं के लिए प्रयुक्त होती है लेकिन इसका प्रयोग शारीरिक कसौटी की छत्रछाया में ही हो सकता है। अतः वैयक्तिक अनन्यता के निर्धारण की आधारभूत कसौटी शरीर ही है।

भागलपुर विश्वविद्यालय

वैयक्तिक अनन्यता

देवकीनन्दन द्विवेद

वैयक्तिक अनन्यता के सम्बन्ध में तीन प्रश्न उठाये जाते हैं : एक, व्यक्ति की अनन्यता किस तत्त्व में निहित है या किस तत्त्व से निर्मित है ? दो, व्यक्ति की अनन्यता की अभिज्ञेयता का मापदण्ड क्या है ? तीन, क्या अशरीरी अस्तित्व संभव है ? कभी-कभी इन प्रश्नों को एक ही मान लिया जाता है जिसके फलस्वरूप अनेक प्रकार के भ्रामक सिद्धान्त उत्पन्न होते हैं। इन प्रश्नों को पृथक् न रखने से वर्णनात्मक एवं परिकल्पनात्मक मतों का एक अजीब मिश्रण उन दार्शनिकों में भी मिलता है जो इन भ्रान्तियों से बचने का प्रयास करते हैं। एक और भूल उन दार्शनिकों से होती है जो इन प्रश्नों को पृथक् रखते हुए भी इनमें से किसी एक का उत्तर अन्य प्रश्नों के उत्तर के माध्यम से देते हैं। तीनों प्रश्नों और उनके उत्तरों को पृथक् रखना आवश्यक है।

इस लेख में मैं केवल पहले प्रश्न पर विचार करूंगा। इसे दो प्रकार से उठाया जाता है। प्रथम इस रूप में कि व्यक्ति में ऐसा कौन सा तत्त्व है जो किसी व्यक्ति को, शारीरिक अंगों तथा आन्तरिक अनुभवों की विविधता में, इकाई प्रदान करता है ? यह प्रश्न इस मान्यता पर आधारित है कि विविधता होने पर एक ऐसी इकाई का होना आवश्यक है जो विविध घटकों को एक साथ रख सके। जैसे फूलों की माला तभी संभव है जब विविध फूल एक डोरे द्वारा गुंथे हों। डोरे के अभाव में फूलों की माला नहीं बन सकती, केवल फूलों की एक ढेरी हो सकती है। इसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति में आंगिक तथा अनुभवात्मक विविधता होती है। यह विविधता व्यक्ति का निर्माण तभी कर सकती है जब उसमें अन्तर्निहित ऐसा तत्त्व हो जो विविध अवयवों को एक साथ रख सके। प्राय: इसी तत्त्व को व्यक्ति माना जाता है और दार्शनिक भाषा में उसे आत्मा कहा जाता है।

यही प्रश्न दूसरे रूप में इस प्रकार उठाया जाता है : व्यक्ति के विभिन्न अवयवों में भेद किया जाता है : शरीर तथा शारीरिक अंगों एवं विशेषताओं का भेद, इन्द्रियों, बुद्धि तथा चेतन क्रियाओं का भेद। तब यह प्रश्न किया जाता है कि इन विविध अवयवों या विशेषताओं में ऐसा कौन सा तत्त्व है जो व्यक्ति के लिए अनिवार्य है, जिसके अभाव में व्यक्ति की अवधारणा संभव नहीं है। प्राय: यह कहा जाता है कि शरीर तथा शारीरिक विशेषताएँ व्यक्ति के लिए अनिवार्य नहीं हैं। कोई विशेष रूप, रंग या गठन किसी व्यक्ति के लिए तर्कत: अनिवार्य नहीं है। ये सभी भिन्न प्रकार के हो सकते हैं। इसी प्रकार 'मेरा शरीर'' की व्याख्या करते हुए कहा जाता है कि मैं शरीर से भिन्न हूँ, और शारीरिक विशेषताएँ ही नहीं शरीर भी व्यक्ति का अनिवार्य तत्त्व नहीं है। इस व्याख्या के अनुसार व्यक्ति का अनिवार्य तत्त्व चेतना एक इकाई है, कुछ के अनुसार यह ससहात्मक है। पर

दोनों प्रकार के दार्शनिकों का मत यही है कि चेतना ही व्यक्ति है, शरीर नहीं। ऐसे दार्शनिक मानवीय शरीर को मात्र जड़ वस्तु या मशीन समझते हैं। यही कारण है कि वे व्यक्ति के संप्रत्यय में शरीर को सम्मिलित नहीं करते।

विविधता में निहित इकाई और अनिवार्य तत्त्व की व्याख्याएँ यह मान कर चलती हैं कि किसी व्यक्ति वाचक संज्ञा का प्रयोग तभी हो सकता है जब उससे निर्दिष्ट वस्तु में इकाई निर्मित करने वाला सूत्र हो अथवा उसमें कोई अनिवार्य तत्त्व निहित हो। और इसी स्थिति में किसी वस्तु को एक विशेष वस्तु कहा जा सकता है। पर यह मान्यता अपरीक्षित ही नहीं, पूर्णतः ग़लत है। मेरा उद्देश्य यह सिद्ध करना नहीं है कि किसी भी वस्तु में इकाई लाने वाला अथवा अनिवार्य तत्त्व हो ही नहीं सकता। मैं केवल इतना दिखाना चाहता हूँ कि व्यक्ति वाचक संज्ञा और पुरुष बोधक सर्वनाम के प्रयोग के लिए तथा किसी वस्तु को विशेष वस्तु मानने के लिए इकाई के सूत्र या अनिवार्य तत्त्व की आवश्यकता नहीं है। वास्तव में वस्तु में इकाई का सूत्र या आवश्यक तत्त्व है या नहीं इसका निर्धारण भाषिक या संप्रत्यमात्मक विश्लेषण से और मात्र दार्शनिक चिन्तन से नहीं किया जा सकता। इसके लिए संप्रत्ययात्मक विश्लेषण के साथ ही तथ्यात्मक अन्वेषण आवश्यक है।

पहले माला का उदाहरण लीजिये। माला के लिए डोरे का होना आवश्यक है, पर डोरे के स्थान पर किसी धातु का तार भी हो सकता है, या फूलों को किसी अन्य प्रकार से जोड़ा जा सकता है। किन्तु डोरे को इकाई का सूत्र माना जाय तब भी केवल डोरे को माला नहीं कहा जाता। और फिर डोरे की इकाई का सूत्र क्या है? उसके विभिन्न भाग कैसे संयुक्त होते हैं? एक पेड़ का उदाहरण लीजिये। मान लीजिये आप के घर के सामने नीम का पेड़ है। प्रारंभ से अन्त तक यह एक पेड़ है। इस पेड़ की इकाई या अनिवार्य तत्त्व क्या है? पेड़ के सम्बन्ध में हम निम्न कथन कर सकते हैं: "यह पेड़ छोटा है", "इसकी डालियाँ पतली हैं", "इसकी पत्तियाँ हरी हैं", 'इसका तना सीधा है", "इसके फूल सुगंधित हैं" "यह सुन्दर पेड़ है", "यह पेड़ छायादार है", "यह एक कीमती पेड़ है" आदि। एक और उदाहरण घर का लीजिये। "यह घर पुराना है", 'यह मज़बूत और सुन्दर घर है", "इसमें कई दरवाज़े और खिड़कियाँ हैं" इत्यादि। क्या पेड़ और घर में ऐसा कोई तत्त्व है जो उन्हें इकाई देता हो या अनिवार्य हो? नहीं। फिर भी हम उन्हें विशेष वस्तुएँ मानते हैं और उनके सम्बन्ध में अनेक गुणों का कथन करते हैं। न इनमें तात्त्विक इकाई मानी जाती है, न इन्हें मात्र अवयवों का समूह कहा जाता है। इन्हें विशेष वस्तु मान कर इनके गुणों का कथन किया जाता है।

यह कहा जा सकता है कि यहाँ भी स्थिति इतनी सरल और स्पष्ट नहीं है। जड़ वस्तुओं के लिए भी अनेक दार्शनिकों ने द्रव्य और गुण का सिद्धान्त स्वीकार किया है। इनके अनुसार प्रत्येक विशेष वस्तु एक या अधिक गुणों की धारक या आश्रय है। आश्रयरूप में यह द्रव्य है। किन्तु इन दार्शनिकों ने 'द्रव्य' और 'गुण' का स्वरूप समझने में भूल की है। किसी भी वस्तु का विश्लेषण द्रव्य और गुण में हो सकता है, पर "द्रव्य" और 'गुण" तथ्यात्मक (तात्त्विक) या मात्र भाषिक कोटियाँ नहीं हैं, वास्तव में ये दोनों ही

ज्ञानात्मक कोटियाँ हैं। किसी वस्तु के ज्ञान या व्याख्या के लिए उसे एक विशेष वस्तु माना जाता है, और इस रूप में वह द्रव्य है। फिर उसके गुणों का कथन किया जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह वस्तु मूलतः सरल है और तात्त्विक रूप से गुणों की धारक है। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि वह वस्तु परिवर्तन-रहित और अजर-अमर है। उस वस्तु की तात्त्विक रचना का गुण और द्रव्य की कोटियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। रचना का ज्ञान तथ्यात्मक अन्वेषण से हो सकता है। पर रचना चाहे जैसी हो—आंगिक या अनांगिक—अनांगिक में भी प्राकृतिक या कृत्रिम और कृत्रिम में भी संगठनात्मक या केवल समूहात्मक—हम द्रव्य तथा गुण-सूचक कथन करते हैं और कर सकते हैं। उदाहरण के लिए ईंटों की दो ढेरियों के लिए हम कह सकते हैं कि ये ढेरियाँ वही हैं जो पाँच दिन पहले बनाई गई थीं, पहली ढेरी दूसरी से बड़ी है, पहली ढेरी में अधिक ईंटे हैं, पहली ढेरी अधिक सुन्दर है, इत्यादि। वस्तु के संप्रत्यम को ज्ञानात्मक स्वरूप म समझने के कारण ही लॉक ने द्रव्य को "अज्ञेय आश्रय" माना। इसी भ्रामक धारणा के कारण कुछ दार्शनिकों ने वस्तु को द्रव्य न मान कर केवल गुणों या प्रदत्तों का संघात माना, कुछ ने प्रदत्तों की तार्किक संरचना। यही भ्रम उन दार्शनिकों के चिन्तन में भी निहित है जो वस्तु को द्रव्य न मान-कर केवल घटनात्मक मानते हैं। वस्तु की आन्तरिक रचना चाहे जैसी हो—और इसका निर्धारण वैज्ञानिक विधियों द्वारा हो सकता है—हम ज्ञानात्मक दृष्टि से उसे एक वस्तु कह सकते हैं और उसके गुणों का कथन करते हैं। यदि जड़ वस्तु मात्र घटनात्मक है अथवा विद्युत्-चार्ज है तब भी उसे एक वस्तु के रूप में जाना जाता है और उसके गुणों की बात की जाती है। अतः किसी वस्तु को वस्तु होने के लिए न तो सरल आश्रय की आवश्यकता है न इसके अभाव में संज्ञा मात्र। हमारी ज्ञानात्मक संरचना ऐसी है कि "वस्तु" और "गुण" का प्रयोग आवश्यक है—वस्तु की तात्त्विक रचता चाहे जैसी हो।

यही बात व्यक्ति पर भी लागू होती है। किसी व्यक्ति को एक और वही व्यक्ति होने के लिए न किसी सरल इकाई की आवश्यकता है, न किसी अनिवार्य तत्त्व की। यहाँ एक चेतावनी आवश्यक है। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि व्यक्ति में ऐसी इकाई या तत्त्व है ही नहीं या हो नहीं सकता। मेरा उद्देश्य केवल यह दिखाना है कि ये आवश्यक नहीं हैं और केवल इस आधार पर कि कोई व्यक्ति जीवन पर्यन्त वही व्यक्ति रहता है, इनकी सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

तब प्रश्न उठता है कि व्यक्ति का संप्रत्यय किस पर लागू किया जाता है? व्यक्ति मनुष्य है। वह एक चेतन (या चेतना की क्षमता वाला) आंगिक प्राणी है। वह शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की क्रियाएँ करता है। उसके हाथ, पैर, नाक, कान आदि अंग हैं। उसे संवेदन, प्रत्यक्ष आदि होते हैं। वह चलता है, खाना खाता है और सोता है, वह अनुभव करता है और विचार करता है (या इन संभावनाओं से युक्त है)। एक व्यक्ति का रूप, रंग, शारीरिक गठन अन्य व्यक्तियों से भिन्न होता है। उसकी आदतें, चरित्र, क्रियाएँ, स्वभाव, बौद्धिक तथा अन्य क्षमताएँ अन्य व्यक्तियों से भिन्न होती हैं। उपर्युक्त विशेषताएँ किसी व्यक्ति को एक और वही व्यक्ति बनाती हैं तथा अन्य व्यक्तियों से पृथक् करती हैं। इन विशेषताओं में कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है पर इससे व्यक्ति की

सत्ता की अखंडता बाधित नहीं होती और इन परिवर्तनों के बावजूद कोई व्यक्ति वही व्यक्ति रहता है। इसे इस प्रकार भी व्यक्त किया जा सकता है : व्यक्ति एक ऐसी सत्ता है जिसके लिए शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के गुणों का प्रयोग आवश्यक है। कोई विशेष शारीरिक या मानसिक गुण किसी विशेष व्यक्ति के लिए आवश्यक नहीं है पर उसमें शारीरिक और मानसिक गुण अवश्य होना चाहिये। अर्थात् यदि ऐसी सत्ता हो जिसमें केवल शारीरिक गुण हो, मानसिक नहीं (जिसके लिए मानसिक गुणों का कथन किसी रूप में उपयुक्त न हो); या केवल मानसिक गुण हों, शारिक नहीं, तो वह व्यक्ति नहीं है। यही कारण है कि हम इन स्थितियों में "शव", "प्रेत", 'आत्मा'' आदि का प्रयोग करते हैं, "व्यक्ति" का नहीं। अतः यदि सुदृढ़ प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि आत्मा की सत्ता होती है तब भी हम उसे व्यक्ति नहीं कहेंगे। व्यक्ति के इस संप्रत्यय को ध्यान में रखकर हम यह भी कह सकते हैं कि व्यक्ति ऐसी सत्ता है जिसके शरीर और चेतना दोनों हैं। पर "मेरा शरीर" का तार्किक रूप वही नहीं है जो "मेरी कमीज़" का है। मैं कमीज़ से पृथक् हो सकता हूँ पर शरीर से नहीं (कम से कम यह सामान्य अनुभव नहीं है)। और यदि शरीर पर कमीज़ की व्याख्या लागू की जाती है तो यही व्याख्या आत्मा और चेतना पर भी लगाई जानी चाहिये। अर्थात् "मेरी आत्मा", "मेरी चेतना" आदि अभिव्यक्तियों में मैं आत्मा या चेतना से पृथक् हो जाता हूँ। और यदि मात्र भाषिक विशेषता बताकार मुझे तथा चेतना को अभिन्न मान लिया जाता है तो यही बात शरीर के लिए क्यों न मानी जाय? वास्तव में ऐसी आत्मा या चेतना है या नहीं उसका निर्धारण केवल भाषिक या संप्रत्ययात्मक विश्लेषण से नहीं हो सकता। इसके लिए तथ्यात्मक प्रमाणों की आवश्यकता है जिसका विचार इस समय अभीष्ट नहीं है।

जिस प्रकार बिना किसी इकाई की मान्यता के हम कहते हैं कि पेड़ के तना है, डालियां हैं, या घर के कमरे हैं, दरवाज़े हैं, उसी प्रकार यह कहा जाता है कि व्यक्ति के शरीर है, चेतना है। और जिस प्रकार पेड़ तना या डालियाँ नहीं हैं या घर दरवाजा या खिड़कियाँ नहीं हैं उसी प्रकार व्यक्ति शरीर या चेतना नहीं है। पर इसका यह भी अर्थ नहीं है कि मैं इन दोनों का या एक का आश्रय हूँ और पृथक् हूं। सम्बन्ध सूचक कारकों का प्रयोग दोनों ही स्थितियों में होता है – जिनमें सम्बन्धित वस्तुएँ पृथक् हैं तथा जिनमें वे पृथक् नहीं हैं। अतः केवल इन कारकों के आधार पर व्यक्ति को शारीरिक विशेषताओं या शरीर से पृथक् नहीं माना जा सकता। पेड़ अपनी जड़, तना, शाखाओं आदि से भिन्न तत्त्व नहीं माना जाता, न व्यक्ति शरीर तथा चेतना से। प्रायः उसे चेतना से नहीं पर शरीर से पृथक् मान लिया जाता है। (दार्शनिकों द्वारा)। यह ग़लत है। यदि मनुष्य को शरीर और आत्मा का संयुक्त रूप माना जाय और इन दोनों को पृथक् समझा जाय तथा आत्मा को वास्तविक व्यक्ति कहा जाय तब कारकों के आधार पर वही कठिनाइयाँ शरीर के सम्बन्ध में उत्पन्न हो जाती हैं। शरीर के लिए निम्न कथन संभव हैं और किये जाते हैं : शरीर में हाथ, पैर, नाक आदि हैं; शरीर सुगठित और सुन्दर है। क्या शरीर कोई तत्त्व है जिसके गुण विभिन्न अंग तथा विशेषताएँ हैं? सभी भाषिक तथा संप्रत्ययात्मक दृष्टियों पर विचार करने से यही सिद्ध होता है कि व्यक्ति आँगिक प्राणी है जो चेतन क्रियाएं करने में सक्षम है।

किन्तु मान लीजिये हमें एक ऐसा प्राणी मिल जाय जिसका शरीर कुत्ते की तरह है और जो मनुष्यों की तरह बोलता है। या हमारे पास ऐसी मशीन आ जाय जो हमारी तरह बोलती और सोचती है। क्या हम इन्हें व्यक्ति कहेंगे? इनमें शरीर तथा विचार दोनों हैं। मशीन को शरीर न मानें तब भी कुत्ते के तो शरीर है ही। मेरे विचार से हम इन्हें व्यक्ति नहीं कहेंगे। व्यक्ति होने के लिए मनुष्य के समान शरीर होना आवश्यक है। उसमें थोड़े बहुत परिवर्तन हो सकते हैं, पर यदि किसी प्राणी का शरीर मानवीय शरीर से महत्त्वपूर्ण ढंग से भिन्न है तब उसे व्यक्ति नहीं कहा जा सकता। अतः व्यक्ति ऐसा प्राणी है जिसकी आंगिक रचना मानव-शरीर के समान है और जो चेतन है।

व्यक्ति के संप्रत्यय की उपर्युक्त व्याख्या स्ट्रासन की व्याख्या[1] के समान प्रतीत होती है, किन्तु दोनों में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। पहले समानताएँ: स्ट्रासन की दो बातें मुझे सही प्रतीत होती हैं। एक यह कि व्यक्ति अनुभवों का उद्देश्य या कर्त्ता है, अनुभव-समूह नहीं। हमारी संप्रत्ययात्मक संरचना में व्यक्ति को अनुभवों का कर्त्ता या स्वामी कहा जाता है और ऐसा न मानने पर व्यक्ति और उसके अनुभवों का सार्थक विश्लेषण नहीं किया जा सकता। दूसरे, जिसे शारीरिक विशेषताओं का कर्त्ता या स्वामी कहा जाता है उसी को अनुभवों और विचारों का भी। निम्न कथन हास्यास्पद और निरर्थक है: "हर्ष का शरीर कुर्सी पर बैठा है," "हर्ष की आत्मा आइंस्टीन के सापेक्षता सिद्धान्त पर विचार कर रही है।" हर्ष ही कुर्सी पर बैठा है और हर्ष ही सापेक्षता सिद्धान्त पर विचार कर रहा है। दोनों प्रकार की क्रियाओं का कर्त्ता एक और वही व्यक्ति है। जिसे लम्बा, पतला और सुन्दर व्यक्ति कहा जाता है उसी को बुद्धिमान, संवेदनशील तथा उदार व्यक्ति कहा जाता है। जेल या फाँसी की सजा केवल उसी को नहीं दी जाती जो हत्या करता है बल्कि उसे भी जो इसकी योजना बनाता है। वास्तव में "अनुभव-समूह" और "अशरीरी आत्मा" दोनों ही सिद्धान्त एक समान मान्यता पर आधारित हैं। दोनों के ही अनुसार व्यक्ति आंगिक प्राणी नहीं है। व्यक्ति को शरीर से पृथक् करने पर ही यह प्रश्न उठता है कि वह इकाई है या मात्र अनुभव-समूह। दोनों यह भूल जाते हैं कि जो विचार करता है वही शारीरिक क्रिया भी करता। यही कारण है कि ह्यूम संवेदनों में, देकार्त अशरीरी द्रव्य में, कांट वैचारिक इकाई में और एअर प्रदत्तों के सम्बन्धों में अपनी-अपनी तलाश करते हैं।

स्ट्रासन का सिद्धान्त इस भ्रान्ति से मुक्त है। पर जब वह व्यक्ति को सचेतन आंगिक प्राणी न मान कर एक पृथक् विशेष मानता है जो ज्ञातात्मक रूप में ही नहीं तात्त्विक रूप में भी शरीर तथा अनुभवों का कर्त्ता या स्वामी है तो उसके सिद्धान्त में भी वही कमियाँ आ जाती हैं जो अन्य सिद्धान्तों में हैं। स्ट्रॉसन भी द्रव्य तथा उससे सम्बन्धित गुणों को केवल व्याकरणात्मक आधार पर ज्ञानात्मक से भिन्न तथ्यात्मक या तात्त्विक निदर्श पर व्याख्यायित करता है। स्ट्रासन के अनुसार जड़ वस्तु और व्यक्ति मूल विशेष हैं और चेतना आश्रित या गौण विशेष। हम केवल उसी वस्तु को जान सकते हैं जो या तो जड़ वस्तु हो या जड़ वस्तु से सम्बन्धित हो (स्वामित्व रूप में)। स्ट्रासन मानता है कि व्यक्ति

१. पी. एफ. स्ट्रासन : इन्डिविजुअल्स

शरीर नहीं बल्कि शरीर का स्वामी है। इस प्रकार व्यक्ति न शरीर है, न चेतना, बल्कि एक ऐसी सत्ता है जिसके शरीर और चेतना दोनों हैं। अर्थात् व्यक्ति शरीर और चेतना दोनों से तात्त्विक रूप में पृथक् है। इसकी पुष्टि स्ट्रासन के उन कथनों से भी होती है जिनमें वह मानता है कि तर्कतः एक व्यक्ति के एक से अधिक शरीर हो सकते हैं, या दो व्यक्ति परस्पर शरीर परिवर्तन कर सकते हैं। स्ट्रासन की इस अवधारणा में ज्ञानात्मक कोटि को तात्त्विक कोटि मान लेने की मूल निहित है। यह सत्य है कि हमारी भाषा में "मेरा शरीर", "मेरी चेतना" आदि के प्रयोग होते हैं पर इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं अनिवार्यतः शरीर एवं चेतना से पृथक् हूँ या चेतना और शरीर दो भिन्न इकाइयाँ हैं। आप पेड़ के उदाहरण पर ध्यान दीजिये। 'पेड़ की जड़ें", पेड़ का तना," "पेड़ की शाखाएँ" आदि प्रयोग सार्थक हैं। पर इन प्रयोगों के आधार पर हम पेड़ को एक पृथक् सत्ता नहीं मानते। तब केवल संप्रत्ययात्मक आधार पर व्यक्ति को एक पृथक् विशेष कैसे माना जा सकता है? संप्रत्ययात्मक आधार पर हम केवल इतना कह सकते हैं कि व्यक्ति सचेतन आंगिक सत्ता है या व्यक्ति ऐसी सत्ता है जिसमें शारीरिक तथा मानसिक दोनों विशेषताएँ हैं। यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि व्यक्ति तात्त्विक रूप में इन दोनों का स्वामी है और इनसे पृथक् है।

किसी व्यक्ति को एक और वही व्यक्ति मानने के लिए संप्रत्ययात्मक रूप से केवल इतना आवश्यक है कि एक ही सचेतन आंगिक सत्ता का अस्तित्व उपयुक्त परिवर्तनों के साथ सुरक्षित रहे। दैशिक एवं कालिक सातत्य ही उसकी इकाई का बोध कराता है। जिस प्रकार अनेक परिवर्तनों के होते हुए भी हम किसी पेड़ को वही पेड़ कहते हैं उसी प्रकार निरन्तर सामान्य परिवर्तनों के होते हुए कोई व्यक्ति जीवन-पर्यन्त वही व्यक्ति कहा जाता है। व्यक्ति और दूसरे आंगिक तथा अनांगिक वस्तुओं में महत्त्वपूर्ण गुणात्मक अन्तर है, पर इन अन्तरों के कारण अनन्यता के प्रश्न पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। किसी व्यक्ति की आंगिक अनन्यता तथा उसके स्वभाव एवं क्षमताओं की विशिष्ट शैली अन्य व्यक्तियों के लिए उसके वही व्यक्ति होने के प्रमाण हैं। स्वयं उस व्यक्ति के लिए आंगिक अनन्यता—जिसका उसे प्रत्यक्ष ही नहीं अनुभूति भी होती है—के साथ स्मृति तथा अहं का बोध भी महत्त्वपूर्ण हैं।

उपर्युक्त व्याख्या में शारीरिक या आंगिक अनन्यता को मूल महत्त्व दिया गया है। यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि सचेतन आंगिक सत्ता की दैशिक एवं कालिक निरन्तरता आवश्यक नहीं है। जॉनहिक,[1] शूमेकर[2] और विगिंस[3] ने ऐसी कल्पनाएँ की हैं जिनमें शारीरिक दृष्टि से एक रहना आवश्यक नहीं रह जाता। हिक अशरीरी आत्मा को व्यक्ति मानता है किन्तु जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, अशरीरी आत्मा यदि संभव भी हो तो वह व्यक्ति नहीं है। विगिंस एवं शूमेकर स्मृति को वैयक्तिक अनन्यता का कारण तथा मापदंड दोनों मानते हैं। शूमेकर ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि व्यक्ति तार्किक रूप से शरीर

१. जॉन हिक, "थियोलाजी ऐण्ड वेरीफिकेशन" ए टोनी द्वारा संपादित 'बॉडी, माइंड एण्ड डेथ' में संकलित।

२. एस. शूमेकर, 'सेल्फ नॉलेज एण्ड सेल्फ आइडेंटिटी'।

३. डी. विगिंस, 'आइडेंटिटी ऐण्ड स्पेसिओ-टेम्पोरल कान्टीन्युटी'।

से स्वतन्त्र है। उसके अनुसार यदि अ का मस्तिष्क ब के प्रतिरोपित कर दिया जाय तो चेतना आने पर वह व्यक्ति कहेगा 'यह मेरा शरीर नहीं है।' पर शूमेकर का निष्कर्ष सिद्ध नहीं होता, न यही कहा जा सकता है कि उसके द्वारा कल्पित स्थिति का अन्त वैसा ही होगा जैसा वह दिखाता है। शूमेकर का निष्कर्ष तभी सिद्ध होगा तब ह्विक द्वारा कल्पित स्थिति सत्य हो, अर्थात् जिस स्थिति में मस्तिष्क का प्रतिरोपण न हो, क्योंकि मस्तिष्क शरार का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। जब तक मस्तिष्क को स्वीकार किया जाता है व्यक्ति को शरीर से स्वतंत्र नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार यदि स्मृति का आधार मस्तिष्क है तब भी स्मृति को मापदण्ड मानकर व्यक्ति को शरीर से स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता। एक अन्य कठिनाई मस्तिष्क के प्रतिरोपण के बाद की स्थिति से संबंधित है: यह स्पष्ट नहीं है कि इस व्यक्ति की प्रतिक्रिया क्या होगी। यदि जिस व्यक्ति का मस्तिष्क-प्रतिरोपण किया जाता है उसी के अनुभवों की स्मृति रहती है (जो स्मृति का आधार मस्तिष्क न होने पर अनिवार्य नहीं है) तो वह अपनी स्मृति तथा अन्य स्थितियों में तालमेल न पाकर स्मृति को भ्रमात्मक मान सकता है या पागल हो सकता है। संभव है सामाजिक, वैधानिक तथा आर्थिक परिवेश से प्रभावित होकर धीरे-धीरे जिस व्यक्ति का मस्तिष्क-रहित शरीर प्राप्त हुआ है वैसा ही व्यक्तित्व उसमें विकसित हो जाय। तब वह कौन सा व्यक्ति होगा? यह भी हो सकता है कि वह इन दोनों से पृथक् तीसरा व्यक्ति हो। वास्तव में ये स्थितियाँ इतनी ज्यादा कल्पनात्मक तथा वास्तविकता से दूर हैं कि इनमें क्या होगा और क्या नहीं होगा कुछ भी नहीं कहा जा सकता। न यही कहा जा सकता है कि इनमें किसी व्यक्ति के कोई विशेष व्यक्ति होने का मापदण्ड क्या होगा। ये स्थितियाँ केवल काल्पनिक हैं, और कल्पना युक्ति नहीं है।

व्यक्ति के संप्रत्यय में सबसे अधिक उलझन उत्पन्न करने वाली बात शारीरिक और मानसिक गुणों का अन्तर है। व्यक्ति एक आंगिक सत्ता है, पर वह चेतन भी है। इसी कारण उसके लिए शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार के गुणों का कथन किया जाता है। न शारीरिक गुणों को नकारा जा सकता न मानसिक को। इनके संबंध में जितने भी सिद्धान्त दिये गये हैं वे सभी परिकल्पनात्मक और तत्त्वमीमाँसकीय हैं। किसी के पक्ष में निश्चयात्मक तथ्यात्मक प्रमाण नहीं हैं। और मैं राइल के समान विश्वासपूर्वक यह नहीं कह सकता कि मन से सम्बन्धित सभी तथ्य ज्ञात हैं। मनुष्य के शरीर, विशेषकर मध्यनाड़ीतन्त्र और मस्तिष्क का ज्ञान नितान्त अपूर्ण है। इस स्थिति में मानसिक अनुभवो एवं क्रियाओं की तात्त्विक व्याख्या नहीं हो सकती। तात्त्विक रूप से अनेक संभावनाएँ हैं। मन और शरीर पृथक् हो सकते हैं, दो पक्ष हो सकते हैं, दोनों में तादात्म्य हो सकता है, आदि। केवल संप्रत्ययात्मक विश्लेषण या दार्शनिक चिन्तन से इन प्रश्नों का समाधान नहीं हो सकता। और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि किसी व्यक्ति को एक और वही व्यक्ति मानने के लिए ये सिद्धान्त अनावश्यक ही नहीं अप्रासंगिक भी हैं। ज्ञानात्मक और तात्त्विक व्याख्याएँ एक-दूसरे से भिन्न हैं, और जब तक दार्शनिक एक दूसरे को मिलाते रहेंगे केवल भ्रान्तियाँ ही उत्पन्न होंगी। केवल मानसिक और शारीरिक विशेषताओं के अन्तर के आधार पर न उन्हें दो तत्त्व मानना उपयुक्त है, न ज्ञानात्मक दृष्टि से दोनों का उद्देश्य

(कर्त्ता) एक ही व्यक्ति होने से दो तत्त्वों की संभावना का खण्डन करना। एक बार फिर पेड़ का उदाहरण लीजिये। जिस रूप में कोई पेड़ एक और वही वस्तु अभिज्ञेय और प्रत्यभिज्ञेय होता है उसके लिए, पेड़ किन रासायनिक या भौतिक तत्त्वों से बना है इसकी व्याख्या करने वाला वैज्ञानिक सिद्धान्त न आवश्यक होता है, न प्रासंगिक! और इन दोनों व्याख्याओं को पृथक् न रखना अक्षम्य भूल है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति के एक और वही व्यक्ति होने के लिए उसकी सचेतन आंगिक सत्ता से भिन्न किसी अन्य चेतन या अचेतन इकाई की आवश्यकता नहीं है. प्राय: जिस रूप में वैयक्तिक अनन्यता का प्रश्न उठाया जाता है वह गलत और भ्रामक है। वैयक्तिक अनन्यता की अभिज्ञेयता का प्रश्न तात्त्विक व्याख्या का प्रश्न नहीं है, न पहले प्रश्न का उत्तर दूसरे के माध्यम से दिया जा सकता है। अत: महत्त्वपूर्ण प्रश्न केवल यह है कि वैयक्तिक अनन्यता की अभिज्ञेयता का मापदण्ड क्या है। यहाँ मैं यही कह सकता हूँ कि यह मापदण्ड बहुविध है जिसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शरीर है।

प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

पुरुषार्थ

नं० कि० देवराज

भारतीय परंपरा में पुरुषार्थों की अवधारणा प्राचीनकाल से, उबाने वाली एकरसता के साथ चली आयी है। उक्त अवधारणा के अन्तर्गत धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार मूल्यों या जीवन के लक्ष्यभूत तत्त्वों का उल्लेख होता है। उनमें से प्रथम तीन तत्त्व मुख्यत: धर्मशास्त्रों के और चौथा दार्शनिकों के अनुशीलन का विषय रहे हैं। इसका एक अभिप्राय यह है कि भारतीय दार्शनिकों ने धर्म या नैतिकता तथा अर्थ और काम के स्वरूप और आपेक्षिक महत्त्व अथवा वांछनीयता पर विशेष विचार नहीं किया। फलतः जहाँ हमारी संस्कृति ने मोक्ष के सम्बन्ध में नितान्त सूक्ष्म और विविध विचारणाएं प्रस्तुत कीं वहाँ धर्म-अर्थ-काम के बारे में उपदेश और संस्तुति के ऊपर उठकर तलस्पर्शी चिन्तन के उदाहरण उपस्थित नहीं किये। इस दृष्टि से दर्शन का कार्य कुछ हद तक निषेध-परक रहा। मोक्ष की विशेष प्रक्रिया की स्वीकृति ने अर्थ और काम के प्रति गंभीर चिन्तनभाव को निरुत्साहित किया, और चूंकि मोक्ष-प्राप्ति का अर्थ **कर्मजगत् से विच्छेद** किया गया इसलिए धर्म या नैतिकता को भी चरम साध्य की अपेक्षा गौण स्थान दिया गया। नैतिकता या नैतिक कर्म की अपेक्षा ज्ञान और संन्यस्त जीवन-चर्या को अतिरिक्त महत्त्व दिया गया।

दार्शनिकों द्वारा धर्म-तत्त्व तथा अर्थ-काम की उपेक्षा के दो परिणाम हुए, धर्म या नैतिकता के दो रूप हमारे सामने आये। एक, धर्म को विधि-निषेधों से समीकृत किया गया, ऐसे विधि-निषेधों से जिनका समाज की तात्कालिक स्थिति से सम्बन्ध देखना आवश्यक नहीं समझा गया। ऐसा नहीं कि धर्म की देश-काल-सापेक्षता का बिलकुल आभास नहीं रहा, किन्तु इस आभास को सूक्ष्म सैद्धान्तिक धरातल पर देखने की कोशिश—जैसी कि हम मार्क्सवादी एवं अन्य समाजवादी विचारधाराओं में पाते हैं—नहीं हुई। धर्म को बहुत कुछ शाश्वत नियमों या विधि-निषेधों का रूप दिया गया—जैसे अक्रोध, क्षमा, सन्तोष आदि। दूसरी ओर धर्म को इस हद तक वर्ण या जाति-सापेक्ष बना दिया गया कि तथाकथित 'स्वधर्म' और 'साधारण धर्म' के बीच द्वन्द्व की स्थिति पैदा हो गयी। 'महाभारत' में युधिष्ठिर क्षत्रिय-धर्म को धिक्कारते हैं, इसलिए कि क्षत्रिय के लिए युद्ध और हिंसा अनिवार्य कर्तव्य हैं। इसी प्रकार खेतिहर किसान, जो हल चलाता है, हिंसा से बच कर नहीं रह सकता। चूंकि दार्शनिकों तथा अन्य चिन्तकों द्वारा वर्णव्यवस्था को समुचित चुनौती नहीं दी गयी इसलिए स्वधर्म और साधारण धर्म के विरोध और सामंजस्य पर भी ठीक से विचार नहीं हुआ। और चूंकि कर्म-जगत् एवं जन्म-मरण के चक्र से विच्छेद को मोक्ष मान लिया गया, इसलिए उच्चतम कोटि के जीवन में नैतिकता की स्थिति पर सूक्ष्म चिन्तन नहीं किया गया। उक्त परिस्थितियों के फलस्वरूप आज हमारे देश के अधिकांश दर्शन और धर्म-अध्यात्म के अनुशीलक नैतिकता (मॉरेलिटी) और आध्यात्मिकता

स्पिरिचुग्रालिटी में गुणात्मक ग्रन्तर करते हैं। समझा जाता है कि मोक्ष या उच्चतम जीवन का ग्रभिलाषी साधक जनसाधारण के ग्रौर वैज्ञानिक विचारकों के भी संपर्क से ग्रलग रहकर, यौगिक व दूसरी क्रियाग्रों में लगा हुग्रा, ग्रपने पूर्णत्व का सन्धान कर सकता है। ग्राश्चर्य यह है कि तरह-तरह के ग्राश्रम बना कर रहने वाले ये साधक, जो प्रायः धन-धान्य से सम्पन्न होते हैं, जहां सामाजिक संघर्षों से तटस्थ रहते हैं वहाँ उस समाज से, तरह-तरह के हथकंडे ग्रपना कर, रुपया बटोरने में संकोच नहीं करते। वे लोग समाज-सेवा भी करते हैं तो शान ग्रौर ग्राडम्बर के साथ, ग्रौर उस सेवा का मुख्य रूप होता है— लोगों को ग्रकर्मण्य ग्राध्यात्मिकता की शिक्षा देना। श्री ग्ररविन्द, स्वामी शिवानन्द, साईं बाबा ग्रादि के साहित्य में कहीं बेकारी, भुखमरी, ग्रशिक्षा, देश की गरीबी ग्रादि हटाने के लिए किसी ठोस कार्यक्रम का निर्देश है, यह प्रस्तुत लेखक को नहीं मालूम। गरीबी की स्थिति, शिक्षा, नैतिकता ग्रौर उच्च सुखी जीवन में कोई सम्बन्ध है इसकी जानकारी भी उक्त साहित्य में पाना कठिन है। जैसाकि हमने संकेत किया, मोक्षवाद ग्रौर नैतिक-सामाजिक जीवन के सम्बन्ध को गलत ढंग से निरूपित करने ग्रौर समझने का यह स्वाभाविक परिणाम है।

२

कहा गया है कि मनुष्य, ग्रावश्यक रूप में, एक सामाजिक प्राणी है। जीवन-प्रकृति की दृष्टि से स्त्री-पुरुष ग्रौर बच्चे एक-दूसरे के ग्रपेक्षी होते हैं, ग्रार्थिक तथा सुरक्षा-संबंधी जरूरतें हमें इतर सामाजिकों ग्रौर शासन-व्यवस्था से जोड़ती हैं, जैवी ग्रावश्यकताग्रों की पूर्ति विशेष तृप्तिकर होती हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्मानन्द का स्वरूप समझाते हुए रति-सुख का हवाला दिया गया है, माता-पिता होने का सुख भी विशेष महत्त्व रखता है। इसी प्रकार बच्चों के लिए माता-पिता के सुरक्षा-स्नेह का ग्रतिरिक्त महत्त्व है। इन सुखों को घटिया या हेय घोषित करना ग्रवैज्ञानिक ग्रौर ग्रनैतिक भी है। इसी प्रकार भौतिक उपकरणों को हस्तगत करने वाली ग्रथवा ग्रन्न-वस्त्र-ग्रावास रूप सम्पत्ति सुखी जीवन की ग्रावश्यक शर्त है। जिसे हम प्रेय या प्रणय कहते हैं उसका एक महत्त्वपूर्ण ग्रंग नर-नारी का दैहिक-मानसिक संबंध है, ज्यादा ऊँचे रूप में यह संबंध बौद्धिक-नैतिक भी हो सकता है। यहाँ नैतिक संबध से मतलब है, किसी बड़े लक्ष्य की प्राप्ति के लिए—जिसकी सार्थकता केवल व्यक्तिगत या पारिवारिक नहीं है—साथ मिलकर कार्यरत होना। इस प्रकार का सहयोग स्थायी प्रेम का ग्रावश्यक तत्त्व है।

हम मनुष्य की सामाजिकता की बात कर रहे थे। ऊपर हमने जिन जीवन-मूल्यों का जिक्र किया वे, मूलतः उपयोगी मूल्य हैं—ग्रर्थात् वे मूल्य जिनके लिए लोगों में प्रतिद्वन्द्विता, विरोध ग्रौर संघर्ष होता है विशेषतः ग्रर्थ-प्राप्ति से सम्बद्ध मूल्य उपयोगी मूल्य हैं। जैविक-मनोवैज्ञानिक तृप्तियाँ व्यक्तिगत होती हैं, पर उनकी ग्राधारभूत स्थितियाँ ग्रार्थिक मूल्यों पर निर्भर करती हैं। इस दृष्टि से **उक्त सभी मूल्य ग्रपने को सामाजिक धरातल पर ग्रभिव्यक्त करते हैं।** मनुष्य का जैवी-मनोवैज्ञानिक जीवन ग्रौर ग्रार्थिक संपन्नता समाज की सुरक्षा-व्यवस्था एवं ग्रार्थिक ढाँचे पर निर्भर करते हैं। ग्रतः उक्त व्यवस्था ग्रौर ढाँचे को

सही स्थिति में रखना हर व्यक्ति का कर्त्तव्य हो जाता है।

जिसे हम नैतिकता या नैतिक व्यवस्था कहते हैं वह मुख्यतः उपयोगी मूल्यों के सही विभाजन या वितरण का उपकरण है। माना जा सकता है कि नैतिकता की रीढ़ न्याय की भावना है। प्रस्तुत लेखक के अनुसार न्याय का अर्थ है—प्रत्येक के श्रम के उचित पुरस्कार की व्यवस्था। समस्त श्रम मनुष्य की सर्जनशीलता की अभिव्यक्ति होता है, प्रत्येक को अपने श्रम के अनुरूप पुरस्कार मिलना चाहिये। इसकी विपरीत स्थिति शोषण है।

किन्तु मानवीय सर्जनशीलता का क्षेत्र सिर्फ उपयोगी मूल्य नहीं हैं। मनुष्य कला और चिन्तन की कृतियों को भी उत्सृष्ट करता है। वह अपने व्यक्तित्व को भी परिष्कृत, विचारशील और उदार बनाते हुए मूल्यवान् बनाता है। एक प्रकार से कला और चिन्तन किसी व्यक्तित्व का अंग बन कर ही आत्मलाभ करते हैं। यदि कालान्तर में 'अभिज्ञान शाकुंतल' को कोई पढ़ने वाला न रहे तो वह सौन्दर्य बोध के उपकरण या वाहक के रूप में, निरर्थक वस्तु बन जायगा। यही बात शास्त्रीय कृतियों पर लागू होती है। आगे आने वाली पीढ़ियों के स्मरण-मनन का विषय बन कर ही प्रतीकाश्रित परंपरा अपने को अस्तित्ववान् रख पाती है।

हम कहना चाहते हैं कि सब प्रकार के मूल्य केवल उपयोगी मूल्य ही नहीं—सामाजिक जीवन के अपेक्षी और इतर मनुष्यों के संपर्क में आत्मलाभ करने वाले भी होते हैं। मैत्री, करुणा, मुदिता आदि सद्गुण मूलतः सामाजिक हैं, इस दृष्टि से सन्त का जीवन भी समाज-सापेक्ष समझा जाना चाहिये। मुक्ति की एकमात्र धारणा जो हमें ग्राह्य है, जीवनमुक्ति की धारणा है। मुक्ति उस मनोवृत्ति या स्थिति का नाम है जो हमें अधिक सार्थक रूप में सर्जनशीलता अर्थात् मूल्योत्पादन के धरातल पर, इतर मनुष्यों से सम्बन्धित करे।

हम मानते हैं कि मानव-जीवन की सार्थकता केवल जैवी-आर्थिक अर्थात् उपयोगी मूल्यों के उत्पादन और उपभोग तक सीमित नहीं है। बाह्य जगत् और मानव-प्रकृति की क्रिया-प्रतिक्रिया में कतिपय अन्य मूल्य जन्म लेते हैं—जैसे सौन्दर्य, नैतिकता, अर्थवती अवगति या चेतना, शुचिता-पवित्रता, आदि। यह एक तथ्यात्मक स्थिति है कि मानव-समाज उक्त दूसरे मूल्यों को विशेष महत्त्व देता आया है। किन्तु वे मूल्य न तो गोचर जगत् से पूर्णतया विच्छिन्न किये जा सकते हैं और न सामाजिक जीवन या सम्बन्धों से। यह देखने की बात है कि कोई कलाकार या चिन्तक समाज-निरपेक्ष होकर क्रियाशील नहीं होता। सब प्रकार के कलाकार, लेखक और चिन्तक अपनी कृतियों की स्वीकृति एवं आशंसा चाहते हैं। यह समझना भूल होगी कि आशंसा की उक्त अभिलाषा आवश्यक रूप में यश की इच्छा होती है। दूसरों की स्वीकृति मानो यह प्रमाणित करती है कि हम सचमुच मूल्य विशेष के उत्पादन या उपलब्धि में सफल हुए हैं। यह बात कला और चिन्तन दोनों क्षेत्रों के कृतित्व पर लागू है। नैतिकता तथा साहस के कर्म भी वैसे ही, सामाजिक स्वीकृति के अपेक्षी होते हैं। हम कहना चाहते हैं कि जीवन्मुक्त सन्त भी तब तक आंतरिक तृप्ति और संतोष नहीं पाता जब तक उसे यह विश्वास न हो जाय कि लोग सचमुच ही उसमें सन्त या जीवन्मुक्त की विशेषताओं को देखते हैं—कि वह सचमुच ही सन्त कहलाने योग्य बन गया है। इस दृष्टि से सन्त का जीवन भी सामाजिक है, और जीवन्मुक्त की

स्थिति एक समाज-अपेक्षी सिद्धि है। हमारी मान्यता है कि तथाकथित स्पिरिचुआलिटी या आध्यात्मिकता का एक सामाजिक पहलू या आयाम है, जिसका जीवन के नैतिक आयाम से घना सम्बन्ध है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि कला, चिन्तन और अध्यात्म के क्षेत्रों में हम उसका, जो मात्र जैवी अथवा आर्थिक जीवन-मूल्यों से संबंधित है, अतिक्रमण नहीं करते। एक प्रकार से वैसा अतिक्रमण सामाजिकता की आवश्यक शर्त है। किन्तु अनुभव और चिन्तन के उच्चतर क्षेत्रों में यह अतिक्रमण ज्यादा उग्र और दूरगामी होता है। वैसे अतिक्रमण की क्षमता मनुष्य की सृजनशीलता की शक्ति और क्षमता पर भी निर्भर करती है। पशु-पक्षी उपयोगिता के धरातल का प्रायः अतिक्रमण नहीं करते; दुनियाँ के अधिकांश श्रमिक और किसान बहुत-कुछ उक्त धरातल से बंधे रहते हैं। उक्त धरातल पर संघर्ष करते हुए निर्वैयक्तिक न्यायभावना का आग्रह और पालन उच्चतर मनुष्यता का द्योतक होता है। स्वार्थी मनुष्य घटिया मनुष्य होता है जिसकी सीमित सर्जनशीलता उसे स्वकेन्द्रित बना देती है, इसके दूसरे छोर पर महापुरुष होता है जो अपनी समस्याओं की अवज्ञा या उपेक्षा करके दूसरों की मदद करता है। महापुरुष प्रायः उपयोगी मूल्यों में कम रुचि लेता है, पर उसे यह अधिकार नहीं कि वह अपेक्षाकृत कमजोर और संघर्षरत जन-समूह की जरूरतों की अवज्ञा करे। कुछ हद तक संतोष और वैराग्य की शिक्षा जन-समूह की समस्याओं का हल हो सकती है, पर विज्ञानकृत समृद्धि के इस युग में उचित वितरण पर बल न देकर वैसे संतोष और वैराग्य की शिक्षा देना, विशेषतः उनके द्वारा जो स्वयं समृद्ध हैं, जघन्य किस्म का ढोंग ही कहा जायगा।

ऊपर के विमर्श से जाहिर है कि हम मानव-जीवन की किसी अलौकिक एवं असामाजिक उच्च परिणति में विश्वास नहीं करते। इसका यह अर्थ नहीं कि हम भारतीय परंपरा का निषेध या उससे अपने को विच्छिन्न करने के पक्ष में हैं। हमारी परंपरा ने स्थितप्रज्ञ और निष्काम कर्म के महत्त्वपूर्ण आदर्श या मूल्य दिये हैं। हमारे अपने युग में ये आदर्श महात्मा गांधी के दिव्य जीवन में प्रतिफलित हुए थे। संक्षेप में, जहाँ हम रमन महर्षि, और उनसे भी अधिक रामकृष्ण परमहंस के प्रशंसक हैं—और ये दोनों ही सन्त जनजीवन से असंयुक्त ही थे—वहाँ हम कर्मठ गान्धी के उस जीवनव्यापी संघर्ष को, जो सब प्रकार के अन्यायों के विरुद्ध और दलित जनों के हितों के रक्षार्थ चलता रहा, विशेष महत्त्व देते हैं। कोई भी कल्पना-विलासी विचारक और आत्म-केन्द्रित सन्त गांधी की तुलना नहीं कर सकता। जहाँ श्री अरविन्द के अतिमानस की स्थिति विवादास्पद है और उनके द्वारा उसकी प्राप्ति अनिश्चित है, वहाँ यह निश्चित है कि दार्शनिक के रूप में वे नागार्जुन और शंकर, प्लेटो और कांट से, कवि के रूप में व्यास और वाल्मीकि, सूर-तुलसी से ही नहीं रवीन्द्रनाथ से भी, और सन्त के रूप में रामकृष्ण परमहंस से निम्नतर धरातल पर अवस्थित हैं।* इसके विपरीत गांधी का स्थान बुद्ध और ईसा के साथ है। इस प्रकार का मूल्य-बोध हमारे युग की आन्तरिक आवश्यकता है।

सागर विश्वविद्यालय

* जिसमें अरविन्द-सम्मत अतिमानस या परामानस (सुपरमाइंड) का विकास हुआ है उसकी प्रत्येक उपलब्धि उच्चतम कटि की होनी चाहिये। उक्त तुलनाओं का आशय वैसे मानस की कल्पना के आगे प्रश्न चिह्न लगाना है।

अगले तीन वर्षों के लिए परिषद् के पदाधिकारियों के निर्वाचन

अध्यक्ष—श्री यशदेव शल्य, डी. ३१, बापूनगर, जयपुर

उपाध्यक्ष—डा. रमाकान्त त्रिपाठी, आचार्य दर्शन विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

प्रो. नित्यानन्द मिश्र, आचार्य तथा अध्यक्ष, दर्शन विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर।

मन्त्री—डा. रामजी सिंह, लोक सभा सदस्य तथा रीडर, दर्शन विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय भागलपुर।

संयुक्त मन्त्री—डा. जगत्प्रकाश आत्रेय, दर्शन विभाग, के. जी. के. कालेज, मुरादाबाद।

डा. श्रीप्रकाश दुबे, दर्शन विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर।

कोषाध्यक्ष—डा. सागरमल जैन, दर्शन विभाग, हमीदिया महाविद्यालय, भोपाल।

संपादक-दार्शनिक त्रैमासिक—डा. नं. कि. देवराज, आचार्य, दर्शन विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के प्रकाशन

१.	अनुभववाद	स. यशदेव शल्य	७.००
२.	समकालीन दार्शनिक समस्याएँ	सं. यशदेव शल्य	२०.००
३.	दार्शनिक विश्लेषण	ले. यशदेव शल्य	२०.००
४.	विषय और आत्म	ले. यशदेव शल्य	२०.००
५.	समकालीन भारतीय दर्शन	सं. सच्चिदानन्द मूर्ति	२०.००
६.	भारतीय मनोविज्ञान	सं. नाायणशास्त्री द्राविड़	२०.००
७.	अपोहसिद्धि, अनुवाद एवं व्याख्या	गोविन्दचद्र पाण्डे	३.००
८.	न्यायबिन्दु, अनुवाद एवं व्याख्या	गोविन्दचन्द्र पाण्डे	८.००
९.	नृतत्त्व तथा समाजदर्शन (९ खंड)	सं. दयाकृष्ण, गोविन्दचन्द्र पाण्डे, यशदेव शल्य	५८.००

श्री यशदेव शल्य द्वारा अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के लिए डी. ३१, बापूनगर जयपुर में संपादित्त तथा प्रकाशित एवं जयपुर मान प्रिंटर्स, चौड़ा रास्ता, जयपुर से मुद्रित ।

संपादक : यशदेव शल्य

वर्ष २३, अंक ४, अक्तूबर १९७७

दार्शनिक त्रैमासिक

इंडियन इंस्टीट्यूट आफ ओरियण्टल फिलासफी, वृन्दावन में २७-२९ दिसम्बर १९७७ को संपन्न अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के २३वें अधिवेशन की कार्यवाही का परिशिष्ट

विषय सूची

अखिल भारतीय दर्शन परिषद ।

वार्षिक मूल्य : १५.००

दार्शनिक त्रैमासिक

वर्ष २३ अक्तूबर १९७७ अङ्क ४

गीतोक्त बुद्धि एवं बुद्धियोग

ह० माहेश्वरी

पिछले कुछ वर्षों से भारतीय विश्वविद्यालयों में दर्शनशास्त्र के अध्येताओं का ध्यान भगवद्गीता की ओर जाने लगा है, और जहाँ पूर्वाचार्यों ने गीता की तात्त्विक एवं साधनात्मक व्याख्याएँ की हैं वहाँ आधुनिक अध्येतागण गीता में नैतिक सिद्धांत ढूँढने की विशेष चेष्टा करते दिखायी पड़ते हैं। नैतिक प्रसंग में बहुधा काण्ट महोदय की कर्तव्य-नीति के साथ गीता की तुलना की जाने लगी है, और कितने ही लेख एवं पुस्तकों के अध्याय (शोध एवं अनुसंधान के नाम पर भी) काण्ट और गीता के तुलनात्मक अध्ययन को प्रस्तुत कर चुके हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता अपने आप को 'ब्राह्मविद्या' एवं 'योगशास्त्र' कहती है। इस ब्राह्म-विद्या अथवा योगशास्त्र के अन्तर्गत नीति-नियोजन कितना है, क्या है, यह गंभीर अनुसंधान एवं अनुशीलन का विषय है। 'कर्म' एवं 'कर्तव्य' तथा 'कार्याकार्य' शब्दों के प्रयोगों और प्रसंगों को देखकर गीता को नीति-ग्रन्थ मान लेना, अथवा उसके 'निष्काम' एवं 'असक्त' भाव से 'बुद्धि-युक्त' होने के परामर्श को काण्ट महोदय की 'बुद्धिवादी कर्त्तव्य-निष्ठा' के समकक्ष बता देना प्राय: जल्दबाज़ी का परिणाम है, बाह्य और सतही दृष्टि को समर्थ संधान मान लेने का भ्रम है। प्रस्तुत लेख में केवल गीता के अनुसार 'बुद्धि एवं 'बुद्धियोग' का एक संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत है; काण्ट महोदय के अनुसार 'रीजन' (जिसका अनुवाद हम लोग 'बुद्धि' करते चले आ रहे हैं) क्या है, उसकी निरपेक्षता, उसका स्वयंसमर्थ पूर्ववर्त्तन अथवा प्राथमिकता क्या है, उसका कर्त्तव्य-विधायक संकल्प-सामर्थ्य क्या है, इसकी कोई चर्चा इस लेख में नहीं है। अतएव यह तुलनात्मक अध्ययन के निमित्त केवल गीता पक्ष को स्पष्ट बनाने के लिए परामर्श अथवा आमंत्रण बन सके, यही इस लेख का प्रयोजन है।

गीता में बुद्धि की चर्चा

गीता में बुद्धि की चर्चा तीन संदर्भों में हुई है। (१) तात्त्विक संदर्भ, विशेषतः विश्व-सृष्टि का संदर्भ, जिसमें 'अपरा' 'अष्टधा प्रकृति' के अन्तर्गत एवं 'क्षेत्र' के अन्तर्गत 'बुद्धि' की चर्चा है; (२) मानव-व्यक्तित्व का वह संदर्भ जिसमें उसकी सचेतनता, उसकी मनोमयता एवं उसके चारित्र्य से सम्बन्धित 'बुद्धि' की चर्चा है और उसके सद्बुद्धि-दुर्बुद्धि-भेद हैं, सात्विक-राजसिक-तामसिक भेद हैं; (३) योग एवं साधना का संदर्भ जिसमें सांख्य की ज्ञानसाधना, कर्मयोग की साधना, बुद्धियोग एवं भक्ति की साधना में 'बुद्धि' की चर्चा है। इन तीनों ही संदर्भों में गीतोक्त 'बुद्धि' का अध्ययन आवश्यक है, महत्त्वपूर्ण है।

बुद्धि की सृष्टि-तत्त्वात्मक चर्चा

गीता में सृष्टि का प्रसङ्ग उसके तात्त्विक संदर्भ में भी आया है। वह प्रसङ्ग प्रमुख रूप से विश्व की दर्शनशास्त्रीय मीमांसा के लिए नहीं है, परात्पर भगवत्तत्त्व के अन्तर्गत ऐसे सशय-रहित ज्ञान-विज्ञानमय समग्र बोध के लिए है जिसको प्राप्त कर लेने के पश्चात् कहीं भी कोई ज्ञातव्य शेष नहीं रह जाता। "**असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि....यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते**" (७-१, २) वह उस ज्ञान के लिए है जो किसी-किसी को ही प्राप्त होता है, "**कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः**" (७-३)। वह ऐसा गुह्यतम रहस्य है जिसका ज्ञान-विज्ञान सहित बोध प्राप्त करके अशुभ से मुक्त होना संभव है, "**यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्**" (९-१)। यह प्रसङ्ग क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के उस ज्ञान के अन्तर्गत है जो वास्तव में 'ज्ञान' है। "**क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मत मम**" (१३-३)।

सृष्टि-तत्त्वों का ऐसे महत्त्वपूर्ण ज्ञान के लिए उद्घाटन करते हुए गीता में बुद्धि की चर्चा आती है : यथा "**भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च; अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा**"। (७-४) अर्थात् भूमि, आप, अनल, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार-यह मेरी अष्टधा विभक्त प्रकृति है। अन्यत्र क्षेत्र की चर्चा के अन्तर्गत बुद्धि की चर्चा है। "**महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च**"। (१३-५) गीता में अष्टधा प्रकृति के इन विभागों की, क्षेत्र के इन अङ्गों की चर्चा मात्र है, उनकी व्याख्या, परिभाषा, तात्पर्य-विवेचन कहीं नहीं किया गया है। अतः गीता के अध्येताओं के लिए इनका अभिप्राय गीता के संपूर्ण तत्त्व-दर्शन के आधार पर एवं विभिन्न प्रसङ्गों की अन्तः संगति के आधार पर ही समझना सम्भव है।

अनेकधा इन तत्त्वों का अभिप्राय सांख्य दर्शन के अनुसार समझने-समझाने का प्रयास किया जाता है। कारण, इनकी शब्दावली प्रतीत्या सांख्य शब्दावली है एवं गीता में सांख्य शास्त्र की चर्चा है ही। प्रकृति की त्रिगुणात्मकता का उद्घाटन तो गीता में विशेषतः विशद रूप से देखने को मिलता है। अतः यह प्रवृत्ति होना कि सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि के तत्त्वों को समझा जाय, नितान्त स्वाभाविक है।

किन्तु गीता-दर्शन को सर्वाङ्गतः समझना होगा। उसके लिए सभी विषयों को उनके विशेष प्रासङ्गिक तात्पर्य के साथ भी देखना होगा, उनकी परस्परापेक्षा के साथ भी एवं सर्वसमन्वयी सामंजस्य के अन्तर्गत भी। कारण, गीता एक ऐसा महद्भुत ग्रन्थ है जिसमें

विभिन्न प्रकार के दार्शनिक मन्तव्यों का पोषण एवं समर्थन ढूँढा गया है, और वह मिल भी जाता है। वेदान्त की परम्परा ने तो उसे प्रस्थानत्रय के अन्तर्गत वेदान्त का ही एक मौलिक एवं प्रामाणिक ग्रन्थ माना है। अतः सांख्य-शब्दावली मात्र के आधार पर गीता की अष्टधा प्रकृति को सांख्य शास्त्र की जड़ प्रकृति मान लेना समीचीन नहीं होगा। सांख्य शब्दावली के अतिरिक्त, और उसके साथ-साथ, गीता की भाषा में एक ऐसी भी अभिव्यंज्जना है जो इसी प्रसङ्ग में सांख्य दर्शन से सर्वथा भिन्न अभिप्राय की ओर ध्यान आकर्षित करती है। गीता की भाषा है : "**इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा**", अर्थात् 'ऐसी यह मेरी अष्टधा प्रकृति है'। "**मेरी प्रकृति**" का सांख्य में कोई अर्थ नहीं होगा। उसमें प्रकृति स्वयमेव सत्तामयी है, वह किसी की शक्ति नहीं है। सांख्य में पुरुष के साथ प्रकृति का सम्पर्क जो भी हो, वह पुरुष की प्रकृति नहीं है; पुरुष-प्रकृति का सम्बन्ध शक्तिमान् और शक्ति का सम्बन्ध नहीं है। गीता की अष्टधा प्रकृति के तत्वों के नाम सांख्य की भाषा में अवश्य हैं, किन्तु वह प्रकृति एवं उसके अन्तर्गत विभक्त आठों तत्त्व उस उत्तम पुरुष के हैं जो स्वयमेव एकमात्र अद्वितीय परम तत्त्व होने का रहस्योद्घाटन कर रहा है : "...... "**अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा**" (७-६) अर्थात् मैं ही समस्त जगत् का प्रभव हूँ, मैं ही उसका प्रलय हूँ।" उस अद्वय परम तत्त्व के अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व है ही नहीं। "**मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति**...." । (७-७) सृष्टि के समस्त पदार्थों में अनुगत, उनमें ओत-प्रोत स्वयमेव वही पुरुषोत्तम है, गीता में क्रमशः इसका विस्तृत उद्घोष है। (अध्याय ७, श्लोक ७-१२) अपनी इसी प्रकृति को वही पुरुषोत्तम "**गुणमयी माया**" भी कहता है। अतः गीता में चर्चित "सांख्य" को वेदान्तार्गत सांख्य समझना ही सार्थक होगा। प्रसंगतः गीतोक्त बुद्धि को सांख्यशास्त्रीय जड़ प्रकृति से उद्भूत एक जड़ तत्त्व अथवा जड़ प्रक्रिया मान लेना उचित नहीं होगा।

सम्पूर्ण सृष्टि को गीता के अनुसार मूलतः चिन्मयी सृष्टि मानना होगा। गीता में अष्टधा प्रकृति को 'अपरा' कहा गया है; भेदमयी होने के नाते उसे 'भिन्ना' कहा गया है। किन्तु वहीं उस अपरा प्रकृति से अन्य उस "जीव भूता परा प्रकृति" का भी उद्घाटन है जिससे इस जगत् को धारण किया जाता है। "**अन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्; जीव भूतां ... यया धारयते जगत्**" (७-५)। स्पष्टतः यह अपरा-परा प्रकृति उसी पुरुषोत्तम की सर्व-सर्जन-शक्ति की ही दो अवस्थाएँ हैं। इस सृजन-भूमिका के साथ सभी सृष्ट पदार्थ मूलतः चैतन्य-युक्त हैं, केवल सृष्टि की व्यक्त प्रक्रिया सहज एवं स्वभावज होने के नाते जड़ प्रतीत होती है। अतः बुद्धि भी तत्त्वतः एवं मूलतः चेतना-युक्त है। वह सम्भवतः निर्वैयक्तिक महत् रूप में विश्वात्मक बोध-क्षमता एवं वैयक्तिक मानव-जीवन में विभिन्न बोध-प्रक्रिया का उपकरण हो सकती है।

प्रायः ऐसी ही सांख्यशास्त्रीय शब्दावली के बुद्धि की साथ गीता के तेरहवें अध्याय में क्षेत्र के अन्तर्गत चर्चा है। यहाँ पंच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त, दस इन्द्रियाँ, पाँच इन्द्रियों के विषय, इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख, संघात, चेतना, धृति इत्यादि को क्षेत्र कहा गया है। किन्तु आधार ग्रन्थ है ब्रह्मसूत्र एवं आप्त वचन हैं ऋषियों के छंदादि, क्षेत्रज्ञ हैं स्वयं पुरुषोत्तम; "**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्व क्षेत्रेषु**...." (१३-२)। किन्तु इस प्रसंग में

पुरुष-प्रकृति द्वैत को परमात्मा के अन्तर्गत ऐक्य में समाहित कर दिया गया है: ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय की अभिन्नता का उसमें उद्घाटन है। अतः क्षेत्रज्ञ का क्षेत्र-ज्ञान आत्मज्ञान ही है, वह सांख्य के तटस्थ निष्क्रिय पुरुष का अपने से पृथक् प्रकृति के विषय में साक्षित्व नहीं है। क्षेत्र के अन्तर्गत 'बुद्धि' निर्वैयक्तिक पुरुष-चैतन्य का वैश्व विषयी है, वह उसी पुरुष की वैयक्तिक बोध-क्षमता भी है।

गीता में बुद्धि की सृष्टितत्त्वात्मक चर्चा इतनी अल्प और सूक्ष्म है कि उसकी विस्तृत व्याख्या अति चर्चा जैसी प्रतीत होती है। किन्तु द्वितत्त्वात्मक सांख्य के ऊपर उसे वेदान्तीय ऐक्य के अन्तर्गत समझने का संकेत वास्तव में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उससे एक तथ्य यह हाथ लगता है कि अन्यान्य सभी तत्त्वों एवं पदार्थों के समान बुद्धि की विभिन्न व्यक्त श्रेणियाँ हो सकती हैं। सृष्टि स्वयं यदि परमात्म तत्त्व की अभिव्यक्ति है—गीता के अनुसार वह है ही—और यदि उस सृष्टि के अन्तर्गत जड़-चेतन की, शुभ-अशुभ की, सात्त्विक-राजसिक-तामसिक सभी अभिव्यक्तियाँ हैं, तो उन विभिन्न अभिव्यक्तियों में केवल श्रेणी-भेद हो सकता है, तत्त्व-भेद नहीं।

मानव-व्यक्तित्व एवं चारित्र्य के सन्दर्भ में बुद्धि :

'बुद्धि' का उपर्यक्त तात्त्विक उद्घाटन मानव के सजग, सचेत चारित्रिक जीवन के एक विशाल अव्यक्त प्रसंग को स्पष्ट बनाता है। गीता में मानव-जीवन के मनोमय एवं व्यावहारिक प्रसंगों को लेकर बुद्धि की चर्चा प्रचुर रूप से हुई है। उसमें बुद्धि का इतना विस्तृत व्यापार है, उसके इतने पक्ष हैं, गुणदोषात्मक ऐसे द्वन्द्व हैं, इतने भेद हैं, इतने प्रभाव हैं और ऐसी क्षमताएँ हैं कि उनके नाते 'बुद्धि' शब्द स्वयं बहुलार्थक दिखायी पड़ने लगता है। पाश्चात्य चिन्तन के 'रीज़न' इत्यादि शब्द 'बुद्धि' के पर्याय होने में सर्वथा समर्थ नहीं हो पाते।

इस प्रसंग में मनुष्य के जीवन का आन्तरिक एवं बाह्य संचालन-सम्पादन करने वाली चेतना प्रायः सभी रूपों में 'बुद्धि' शब्द के द्वारा अभिहित है। वहाँ मानव-मन के सद्गुण एवं दुर्गण सभी बुद्धि से सम्बन्धित हैं। यद्यपि सामान्यतः सदसद्विवेचन-क्षमता मानकर बुद्धि को मनुष्य की एक सुयोग्य बोध-शक्ति माना जाता है : उसी के नाते 'बुद्धिमान्' एवं 'बुद्धिहीन' विशेषण सार्थक होते हैं। गीता में भी कई स्थानों पर "बुद्धिमान्" शब्द का प्रयोग इसी अच्छे एवं योग्यतासूचक अर्थ में किया गया है : यथा **"स बुद्धिमान् मनुष्येषु"** (४-१८); **"न तेषु रमते बुधः** (५-२२); **"एतद्बुध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्य"**(१५-२०)। इसी प्रकार बुद्धि के अभाव की, बुद्धिहीनता की चर्चा **"अबुद्धयः"** (७-२४) अथवा **"अल्पबुद्धि"** (१६-९) इत्यादि व्यञ्जनाओं से गीता में हुई है। किन्तु उसमें केवल 'बुद्धिमत्ता' अथवा 'बुद्धिहीनता' की ही वह चर्चा नहीं है जिसके नाते 'बुद्धि' मनुष्योचित योग्यता मात्र ही हो, और केवल उसके भाव-अभाव का अथवा न्यूनाधिक्य का ही भेद किया गया हो। उसमें **"दुर्बुद्धि"** जैसे विशेषणों के द्वारा बुद्धि की विकृति एवं उसकी अवाञ्छनीय सम्भावनाओं का भी संकेत है। उन पर ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि 'बुद्धि' केवल वाञ्छनीय विवेक-शक्ति ही नहीं, अवाञ्छनीय संकल्प-शक्ति भी हो सकती है।

अतः आवश्यकता यह है कि इस मानव-क्षमता 'बुद्धि' को सम्पूर्णतः समझा जाय। उसके लिए गीता द्वारा उद्घाटित मानव-चेतना का वह अध्ययन करना होगा जिसे गीता-प्रतिपादित मनोविज्ञान तथा उससे सम्बन्धित मानव-चरित्र एवं नीति-दिग्दर्शन कहा जा सकता है। गीता का तद्विषयक अध्ययन आधुनिक शैली का ऐसा विभक्त अध्ययन नहीं हो पाएगा जिसमें मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, तत्त्वविज्ञान इत्यादि को पृथक्-पृथक्, एक-दूसरे से स्वतन्त्र एवं असम्बद्ध, भिन्न-भिन्न शास्त्र बनाये रखना सम्भव हो, अथवा उचित समझा जाय। कारण, गीता एक ऐसा समन्वित ग्रन्थ है जिसमें विभिन्न विषय एक जीवनव्यापी योग के नाते परस्पर सम्बद्ध हैं, और उसका प्रत्येक प्रसंग सर्वांग गीता-योग के अन्तर्गत इस प्रकार सम्मुख आता है कि समस्त मनोवैज्ञानिक तथ्यों का नैतिक एवं चारित्रिक सन्दर्भ भी स्पष्ट होता है, तात्त्विक परिप्रेक्ष्य में आध्यात्मिक साधना के लिए उनका समायोजन भी।

सृष्टितत्त्वात्मक 'बुद्धि' की अभिव्यक्ति स्वभावतः मानव-व्यक्तित्व में होती ही है। उस व्यक्तित्व का एक उद्घाटन गीता में इस प्रकार हुआ है :

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः यो बुद्धेः परतस्तु सः।। (३-४२)

अर्थात् इन्द्रियों को (विषयों से) परे कहते हैं, इन्द्रियों से भी परे मन है, मन से परे बुद्धि है, बुद्धि से भी जो परे है वह है पुरुषतत्त्व (आत्मा)। इस उद्घाटन में हमारे बाह्य, स्थूल, अधिक व्यक्त रूप से क्रमशः आन्तर, सूक्ष्म, गुह्य तथा कम व्यक्त स्वरूप का परिचय होता है। उस क्रम में 'बुद्धि' अन्तरात्मा के सर्वाधिक निकट है, और यदि यह क्रम विभिन्न पदार्थों का नहीं होकर एक ही परम पदार्थ अथवा परतत्त्व की साङ्गोपाङ्ग अभिव्यक्ति का क्रम है, और यदि वह परमतत्त्व स्वयं चिद्घन है, तो बुद्धि अन्तरात्मा के सन्निकट होने के नाते इन्द्रियों एवं मन की अपेक्षा अधिक सचेतन अंग है। इन्द्रियों से अतीत सूक्ष्मबोध बुद्धिगम्य होता है, **"बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्"**। उसका नैतिक चारित्र्य तथा अध्यात्म-साधना में इतना महत्त्व है कि तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए वह स्वयं एक सचेत सोपान बन जाती है। आत्मबोध ही यदि ज्ञान है, जैसाकि गीता का उद्घोष है—**"अध्यात्मज्ञान-नित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थ दर्शनम्, एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा;** (१३-११)— और मन तथा इन्द्रियों का व्यापार यदि अज्ञान है, तो वस्तुतः अज्ञान से ज्ञान में प्रवेश करने के लिए बुद्धि द्वार का कार्य करती है। गीता के अनुसार उस आत्मज्ञान से ही सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर विजय प्राप्त हो सकती है। (३-४)

व्यक्तित्व के इस सन्दर्भ से मनोवैज्ञानिक दशाओं एवं प्रक्रियाओं का स्वाभाविक नियम भी गीता में स्पष्ट हुआ है, सज्जीवन के लिए चारित्र्य-विधान भी प्राप्त हुआ है एवं आध्यात्मिक साधना के लिए सुनियोजित आदेशोपदेश सहित सिद्धान्त भी। मानव-व्यक्तित्व की इस संरचना में जहाँ उसकी क्रियाएँ और ऐन्द्रिक व्यापार एवं मनोवृत्तियाँ सभी बुद्धि के अधीन होती हैं, 'बुद्धि' निश्चय ही उसके व्यावहारिक जीवन की विधायिका है। वह मनुष्य की बोधशक्ति भी है, सचेत संकल्प एवं निर्णय-शक्ति भी। सामान्यतः हम उसे 'समझ' कहें तो अनुचित नहीं होगा। जीवन के प्रति हमारी दृष्टि भी समझ के

अनुरूप होती है, जीवन का व्यापार-व्यवहार भी उसी समझ के अनुसार चलता है। वह ठीक और अच्छी भी हो सकती है, भ्रमित और दूषित भी। गीता की भाषा में सुबुद्धि एवं दुर्बुद्धि दोनों ही व्यञ्जनाएँ सार्थक हैं; बुद्धि मोहित भी हो सकती है, "....**बुद्धि-मोहयसीव मे**" (३-२), उसमें भेद और व्यामिश्र भी उत्पन्न हो सकता है, "**न बुद्धिभेदं जनयेत्**..." (३-२६)। गीता '**व्यवसायात्मिका बुद्धि**' एवं अव्यवसायिजन की '**बहुशाखा बुद्धि**' का भेद एवं विरोध समझाती है: "**व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन/बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धिरव्यवसायिनाम्**।।" (२-४१) अर्थात् व्यवसायात्मिका बुद्धि एक (एकाग्र, एकनिष्ठ, एकदिष्ट, एक निश्चय) होती है, उसके विपरीत अव्यवसायियों की बुद्धि बहुशाखा (अनेक चित्त विभ्रान्ता) होती है।

गीता ने और भी अधिक गहराई और विस्तार से बुद्धि के त्रिविध भेद को स्पष्ट किया है जिसमें सम्पूर्ण सृष्टि की त्रिगुणात्मकता के अनुरूप सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक बुद्धि के लक्षण बताये हैं। गीतोक्त बुद्धि के अध्ययन के लिए उनका अवलोकन महत्त्वपूर्ण है। गीता की वाणी है:

प्रवृत्ति च निवृत्ति च कार्याकार्ये भयाभये।
बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।।
यथा धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।।
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।। (१८-३०, ३१, ३२)

अर्थात् 'जो बुद्धि प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, कार्य एवं अकार्य, भय एवं अभय तथा बंधन एवं मोक्ष को जानती है, वह बुद्धि सात्विकी होती है। जो धर्म-अधर्म तथा कार्य-अकार्य को यथावत् जानती है, (यथार्थतः नहीं जानती) वह बुद्धि राजसी होती है। जो अधर्म को धर्म तथा तमस् से आवृत्त होकर समस्त अर्थों को विपरीत प्रकार से मानती है, वह तामसी बुद्धि है।' स्पष्ट है कि सात्विक बुद्धि विवेकशीला होती है, विचार में भी और व्यवहार में भी, राजसी बुद्धि अविवेकी होती है और तामसी बुद्धि विवेक-विरोधी। तो भी इन तीनों दशाओं में है वह बुद्धि ही। अतः गीता के अनुसार बुद्धि केवल प्रबुद्ध लोगों की ही नहीं अबुद्ध लोगों की और विपरीत बुद्धि वालों की भी होती है। नीतिवान् धार्मिक सत्पुरुषों की बुद्धि भी बुद्धि है; अनैतिक, अधर्मी, दुर्वृत्त, दुर्जन लोगों की बुद्धि भी बुद्धि है। एक प्रसंग में मनुष्य के पापाचरण का कारण बताते हुए गीता रजोगुण से उद्भूत काम-क्रोध की चर्चा करती है और बताती है कि उस काम-क्रोध के अधिष्ठान हैं मनुष्य की इन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि। "**काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।। ... इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानम्**" (३-३७, ४०)

मानव-जीवन में बुद्धि का इतना व्यापक और विविध दिग्दर्शन इस तथ्य का उद्घाटन है कि मानवीय चेतना में जैसी भी सूझ-बूझ है और उसके अनुसार जैसा भी संकल्प है वह सब बुद्धि के अधीन है। अतः इस प्रसंग में बुद्धि का अभिप्राय होगा मनुष्य की वह क्षमता जो उसके मनोमय एवं व्यावहारिक जीवन का संचालन करती है; उसमें

मनुष्य की सूझ-बूझ भी है, उसका निर्णय, निश्चय एवं संकल्प भी। गीता के अनुसार मानव व्यक्तित्व का यथार्थ किन्तु गुह्य केन्द्र है वह अन्तरात्मा जो परमात्म तत्त्व पुरुषोत्तम का सनातन अंश है; किन्तु उसके व्यक्त जीवन का सम्पादन करने वाली सर्वोपरि शक्ति है उसकी बुद्धि। उपनिषद् में बुद्धि को जीवन-रथ का सारथी कहा गया है। उसके अधीन मन और इन्द्रियों का व्यापार होता रहता है। किन्तु जब और जहाँ इन्द्रियाँ और मन अपने-अपने गुणों के अनुसार प्रबल होते हैं तो बुद्धि स्वभावतः उनसे प्रभावित हो जाती है और अपनी चेतना में भी, सकल्प में भी सदसत् बन जाती है। गीता में ऐसे प्रभाव के अन्तिम परिणाम को विशेष चेतावनी की भाषा में अन्तर्जीवन के अपरिहार्य नियम के आधार पर बताया है :

'ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते। क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति विभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(२-६२, ६३)

अर्थात् 'विषयों का ध्यान करने वाले मनुष्य की उन विषयों में आसक्ति उत्पन्न हो जाती है, आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है, काम से क्रोध उत्पन्न हो जाता है। क्रोध से समोह और संमोह से स्मृति-विभ्रम उत्पन्न हो जाता है, स्मृति के भ्रंश से बुद्धि का नाश हो जाता है और बुद्धि नष्ट हो जाने से उस व्यक्ति का ही सर्वनाश हो जाता है।'

उपर्युक्त पर्यवेक्षण से एक अदभुत् और अत्यन्त आकर्षक तथ्य यह सम्मुख आता है कि सृष्टितत्त्वात्मक सन्दर्भ में जिस प्रकार 'बुद्धि' सर्वोपरि व्यक्त तत्त्व है, अष्टधा प्रकृति का सर्वाधिक सूक्ष्म एवं सबल तत्त्व है,--यहाँ 'महत्' शब्द सचमुच महत्त्वपूर्ण है,—अव्यक्त प्रकृति और उसके अधिष्ठाता, उसके स्वामी, सर्वेश्वर, परमेश्वर मूलतः एवं तत्त्वतः सर्वस्व होते हुए भी गुह्य और अप्रकट रहते हैं, उसी प्रकार मानव-व्यक्तित्व में भी 'बुद्धि' सर्वोपरि बोध-सक्षम एवं संकल्प-समर्थ होती है, अन्तरात्मा हृत्पुरुष, अव्यक्त रूप से 'साक्षी' एवं 'अनुमन्ता' बना रहता है यद्यपि समस्त व्यक्तित्व वस्तुतः उसी की अभिव्यक्ति का खेल है। व्यष्टि-समष्टि का यह अदभुत् सादृश्य है।

नैतिक प्रसंग में बुद्धि :

स्पष्ट है कि मानव-चरित्र उसकी बुद्धि के अधीन और उसके संकल्प के अनुसार होता है। जैसी समझ और जैसा संकल्प वैसा ही मनुष्य का चारित्र्य; सद्बुद्धि के अनुरूप सदाचार एवं दुर्बुद्धि के अनुरूप दुराचार। बुद्धि की त्रिगुणात्मकता को देखते हुए वह नीति-समर्थक भी हो सकती है, नीति-विरोधी भी। यद्यपि गीता में 'बुद्धिमान्' शब्द का प्रयोग प्रबुद्ध-जन के लिए है और उसके विपरीत 'अल्पबुद्धि' एवं 'अबुद्धि' शब्दों का प्रयोग अज्ञानी और मूढ़ लोगों के लिए है, तो भी सात्त्विक-राजसिक-तामसिक बुद्धि का भेद इस तथ्य का द्योतक है कि 'बुद्धि' को एकान्ततः सद्बोध अथवा सत्संकल्प तथा सद्वृत्ति का पर्याय मान लेना सम्भव नहीं होगा।

गीता में कार्याकार्य, धर्माधर्म, पापपुण्य के विवेक की चर्चा है। उसमें कर्म की साधना का तो विशेष महत्त्व है ही; गीता का कर्मयोग प्रख्यात है। 'कार्य' और 'कर्म' को प्रायः

समानार्थक मानकर गीता को नीति का एक विशेष ग्रन्थ मान लिया जाता है। किन्तु 'कार्य' अथवा 'कर्त्तव्य' का नैतिक विवेचन एक बात है, 'कर्म' को 'यज्ञार्थ' अथवा 'योगस्थ' करने की साधना सर्वथा भिन्न बात है : एक लौकिक एवं सामाजिक आदर्श के अधीन है, दूसरी लोकोत्तर, लोकातीत, सर्वलोक-महेश्वर भगवान् के प्रति अपने सक्रिय जीवन का नियोजन है, आत्मनिवेदन है। 'कर्म' और 'कार्य' शब्दों को समानार्थक मानने की भूल करके हम 'नीति' और 'कर्म-साधना' में व्यामिश्र उत्पन्न कर लेते हैं और परिणामतः गीता के 'कर्म-योग' को 'कर्त्तव्य-नीति' मात्र समझकर भ्रामक व्याख्याएँ प्रस्तुत करने लगते हैं।

वस्तुतः गीता नीतिशास्त्र नहीं 'योगशास्त्र' है। नीति का उसमें समावेश है, यह एक गौण बात है। गीता का आरम्भ अर्जुन की जिन समस्याओं से होता है वे निश्चय ही नैतिक हैं और मनोवैज्ञानिक भी हैं; वे परम्परागत लोकधर्म एवं कुलधर्म की समस्याएँ हैं। किन्तु श्रीकृष्ण का उपदेश, उनका समाधान, आध्यात्मिक है, योग-समन्वित है, नीति-सम्बद्ध नहीं। गीतोपदिष्ट आध्यात्मिक जीवन के लिए सात्त्विक सज्जीवन निश्चय ही एक महत्वपूर्ण सोपान है। वस्तुतः नैतिक जीवन की सात्त्विक जीवन के लिए उपादेयता है। गीता के अनुसार नैतिक जीवन अपने-आप में साध्य नहीं है, वह साधन मात्र है। यदि उसे साधन न माना जाय, यदि नैतिक जीवन को सात्त्विक जीवन का सोपान और सात्त्विक जीवन को गुणातीत अध्यात्म जीवन का सोपान न माना जाय तो समस्त नैतिक जीवन केवल लोक-परम्पराबद्ध गतानुगतिक जीवन रह जायगा। ऐसे जीवन का आधार केवल सुने-सुनाये, दूसरों से प्राप्त कुछ मन्तव्य रहते हैं, और जब तक मनुष्य की बुद्धि उनके अधीन, उनमें आबद्ध रहती है तब तक वह उच्चावस्था को, 'समाधि' को प्राप्त नहीं कर पाता, **"समाधौ न विधीयते"** (२-४४); तब तक मनुष्य अनेक चित्त-विभ्रामक मतमतान्तरों में भ्रमित रहता है। गीता में बहुत स्पष्ट भाषा में कहा गया है कि जब मनुष्य की बुद्धि 'मोह दलदल' से पार होकर (२-५२) सुने-सुनाये मत-वादों से मुक्त होकर निश्चल और समाधियुक्त होती है तब ही वह योग को प्राप्त करता है। **"श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला। समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥"** (२-५३)

गीता को देखते हुए नैतिक जीवन का केवल इतना ही मूल्य है कि उसके द्वारा मनुष्य अपने निम्न कामनामय स्वेच्छाचारी जीवन को लौकिक एवं शास्त्रीय नियमों के अधीन बनाना सीखता है। उसके द्वारा वह क्रमश निम्न वृत्तियों की दासता से कुछ मुक्त होकर ऊपर उठने की तैयारी कर पाता है और अहंकार से ऊपर किसी उच्चतर नियम के अधीन अपने जीवन को श्रेयस्कर बनाने का प्रयास आरम्भ करता है। इस प्रसंग में गीता शास्त्र का महत्त्व स्पष्ट करती है : **"यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥"** (१६-२३) और शास्त्र को ही गीता कार्याकार्य की व्यवस्था के लिए प्रमाण भी बताती है : **'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ ॥"** (१६-२४) स्पष्टतया 'इन्द्रिय-परायण', 'कामकामी' मोघ जीवन से नैतिक जीवन बहुत ऊँचा है; किन्तु नैतिक जीवन ही सर्वोच्च जीवन नहीं है।

यह ठीक है कि नैतिक जीवन की संसिद्धि सात्विक बुद्धि से होती है और सात्विक बुद्धि गुणातीत अध्यात्म ज्ञान एवं आध्यात्मिक जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण सोपान है, अतः नैतिक जीवन का भी तैयारी के रूप में आध्यात्मिक जीवन के साथ एक सम्बन्ध हो सकता है। किन्तु गीता के अनुसार इसकी अनिवार्यता नहीं है; उसमें स्पष्ट घोषणा है कि 'अत्यन्त दुराचारी व्यक्ति भी यदि अनन्यभाव से परमात्मा को भजता है तो वह साधु के समान है' (९-३०)। यह भी ठीक है कि बुद्धिमान् व्यक्ति सच्चरित्र होता है, यदि बुद्धिमान् का अभिप्राय सात्विक बुद्धिसम्पन्न व्यक्ति हो तो। सुविधा की दृष्टि से सात्विक बुद्धि को विशुद्ध बुद्धि एवं राजसिक अथवा तामसिक बुद्धि को अशुद्ध बुद्धि समझने का परामर्श दिया जा सकता है। किन्तु इससे गीतोक्त बुद्धि के विशाल अभिप्राय को संकुचित करके उसे केवल सदसद्विवेक की क्षमता नहीं बनाया जा सकता, और न केवल इस सुविधा के लिए बुद्धिवादियों के सिद्धान्त में शुद्धाशुद्ध बुद्धि का द्वन्द्व प्रक्षिप्त किया जा सकता है। अतः सात्विक बुद्धि का नैतिकता से सम्बन्ध मानते हुए भी गीतोक्त बुद्धि का नीति के साथ कोई सार्वभौम, सार्वकालिक, आन्तर सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता।

गीता में लोक-जीवन का तिरस्कार नहीं है। बल्कि उसके विपरीत लोक-संग्रह का आदर्श उपस्थित किया गया है। (३-२०) वहाँ आदेश है कि विद्वान व्यक्ति अनभिज्ञ व्यक्तियों के लिए उदाहरण बने, (३-२५) क्योंकि स्वभावतः श्रेष्ठ जन का ही अनुकरण सामान्य जन करते हैं। (३-२१) लोक-जीवन को यथोचित बनाये रखने का आदर्श प्रमुखतः नैतिक आदर्श है। आध्यात्मिक जीवन शुभाशुभ से अतीत अतिनैतिक जीवन होता है, और यह सम्भव है कि अध्यात्म-ज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति अपनी वाणी अथवा आचरण से सामान्य व्यक्तियों के लौकिक मान-मूल्यों का अतिक्रमण-उल्लंघन करता प्रतीत हो। वस्तुतः उसका व्यवहार लोकोत्तर होगा, किन्तु श्रेष्ठ एवं अनुकरणीय होने के कारण सम्भावना यह है कि सामान्य लोगों की साधारण मान्यताओं में बद्ध चेतना ज्ञानी व्यक्ति की अन्तश्चेतना को तो समझ न पाये, वे केवल बाह्याचरण से कुछ इस प्रकार प्रभावित हो जांय कि सामान्य लोक-परम्परा से विचलित हो जांय। इस दशा को, जिसमें अन्तश्चेतना का तो आरोहण हो नहीं, केवल बाह्य अनुकरण और मतान्तर का प्रचार-प्रसार होने लगे, स्वस्थ दशा नहीं कहा जा सकता। गीता इस प्रसंग में सावधानी का संकेत करती है : "**न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानाँ कर्मसङ्गिनाम्। जीवयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥**" (३-२६) अर्थात् विद्वान् व्यक्ति अनभिज्ञ कर्मरत लोगों में बुद्धि-भेद उत्पन्न न करे, स्वयं ठीक आचरण करता हुआ उन्हें समस्त कर्मों में नियोजित करे। इस सावधानी में निश्चय ही लोक-जीवन और कर्तव्य-नीति के प्रति एक महत्वभाव व्यक्त हुआ है।

किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि गीता का आदेश अध्यात्म-सम्पन्न व्यक्ति को लोकनीति एवं सामाजिक आदर्शों के अधीन रहने के लिए है। कार्य-निवृत्त ज्ञानी का कर्म-प्रवृत्त सामान्य जन के साथ गीता के अनुसार सम्बन्ध यह होगा कि वह ज्ञानी लोक-जीवन के उन्नयन में नायक होगा, उच्चता का उदाहरण बनेगा, क्योंकि उसके ज्ञान से कर्ममय जीवन को भी आलोकित होना है। लोक-जीवन को उसकी साधारण दशा से ऊपर उठाने के महत्कार्य में नैतिकता बहुत बड़ा सोपान है, और उसकी उपयोगिता गीता में

स्पष्टतः व्यक्त हुई है। इतना ही नहीं, नैतिक जीवन का उत्कर्ष, आध्यात्मिक जीवन की साधना में हो, और वह गीता की भाषा में, "दैवी संपदा" से युक्त जीवन बनकर धन्य बन जाय, यह सम्भव है। "दैवी" और "आसुरी" सम्पदा का जो वर्णन और विवेक गीता के सोलहवें अध्याय में हुआ है उसे नैतिक जीवन के समर्थ-सम्पन्न विचार के लिए सूत्र-ग्रन्थ के समान सक्षम माना जा सकता है। उस सबके पर्यवलोकन के आधार पर कहा जा सकता है कि गीता में नीति और बुद्धि का सम्बन्ध यह है कि नीति हमारी बुद्धि को तमोगुणी अवस्थाओं से ऊपर उठने में क्रमशः सहायक होती है और अन्ततोगत्वा सात्विकी बुद्धि नीति को समर्थ एवं सजग बनाती है, जिससे नैतिक जीवन स्वयं अपने ही अतिक्रमण की तैयारी कर सके। **"दैवी सपद् विमोक्षाय"** (१६–५)

आध्यात्मिक साधना में बुद्धि एवं बुद्धि योग :

गीता 'ब्रह्मविद्या' है, 'योगशास्त्र' है, जीवन-व्यापी साधना का ग्रन्थ है। दार्शनिक एवं तात्विक सिद्धान्तों की, अथवा मनोमय मानव-व्यक्तित्व की अथवा लोक-परलोक-जीवन के आदर्शों की चर्चा उसमें उतनी ही है जितनी साधनामय जीवन को यथेष्ट रूप से समझने के लिए और समाधानपूर्वक योगयुक्त जीवन प्राप्त करने की साधना में लग जाने के लिए आवश्यक है। अतएव गीता की साधना में 'बुद्धि' का भी उपयोग एवं नियोजन है।

गीता के अनुसार साधन का व्यापक अभिप्राय है मानव-व्यक्तित्व को—देह-प्राण-मन-बुद्धि को—उसकी योग्यताओं को, क्षमताओं को, क्रियाओं को, समग्रतः परात्पर परम तत्त्व परमात्मा के प्रति, भगवान् के प्रति नियोजित करना। उस सर्वाङ्ग नियोजन के अन्तर्गत बुद्धि का नियोजन विशेष रूप से अनुशीलनीय है।

गीता का आरम्भ अर्जुन की विकट रूप से उलझी हुई समस्याओं से होता है। उन समस्याओं में पाप-पुण्य की समस्या, मृत्यु और कुलनाश की समस्या, धर्माधर्म की समस्या, कार्पण्य की समस्या, सभी सम्मिलित हैं और उन्होंने अर्जुन के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को विषाद से भर दिया है। श्री कृष्ण उसकी इन उलझी हुई समस्याओं का समाधान कई प्रकार से करते हैं। सर्वप्रथम वे विनाशी-अविनाशी तत्त्वों का विवेक करके इस रहस्य का उद्घाटन करते हैं कि देह सदा जन्मने-मरने वाला है, देही 'नित्य' है, अवध्य है। अतः देह-नाश से देही का नाश नहीं होता। इस सत्य को जानकर, इस तत्त्व को समझकर शोक-मुक्त होना और रहना सम्भव है। (२–१३ से ३० तक) कुलनाश की सम्भावना मात्र से शोकातुर अर्जुन के लिए नित्यत्व का यह रहस्योद्घाटन उसकी दो समस्याओं का समाधान कर सकने में समर्थ है, विनाश अथवा मृत्यु की समस्या एवं कुलनाशकारी युद्ध में भागी होने के पाप की समस्या। गीता का स्पष्ट संकेत है कि देही भाव से सुख-दुःख, लाभालाभ, जय-अजय, सभी के प्रति समत्व दृष्टि आजायगी; उस दशा में युद्ध का घातक कर्म पाप-कर्म नहीं होगा। (२–३८) यह दृष्टि और यह भाव वस्तुतः बुद्धि के द्वारा सम्भव विनाशी-अविनाशी-विवेक से समर्थ होगा।

इस प्रसङ्ग में श्री कृष्ण विशेष रूप से बुद्धि की चर्चा करते हैं, और वह चर्चा निश्चित रूप से साधनात्मक चर्चा है। वे कहते हैं :

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्यायुक्तो यथा पार्थ कर्मबंध प्रहास्यसि ।। (२-३६)

अर्थात् "तेरे लिए, हे पार्थ, सांख्य के अन्तर्गत यह 'बुद्धि' बतायी गई, अब योग के अन्तर्गत इसका श्रवण कर, जिस बुद्धि से युक्त होकर तू कर्म-बंधन को काट डालेगा" । 'सांख्य' के अन्तर्गत बुद्धि विवेक शक्ति के रूप में देह-देही तत्त्व के भेद को जान सकती है, और देह तथा देह से सम्बन्धित समस्त क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं से हमें असंपृक्त तथा तटस्थ होने में समर्थ बनाती है । यह बुद्धि का विवेक-ज्ञान है जो आध्यात्मिक साधना में सहायक बनता है । बुद्धि की बोध-क्षमता का यह बहुत बडा उपयोग है; अध्यात्मज्ञान के लिए हमारी बोध-क्षमता की महत् उपलब्धि है ।

गीता की आध्यात्मिक साधना में उसके जीवन-व्यापी विशाल योग में बुद्धि का उपयोग एवं उसका नियोजन केवल विवेक-ज्ञान तक ही सीमित नहीं है । श्री कृष्ण स्पष्टतया कहते हैं "योग के अन्तर्गत उस बुद्धि की साधना को सुन जिससे युक्त होकर तू समस्त कर्म-बंधन को काट देगा ।" बुद्धि की उस साधना में कर्म के आरम्भ का नाश भी नहीं है, उसका विपरीत परिणाम भी नहीं है; इस बुद्धि-धर्म का अल्प मात्र भी महान भय से पार कर देता है ' । (२-४०) बुद्धि की इस साधना में समस्त कर्म योगस्थ होकर करने का आदेश है और 'योग' की परिभाषा बतायी गई है "समत्व" । "**योगस्थः कुरु कर्माणि···· समत्वं योग उच्यते**" । (२-४८) बुद्धि का योग के अन्तर्गत नियोजन करने वाले साधक को गीता बुद्धि युक्त कहती है और बुद्धियोग की विशेष प्रशंसा करते हुए कहती है :

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय । बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ।। (२-४६)
बुद्धि युक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते । तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।। (२-५०)

अर्थात् 'बुद्धि योग से कर्म बहुत ही अवर है, अतः हे धनञ्जय तुम बुद्धि की शरण में जाने की इच्छा करो, फल के लिए कर्म करने वाले तो कृपण होते हैं । बुद्धियुक्त व्यक्ति सुकर्म और दुष्कर्म दोनों को छोड़ देता है, अतः तुम योग में लग जाओ, योग ही कर्मों में कौशल है' ।

स्पष्ट है कि बुद्धियुक्त होना और योगस्थ होकर कर्म करने की इस साधना में बुद्धि की बोधशक्ति का भी नियोजन है, उसकी संकल्प-शक्ति अथवा इच्छा-शक्ति का भी । सांख्य की ज्ञान-साधना में बुद्धि केवल नित्य, निर्विकार आत्म-तत्त्व एवं अनित्य देह-व्यापार का विवेक करके हमें कर्म से असक्त बनाती है और अन्ततः कर्म-संन्यास का संकेत करती है । योग की कर्म-साधना में बुद्धि की बोध-क्षमता न केवल नित्यानित्य का विवेक करती है अपितु वह उस अविनाशी परम-तत्त्व के बोध में भी जगती है जो इस समस्त नश्वर विश्व में ओतप्रोत है । "**अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्**" (२-१७) उसी बोध के नाते वह सभी वस्तुओं में, परिस्थितियों में, अनुभवों में 'सम रहती है, समदर्शन करती है; समस्त सृष्टि-व्यापार को वह भगवद्विधान के अधीन, उसीके अन्तर्गत देखती है । अतः बुद्धि की संकल्प-क्षमता, उसकी इच्छा-शक्ति, परमेश्वर के अधीन होकर भगवदिच्छा के प्रति, उसीके सर्वसमर्थ विधान को सर्वशः चरितार्थ करने के लिए नियोजित हो जाती है । परिणामतः समस्त कर्म उसी चेतना से निष्पन्न होते हैं । तब कर्म-संन्यास से कर्म-योग

विशेष हो जाता है। कर्म का बंधन उस दशा में नहीं होता क्योंकि उसमें फल की आकांक्षा नहीं होती, समस्त कर्म परमेश्वर के प्रति निवेदित हो जाते हैं। बुद्धियुक्त मनीषीगण कर्म-फल का त्याग कर मुक्त रहते हैं और अनामयपद की प्राप्ति करते हैं। (२-५१)

योगयुक्त बुद्धि की अथवा बुद्धि-योग की प्रशंसा सुनकर अर्जुन उस स्थित-प्रज्ञ योगी के प्रत्यक्ष लक्षणों को जानने के लिए उत्सुक होता है और पूछता है कि व्यावहारिक जीवन में वह किस प्रकार बोलता है, किस प्रकार उठता-बैठता है, किस प्रकार चलता-फिरता है। श्रीकृष्ण प्रत्युत्तर में केवल आन्तर लक्षणों की चर्चा करके उसका समाधान करते हैं। उनमें बुद्धि का समत्व एक विशेष लक्षण है : "दुःख में अनुद्विग्न होना, सुख में विगत-स्पृह होना, रागमय क्रोध से मुक्त होना, सर्वत्र अनभिस्नेह रहना, शुभाशुभ में हर्ष-विषाद अथवा द्वेष से रहित रहना प्रसन्न-चित्त बने रहना"। (२-५६, ५७)

बुद्धि का यह 'समत्व' और उसकी संकल्प-समर्थ बोध-क्षमता साधारण चिन्तन-विवेचन की मनोमयी चेतना में नहीं, उससे ऊपर आत्मचैतन्य के प्रति उन्मुख और उसके प्रकाश से प्रकाशित 'प्रज्ञा' में है। वह प्रज्ञा, वह बुद्धि, योगलब्ध होती है, तर्क-चिन्तन से प्राप्त नहीं होती : "नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य' .... (२-६६)। निश्चय ही उस प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए इन्द्रियों से तथा मन से ऊपर उठना होता है, रागद्वेष से मुक्त होकर निष्काम होना होता है। गीता-निर्दिष्ट यह निष्कामता केवल चिन्तनात्मक निष्पक्षता अथवा विवेकशीला चेतना की अनासक्ति मात्र नहीं है, वह इन दोनों से श्रेष्ठ एक ऐसी योगोन्मुखी अथवा योग-युक्त दशा है जिसमें बोध-शक्ति एवं संकल्प-शक्ति का परमात्म तत्त्व के प्रति उद्घाटन होता है और जिसमें ज्ञान और समत्व की दुर्लभ प्राप्ति होती है। इस योग का साधक **"यतेन्द्रिय मनो बुद्धि"** होता है, (५-२८) **"स्थिर बुद्धि"** होता है, (५-२०) **"तद्बुद्धि"** होता है, (५-१७)। योग-युक्त बुद्धि सर्वथा चिन्तनातीत होती है : **'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्"** (६-२५)। तभी वह आत्म-ज्योति से अवलोकित हो पाती है, आत्म-ज्ञान की उपलब्धि के लिए नियोजनीय बनती है।

अध्यात्म ज्ञान के प्रति उन्मीलित अथवा योगयुक्त बुद्धि स्वभावतः **'असक्त बुद्धि'** होती है और उसके द्वारा जितात्मा साधक ब्रह्मज्ञान की परानिष्ठा को प्राप्त करने में समर्थ होता है। (१८-३६, ४०) निश्चय ही यह ब्रह्म-ज्ञान दर्शनशास्त्रियों का अथवा शास्त्रार्थियों का चिन्तन-व्यापार नहीं होता, अपरोक्ष ज्ञान होता है। लोकनीति, सर्जननीति, धर्म इत्यादि मान्यताओं का अथवा उनसे सम्पादित आचरणों, मनोमयता का इस ज्ञानावस्था में अति-क्रमण हो जाता है।

इतना ही नहीं, गीता में बुद्धि की ऊर्ध्वगति एक ऐसे समन्वित योग की ओर भी होती है जिसमें योगी का परात्पर तत्त्व के साथ, पुरुषोत्तम के साथ, सर्वाङ्ग सायुज्य, ज्ञानात्मक सायुज्य, प्रेमात्मक सायुज्य—सम्भव होता है। उस सन्दर्भ में मूलभूत सैद्धान्तिक सत्य यह है कि तत्त्वतः 'बुद्धि' स्वयं भगवत्तत्त्व ही की अभिव्यक्ति है। श्री कृष्ण उत्तम पुरुष की वाणी में अपने स्वरूप का उद्घाटन करते हुए इस सत्य की घोषणा करते हैं कि यह जगत् वस्तुतः उनकी अभिव्यक्ति है, वे ही इसमें अनुस्यूत हैं। विस्तार से इस सत्य का कथन करते हुए वे स्पष्टतः कहते हैं, **"बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्"** (७-१०)

अर्थात् बुद्धिमानों की बुद्धि मैं हूँ, तेजस्वियों का तेज भी में ही हूँ"। अन्यत्र वे कहते हैं कि जितने भी अन्तर्भाव हैं वे सब उन्हीं से उद्भूत हैं। उन अन्तर्भावों में बुद्धि की गणना सर्वप्रथम की गयी है :

"बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।....भवन्ति भावा भूतानाँ मत्त एव पृथग्विधा"
(१०–४, ५)

अतः भगवत्तत्त्व के साथ बुद्धि का जो स्वरूपभूत, मूलभूत अथवा तात्त्विक ऐक्य है, योग के द्वारा उसीकी सिद्धि सर्वाङ्ग सायुज्य में होती है।

श्री कृष्ण अपने तात्त्विक स्वरूप एवं अपनी ही विश्वात्मक अभिव्यक्ति का उद्घाटन विभिन्न प्रकार से करते हैं। वे सर्वस्व हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वकर्त्ता हैं, सबके हृदय में स्थित सबके नियन्ता हैं, स्वामी हैं। अपने स्वरूप के एक और भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सत्य का वे उद्घाटन करते हैं, वह यह है कि वे जगत् के सुहृद् हैं, शरण हैं, भर्ता हैं, माता-पिता हैं :

"पिताहमस्य जगतो माता पितामहः ।····गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्····"
(९–१७, १८)

स्वभावतः इसी सत्य पर हमारी समस्त भक्ति और प्रेम की साधना आधृत है। भक्ति का अभिप्राय केवल औपचारिक विधि के अनुरूप कुछ क्रियाएँ मात्र नहीं, अपनी सर्वाङ्ग वैयक्तिक सत्ता से भगवान् को प्यार करना है। 'भगवत्तत्त्व की शरण' एवं 'सुहृद्' होने के मार्मिक सत्य एवं भक्ति की साधना के परिप्रेक्ष्य में उस परमेश्वर पुरुषोत्तम के प्रति बुद्धि का भी निवेदित हो जाना गीता के योग का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग होगा।

बुद्धि को सामान्यतः बोध अथवा ज्ञान का ही उपकरण समझा जाता है। किन्तु गीता के बुद्धि-योग में यह उद्घाटित होता है कि वह बोध के साथ-साथ निश्चय, निर्णय एवं संकल्प का भी उपकरण है। इसी कारण कर्म-योग की साधना में भी ज्ञान-योग के समान बुद्धि का विशेष महत्त्व है। परन्तु गीता के विशाल और जीवन-व्यापी योग में एक और भी अद्भुत् उद्घाटन यह होता है कि बुद्धि भक्तिभाव का भी साधन है, अथवा कम से कम वह भक्त के सर्वभावेन शरणागत होने में एक सहयोगिनी सहायक क्षमता तो निश्चित रूप से है ही। गीता की योग-साधना में विशुद्ध बुद्धि से भक्ति भाव और प्रीतिका पोषण होता है, "**बुद्ध्या विशुद्धया**····" (१८–५१), और प्रतिपूर्वक भगवद्भक्ति से युक्त साधक को उस बुद्धि योग का लाभ होता है जिससे भगवत्प्राप्ति होती है। गीता की स्पष्ट वाणी है :

"एवं सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् । ददामि बुद्धि-योगं तं येन मामुपयान्ति ते ।।"(१०-१०)

अर्थात् 'इस प्रकार नित्य निरन्तर युक्त हुए प्रीतिपूर्वक भजने वाले योगियों को मैं वह बुद्धि-योग प्रदान करता हूँ जिससे वे मुझ को प्राप्त करते हैं, मेरे निकट आते हैं।'

गीता में वस्तुतः बुद्धि के भी भगवान् के प्रति समर्पित होने की बात सर्वथा स्पष्ट रूप से कही गयी है। अर्जुन को सर्वाङ्ग समन्वित साधना के अन्तर्गत, अपने प्रति सर्वशः नियुक्त करने के लिए, अपने में ही सन्निविष्ट बनाने के लिए श्री कृष्ण का उपदेश है :

"मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेश य । निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः" ।।
(१२-८)

अर्थात् मुझ में ही अपने मन को आधृत कर, मुझ में ही बुद्धि को सन्निविष्ट बना; तब तू मुझ में ही निवास करेगा, इसमें कोई संशय नहीं है। पुनरपि, अपने प्रिय भक्त का लक्षण बताते हुए पुरुषोत्तम श्री कृष्ण कहते हैं :

"मय्यर्पित मनो बुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः" (१२-१४)

अर्थात् 'जिसका मन और बुद्धि मेरे अर्पित हैं वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।'

इस प्रकार बुद्धि को योग-युक्त बनाने की साधना समग्र चेतना को भगवदुन्मुखी बनाने में सक्षम है। चेतना का सर्वतोभावेन भगवन्मय हो जाना गीता के योग का उद्देश्य है, अतः श्री कृष्ण का आदेश है : **"बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव"** (१८-५७) अर्थात् बुद्धि-योग का आश्रय करके निरन्तर मुझ से युक्त चित्त वाला बन। स्पष्ट है कि गीता में बुद्धि का प्रसङ्ग अत्यन्त विशाल है। साधना की भूमिका में उसका अर्थ और उसका उपयोग सामान्य व्यवहार एवं आचरण की भूमिकाओं से विशेषतः ऊपर है। गीता की साधना सर्वाङ्ग समन्वयी योग है। बुद्धि-साधना—बुद्धि योग के भी विविधाङ्ग हैं। मानव व्यक्ति की सर्वोपरि क्षमता होने के नाते बुद्धि बोध-सक्षम, संकल्प-सक्षम तथा भाव-सक्षम है। अतः गीता के कर्म-ज्ञान-भक्ति योग त्रय में बुद्धि का विशेष विनियोग है।

श्री अरविन्द आश्रम, पांडिचेरि-२

काश्मीर शैवमत की परीक्षा

संगमलाल पाण्डेय

१. प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का द्विविध मूल्यांकन :

आज से लगभग ३० वर्ष पूर्व माना जाता था कि काश्मीर शैवमत अद्वैत वेदान्त से अवर है। किन्तु अब यह प्रवाद दिनानुदिन प्रचलित होता जा रहा है कि काश्मीर शैवमत अद्वैत वेदान्त से उच्चतर है। इसे त्रिक दर्शन, स्पन्द-दर्शन, प्रत्यभिज्ञा-दर्शन, ईश्वराद्वयवाद, स्वातन्त्र्याद्वैतवाद, शिवाद्वैतवाद आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है। ये नामकरण इस दर्शन के विभिन्न सिद्धान्तों का उद्‌घाटन करते हैं जिनको लेकर कहा जाता है कि इनके परिप्रेक्ष्य में काश्मीर शैवमत अद्वैतवेदान्त से उत्कृष्टतर है। यहाँ हम अपने विवेचन के लिए काश्मीर शैवमत को स्वतंत्राद्वैत और अद्वैतवेदान्त को अद्वैतवाद के नामों से सम्बोधित करेंगे और उन बिन्दुओं का पर्यवेक्षण करेंगे जिनमें स्वतन्त्राद्वैत को अद्वैतवाद से श्रेष्ठतर माना जा रहा है।

जिन दार्शनिकों ने अद्वैतवाद को स्वतन्त्राद्वैत से श्रेष्ठतर प्रतिपादित किया था उनमें **सर्वदर्शन संग्रह** के लेखक माधवाचार्य (१२०० ई०) और **महिम्नस्तोत्र** के टीकाकार मधुसूदन सरस्वती (१६०० ई०) अग्रगण्य हैं। इन दोनों दार्शनिकों ने भारत के सभी दर्शनों का समन्वय एक तार्किक क्रम में किया था जिसमें प्रमुख दृष्टि समन्वयवाद के अतिरिक्त आत्मवाद और कार्य-कारणावाद की है। माधवाचार्य ने चार्वाक-दर्शन से लेकर अद्वैतवाद तक १६ दर्शनों की एक आनुपूर्वी आत्मा की स्थूलता-सूक्ष्मता तथा कार्य-कारणावाद के आधार पर बनाई थी जिसमें प्रत्यभिज्ञा-दर्शन को उन्होंने वैष्णव दर्शनों के अनन्तर और न्याय-वैशेषिक दर्शन के पूर्व रखा था। उनका तात्पर्य था कि प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का दार्शनिक स्तर अधिक से अधिक न्याय-वैशषिक दर्शन का स्तर है क्योंकि इन दोनों में आत्मा को स्वभावतः ज्ञाता, भोक्ता तथा कर्ता माना जाता है, इससे उच्चतर स्तर का दर्शन सांख्य-योग है जो आत्मा को ज्ञाता तथा भोक्ता तो मानता है किन्तु कर्त्ता नहीं मानता। फिर उससे भी उच्चतर अद्वैतवाद है जो आत्मा को केवल ज्ञाता मानता है, कर्त्ता और भोक्ता नहीं। फिर अन्त में अद्वैतवाद ज्ञाता को भी ज्ञान से अभिन्न करता है और इस कारण वहां आत्मा परमार्थतः ज्ञाता भी न होकर केवल ज्ञान है। अद्वैतवाद के दृष्टिकोण से कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व विकल्प या विषय हैं जिनको ज्ञान से अभिन्न नहीं किया जा सकता। वे ज्ञान या चित्त में भासित होते हैं और उसके लक्षण न होकर केवल उपलक्षण हैं। इस प्रकार जो दर्शन निर्विकल्प चित्त को परम तत्त्व मानता है वही परमार्थ दर्शन है और अन्य दर्शन उस तक पहुंचने के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए सोपान हैं। चूंकि

स्वतन्त्राद्वैत आत्मा को स्वभावतः कर्त्ता एवं ज्ञाता मानता है अतः माधवाचार्य ने उसका जो मूल्यांकन किया है वह आपाततः सत्य प्रतीत होता है। किन्तु इस विषय में स्वतन्त्राद्वैत की विवेचना हम अभी और आगे करेंगे अभी हम मधुसूदन सरस्वती के मूल्यांकन को भी इस प्रसंग में प्रस्तुत करना चाहते हैं। उन्होंने स्वतन्त्राद्वैत का जो मूल्यांकन किया है वह न्याय-वैशेषिक-स्तर से उच्चतर है और सांख्य-योग के स्तर पर है। उनके मत से स्वतन्त्राद्वैत सांख्य दर्शन की भांति परिणामवाद को मानता है तथा आरम्भवाद और विवर्तवाद का खण्डन करता है। इस कारण स्वतन्त्राद्वैत आरम्भवाद और विवर्तवाद के मध्य में है। मधुसूदन सरस्वती के दृष्टिकोण में परिणामवाद की पराकाष्ठा विवर्तवाद में होती है जो परिणामवाद की परवर्ती भूमिका है। परिणामवाद कार्य और कारण के बीच अव्यक्त-व्यक्त का सम्बन्ध मानता है और विवर्तवाद उसके स्थान पर अनन्यता को मानता है। इस प्रकार कार्य कारण का संस्थान मात्र है। इस दृष्टि से निःसन्देह अद्वैतवाद उन सभी दर्शनों से अधिक गहरा है जो कार्य और कारण के बीच अनन्यता के अतिरिक्त कोई अन्य सम्बन्ध मानते हैं। कारण का संप्रत्यय जितना अद्वैतवाद के विवर्तवाद में परिष्कृत हुआ है उतना आरम्भवाद तथा परिणामवाद में नहीं, क्योंकि विवर्तवादी आधुनिक विज्ञान-दर्शन की ही भांति मानता है कि कार्य-कारण का सम्बन्ध फलनात्मक (फन्कशनल) मात्र है, अर्थात् वह द्रव्यात्मक न होकर मात्र गुणात्मक है। स्वतन्त्राद्वैत मयूराण्डरस-न्याय के आधार पर समस्त सृष्टि को शिव में अव्यक्त रूप से विद्यमान मानता है और सृष्टि को शिव की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के रूप में प्रतिपादित करता है। इस दृष्टि से यद्यपि उसका सिद्धान्त सांख्य के प्रकृति-परिणामवाद से कुछ भिन्न है तथापि वह वैष्णवों के ब्रह्म-परिणामवाद से मिलता-जुलता शिव-परिणामवाद ही है। इसलिए यदि मधुसूदन सरस्वती ने कार्य-कारणवाद के आधार पर काश्मीर शैवमत और वैष्णव मत को समकक्ष माना और दोनों को ब्रह्म-विवर्तवाद से अवर समझा[१] तो उनकी समझ में आपाततः कोई त्रुटि नहीं दिखलाई देती है। अन्त में समन्वय की दृष्टि से अद्वैतवेदान्त आगमिक-नैगमिक, आस्तिक-नास्तिक सभी दर्शनों को जिस प्रकार एक सूत्र, क्रम या सोपान-पद्धति में रखता है उस तरह स्वतन्त्राद्वैत नहीं करता है क्योंकि वह वेदों से अधिक आगमों का तथा बौद्ध जैन दर्शनों का या श्रमण-परम्परा के दर्शनों का तिरस्कार करता है। अतः समन्वय की दृष्टि से भी स्वतन्त्राद्वैत का महत्व अद्वैतवाद से कम है।[३] वह समस्त भारतीय दर्शनों का समन्वय नहीं कर सका है, नहीं कर सकता है। जिस प्रकार अद्वैतवाद के नेतृत्व में सभी दर्शनों का विकास हुआ है उस प्रकार स्वतन्त्राद्वैतवाद के नेतृत्व में नहीं।

परन्तु इतना होते हुए भी आधुनिक मनीषी पं० गोपीनाथ कविराज ने यह चण्डमारुत प्रवाहित किया है कि स्वतन्त्राद्वैत अद्वैतवाद से भी अधिक कट्टर अद्वैत दर्शन है और उसकी तुलना में अद्वैत वेदान्त अवर है।[४] उनकी मान्यता है कि अद्वैतवाद का अद्वैत असत्-कल्प है, प्रच्छन्न रूप से वह द्वैत है और काश्मीर शैवमत की अपेक्षा दुर्बल है। इसी प्रकार डा० कान्तिचन्द्र पाण्डे मानते हैं कि स्वतन्त्राद्वैत महाद्वैत है।[५] अर्थात् वह शांकर अद्वैतवाद से भी महान् है और शंकर का ब्रह्म स्वतन्त्राद्वैतवाद का सदाशिव तत्त्व

है जिसके परे जाकर परमार्थ या शिव शक्ति का सामरस्य है।[६] उनका तात्पर्य है कि यद्यपि अद्वैतवाद ने ब्रह्म का लक्षण सच्चिदानन्द किया तथापि उसका ब्रह्म केवल शुद्ध सत् है। सत् से ऊपर चित् है जिसे शिव कहा जाता है और शिव से ऊपर शक्ति है जिसे आनन्द कहा जाता है। इस प्रकार स्वतन्त्राद्वैत सत्, चित् और आनन्द में क्रमशः उत्तरोत्तर उच्चता का सम्बन्ध मानता है जबकि अद्वैतवाद सत्, चित् और आनन्द को केवल एकार्थक मानता है। फिर इन्हीं लोगों के स्वर से अपना स्वर मिलाते हुए शिवजीवन भट्टाचार्य शंकर के आत्मवाद में कुछ ऐसी कठिनाइयाँ दिखलाते हैं जो प्रत्यभिज्ञा दर्शन में नहीं हैं।[७] उनका तात्पर्य है कि आत्मा को प्रकाश-विमर्शमय मानने के कारण प्रत्यभिज्ञा-दर्शन अद्वैतवाद से अधिक निरापद है और अद्वैतवाद आत्मा को केवल प्रकाश या स्वप्रकाश मानने के कारण विषय-वैचित्र्य की व्याख्या नहीं कर सकता। इन सभी विद्वानों ने वास्तव में सोमानन्द (८५० ई०), उत्पल (९०० ई०), अभिनवगुप्त (९६० ई०), क्षेमराज (१०५० ई०), जयरथ (११८० ई०), महेश्वरानन्द (१४०० ई०), भास्कर कण्ठ (१७८०) आदि शैवाचार्यों की युक्तियों को पुनरुज्जीवित किया है और स्वतन्त्राद्वैत को अद्वैतवाद से उत्कृष्ट सिद्ध किया है। यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त शैवाचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में जिन युक्तियों से स्वयं स्वतन्त्राद्वैतवाद को अद्वैतवाद से अधिक श्रेष्ठ दिखलाया है उन्हीं का पिष्टपेषण या परिष्कार आधुनिक मनीषीगण कर रहे हैं। उनके प्रतिपादन में कोई नया चिन्तन नहीं है वरन् एक प्राचीन परम्परा का जीर्णोद्धार है।

परन्तु स्वतन्त्राद्वैत को अद्वैतवाद के ऊपर प्रतिष्ठित करने का उनका प्रयास अविचारित रमणीय है, क्योंकि जिन युक्तियों के आधार पर ऐसा किया जा रहा है वे क्षोद क्षम नहीं हैं। उनके खण्डन की दिशा का पूर्ण निर्देश माधवाचार्य और मधुसूदन सरस्वती ने कर दिया है जिसकी उपेक्षा करके स्वतन्त्राद्वैतवाद का समर्थन आधुनिक युग में करना अविचारित तथा भग्नमूर्ति की पूजा है। पुनश्च, द्वैतवाद-अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद-अद्वैतवाद और न्यायदर्शन-अद्वैतदर्शन के मध्य जो खण्डनम-ण्डन का विपुल साहित्य उपलब्ध है उसमें उन सभी युक्तियों का खण्डन है जिसके आधार पर आज यह बवंडर उठाया जा रहा है कि स्वतन्त्राद्वैत अद्वैतवाद से अधिक युक्तियुक्त है। किन्तु हम यहाँ इस समस्त खण्डन-साहित्य का विवेचन नहीं करेंगे और अपने को केवल उन प्रमुख युक्तियों तक सीमित रखेंगे जो शैवाचार्यों ने दी हैं और जिनका अनुदान तथा अनुकरण आधुनिक मनीषीगण कर रहे हैं।

२. अद्वैतवाद की प्रच्छन्न स्वीकृति :

काश्मीर शैवाचार्यों के ग्रन्थों का अनुशीलन करने से पता चलता है कि यद्यपि उन्होंने अद्वैतवाद का खण्डन करने में भगीरथ प्रयत्न किया तथापि कुटीप्रभात न्याय से अन्ततोगत्वा वे अद्वैतवाद की ही शरण में पहुंच गये। निर्विकल्पक चित्, मायावाद, अविद्या, उपाधि आदि अद्वैत वेदान्ती सिद्धान्तों को माने बिना वे अपने स्वतन्त्राद्वैत का निर्वाह नहीं कर सके। अतः उनका शैवमत अद्वैतवाद का ही एक विशेष और शायद महत्वपूर्ण प्रस्थान मात्र रह गया।

उपर्युक्त दृष्टिकोण की सच्चाई का पता लगाने के लिए अब हम प्रत्यभिज्ञा दर्शन के तत्त्ववाद का विवेचन करेंगे। यद्यपि प्रत्यभिज्ञा दर्शन में शिव से लेकर पृथ्वी तक कुल ३६ तत्त्व माने गये हैं तथापि ये सभी तत्त्व-पदार्थ प्रमेय या सामान्य कहे गये हैं।[८] इसका तात्पर्य है कि ये ३६ तत्त्व वर्ग-रूप हैं और इनसे परे परम शिव है जो तत्त्वातीत या वर्गातीत हैं। यह परम शिव अनुत्तर, अनाश्रित तथा अविकल्प है। प्रत्यभिज्ञा के बल से वह अपने सामान्य स्वभावगत भेदों को प्राप्त करता है जिन्हें ३६ तत्त्व की संज्ञा दी गई है।[९] शिव से लेकर पृथ्वी तक यही परम शिव स्त्यानता के तारतम्य में विद्यमान है। स्त्यानता का तात्पर्य वेदक-वेद्य भाव या ज्ञातृज्ञेय भाव की स्थूलता है। प्रत्येक तत्त्व यथार्थतः वेदक और वेद्य दोनों है। शिव में प्रमातृत्व की सर्वाधिक मात्रा तथा वेद्यता की सर्वाधिक न्यूनमात्रा है और पृथ्वी में प्रमातृत्व की न्यूनतम तथा वेद्यता की सर्वाधिक मात्रा है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा-दर्शन यथार्थता का तारतम्य मानता है, जैसे हेगल तथा ब्रैडले के दर्शनों में है। सभी तत्त्वों में उनके तारतम्य में एक ही परम शिव है जो मूलतः तत्त्वातीत है। वह पदार्थ नहीं किन्तु पदार्थात्मा है। उसमें वेद्यता का पूर्ण अभाव और प्रमातृत्व का पूर्ण भाव है। यही परम शिव अद्वैतवाद का ब्रह्म है। शैव आचार्यों ने ब्रह्म की तुलना इस परम शिव से न करके सदाशिव से की है जो शिव तथा शक्ति के सामरस्य से आविर्भूत तत्त्व है। किन्तु यह उनकी अर्थान्तर कल्पना है। वास्तव में जिसको वे परम शिव कहते हैं वह उनके ३६ तत्त्वों से परे है। उसे मात्र विमर्श-स्पन्द या स्फूर्ति रूप से मानते हैं। इसलिए वे उसको ३७वां तत्त्व भी कहते हैं। किन्तु विमर्श, स्पन्द या स्फूर्ति भी अविकल्प है। इसलिए कुछ आगमों में उसे ३८वां तत्त्व भी कहा गया है।[१०] कुछ भी हो, ३६ तत्त्वों के अतिरिक्त ३७वें तत्त्व और उससे भी आगे जाकर ३८वें तत्त्व की खोज बताती है कि वास्तव में काश्मीर शैव मत के आचार्यगण उसी परमतत्त्व की खोज कर रहे हैं जिसे अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म कहा जाता है। विश्वमय होते हुए भी वह स्वभावतः विश्वोत्तीर्ण है और उसकी खोज जिस प्रकार की जाती है उसमें विश्वोत्तीर्णता का पर्याप्त उपयोग है जो मूलतः अद्वैतवाद की 'नेति नेति पद्धति' है। इसी आधार पर हम उसे परात्पर कहते हैं। यदि इस परात्परता का सम्यक् बोध शैव आचार्यों को होता तो वे अद्वैतवाद के खण्डन में रस न लेते। वस्तुतः वे अपने तत्त्व-ग्राम से हट करके अद्वैत विद्या मन्दिर में प्रवेश कर रहे हैं।

पुनश्च, जब वे स्पन्द या स्वतन्त्रता को परम तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं तो वे परात्परता के अपने ही तर्क से हट जाते हैं और जो स्पन्द या स्वतन्त्रता एक वर्ग या पदार्थ है उसे वे पदार्थात्म समझ बैठते हैं। वे विकल्प को अविकल्प मान लेते हैं। महेश्वरानन्द कहते हैं—वेदिता-वेद्य, शक्तिमान्-शक्ति, पति-पाश, भवन्-भाव, दृग्-दृश्य, पुरुष-प्रकृति, आत्मा-शरीर, अन्तः-बहि, प्रत्यक्-पराक्, सत्य-असत्य इत्यादि विकल्प-व्याकोप हैं जो प्रौढ़ पुरुषों की कल्पना में आरूढ़ रहते हैं। परम तत्त्व अविकल्प है और इस समस्त अर्थ-मण्डल को देखता है।[११] इस तर्क-पद्धति का निर्वाह यदि महेश्वरानन्द करते तो उन्हें सामरस्य-दृष्टि को छोड़ना पड़ता और अद्वैतवेदान्त को स्वीकार करना पड़ता। आश्चर्य है कि इतना मानते हुए भी वे कहते हैं कि अद्वैतवाद द्वैतवाद में बदल जाता है क्योंकि

वह सत्य-असत्य की व्यवस्था और हेयोपादेय-कल्पना को मानता है।[१२] उनके मत से अद्वैतवाद में ब्रह्म सत् और उपादेय है तथा माया असत् तथा हेय। अतः वे अपने ईश्वराद्वयवाद को अद्वैतवाद से अधिक श्रेष्ठ बतलाते हैं। परन्तु क्या उनकी आलोचना ठीक है ? क्योंकि जब ब्रह्म-ज्ञान होता है तो माया-ज्ञान नहीं रहता है और जब माया-ज्ञान रहता है तब ब्रह्म-ज्ञान नहीं होता है। अतः कहां द्वैतवाद है ? पुनश्च, माया न तो सत् है और न असत्, न दोनों। वह अभाव भी नहीं है, भाव भी नहीं है, दोनों भी नहीं है। अतः ब्रह्म के समकक्ष माया को एक पदार्थ मानना महेश्वरानन्द की निजी कपोलकल्पना है। इस कल्पना से उनका मानसिक सन्तुलन इतना भंग हो जाता है कि वे शांकर वेदान्त को द्वैतवेदान्त ही नहीं अपितु पाशव वेदान्त तथा माया-वेदान्त तक कह डालते हैं, जिसे उनका अनर्गल प्रलाप ही कहा जायगा। यदि वे अपने उस तर्क को ध्यान में रखते जिसके अनुसार परम तत्त्व शक्तिमान्-शक्ति के विकल्प-व्याकोप से परे है तो वे ऐसी भूलें न करते। किन्तु और अधिक आश्चर्य तब होता है जब पं० गोपीनाथ कविराज महेश्वरानन्द के चण्डमारुत के चक्कर में पड़कर कहते हैं कि "ब्रह्म सत् तथा माया मिथ्या है, ऐसा कहने पर प्रकारान्तर से द्वैतभाव आ ही जाता है। जिस अवस्था में माया मिथ्या है उस अवस्था में ब्रह्म भी मिथ्या है क्योंकि माया को मिथ्या अनुभव करते ही माया की सत्ता को स्वीकार करना अपरिहार्य हो जाता है और माया को स्वीकार करने से ही उस अवस्था में जो बोध होता है वह माया-कल्पित वस्तु है।"[१४] यह है कविराज जी की स्वयं की वाचाटदुर्विद्या जिसका आरोप वे शांकर अद्वैतवाद पर करते हैं। तनिक ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जब हमें रस्सी का ज्ञान हो जाता है तब सर्प का ज्ञान शेष नहीं रहता है। तब हमें यह बोध होता है कि जो सर्प हमने भ्रम-अवस्था में देखा था वह वास्तव में त्रिकाल-असत् है। हम कैसे कह सकते हैं कि सर्प के मिथ्यात्व को स्वीकार करते ही हमें सर्प की सत्ता को स्वीकार करना अनिवार्य है या जिस अवस्था में सर्प मिथ्या है उसी अवस्था में रस्सी भी मिथ्या है ?

परन्तु जिस मायावाद के खण्डन में शैवाचार्य लगे हैं क्या वे उससे दूर जा सके हैं ? यदि इस प्रश्न का उत्तर खोजा जाय तो निश्चित रूप से कहना होगा कि जिस शक्ति को शैवाचार्य स्वातन्त्र्य, स्पन्द या विमर्श नाम देते हैं वह शब्दतः तथा अर्थतः वही है जो अद्वैतवाद की माया है। वह दुर्घटकारिणी, भेद-प्रभेद-वैचित्र्य के उत्पादन में प्रवीण शिव की आवरण-शक्ति तथा माया कही गयी है।

परमं यत् स्वातन्त्र्यं दुर्घटसम्पादनं महेशस्य।
देवी माया शक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैतत् ॥१५॥

इस पर यदि सन्देह हो कि यह माया अद्वैत की माया से भिन्न है क्योंकि अद्वैत की माया अविद्या तथा औपाधिक है और शैवों की माया वास्तविक तथा स्वाभाविक है तो जरा निम्न विचारों की बानगी लीजिए जिनमें शैवाचार्य स्वयं शक्ति को अविद्या तथा उपाधि से अनिवार्यतः जोड़ते हैं—

(क) अभिनव गुप्त कहते हैं कि सृष्टि का हेतु अज्ञान है तथा मोक्ष का कारण ज्ञान है—

अज्ञानं संसृतेर्हेतुर्ज्ञानं मोक्षैककारणम् ।[१६]

इसी प्रकार उनके अनुसार शक्ति प्रमाता शिव द्वारा कल्पित है[१७] और फल-भेद के अनुसार आरोपित है तथा नाना शक्तियों का भेद पारमार्थिक नहीं है ।[१८] उनका फलनात्मक शक्तिवाद अद्वैतवाद के विवर्तवाद के निकट है ।

(ख) जयरथ कहते हैं कि स्वातन्त्र्य शक्ति ही विशेष एषणीय (वांछनीय) उपाधियों के कारण नाना रूप धारण करती है ।[१९] वे पुनः कहते हैं कि जो भाव्यमान है वह कल्पित है और इस प्रकार शिव के द्वारा होने वाली जो आद्य वेद्यता या प्रमेयता है वह सिद्ध वस्तु की तरह अवभासित होती है—भाव्यमानत्वादिना कल्पितेन भेदेन सृष्टः प्रमेयतामापादित इव अवभासते[२०] । स्पष्ट है कि इस प्रकार जो आद्यवेद्यता है वह वास्तविक नहीं है । पुनश्च, वे कहते हैं कि यह नानात्व औपचारिक है । इसे फल-भेद भी नहीं कहना चाहिए और यदि फल-भेद भी कहा जाय तो फिर इसे अयथायथ मानना चाहिए—

सर्वमेतत्प्रवृत्यर्थं श्रोतॄणां तु विभेदतः ।
अर्थभेदात्तु भेदोऽयमुपचारात्प्रकल्प्यते ।।
फलभेदो न कल्प्योऽत्र कल्प्यश्चेदयथायथम् ।[२१]

फिर शक्ति और शक्तिमान् का सम्बन्ध प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में धर्म धर्मिभाव नहीं है अपितु द्वार-द्वारिभाव तथा उपाय-उपेयभाव है । मूलतः यह सम्बन्ध औपाधिक है, इसकी स्वीकृति जयरथ ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में की है । "नैवमिह शक्तितत्प्तोर्धर्म-धर्मिभावः कश्चिद् अभिधीयते । पर एव हि स्वतन्त्रोबोधस्तत्तदुपाधिवशात् तत्तच्छक्तिरूपतया व्यपदिश्यते इति न वस्तुतः कश्चित् शक्तितद्वतोर्भेदः ।"[२२] वास्तव में अद्वैतवाद की तरह प्रत्यभिज्ञा-दर्शन संवित् को निरवयव एवम् अखण्ड प्रकाशरूप मानता है ।[२३] अतः यदि शिव निरवयव है तो वह अवश्य ही स्वगत-भेद से रहित है । इसलिए उसके अन्दर जो अनन्त शक्तियों की कल्पना की जाती है और जिसके मूल को सरंभ या स्वातन्त्र्य का नाम दिया जाता है उसका लक्षण वस्तुतः अतिदुर्घटकारी है । वह अनाख्या है, एक तथा अनेक, क्रम तथा अक्रम और स्व तथा पर आदि को जन्म देने वाली होने के कारण इन कोटियों से परे है । वह कोई पदार्थान्तर नहीं है वरन् शिव का स्वयं का स्वरूप है जो फल-भेद के कारण आरोपित है—यतो भावस्य यस्य कस्यचन सतः पदार्थस्य स्वमेव रूपम् फलभेदात् भेदारोपेण शक्तिः इति प्रमातृभिः परिकल्पते न त्वसौ वस्तुनः पदार्थान्तरं किंचित् ।[२४]

इस प्रकार भेद आरोपित, औपाधिक या अविद्यामय है[२५] और अनिवार्यतः शिव का स्वरूप नहीं है । इससे स्पष्ट है कि स्वतन्त्राद्वैत जिसे शक्ति कहता है वह अद्वैतवाद की माया ही है । परन्तु यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि काश्मीर शैव मत में यह माया शिव का लक्षण है और अद्वैतवाद में वह शिव का उपलक्षण है । यह आपत्ति अपनी जगह पर ठीक प्रतीत होती है । किन्तु इस दृष्टि से विचार करने पर अद्वैतवाद स्वतन्त्राद्वैत से

अधिक सुसंगत सिद्ध होता है क्योंकि स्वतन्त्राद्वैत माया को शिव का स्वाभाविक लक्षण मानते हुए भी अज्ञान तथा उपाधि के संप्रत्ययों के बिना शिव और शक्ति के सम्बन्ध की सुसंगत व्याख्या नहीं कर सकता है। अद्वैतवाद ऐसी सुसंगत व्याख्या केवल इस मान्यता के बल पर कर देता है कि माया शिव का लक्षण नहीं अपितु उप लक्षण है, या पारिभाषिक शब्दावली में कहें तो शिव का शक्तिमान् रूप में होना शिव का तटस्थ लक्षण है और शिव का अपने स्वरूप में अवस्थित होना उसका स्वरूप लक्षण है। यदि शिव की स्वरूप-स्थिति को उसका स्वरूप-प्रथम माना जाय, जैसाकि स्वतन्त्राद्वैत मानता है तो शिव और शक्ति का संयोग नित्य हो जायगा और तब सृष्टि-प्रक्रिया नित्य हो जायगी। ऐसी स्थिति में स्वतन्त्राद्वैतवाद में दो दोष उपस्थित हो जाते हैं—(१) अनिर्मोक्ष प्रसंग और (२) शक्ति का उपेय हो जाना। यह उल्लेखनीय है कि इन्हीं दो दोषों के कारण शाक्त मत काश्मीर शैव मत का तिरस्कार करता है और शक्ति को उपेय मानते हुए भी सृष्टि-प्रक्रिया की नित्यता को अस्वीकार करता है। कुछ भी हो, प्रस्तुत प्रसंग में स्वतन्त्राद्वैत अद्वैतवाद की सहायता के बिना अपने को सुसंगत तथा न्यायसंगत नहीं कह सकता है। अतः अद्वैतवाद स्वतन्त्राद्वैतवाद का उपजीव्य है। इस प्रसंग में ऐतिहासिक दृष्टि से यह भी उल्लेखनीय है कि काश्मीर में शैवमत का जो पुनरुत्थान हुआ वह शंकराचार्य के बाद हुआ और उनके अद्वैतवाद के आलोक में हुआ। अभिनव गुप्त स्वयं कहते हैं कि यदि वेदान्ती माया को ब्रह्म की शक्ति मान लें तो अद्वैतवाद उनके दर्शन से अभिन्न हो जायगा।[२६] वस्तुतः अद्वैतवादियों ने माया को ब्रह्म या शिव की शक्ति माना है। फिर अभिनव गुप्त ऐसी शर्त क्यों रखते हैं? इसलिए कि अद्वैतवाद में माया ब्रह्म की शक्ति होते हुए भी अविद्या है और अभिनवगुप्त उसे अविद्या मानने को तैयार नहीं हैं यद्यपि वे उसे काल्पनिक, औपाधिक, आरोपित तथा अज्ञान मानते हैं। ऐसी परिस्थिति में अभिनवगुप्त की समझ को क्या कहा जाय? वे उन सभी कार्यों को मानने को तैयार हैं जो अविद्या करती है, फिर भी उन्हें अविद्या शब्द से चिढ़ है। 'फलेन परिचीयते', फल से वस्तु का परिचय होता है, इस न्याय के बल पर कहा जा सकता है कि अभिनवगुप्त केवल शब्द-प्रयोग पर विवाद करते हैं और अर्थ-ग्रहण में वे पूर्णतः अद्वैतवेदान्त के साथ चल रहे हैं। यदि उनके अनुयायी जयरथ ठीक मानते हैं कि कारणों का कार्यवान् होना आवश्यक नहीं है[२७] तो फिर उन्हें मानना पड़ेगा कि शिव का शक्तिमान् होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि शक्ति को शिव रूप मानने पर भी उसे शिव का कार्य या व्यापार ही मानना पड़ता है। इस प्रकार शक्ति शिव का कार्य है, किन्तु वह उसका आवश्यक कार्य नहीं है। यही अद्वैतवाद की दृष्टि है। महेश्वरानन्द इसको जानते हुए नहीं मानते हैं। वे कहते हैं—

सर्वो ममायं विभवः इति स्ववैश्वात्म्यानुमानसन्धानसन्धुक्षितैश्वर्याणां प्रमातॄणां स्वभाव एव न त्वाहार्यः कश्चिदतिशयः।[२८]

परन्तु वे यह नहीं सिद्ध कर सके कि शक्ति को शिव का आहार्य या औपाधिक गुण क्यों न माना जाय? वस्तुतः शक्ति, जो दृष्टि-सृष्टि रूपा है, शिव की ही शक्ति है, परन्तु आहार्य है, स्वाभाविक नहीं, क्योंकि यह सुषुप्ति की अवस्था में नहीं रहती है।

परन्तु यहां स्वतन्त्राद्वैतवादी कहेगा कि शक्ति के बिना शिव जड़ है। इस जाड्यापत्ति का आरोप वह अद्वैतवाद के ब्रह्म या शिव पर करता है। यही अद्वैतवाद के विरोध में उसकी मुख्य आपत्ति है। अतः इसका विवेचन हम विशेष रूप से करना चाहेंगे।

(३) जाड्यापत्ति का निराकरण

जाड्यापत्ति की पृष्ठभूमि में स्वतन्त्राद्वैतवादी दो दोष करते हैं, एक वे अद्वैतवाद का विरूपकरण करते हैं और दूसरे, आत्मा की ग़लत अवधारणा करते हैं। वे कहते हैं कि अद्वैतवेदान्त का ब्रह्म सन्मात्र है। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि ब्रह्म सत्-चित्-आनन्द है। फिर यदि सत्, चित् तथा आनन्द में कोई एक ब्रह्म का स्वरूप है तो वह चित् है, उसी का नाम आत्मा है। इसीलिए ब्रह्मवाद को आत्माद्वैतवाद भी कहा जाता है। **'अयम् आत्मा ब्रह्म'** यह उपनिषद्-वाक्य अद्वैतवाद का मुख्य प्रतिपाद्य है। सत्तैव बोधो बोध एवं सत्ता, नानयोः परस्पर व्यावृत्तिरस्ति,[२६] यह शंकराचार्य का सिद्धान्त है। वे कहते हैं कि बोध और सत्ता को एक-दूसरे से व्यावृत्त नहीं किया जा सकता है। परन्तु स्वतन्त्राद्वैतवादी ऐसी व्यावृत्ति करते हैं, अतः वे अद्वैतवाद को यथावत् प्रस्तुत न करके उसे ग़लत ढंग से व्याख्यायित करते हैं और तब उस पर आरोप या दोष लगाते हैं। पुनश्च, स्वतन्त्राद्वैतवादी पहले चित् को सत् से पृथक् करके कल्पित करते हैं और फिर उसे ज्ञातृत्व से अभिन्न करते हैं। यही नहीं, वे ज्ञातृत्व से भी परे कर्त्तृत्व तक जाते हैं और ज्ञातृत्व को कर्त्तृत्व का ही एक रूप मात्र मानते हैं। इस प्रकार वास्तव में वे आत्मा, संवित्, चिति या चैतन्य को मुख्यतः कर्त्ता मानते हैं। जहां तक वे चित् को ज्ञातृत्व से अभिन्न करते हैं वहां तक वे चित् पर नृतत्वारोप का दोष (फ़ैलेसी आव् एन्थ्रापोमारफिज़्म) करते हैं। चित् को ज्ञाता से अभिन्न करना व्यक्तिनिष्ठ धारणा है। दूसरे शब्दों में, यह इस मान्यता पर निर्भर करता है कि कोई विचार या ज्ञान बिना किसी विचारक या ज्ञाता के नहीं हो सकता है। पर यह मान्यता तर्कसम्मत नहीं है। कारण, हम ऐसे विचार या ज्ञान को जानते हैं जिसका कोई विचारक या ज्ञाता सम्प्रति है। उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं कि वर्तमान वैज्ञानिक विचार या सामाजिक चिन्तन प्राचीन वैज्ञानिक विचार या सामाजिक चिन्तन से अधिक सुसंगत और प्रगतिशील है तब हम यह नहीं मानते हैं कि प्राचीन या अर्वाचीन वैज्ञानिक विचार या सामाजिक चिन्तन किसी ज्ञाता के विषय हैं या किसी विचारक के मन में हैं। यहां हमारा तात्पर्य केवल इस बात से है कि वैज्ञानिक विचार या सामाजिक ज्ञान व्यक्ति-निरपेक्ष या ज्ञातानिरपेक्ष है। संभव है उसको पूरी तरह से जानने वाला कोई व्यक्ति न हो या जितने व्यक्ति उसको जानते हों वे थोड़ा अधिक ही जानते हों और उनमें मतभेद हो। पर फिर भी वैज्ञानिक विचार या सामाजिक ज्ञान का तात्पर्य हम समझते हैं और मानते हैं कि वह विचारकों से निरपेक्ष और स्वयं सत् है। यह ज्ञान अपने उद्भव में भले ही किसी विचारक पर निर्भर रहा हो पर अपने अस्तित्व एवं प्रामाण्य में वह उस विचारक से निरपेक्ष है। भले ही वैज्ञानिक विचार में अनेक वैज्ञानिकों का योगदान हो, किन्तु वैज्ञानिक विचार उन वैज्ञानिकों में से किसी एक या अधिकांश या सभी के मानस के अन्दर रहने वाली वस्तु नहीं है। वह विषयगत और व्यक्ति-निरपेक्ष

है। निश्चय ही वह सार्वजनिक ज्ञान है, वह गूंगे के गुड़ खाने का मात्र आस्वादन नहीं है। वह जिज्ञास्य, अनुभवगम्य एवं उपदेश्य तथा व्यपदेश्य है, प्रत्यभिज्ञा-दर्शन जब ज्ञान को ज्ञाता से अनिवार्यतः जोड़ता है तो वह ज्ञान की इस वस्तुनिष्ठता को समाप्त कर देता है और उसे पूर्णतः व्यक्तिनिष्ठ बना देता है। शंकराचार्य ने इसीलिए कहा है कि ज्ञान वस्तु-तन्त्र है नकि पुरुष-व्यापार-तन्त्र। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन ज्ञान के उद्भव और ज्ञान के प्रामाण्य इन दो समस्याओं को घपला देता है। उद्भव में ज्ञान व्यक्ति-सापेक्ष होते हुए भी प्रामाण्य में वह व्यक्ति निरपेक्ष है। इन दोनों समस्याओं का जितना तर्कसंगत विवेक अद्वैतवाद में है उतना अन्यत्र दुर्लभ है।

फिर जब प्रत्यभिज्ञा-दर्शन कर्त्ता तथा ज्ञाता को अनिवार्यतः संयुक्त या नित्य युक्त मानता है तब वह ज्ञान को क्रिया से अभिन्न कर देता है। वह जानना और करना को एकार्थक समझता है। किन्तु क्या जानना और करना एकार्थक हैं ? "करने" से हम बाह्य जगत् में कुछ परिवर्तन करते हैं और जानने से हम उसमें कोई परिवर्तन नहीं लाते हैं। उदाहरण के लिए जब हम अग्नि जलाकर तृण भस्म करते हैं तो फिर तृण नहीं रहता है और उसके स्थान पर राख हो जाती है। किन्तु जब हम तृण को जानते हैं तो इस तथाकथित क्रिया से तृण में कोई परिवर्तन नहीं होता है। वास्तव में इस प्रसंग में शंकराचार्य ने जिस प्रकार ज्ञान को क्रिया से भिन्न किया है वह आज भी प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अभिन्न-ज्ञान-क्रियावाद का खण्डन है। ज्ञान मानसिक होते हुए भी क्रिया (भौतिक या मानसिक) नहीं है क्योंकि ज्ञान का क्रिया से वैलक्षण्य है। ज्ञान ज्ञापक एवं निवर्तक है, वह वस्तु-तन्त्र है। उसमें ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान का भेद नहीं है। किन्तु क्रिया में यह लक्षण नहीं है। क्रिया में सदैव कर्ता, कर्म तथा प्रक्रिया के भेद रहते हैं, वह पुरुषाधीन है और ज्ञापक तथा निवर्तक न होकर आवरक तथा प्रवर्त्तक है। आश्चर्य है कि वेद्यीकरण को मल या माया मानते हुए भी[30] शैव आचार्य वेद्यीकरण-रूपी क्रिया का अनिवार्य सम्बन्ध ज्ञान से जोड़ते हैं। अतः उनका अभिन्न-ज्ञान-क्रियावाद पूर्णतया असंगत तथा वदतोव्याघात पर आधारित है। जो संवित् क्रिया से अनिवार्यतः युक्त है वह कथमपि पूर्ण एवं निरपेक्ष नहीं हो सकती है। वह विकारी एवं परिणमनशील या वर्धनशील होगी और विकास तथा वर्धन उसकी पूर्णता एवं निरपेक्षता में बाधक है। इसीलिए शंकर कहते हैं कि यदि आत्मा क्रिया से युक्त हो तो वह विकारवान् होगी और फलतः वह अनित्य हो जायगी।[31]

फिर जब शैवाचार्य ज्ञान को क्रिया का स्फुरण विशेष मानते हैं[32] तब उनकी पोल खुल जाती है। वे ज्ञान या संवित् या चित् को क्रिया पर निर्भर मानते हैं और उनके मत से मूल तत्त्व या परमतत्त्व क्रिया ही है, ज्ञान तो उसका स्फुरण विशेष है। ऐसी परिस्थिति में उन्होंने ज्ञान की परमार्थता के लिए जो युक्तियां दी हैं वे स्वयं कट जाती हैं और ज्ञान-रूपी शिखण्डी को आगे करके वे क्रिया रूपी महारथी के बल का प्रदर्शन करना चाहते हैं। ऐसा क्यों है ? प्रत्यक्षतः इसका कारण यह है कि वे क्रिया को उस प्रकार परम-तत्त्व या सभी पदार्थों की आत्मा नहीं सिद्ध कर सकते जिस प्रकार वे ज्ञान को वैसा सिद्ध करते हैं और फिर ज्ञान को पारमार्थिक सिद्ध करने पर वे ज्ञान का सम्बन्ध वेद्यता से अनिवार्यतः

जोड़ते हुए क्रिया को ज्ञान के अन्दर प्रतिष्ठित कर देते हैं। किन्तु यह सब करना अनेक विसंगतियों को उत्पन्न करता है, जैसे ज्ञान को व्यक्तिनिष्ठ मानना, वेद्य से उसको सम्बन्धित मानना और उसे मानसिक क्रिया मानना और साथ ही उसे मन से परे तथा विश्वात्मा मानना और भेद को प्रकल्पित कहना, आदि।

वास्तव में प्रत्यभिज्ञा-दर्शन उस प्रकाश को जड़ मानता है जो विमर्श से युक्त नहीं है। चैतन्य को जड़ से भिन्न करने के लिए वह चैतन्य रूप प्रकाश को विमर्श से युक्त मानता है। किन्तु प्रकाश-विमर्शमय चैतन्य वास्तव में आत्मा का अपने ही व्यवसाय या परामर्श का ज्ञान है। यह एक प्रकार से अनुव्यवसाय है जिसे हम ज्ञान का ज्ञान कह सकते हैं। उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं कि 'मैं मेज़ देख रहा हूँ' तो यह प्रत्यक्ष ज्ञान है और जब हम कहते हैं कि 'मैं देख रहा हूँ कि मैं मेज़ देख रहा हूँ' तो वह विमर्श है अर्थात् पूर्व-प्रत्यक्ष का परामर्श, आमर्श, विमर्श या अनुव्यवसाय है। इस विमर्श को प्रत्यभिज्ञा दर्शन चैतन्य का स्वभाव मानता है। परन्तु इस मान्यता में अनवस्था दोष उपस्थित है। देखिए, यदि प्रकाश का स्फुट ज्ञान विमर्श में होता है तो फिर विमर्श का ज्ञान कैसे स्फुट होता है? उसके लिए हमें दूसरे विमर्श को मानना पड़ेगा। फिर इस द्वितीय विमर्श का ज्ञान कैसे होता है? इस प्रश्न के समाधान के लिए हमें तृतीय विमर्श को मानना पड़ेगा और इस प्रकार अनवस्था-प्रसंग उपस्थित होता है जिसके कारण हमें प्रकाश का पूर्ण ज्ञान या विमर्श कभी भी नहीं हो सकता है। अतएव आत्मा को विमर्श मानना अज्ञेयवाद को स्वीकार करना है।

पुनश्च, विमर्शवाद में स्वयं जाड्यापत्ति उपस्थित होती है क्योंकि वह मानता है कि विमर्श के बिना चैतन्य का स्वप्रकाश नहीं हो सकता और स्वप्रकाश के बिना उसका विमर्श नहीं हो सकता।[33] स्पष्टतः स्वप्रकाश चैतन्य को विमर्शाश्रित दिखलाकर स्वतन्त्राद्वैत न केवल उसके अनाश्रित स्वरूप को मानकर स्वयं झुठला देता है वरन् स्वप्रकाश चैतन्य को एक विषय या प्रमेय भी बना देता है। परन्तु जो आत्मा प्रमाता है वह अपने को कैसे प्रमेय बना सकती है? और जब तक वह अपने को प्रमाता-प्रमेय में द्विधा विभक्त नहीं करती तब तक वह अपने विमर्श-व्यापार का संपादन कैसे कर सकती है? अतः विमर्श करने के लिए उसे अपने को प्रमेय या वेद्य या ज्ञेय बनाना पड़ेगा जो ग्राह्य जड़ता का पर्याय है। यदि उसे हम जड़ न भी मानें तो प्रश्न उठता है कि ज्ञाता अपने को कैसे ज्ञेय बना सकता है। **विज्ञातारमरे, केन विजानीयात्!** विज्ञाता को किस माध्यम से जाना जा सकता है? यह प्रश्न उपनिषत् के ऋषि याज्ञवल्क्य ने उठाया था। इसका सीधा तात्पर्य है कि चैतन्य को ज्ञेय नहीं बनाया जा सकता है। इसी बात को शंकर अपने शब्दों में कहते हैं कि कोई अपने ऊपर क्रिया नहीं कर सकता है—**स्वात्मनि क्रिया विरोधात्**।[34] अतः यह कहना कि चैतन्य अपने को प्रमाता और प्रमेय में अभिव्यक्त या प्रकट करता है, तर्कतः ठीक नहीं है। चैतन्य के लिए ऐसा करना स्वभावतः असम्भव है। इसीलिए शंकर मानते हैं कि चैतन्य संवेदन है और वह स्वप्रकाश है और विमर्श उसका स्वाभाविक लक्षण नहीं है। यह विमर्श जिस आत्मा का ज्ञान कराता है वह मायात्मा या मिथ्यात्मा है, पारमार्थिक आत्मा नहीं है, क्योंकि विमर्श विकल्पनात्मक है और आत्मा संवेदन रूप है।

संवेदन को दूसरे संवेदन की अपेक्षा नहीं होती है जैसे प्रकाश को दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं रहती है।[३५] किन्तु यह संवेदन जो स्वप्रकाश है, जड़ नहीं है, क्योंकि यह जड़ का प्रमाता है। जिस प्रत्यक्ष में हम मेज़ देखते हैं उसी प्रत्यक्ष में मेज़ देखने के साथ ही साथ हम चैतन्य को भी जानते हैं। मेज़ को जानना और चैतन्य को जानना ये दो पृथग्भूत व्यापार नहीं हैं और न दोनों में कोई पौर्वापर्य (कालक्रम) या यौगपद्य का सम्बन्ध है। दोनों में केवल तादात्म्य सम्बन्ध है जिसका अर्थ है कि चैतन्य के बिना जड़ का ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिए चैतन्य वस्तुतः जड़-वस्तु की आत्मा अर्थात् उसके अस्तित्व का प्रतिपादक या ज्ञापक तत्त्व है। इस आत्मा को अगर कोई किसी शरीर के अन्दर समझता है अथवा उसको मन या ज्ञाता मानता है तो उसकी समझ को अद्वैतवाद का मत नहीं कहा जा सकता है। मन, शरीर, बाह्य जगत् आदि सभी विषय हैं जो आगन्तुक हैं और चैतन्य उन सब का ज्ञापक होने के कारण उन सब की आत्मा है। इस दृष्टि से अद्वैतवाद का आत्माद्वैत अत्यन्त सुसंगत है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन उससे हटकर चैतन्य के ज्ञान की समस्या को सुलझाने के बजाय बहुत अधिक उलझा देता है।

परन्तु यहाँ पर आपत्ति की जा सकती है कि क्या चैतन्य को विषय की अपेक्षा नहीं रहती है ? या क्या अद्वैतवाद में द्वैतवाद छिपा नहीं है ? इस प्रश्न का उत्तर न जानने के कारण ही आधुनिक मनीषियों तथा प्राचीन शैव आचार्यों ने अद्वैतवाद पर द्वैतवाद का आरोप लगाया है। किन्तु जब अद्वैतवाद कहता है कि **अनात्मा तु सर्वत्र आत्मपूर्वकम्**[३६] अर्थात् अनात्मा सर्वत्र आत्मपूर्वक है तो द्वैतापत्ति की गुंजाइश कहाँ है ? जो भी विषय है वह आत्मपूर्वक है। विषय को आत्मा से भिन्न या पृथक् नहीं दिखाया जा सकता है। भेद वास्तव में नहीं है और जिस रूप में वह प्रतीत होता है वह मात्र कल्पित है। अतः यदि आत्माद्वैत में द्वैतापत्ति है तो इसका तात्पर्य है कि आत्मा के अतिरिक्त किसी पदार्थ या वस्तु को सिद्ध किया जा सकता है। परन्तु यह तात्पर्य ग़लत है क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त किसी पदार्थ या वस्तु को सिद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि जो भी है वह आत्मपूर्वक है, वह आत्मा के लिए और आत्मा में ही है, अतः अद्वैतवाद में द्वैतापत्ति नहीं है। फिर यदि दुर्जनतोष-न्याय से मान भी लिया जाय कि माया नामक एक पदार्थ है और वह आत्मा के अतिरिक्त है तो कहना पड़ेगा कि यह मान्यता ग़लत है। कारण, माया कोई पदार्थ नहीं और जिस रूप में उसे आत्मा के अतिरिक्त कल्पित किये जाने का प्रयास किया जाता है वह असम्भव है। हम भाषा का जो भी सम्भव अर्थ करते हैं वह सब आत्मपूर्वक ही होता है। आत्मातिरिक्तत्व का विचार ही तर्कतः और अर्थतः असम्भव है। अतः किसी भी सार्थक अर्थ में आत्माद्वैतवाद में द्वैतापत्ति नहीं हो सकती है। पुनश्च, स्वतन्त्राद्वैत अद्वैतवाद के मायावाद का खण्डन इस गरीयसी मान्यता से करता है कि मानो वह जड़ जगत् की व्याख्या अद्वैतवाद से अधिक युक्तियुक्त ढंग से करता है।

किन्तु क्या यह मान्यता सत्य है ? क्या स्वतन्त्राद्वैत में जड़-तत्त्व की स्वीकृति है ? यदि ध्यान से उनके ग्रन्थों को देखा जाय तो पता चलेगा कि वास्तव में उसमें जड़ तत्त्व की कोई मान्यता ही नहीं है। वह विशुद्ध अजड़वाद है, ठीक वैसे ही जैसे बर्कले

(१६८५–१७४२ ई०) का दर्शन है। अतः यदि उसने अद्वैतवाद के मायावाद का तिरस्कार किया तो उसके लिए जगत् की व्याख्या करना और भी कठिन हो गया है। इस कथन का समर्थन करने के लिए अब हम एक दूसरे चण्डमारुत का विचार करेंगे जिसे आजकल प्रत्यभिज्ञा दर्शन या त्रिक दर्शन का वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवाद (रियलिस्टिक आइडियलिज़्म) कहा जा रहा है और जिसका समर्थन शंकर के निरपेक्ष प्रत्ययवाद के विरोध में दिनानुदिन बढ़ता जा रहा है। मूलतः यह वाद आभासवाद है। अतः अब हम आभासवाद का निराकरण करेंगे।

(४) आभासवाद का निराकरण

जो लोग आभासवाद का अर्थ वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवाद कर रहे हैं मेरी समझ से उन्हें वस्तुवाद और प्रत्ययवाद दोनों का स्पष्ट ज्ञान नहीं है। फिर वे वस्तुवाद तथा प्रत्ययवाद के समन्वय के रूप में जिस वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवाद को अग्रसर कर रहे हैं वह सम्भव ही नहीं है। कारण, यह सम्भव नहीं है कि हम एक ही साथ कहें कि ज्ञेय ज्ञानाधीन है और ज्ञान ज्ञेयाधीन है। स्पष्ट है कि वस्तुवाद तथा प्रत्ययवाद में विरोध है और उस विरोध को न तो प्रत्ययवाद से दूर किया जा सकता है और न वस्तुवाद से और न दोनों के सह-समुच्चय या समन्वय से। हाँ, यह हो सकता है कि हम किसी तीसरे वाद के द्वारा इनके विरोध को दूर कर दें। किन्तु क्या आभासवाद यह तीसरा वाद हो सकता है?

इस दृष्टि से आभासवाद की परीक्षा करने से पता चलता है कि वह यह तीसरा वाद होने से तो दूर रहा, उल्टे वह स्वयं एक बहुत घटिया किस्म का प्रत्ययवाद है जिसे व्यक्तिनिष्ठ प्रत्ययवाद या दृष्टिसृष्टिवाद या एकजीववाद कहा जाता है। वह क्यों एक प्रकार का दृष्टिसृष्टिवाद है इसके लिए निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं:—

(१) बिल्कुल बर्कले की ही भांति स्वतन्त्राद्वैतवादी मानता है कि जड़ता केवल चैत्यमानता है। इसका तात्पर्य है कि वह चैत्यमानता (पर्सिपी-दृश्यता) के अतिरिक्त किसी जड़-वस्तु (एस्से) को स्वीकार नहीं करता है। जयरथ तो यहाँ तक कहते हैं कि जो इस व्यक्तिनिष्ठ प्रत्ययवाद को, अर्थात् जड़ता का तत्त्व चैत्यमानता ही है (एस्से इज़ पर्सिपी) इस मत को नहीं समझता है वह जड़ से भी अधिक जड़ है, अर्थात् मूर्ख है—

> भावानां हि वस्तुतश्चैतन्यमेव रूपम्, अचेत्यमानत्वे हि तेषां न
> किञ्चिद्रूपं स्यात्, अतस्तदेवं ये न जानते ते जडेभ्योऽपि जडाः।[३७]

(२) वास्तव में महेश्वर ही एकमात्र प्रमाता है—

> विश्वः प्रमातृवर्गः परमार्थतः एकः प्रमाता, स एव च अस्ति।
> ....ततश्च भगवान् सदाशिवो जानाति इत्यतः प्रकृति
> कृमिरपि जानाति – इत्यन्तम् एक एव प्रमाता।[३८]

इस प्रकार शिव से लेकर कृमि पर्यन्त जिन–जिनमें प्रमातृत्व है वह सब एकमात्र महेश्वर का ही प्रमातृत्व है। अन्य सभी तत्त्व या सम्पूर्ण जगत् इसी प्रमाता की सृष्टि है और इसी प्रमाता के अन्दर है। इस प्रकार शिवाद्वैतवाद एक बड़े पैमाने का एक-

जीववाद तथा दृष्टिसृष्टिवाद है। जैसे छोटे धरातल पर एक मानव समझता है कि सारा जगत् उसके द्वारा दृश्य होने के कारण उसके अन्दर ही है वैसे शिव समझते हैं कि सारा जगत् उनके द्वारा दृश्य होने के कारण उनके अन्दर ही है। मानव को व्यष्टि तथा शिव को महाव्यष्टि कह देने से एकजीववाद तथा दृष्टिसृष्टिवाद दूर नहीं हो जाते हैं वरन् और अच्छे ढंग से उजागर होते हैं। अतः स्वतन्त्राद्वैतवाद का प्रामाण्य-मूल्य वही है जो एकजीववाद और दृष्टिसृष्टिवाद का। दोनों केवल कल्पनावाद हैं। सोमानन्द की शिव-दृष्टि वस्तुतः महा **दृष्टिसृष्टिवाद** को सिद्ध करती है।

(३) पुनश्च, स्वतन्त्राद्वैतवादी **निरुपादान सृष्टि** को मानता है। जैसे योगी बिना किसी उपादान के वस्तुओं की सृष्टि करता है वैसे परम शिव भी बिना किसी उपादान के समस्त जगत् की सृष्टि करता है।[३९] इसका तात्पर्य है कि जड़-जगत् का उपादान कारण कुछ नहीं है। उसका केवल निमित्त कारण है जिसे प्रयोजन कहा जाता है। जगत् उसका प्रयोज्य है। चित् ही सर्वत्र निर्माता है।[४०] जड़ में कोई कारण-शक्ति है ही नहीं –

जडस्य कारणत्वानुपपत्तेः[४१]

कार्य पद का अर्थ केवल कर्त्ता के द्वारा निष्पाद्य कार्य है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि व्यक्तिनिष्ठ प्रत्ययवादी बर्कले भी इसी प्रकार केवल कर्तृत्ववाद या निमित्त कारण को ही कारण मानता है और उपादान कारण का प्रत्याख्यान करता है।[४२] अतः स्वतन्त्राद्वैत और उसके दर्शन में पर्याप्त समानता है। योगियों के स्थानता कर्म (मेटीरियलाइज़ेशन) का क्या रहस्य है? इसकी व्याख्या करना यहाँ अपेक्षित नहीं है। यहाँ केवल इतना कहना पर्याप्त है कि स्थानता के आधार पर जगत् की व्याख्या करना जगत् को योग जैसा रहस्यमय बना देना है जो स्पष्टतः कोई प्रशंसनीय दार्शनिक कर्म नहीं है। कुछ भी हो, निमित्तैककारणवाद कोई विज्ञान-सम्मत सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि विज्ञान जगत् के मूल्य की रक्षा करने का प्रयास करता है और यह वाद अन्ततः उसको उच्छिन्न कर देता है। अतः स्वतन्त्राद्वैतवादियों का यह कहना कि उनका दर्शन मायावाद की अपेक्षा जगत् के यथार्थ की अधिक सुन्दर व्याख्या करता है केवल मनमोदक खाने के समान है। वस्तुस्थिति तो यह है कि वे जगत् के मूल तत्त्व का ही अपलाप कर देते हैं और इस प्रकार वस्तुवाद या यथार्थवाद का मूल ही उनके दर्शन में अमान्य है। फिर उसको वस्तुनिष्ठ, वस्तुवादी या यथार्थवादी कहना शब्दों का मात्र अनर्थ करना है। वह किसी भी अर्थ में वस्तुवादी नहीं है। अद्वैतवाद तो जगत् को अनिर्वचनीय कहकर उसके मूल की रक्षा सम्यक् करता है।

(४) दृष्टि-सृष्टिवाद से बचने के लिए स्वतन्त्राद्वैतवादी कहता है कि महेश्वर ज्ञान-शक्ति से विषय को प्रकाशित करता है तथा क्रिया-शक्ति से विषय को सृष्ट करता है और इस प्रकार शक्तिद्वय के भेद से दृष्टि और सृष्टि में भी भेद हो जाता है। महेश्वर की दृष्टि उसकी सृष्टि से इस शक्ति-भेद के कारण भिन्न हो जाती है। परन्तु यह शक्ति-भेद पारमार्थिक नहीं है और यदि उसे पारमार्थिक माना भी जाय तो ज्ञान-शक्ति और इच्छा-शक्ति या क्रिया-शक्ति में अविनाभाव या नान्तरीयकता का सम्बन्ध स्वीकृत किया गया है।[४३] इस कारण महेश्वर की दृष्टि वैसे ही स्वतः सृष्टि हो जाती है जैसे उसका प्रकाश या ज्ञान स्वतः विमर्श या इच्छा-शक्ति हो जाता है। इस प्रकार स्वतन्त्राद्वैतवाद

दृष्टि-सृष्टिवाद के आरोप से बच नहीं सकता है और यदि वह इससे बचता है तो फिर उसे प्लेटो की भाँति दो जगत् मानने पड़ेंगे – एक सृष्ट जगत् और दूसरा दृष्ट जगत्, और दोनों को समानान्तर तथा समान रूप से यथार्थ मानना पड़ेगा। परन्तु इस कल्पना में अनावश्यक गौरव है और लाघव-न्याय से जब एक ही जगत् को यथार्थ मानने से काम चल सकता है तो दो जगत् को मानने की क्या आवश्यकता है ?

(५) यह उल्लेखनीय है कि बर्कले ने दृष्टि-सृष्टिवाद से बचने के लिए ईश्वर को केवल कर्ता तथा जीव को द्रष्टा माना था। उसका सिद्धान्त है कि जीव या मनुष्य जिन विषयों को देखता है वे ईश्वर के दृष्ट नहीं हैं वरन् कृत हैं। इस प्रकार बर्कले दृष्टि-सृष्टिवाद से बचने के लिए ईश्वर और जीव में पारमार्थिक भेद करता है। स्वतन्त्राद्वैत इस भेद को नहीं मानता है। परमार्थतः वह जीव और शिव में भेद नहीं करता है। अतः वह दृष्टि-सृष्टिवाद के आरोप से बच नहीं सकता है।

(६) डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डे स्वीकार करते हैं कि शिव और आभासित जगत् में वही सम्बन्ध है जो सम्बन्ध स्वप्न-द्रष्टा और स्वप्न-विषय में है और जैसे स्वप्न-विषय स्वप्न-द्रष्टा के मन में रहते हैं और उनका अस्तित्व उसके मन से बाह्य नहीं है वैसे ही आभासित जगत् भी शिव के मन में है और उसके बाहर नहीं है।[४४] यही युक्ति प्रत्येक एकजीववादी या दृष्टि-सृष्टिवादी भी देता है। उसी की तरह स्वतन्त्राद्वैतवादी भी स्वप्न-अवस्था के चैतन्य को जाग्रत अवस्था तथा सुषुप्ति अवस्था के चैतन्य से अधिक महत्त्व देता है और मानता है कि चैतन्य में वेद्य-वित्ति-वेदिता का त्रैविध्य प्रत्येक अवस्था में रहता है। इसी के बल पर वह तुरीय अवस्था में भी चैतन्य का त्रैविध्य मानता है।[४५] परन्तु यह मान्यता अनुभव के विरुद्ध है। जाग्रत की व्याख्या स्वप्न के आधार पर नहीं की जा सकती है क्योंकि वह स्वप्न से अधिक यथार्थ है। स्वप्न कल्पना का लोक है और जाग्रत चिंतन, मनन या तर्कना का लोक है। तर्कना का स्तर कल्पना के स्तर से न केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वरन् प्रमाण-मीमांसा की भी दृष्टि से उच्चतर है। फिर वेद्य-वित्ति-वेदिता का त्रैविध्य सुषुप्ति में नहीं रहता है क्योंकि इसका अनुभव वहाँ नहीं होता है। स्वतन्त्राद्वैतवादी हठात् सुषुप्ति में चैतन्य के त्रैविध्य का आरोप करता है। किन्तु यह आरोप तथ्यसंगत नहीं है और सुषुप्ति–तथ्य को मात्र सिद्धान्तानुसारी या अपनी उपज्ञा के अनुसार ढालना है। वस्तुतः जो तथ्य है वह किसी की उपज्ञा के अनुसार नहीं होता है। परन्तु अधिक आश्चर्य तब होता है जब स्वतन्त्राद्वैतवादी इस त्रैविध्य का आरोप तुरीय अवस्था के चैतन्य पर भी करता है। अतः उसका सिद्धान्त मनोविज्ञान, प्रमाण-मीमांसा तथा योगशास्त्र सभी से कट जाता है क्योंकि ये सभी शास्त्र तर्कना को कल्पना से उच्चतर मानते हैं और तर्कना से भी उच्चतर वेद्य-वित्ति-वेदिता से रहित चैतन्य की स्थिति को मानते हैं। इस दृष्टि से स्वतन्त्राद्वैतवाद निश्चय ही घोर कल्पनावाद है और न केवल यथार्थवाद के विपरीत है अपितु निरपेक्ष प्रत्ययवाद के भी विरुद्ध है। अतः उसको यथार्थवादी प्रत्ययवाद समझना निस्सन्देह दार्शनिक अस्पष्टता का एक ज्वलन्त उदाहरण है। उसकी अपेक्षा अद्वैतवाद का मायावाद ही अधिक यथार्थ धरातल पर है क्योंकि वह तथ्य को किसी उपज्ञा के अनुसार नहीं टालता है और उसे अनिर्वचनीय कहता है। उसका

अनिर्वचनीयतावाद निश्चय ही प्रत्ययवाद और यथार्थवाद को मिलाने वाला सूत्र है। पुनश्च, स्वतन्त्राद्वैतवाद वास्तव में तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा दोनों दृष्टियों से त्रैतवाद है क्योंकि वह शिव, शक्ति और सामरस्य इन तीन तत्त्वों को नित्य मानता है तथा वेद्य, वित्ति और वेदिता के भेदों को पारमार्थिक मानता है। अद्वैतवाद उससे अधिक सूक्ष्म एवं उत्कृष्ट है क्योंकि वह उस तत्त्व को मानता है जो शिव, शक्ति और उनके सामरस्य में अनुस्यूत है और जो वेद्य, वित्ति और वेदिता का भी ज्ञापक है। इस प्रकार स्वतन्त्राद्वैत को अद्वैतवाद से अधिक उत्कृष्ट तथा प्रामाणिक बताना बिना सोचे-समझे शोरगुल मचाना है।

प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

टिप्पणियां और सन्दर्भ

१. द्वितीयः पक्षः सांख्ययोग पाशुपतानां ब्रह्मणः परिणामो जगदिति वैष्णवानामपि। ....एवं शैवं मन्त्रशास्त्रमपि पाशुपतशास्त्रान्तर्गतमेव द्रष्टव्यम्।
महिम्नस्तोत्र, मधुसूदन की टीका सहित, पृ० १६।

२. देखिए **समकालीन भारतीय दर्शन**, सं० लक्ष्मी सक्सेना, लखनऊ **१९७४** में मेरा लेख "**समकालीन भारतीय दर्शन की प्रवृत्तियां**" पृ० ३-४ तथा मेरी पुस्तक **भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण**, इलाहाबाद, १९७६ पृ० ३४३–३५२।

३. **महार्थमंजरी**, वाराणसी संस्करण, पृ० १७७।

४. **भारतीय संस्कृति और साधना**, प्रथम खण्ड, गोपीनाथ कविराज, पटना, १९६३, पृ० ५।

५. **भास्करी**, भाग २, सं० अय्यर और पाण्डे, लखनऊ १९५०, भूमिका पृ० १५।

६. **हिस्ट्री आफ़ फिलासफी, ईस्ट एण्ड वेस्ट**, सं० राधाकृष्णन्, भाग १, लण्डन, १९५२, पृ० ३८४।

७. देखिए **इंडियन फिलासफी टु डे**, सं० न० कि० देवराज, मैकमिलन, दिल्ली १९७५ में उनका लेख पृ० ७६–७९।

८. कतिपयदृश्यं सर्वजनदृश्यं च यदाभासरूपं सामान्यं तत् यतो विभवात्मना तन्यते, ततस्तत तत्त्वमुच्यते। .... तत्त्वानि हि सामान्याभासरूपाणि गुणगुणिभावेन विचित्रेण सामस्त्येन मिलितानि भोक्तृभोग्यतदयाधिकरणरूपतया भूतभावभुवनात्मना भान्ति। **ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी**, भाग २, पृ० १४८–१४९।

९. प्रत्यभिज्ञानबलात् एकोऽपि असौ पदार्थात्मा स्वभावभेदान् विरुद्धान् यावत् अंगीकुरुते। **भास्करी**, भाग २, पृ० ९।

१०. सोऽयं स्वस्मात् कृताशेषषट्त्रिंशत्तत्त्वकलापो महान् परमशिवभट्टारकाद्वयः प्रमाता सम्यगिशरसा स्वीक्रियते। तस्य तादृग्रूपतापि पर्यन्तता विकल्पकक्ष्याम-

अनुप्रविशति । अविकल्पात्मना च भाव्यं विश्वोत्तरेण इत्यतोऽत्रापि अविकल्पवृत्तिः अष्टात्रिंशः कश्चिदागमेषु अंगीक्रियते । **महार्थमंजरी**, पृ० ६७ ।

११. वही, पृ० १५५ ।

१२. वही, पृ० ७५ ।

१३. अहेयानुपादेयवस्तुविषयत्वात् । **शारीरक भाष्य**, शंकराचार्य, निर्णय-सागर संस्करण, १७४८, पृ० १९ ।

१४. **भारतीय संस्कृति और साधना**, प्रथम खण्ड, पृ० ६ ।

१५. **परमार्थ संग्रह**, १५ । **महार्थमंजरी**, पृ० ४४ तथा **तन्त्रालोक** (काश्मीर ग्रंथावली) जयरथ की टीका सहित, भाग, १ पृ० ७४ में उद्धृत ।

१६. **तन्त्रालोक** (काश्मीर ग्रन्थावली) भाग १, श्लोक २२ ।

१७. वही, १।६९-७० ।

१८. वही, १।७१ ।

१९. वही, १।६८ की टीका ।

२०. वही, १।७३ की टीका ।

२१. वही, पृ० ४८ में उद्धृत श्लोक ।

२२. वही, पृ० १९४ ।

२३. वही, पृ० ३०२ ।

२४. वही, पृ० १०९-११० ।

२५. देखिए **अभिनवगुप्त**, डा० कान्तिचन्द्र पाण्डे, चौखम्भा, वाराणसी, १९३५, पृ० २१९ ।

२६. वही, पृ० २५६ में उद्धृत अभिनव गुप्त की उक्ति .... ब्रह्मवादे अविद्यां मायाशक्तीकृत्य .... सिद्ध्यति एष जनः ।

२७. नावश्यं कारणानि कार्यवन्ती भवन्ति—**तन्त्रालोक**, भाग १ की टीका, पृ० १९६ ।

२८. **महार्थमंजरी**, पृ० १३२ ।

२९. **शारीरकभाष्य** ३।२।२१ का भाष्य ।

३०. वेद्यीकरणमर्थानां मलो मायाख्य उच्यते । **प्रत्यभिज्ञा-विवृतिविमर्शनी**, अभिनवगुप्त (काश्मीर ग्रंथावली) १९४१, पृ० ६० में उद्धृत ।

३१. यद्यात्मा क्रियया विक्रियेत, अनित्यत्वमात्मनः प्रसज्येत् । **शारीरकभाष्य**, शंकराचार्य १।१।४ का भाष्य ।

३२. ज्ञातृत्व शक्ति कर्तृत्व शक्ति का एक रूप मात्र है । **अभिनवगुप्त**, कान्तिचन्द्र पाण्डे, पृ० २२४ ।

३३. **भास्करी**, भाग २, सं० कान्तिचन्द्र पाण्डे, भूमिका, पृ० १३ ।

३४. **शारीरकभाष्य**, शंकराचार्य, २।२।२८ ।

३५. संवेदनस्वरूपत्वात् संवेदनान्तरापेक्षा च न संभवति यथा प्रकाशस्य प्रकाशान्तरापेक्षाया न संभवस्तद्वत् । **केनोपनिषत्, शांकर भाष्य**, २।४ का भाष्य ।

३६. **नैष्कर्म्यसिद्धि, सुरेश्वराचार्य**, ४।३ ।

३७. **तन्त्रालोक की टीका**, भाग १, पृ० ३०७।

३८. **ईश्वर प्रत्यभिज्ञावमर्शिनी**, भाग १, पृ० ४८।

३९. **ईश्वरप्रत्यभिज्ञा**, १।५।७।

४०. चित्तत्वमेव सर्वत्र निर्मातृ ! **ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी**, भाग २, पृ० १४५।

४१. **स्पन्द-निर्णय**, क्षेमराज (काश्मीर ग्रंथावली) १९२५, पृ० १०।

४२. देखिए, **आधुनिक दर्शन की भूमिका**, संगमलाल पाण्डेय, द्वितीय संस्करण, १९७३, पृ० २६८–२६९।

४३. क्रियाया ज्ञानाविनाभावितत्त्वात्—**तन्त्रालोक**, जयरथ की टीका सहित, भाग १, पृ० १९८।

४४. दे० **भास्करी**, भाग २, अय्यर और पाण्डे, १९५०, भूमिका पृ० १६।

४५. स च स्वभावो वेद्यं वित्तिवेदितेति स्थूलं सूक्ष्मं परमिति जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्त मित्यादिना त्रैविध्येनापि उपपद्यते। **महार्थमंजरी**, पृ० ७६।

मूल्य-बोध की सापेक्षता

सागरमल जैन

यद्यपि एक नवीन दार्शनिक प्रस्थान के रूप में मूल्य-दर्शन का विकास लौत्से, ब्रेन्टानो, एरनफेल्स, माइनांग, हार्टमन, अरबन, एवरेट, मैक्स शेलर आदि विचारकों की रचनाओं के माध्यम से १९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण से प्रारम्भ होता है तथापि श्रेय एवं प्रेय के विवेक के रूप में अथवा परम सुख की खोज के रूप में, एवं पुरुषार्थ की विवेचना के रूप में मूल्य-बोध और मूल्य-मीमांसा के मूलभूत प्रश्नों की समीक्षा एवं तत्सम्बन्धी चिन्तन के बीच पूर्व एवं पश्चिम के प्राचीन दार्शनिक चिन्तन में भी उपलब्ध होता है। वस्तुतः मूल्य-बोध मानवीय प्रज्ञा के विकास के साथ ही प्रारम्भ होता है। अतः वह उतना ही प्राचीन है जितना मानवीय प्रज्ञा का विकास। मूल्य-विषयक विचारविमर्श की यह धारा जहाँ पूर्व में 'श्रेय' एवं 'मोक्ष' को परम मूल्य मान कर आध्यात्मिकता की दिशा में गतिशील होती रही वहीं पश्चिम में 'शुभ' एवं 'कल्याण' पर अधिक बल देकर ऐहिक, सामाजिक एवं बुद्धिवादी बनी रही। फिर भी अर्थ, काम और धर्म के त्रिवर्ग को स्वीकार कर न तो भारतीय विचारकों ने ऐहिक और सामाजिक जीवन के मूल्यों की उपेक्षा की है और न सत्य, शिव एवं सुन्दर के परम मूल्यों को स्वीकार कर पश्चिम के विचारकों ने मूल्यों की आध्यात्मिक अवधारणा की उपेक्षा की है।

(२)

मूल्य क्या है ? इस प्रश्न के अभी तक अनेक उत्तर दिये गए हैं — सुखवादी विचार-परम्परा के अनुसार, जो मनुष्य की किसी इच्छा की तृप्ति करता है, अथवा जो सुखकर, रुचिकर एवं प्रिय है, वही मूल्य है। विकासवादियों के अनुसार जो जीवनरक्षक एवं संवर्द्धक है, वही मूल्य है। बुद्धिवादी कहते हैं कि मूल्य वह है जिसे मानवीय प्रज्ञा निरपेक्ष रूप से वरेण्य मानती है और जो एक विवेकवान् प्राणी के रूप में मनुष्य-जीवन का स्वतः साध्य है। अन्ततः पूर्णतावादी आत्मोपलब्धि को ही मूल्य मानते हैं और मूल्य के सम्बन्ध में एक व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। वस्तुतः मूल्य के सन्दर्भ में ये सभी दृष्टिकोण किसी सीमा तक ऐकान्तिकता एवं अवान्तर कल्पना के दोष (Naturalistic Fallacy) से ग्रसित हैं। वास्तव में मूल्य एक अनैकान्तिक, व्यापक एवं बहु-आयामी प्रत्यय है, वह एक व्यवस्था है, एक संस्थान है, उसमें भौतिक और आध्यात्मिक, श्रेय और प्रेय, वांछित और वांछनीय, उच्च और निम्न, वासना और विवेक सभी समन्वित हैं। वे यथार्थ और आदर्श की खाई के लिए एक पुल का काम करते हैं। अतः उन्हें किसी ऐकान्तिक एवं निरपेक्ष दृष्टिकोण के आधार पर परिभाषित नहीं किया जा सकता। मूल्य एक नहीं, अनेक हैं और मूल्य-दृष्टियाँ भी अनेक हैं। अतः प्रत्येक मूल्य किसी दृष्टि विशेष के प्रकाश में ही

आलोचित होता है। वस्तुतः मूल्यों की और मूल्य-दृष्टियों की इस अनेकविधता और बहु-आयामी प्रकृति को समझे बिना मूल्यों का सम्यक् मूल्यांकन ही सम्भव नहीं हो सकता है।

(३)

मूल्य-बोध में मानवीय चेतना के विविध पहलू एक-दूसरे से संयोजित होते हैं। मूल्यांकन करने वाली चेतना भी बहु-आयामी है, उसमें ज्ञान, भाव और संकल्प तीनों ही उपस्थित रहते हैं। विद्वानों ने इस बात को सम्यक् प्रकार से न समझ कर ही मूल्यों के स्वरूप को समझने में भूल की है। यहाँ हमें दो बातों को ठीक प्रकार से समझ लेना होगा—एक तो यह कि सभी मूल्यों का मूल्यांकन चेतना के किसी एक ही पक्ष के द्वारा सम्भव नहीं है, दूसरे यह कि मानवीय चेतना के सभी पक्ष एक-दूसरे से पूर्णतया निरपेक्ष होकर कार्य नहीं करते हैं। यदि हम इन बातों की उपेक्षा करेंगे तो हमारा मूल्य-बोध अपूर्ण एवं एकांगी होगा। फिर भी मूल्य-दर्शन के इतिहास में ऐसी उपेक्षा की जाती रही है। एरेनफेल्स ने मूल्य को इच्छा (डिज़ायर) का विषय माना तो माइनांग ने उसे भावना (फीलिंग) का विषय बताया। यद्यपि पैरी ने उसे रुचि (इन्ट्रेस्ट) का विषय मानकर मूल्य-बोध में इच्छा और भावना का संयोग माना है तथा सारले ने उसे अनुमोदन (एप्रीसियेशन) का विषय मान कर उसमें ज्ञान और भावना का संयोग माना है। फिर भी ये सभी विचारक किसी सीमा तक एकांगिता के दोष से नहीं बच पाये हैं।

मूल्य-बोध न तो कुर्सी और मेज़ के ज्ञान के समान तटस्थ ज्ञान है और न प्रेयसी के प्रति प्रेम की तरह मात्र भावावेश ही। वह मात्र इच्छा या रुचि का निर्माण भी नहीं है। वह न तो निरा तर्क है और न निरी भावना या संवेदन। मूल्यात्मक चेतना में इष्टत्व, सुखदता अथवा इच्छा-तृप्ति का विचार अवश्य उपस्थित रहता है, किन्तु यह इच्छा-तृप्ति का विचार या इष्टत्व का बोध विवेक-रहित न होकर विवेक-युक्त होता है। इच्छा स्वयं में कोई मूल्य नहीं है, उसकी अथवा उसके विषय की मूल्यात्मकता का निर्णय स्वयं इच्छा नहीं, विवेक करता है, भूख स्वयं मूल्य नहीं है, रोटी मूल्यवान् है, किन्तु रोटी की मूल्यात्मकता भी स्वयं रोटी पर नहीं अपितु उसका मूल्यांकन करने वाली चेतना पर तथा क्षुधा की वेदना पर निर्भर है। किसी वस्तु के वांछनीय, ऐषणीय या मूल्यवान् होने का अर्थ है—निष्पक्ष विवेक की आंखों में वांछनीय होना। मात्र इच्छा या मात्र वासना अपने विषय को वांछनीय या एषणीय नहीं बना देती है, यदि उसमें विवेक का योगदान न हो। मूल्य का जन्म वासना और विवेक तथा यथार्थ और आदर्श के सम्मिलन में ही होता है। वासना मूल्य के लिए कच्ची सामग्री है तो विवेक उसका रूपाकार। उसमें भोग और त्याग, तृप्ति और निवृत्ति एक साथ उपस्थित रहते हैं। इस सन्दर्भ में श्री संगमलाल जी पांडेय का मूल्यों की त्यागरूपता का सिद्धान्त भी एकांगी ही लगता है। उनका यह कहना कि "निवृत्ति ही मूल्यसार है" ठीक नहीं है। मूल्य में निवृत्ति और संतुष्टि (प्रकृति) दोनों ही अपेक्षित हैं। उन्होंने अपने लेख में निवृत्ति शब्द का दो भिन्न अर्थों में प्रयोग किया है, जो एक भ्रान्ति को जन्म देता है। क्षुधा की निवृत्ति या कामवेग की निवृत्ति में त्याग नहीं भोग है। पुनः, इस निवृत्ति को भी सन्तुष्टि का ही दूसरा रूप कहा जा सकता है। [देखिए — दार्शनिक त्रैमासिक, जुलाई १९७६]।

पुनश्च, यह मानना भी उचित नहीं है कि मूल्य-बोध में विवेक या बुद्धि ही एकमात्र निर्धारक तत्त्व है। मूल्य-बोध की प्रक्रिया में निश्चित ही विवेक-बुद्धि का महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु यही एकमात्र निर्धारक तत्त्व नहीं है। मूल्य-बोध न तो मात्र जैव-प्रेरणा या इच्छा से उत्पन्न होता है और न मात्र विवेक-बुद्धि से। मूल्य-बोध में भावात्मक पक्ष का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होता है, किन्तु केवल भावोन्मेष भी मूल्य-बोध नहीं दे पाता है। डॉ. गोविन्दचन्द्रजी पांडे के शब्दों में "यह (मूल्य-बोध) केवलभाव-सघनता या इच्छोद्वेलन न होकर व्यक्त या अव्यक्त विवेक से आलोकित है, उसमें अनुभूति की जीवन्त सघनता और रागात्मकता (लगाव) के साथ ज्ञान की स्वच्छता और तटस्थता (अलगाव) उपस्थित मिलते हैं (मूल्य-मीमांसा)। इस प्रकार मूल्य-चेतना में ज्ञान, भाव और इच्छा तीनों ही उपस्थित होते हैं। फिर भी यह विचारणीय है कि क्या सभी प्रकार के मूल्यांकन में ये सभी पक्ष समान रूप से बलशाली रहते हैं? यद्यपि प्रत्येक मूल्य-बोध एवं मूल्यांकन में ज्ञान, भाव और इच्छा के तत्त्व उपस्थित रहते हैं, फिर भी विविध प्रकार के मूल्यों का मूल्यांकन या मूल्य-बोध करते समय इनके बलाबल में तरतमता अवश्य रहती है। उदाहरणार्थ—सौंदर्य-बोध में भाव या अनुभूत्यात्मक पक्ष का जितना प्राधान्य होता है उतना अन्य पक्षों का नहीं। आर्थिक एवं जैविक मूल्यों के बोध में इच्छा की जितनी प्रधानता होती है उतनी विवेक या भाव की नहीं। यह बात तो मूल्य विशेष की प्रकृति पर निर्भर है कि उसका मूल्य-बोध करते समय कौनसा पक्ष प्रधान होगा। इतना ही नहीं, मूल्य-बोध में देश-काल और परिवेश के तत्त्व भी चेतना पर अपना प्रभाव डालते हैं और हमारे मूल्यांकन को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार मूल्य-बोध एक सहज प्रक्रिया न होकर एक जटिल प्रक्रिया है और उसकी इस जटिलता में ही उसकी सापेक्षता निहित है। जो आचार किसी देश' काल और परिस्थिति विशेष में शुभ माना जाता है वही दूसरे देश, काल और परिस्थिति में अशुभ माना जा सकता है। सौंदर्य-बोध, रसानुभूति आदि के मानदण्ड भी देश, काल और व्यक्ति के साथ परिवर्तित होते रहते हैं। आज सामान्यजन फिल्मी गानों में जो रस-बोध पाता है वह उसे शास्त्रीय संगीत में नहीं मिलता है। इसी प्रकार रुचि-भेद भी हमारे मुल्य-बोध को एवं मुल्यांकन को प्रभावित करता है। वस्तुत: मूल्य-बोध की अवस्था चेतना की निष्क्रिय अवस्था नहीं है। जो विचारक यह मानते हैं कि मुल्य-बोध एक प्रकार का सहज ज्ञान है, वे उसके स्वरूप से ही अनभिज्ञ हैं। मात्र यही नहीं, रसानुभूति या सौंदर्यानुभूति में और तत्सम्बन्धी मुल्य-बोध में भी अन्तर है। रसानुभूति या सौंदर्यानुभूति में मात्र भावपरक पक्ष की उपस्थिति पर्याप्त होती है, उसमें विवेक का कोई तत्त्व उपस्थित हो ही यह आवश्यक नहीं है, किन्तु तत्सम्बन्धी मूल्य-बोध में किसी न किसी विवेक का तत्त्व अवश्य ही उपस्थित रहता है। मूल्य-बोध और मूल्य-लाभ सक्रिय एवं सृजनात्मक चेतना के कार्य हैं। मूल्य-बोध और मूल्य-लाभ में मानवीय चेतना के विविध पक्षों या विविध आयामों में एक प्रकार का द्वन्द्व चलता है। वासना और विवेक अथवा भावना और विवेक के अन्तर्द्वन्द्व में ही मनुष्य मूल्य-विश्व का आभास पाता है यद्यपि मूल्यांकन करने वाली चेतना मूल्य-बोध में इस द्वन्द्व का अतिक्रमण भी करती है। वस्तुत: इस द्वन्द्व में जो पहलू विजयी होता है उसी के आधार पर व्यक्ति की मूल्य-दृष्टि बनती है

और जैसी मूल्य-दृष्टि बनती है वैसा ही मूल्यांकन या मूल्य-बोध होता है। जिनमें जिजीविषा प्रधान हो, जिनकी चेतना को जैव प्रेरणाएँ ही अनुशासित करती हों, उन्हें रोटी अर्थात् जीवन का संबर्द्धन ही एकमात्र परम मूल्य लग सकता है, किन्तु अनेक परिस्थितियों में विवेक के प्रबुद्ध होने पर कुछ व्यक्तियों को चारित्रिक एवं अन्य उच्च मूल्यों की उपलब्धि हेतु जीवन का बलिदान ही एकमात्र परम् मूल्य लग सकता है। किसी के लिए वासनात्मक एवं जैविक मूल्य ही परम मूल्य हो सकते हों और जीवन सर्वतोभावेन रक्षणीय माना जा सकता हो, किन्तु किसी के लिए चारित्रिक या नैतिक मूल्य इतने उच्च हो सकते हैं कि वह उनकी रक्षा के लिए जीवन का बलिदान कर दे। इस प्रकार मूल्य-बोध की विभिन्न दृष्टियों का निर्माण चेतना के विविध पहलुओं में से किसी एक की प्रधानता के कारण अथवा देश-काल तथा परिस्थितिजन्य तत्त्वों के कारण होता है और उसके परिणामस्वरूप मूल्य-बोध तथा मूल्यांकन भी प्रभावित होता है। अतः हम कह सकते हैं कि मूल्य-बोध भी किसी सीमा तक दृष्टि-सापेक्ष है, किन्तु इसके साथ ही हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि स्वयं दृष्टि भी मूल्य-बोध से प्रभावित होती है। इस प्रकार मूल्य-बोध और मनुष्य की जीवन-दृष्टि परस्पर सापेक्ष हैं। अरबन का यह कथन कि मूल्याँकन मूल्य को निर्धारित नहीं अपितु मूल्य ही अपनी पूर्ववर्ती वस्तुनिष्ठता के द्वारा मूल्यांकन को प्रभावित करते हैं, आंशिक सत्य ही कहा जा सकता है। मूल्य न तो पूर्णतया वस्तुतन्त्र है और न आत्मतन्त्र ही। हमारा मूल्य-बोध आत्म और वस्तु दोनों से प्रभावित होता है। सौन्दर्य-बोध में, काव्य के रस-बोध में आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता के इन दोनों पक्षों को स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। सौन्दर्य-बोध अथवा काव्य की रसानुभूति न पूरी तरह कृति-सापेक्ष है, न पूरी तरह आत्म-सापेक्ष। इस प्रकार हमें यह मानना होगा कि मूल्याँकन करने वाली चेतना और मूल्य दोनों ही एक-दूसरे से निरपेक्ष नहीं हैं। मूल्यांकन की प्रक्रिया में दोनों परस्पराश्रित हैं। एक ओर मूल्य अपनी मूल्यवत्ता के लिए चेतन सत्ता की अपेक्षा करते हैं दूसरी ओर चेतनसत्ता मूल्य-बोध के लिए किसी वस्तु, कृति या घटना की अपेक्षा करती है। मूल्य न तो मात्र वस्तुओं से प्रकट होते हैं और न मात्र आत्मा से। अतः मूल्य-बोध की प्रक्रिया को समझाने में विषयितंत्रता या वस्तुतंत्रता ऐकांतिक धारणाएँ हैं। मूल्य का प्रकटीकरण चेतना और वस्तु (यहां वस्तु में कृति या घटना भी अन्तर्भूत हैं) दोनों के संयोग में होता है। पेरी किसी सीमा तक सत्य के निकट हैं जब वे यह कहते हैं कि मूल्य वस्तु और विचार के ऐच्छिक सम्बन्ध में प्रकट होते हैं।

(४)

मूल्य-बोध के साथ जुड़ा हुआ दूसरा सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न है मूल्यों के तारतम्य का बोध। हमें केवल मूल्य-बोध नहीं होता अपितु मूल्यों के उच्चावच क्रम का या उनकी तरतमता का भी बोध होता है। वस्तुतः हमें मूल्य का नहीं अपितु मूल्यों का, उनकी तरतमता-सहित, बोध होता है। हम किसी भी मूल्य-विशेष का बोध मूल्य-विश्व में ही करते हैं, अलग एकाकी रूप में नहीं। अतः किसी मूल्य के बोध के समय ही उसकी तरतमता का भी बोध हो जाता है। किन्तु यह तरतमता का बोध भी दृष्टि-निरपेक्ष नहीं

होकर दृष्टि-सापेक्ष होता है। हम कुछ मूल्यों को उच्च मूल्य और कुछ मूल्यों को निम्न मूल्य कहते हैं किन्तु मूल्यों की इस उच्चावचता या तरतमता का निर्धारण कौन करता है ? क्या मूल्यों की अपनी कोई ऐसी व्यवस्था है जिसमें निरपेक्ष रूप से उसकी तरतमता का बोध हो जाता है ? यदि मूल्यों की तरतमता की कोई ऐसी वस्तुनिष्ठ व्यवस्था होती है तो फिर तरतमता सम्बन्धी हमारे विचारों में मतभेद नहीं होता। किन्तु स्थिति ऐसी नहीं है। अतः स्पष्ट है कि मूल्यों की तरतमता का बोध भी दृष्टि-सापेक्ष है। हमें महाभारत के शान्ति पर्व के १६७ वें अध्याय में परम मूल्य या परम पुरुषार्थ के प्रश्न को लेकर ५ भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों का चित्रण मिलता है—

१. अर्थ ही परम पुरुषार्थ है क्योंकि अर्थ के होने पर ही काम का सेवन और धर्म का पालन करना सम्भव है। धन के अभाव में न तो काम-भोग ही प्राप्त होते हैं और न दान-पुण्य ही किये जा सकते हैं। अतः अर्थ ही परम मूल्य है। प्राचीन युग में कौटिल्य ने और वर्तमान में कार्लमार्क्स ने इसी दृष्टिकोण का समर्थन किया है।

२. दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार काम (जैविक वासनाओं की संतुष्टि) ही परम पुरुषार्थ है क्योंकि विषय की इच्छा-पूर्ति या सुख की प्राप्ति के अभाव में न तो कोई अर्थोपार्जन करता है और न कोई धर्म का पालन ही। जिस प्रकार दूध और दही का सार मक्खन है उसी प्रकार अर्थ और धर्म का सार काम है।

३. तीसरे दृष्टिकोण के अनुसार धर्म ही परम पुरुषार्थ है क्योंकि धर्म पर ही लोक-व्यवस्था आधारित है। धर्म से ही अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।

४. चौथे दृष्टिकोण के अनुसार धर्म, अर्थ और काम तीनों को परस्पर निरपेक्ष एवं स्वतन्त्र (सम-मूल्य) मानकर तीनों के समान रूप से सेवन पर बल दिया गया है।

५. पांचवें दृष्टिकोण में मोक्ष को ही परम पुरुषार्थ माना गया है, क्योंकि दुःखों से सर्वथा मुक्ति के रूप में वही परम कल्याणकारक है।

भारतीय परम्परा में मूल्य-दृष्टियों की यह विविधता मूल्य-बोध की सापेक्षताओं को ही सूचित करती है। पश्चिम में भी सत्य, शिव एव सुन्दर के सम्बन्ध में इसी प्रकार का दृष्टिभेद परिलक्षित होता है। कुछ लोग सत्य को परम मूल्य मानते हैं तो दूसरे कुछ लोग शिव (शिव) को अथवा सुन्दर को परम मूल्य मानते हैं। भौतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की श्रेष्ठता अथवा कनिष्ठता के सम्बन्ध में भी जो मतभेद हैं वे सभी दृष्टि-सापेक्ष ही हैं। वस्तुतः जो किसी एक दृष्टि से सर्वोच्च मूल्य हो सकता है वही दूसरी दृष्टि से निम्न मूल्य भी सिद्ध हो सकता है। बलवत्ता या तीव्रता की दृष्टि से जहाँ जैविक मूल्य सर्वोच्च ठहरते हैं वहीं विवेक एवं संयम की दृष्टि से आध्यात्मिक एवं अतिजैविक मूल्य उच्चतर माने जा सकते हैं। पुनः, किसी एक ही दृष्टि के आधार पर मूल्यों की तरतमता का निर्धारण भी सम्भव नहीं है, क्योंकि मूल्य और मूल्यदृष्टियां बहुआयामी हैं, वे एक-रेखीय न होकर बहुरेखीय हैं। एक मूल्य पर एक दृष्टि से एवं एक मूल्य पर अनेक दृष्टियों से और अनेक मूल्यों पर अनेक दृष्टियों से एवं अनेक मूल्यों पर एक दृष्टि से विचार किया जा सकता है। इस प्रकार मूल्य-बोध और उनकी तरतमता का बोध दृष्टि-सापेक्ष है और दृष्टि-चेतना

के विविध पहलुओं के बलाबल पर निर्भर करता है। पुनश्च, चेतना के वासनात्मक और विवेकात्मक पहलुओं में कब, कौन, कितना बलशाली होगा यह बात भी आंशिक रूप से देश-काल और परिस्थितियों पर निर्भर होगी और आंशिक रूप से व्यक्ति के संस्कार और मूल्य-दृष्टि पर भी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मूल्य-बोध मूल्य-दृष्टि पर निर्भर करता है और मूल्य-दृष्टि स्वयं मूल्य-बोध पर। वे अन्योन्याश्रित हैं, बीज़-वृक्ष न्याय के समान उनमें से किसी की पूर्वता-प्राथमिकता का निश्चय कर पाना कठिन है।

हमीदिया महाविद्यालय, भोपाल

धर्म-ग्रंथों पर दार्शनिक चिंतन

जे० फाइस

इस निबंध का विषय स्पष्ट करने के लिए हम शीर्षक के भिन्न-भिन्न शब्दों का क्रमशः स्पष्टीकरणकरेंगे : "प्रामाणिक हिन्दी कोश" में "धर्म-ग्रन्थ" की परिभाषा इस प्रकार की गई है : "वह ग्रन्थ जो किसी धर्म में मुख्य और उसका आधार माना जाता है।" हिन्दू सनातन धर्म में वेद को यह पद प्राप्त हुआ है ; थेरवाद बौद्ध धर्म में त्रिपिटक को, इस्लाम में कुरान को और ईसाई धर्म में बाइबिल को। चारों की, अर्थात् इन चार भिन्न-भिन्न धर्म-ग्रन्थों की यहां समान रूप से चर्चा होगी ; यह तथ्य इस बात का लक्षण है कि प्रस्तुत निबन्ध का दृष्टिकोण बिल्कुल निरपेक्ष होने का प्रयत्न करता है। किसी एक को दूसरों की अपेक्षा सत्य का एकमात्र पात्र नहीं माना जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा कि सत्य के दृष्टिकोण से विश्व-धर्मों के ग्रन्थ सब-के सब समान होते है। प्रत्येक धर्म के सन्दर्भ में उसके अपने ग्रन्थों को ही उसी धर्म का मानदण्ड माना जाता है। किसी धर्म के लिए वह बात सत्य होती है जो उसी धर्म के ग्रन्थों के अनुकूल दिखाई पड़ती है। दूसरे ग्रन्थ न तो सत्य हैं, न असत्य : कोई ग्रंथ अपने धर्म-क्षेत्र से परे प्रयोज्य नहीं है। हिन्दी राष्ट्रभाषा के दृष्टिकोण से. जो व्याकरण-नियम अंग्रेज़ी भाषा में प्रचलित हैं उन्हें उचित या अनुचित मानना स्पष्ट रूप से व्यर्थ है। एक शब्द में, इस निबंध में धर्म-ग्रथों की चर्चा तो अवश्म ही होगी, किन्तु उनके धार्मिक सत्य का प्रश्न नहीं उठाया जायगा। हम भिन्न-भिन्न बिश्व-धर्मों के ग्रन्थों को उनकी सामान्यता में ही चिन्तन का विषय बनाना चाहते हैं।

धर्म-ग्रन्थों के अन्तर्गत दार्शनिक चिन्तन

बात अनसुनी नहीं है : प्राचीन काल से ही धर्म-ग्रन्थों पर चिंतन होता आया है। वैदिक साहित्य इस क्रिया का एक स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। पहले पहल संहिता पर चिन्तन कर्मकांडी या विधिवादी दृष्टिकोण से हुआ, जिसके फलस्वरूप 'ब्राह्मण' ग्रंथ उत्पन्न हुए। क्रमशः चिन्तन की रीति में परिवर्तन हुआ : विधि-विधान की व्याख्या छोड़कर उपनिषद् आत्मा पर ही मनन करने लगे। पूर्ववर्ती विधि-वादी रचनाओं की तुलना में उपनिषदों का दार्शनिक स्वभाव स्पष्ट है ही। उनका मूल सिद्धान्त, अर्थात् ब्रह्म और आत्मा का तादात्म्य, तो अन्तर्दृष्टि मात्र का परिणाम है, धर्मक्रियाओं की व्याख्या का फल नहीं। फिर परवर्ती वेदान्त-दर्शन इन्हीं उपनिषदों को अपना मूल स्रोत मानता है। इस वैदिक साहित्य के संक्षिप्त सर्वेक्षण से दो निष्कर्ष निकलते हैं। पहला, श्रुति पर चिन्तन से दर्शन उत्पन्न हुआ। इसलिए हमारा प्रस्ताव, अर्थात्, धर्म-ग्रन्थों पर दार्शनिक चिन्तन करने का,

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से निरर्थक नहीं लगता है। दूसरा, धर्म-ग्रन्थों पर चिन्तन स्वयं ही धर्म-ग्रन्थ का पद प्राप्त कर सकता है : उपनिषद् को श्रुति ही माना जाता है। ये दो तथ्य बौद्ध धर्म-ग्रन्थों में भी सिद्ध होते हैं। फिर भी, इस उदाहरण में भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का क्रम उतना स्पष्ट नहीं है जितना वैदिक साहित्य में है। स्पष्ट रूप से, विनय और अभिधम्म पिटक गौतम बुद्ध की शिक्षा पर चिन्तन के फलस्वरूप उत्पन्न हुए। सुत्त-पिटक को शाक्य मुनि की अपनी उक्तियाँ माना जाता है। फिर भी निर्विवाद रूप से, सुत्तों के वर्तमान पाठ में गौतम के वचन मात्र नहीं, बल्कि भिक्षुओं के दार्शनिक चिन्तन के परिणाम-स्वरूप मौलिक उक्तियों का विस्तार मिलता है। आधुनिक विद्वानों का मत है कि द्वादशांग जैसा दार्शनिक सिद्धान्त प्रवर्तक की शिक्षा से प्रेरित होते हुए भी, सुव्यवस्थित रूप में परवर्ती दार्शनिक विचार का फल ही है। इस उदाहरण में भी न केवल दर्शन धर्म से उत्पन्न ही हुआ, यह दार्शनिक चिन्तन धर्म-ग्रथों में ही शामिल हो गया। अफ़सोस की बात है कि इस्लाम धर्म-ग्रन्थों से हमारा परिचय नहीं है। निस्संदेह इस आदरणीय धर्म की अपनी दार्शनिक परम्परा भी होगी ही, और मेरा अनुमान यह है कि इस परंपरा का मूल स्रोत कुरान में भी होगा। अवश्य ही परमेश्वर की एकता जैसे मूल सिद्धान्त ने परवर्ती दर्शन पर अपना प्रभाव डाला होगा। पर मेरी जानकारी नहीं होने के कारण तुरन्त बाइबिल का उदाहरण लेना पड़ता है। दोनों, कुरान और बाइबिल, सामी संस्कृतियों के परिणाम हैं। जो कुछ हम बाइबिल के विषय में कहेंगे, उसकी प्रयोज्यता किसी हद तक इस्लाम में भी हो सकती है।

बाइबिल में दर्शन की खोज करने वाला शायद तथाकथित 'प्रज्ञा-ग्रन्थों'' की ओर देखेगा। फिर भी शीघ्र ही उसको स्पष्ट हो जायगा कि इन ग्रन्थों में जिस 'प्रज्ञा' की चर्चा है वह विशेष रूप से नैतिक या व्यावहारिक स्वभाव की है, सैद्धान्तिक या दार्शनिक नहीं। दूसरी ओर प्रज्ञा सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर की विलक्षणता मानी जाती है, जिसकी सहायता से उन्होंने अपना सृष्टिकार्य पूरा किया[1]। एक ऐतिहासिक ग्रन्थ के सन्दर्भ में भी दार्शनिक चिन्तन का चिह्न दिखाई पड़ता है, जहाँ लिखा है कि 'ईश्वर ने उन्हें (अर्थात्, विश्वमण्डल के सब तत्त्वों को) शून्य से गढ़ा है।'[2] यह मक्कानियों का ग्रन्थ काफी अर्वाचीन काल में रचित हुआ और उसमें प्रयुक्त शून्य जैसी दार्शनिक धारणा यूनानी दर्शन के प्रभाव का फल मानी जाती है। संत योहन अपने ईसा जीवन-चरित में दिव्य 'शब्द' की चर्चा कर कहते हैं कि 'आदि में शब्द था, शब्द ईश्वर के साथ था और शब्द ईश्वर था[3]'। अनेक विद्वानों ने इस 'शब्द' के विषय में समकालीन स्तोइकवाद का प्रभाव पाया है। इसके विपरीत बहुत सम्भव है कि 'शब्द' विषयक चिन्तन प्रज्ञा-ग्रन्थों की प्रज्ञा-धारणा से सम्बन्ध रखता हो। जो भी हो, अन्य धार्मिक परंपराओं के समान यहूदी और ईसाई धर्म-ग्रंथों में भी कम से कम किसी सीमा तक दार्शनिक चिन्तन मिलता है। फिर भी हिन्दू या बौद्ध धर्मों की तुलना में बाइबिल-ग्रंथ स्पष्टतः कम दार्शनिक स्वरूप का है। इस बात का

१. सूक्ति-ग्रंथ, ८ : २२, ३०।
२. मक्काबियों का दूसरा ग्रंथ, ७ : २८।
३. वही, १ : १।

कारण इब्रानी संस्कृति में दर्शन के विकास का है। इस अ-दार्शनिक वातावरण में रचित ग्रंथ स्वयं भी दर्शन-रहित हैं, यह आश्चर्य की बात नहीं होगी।

भिन्न-भिन्न धर्म-ग्रन्थों के उपर्युक्त विश्लेषण से हमारा दावा सिद्ध हो गया, अर्थात् धर्म-ग्रन्थों पर दार्शनिक चिन्तन, किसी परम्परा में भी, इन्हीं ग्रंथों में शामिल है और उनका एक अविभाज्य अंग भी है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि हमारा प्रस्ताव, अर्थात् धर्म-ग्रंथों पर दार्शनिक चिन्तन करने का, असंगत नहीं है। किसी भी धार्मिक परंपरा का ग्रंथ कम से कम **संभव रूप से** दर्शन का विषय हो सकता है। 'सम्भव रूप से' इसलिए कि अमुक परम्परा में दार्शनिक चिन्तन **वास्तव में** कम हुआ—कम से कम धर्म-ग्रंथों के अन्तर्गत ही। इस सामान्य निष्कर्ष से एक दूसरा निष्कर्ष भी जोड़ा जा सकता है जो धर्म-परंपराओं की भिन्नता से सम्बन्ध रखता है। जैसे हमने देखा है, भिन्न-भिन्न धर्मों में दर्शन का प्रभाव अधिक या कम मात्रा में हुआ। इससे महत्त्व का यह निष्कर्ष निकलता है कि भिन्न भिन्न परम्पराओं में दर्शन और धर्म का भेद कम या अधिक स्पष्टता से किया गया है।

धर्म और दर्शन का भेद

फिर यह धर्म-दर्शन का भेद अनिवार्य लगता है। कारण, धर्म-ग्रंथों पर हर प्रकार का चिन्तन दार्शनिक दृष्टिकोण से नहीं किया जाता है। ब्राह्मणों में मिलने वाली संहिताओं की व्याख्या विधि-विधान विषयक है, दर्शन सम्बन्धी नहीं। बाइबिल के उत्तरार्ध में प्रचलित प्रणाली के अनुसार पूर्वार्ध की उक्तियों का उद्धरण इसलिए किया जाता है ताकि उत्तरार्ध में पूर्वार्ध की भविष्यवाणियाँ पूरी सिद्ध हो जांय। वह दार्शनिक व्याख्या नहीं है, इसे प्रतीकात्मक या भविष्यसूचक कहना अधिक उचित होगा। पूर्वोक्त दो उदाहरण धर्म-ग्रंथों के अन्तर्गत व्याख्या के हैं; श्रौत ग्रन्थों पर स्मार्त ग्रन्थों का भाष्य भी धार्मिक स्वाभाव का ही है, दार्शनिक चिन्तन से भिन्न। पूर्वमीमांसा श्रुति की व्याख्या तो प्रस्तुत करती है, फिर भी इस तथाकथित 'दर्शन' का उद्देश्य वेद-उक्तियों का समन्वय करना ही है, यद्यपि इस प्रसंग में दार्शनिक विश्लेषण भी मिल सकता है, जैसे भाषा के विषय में। औगुस्तीन जैसे ईसाई आचार्यों का बाइबिल-भाष्य मुख्यतः धार्मिक स्वरूप का है, लेकिन उनमें भी दार्शनिक चिन्तन का प्रभाव मिलता है, जैसे काल-स्वरूप के विषय में। इसलिए धर्म-ग्रन्थों संबन्धी भिन्न-भिन्न प्रकार के चिन्तन का स्पष्ट भेद करना आवश्यक प्रतीत होता है।

शुद्ध दार्शनिक चिन्तन का अन्य प्रकार की व्याख्या से पृथक्करण किस आधार पर किया जाता है? इस प्रसंग में विचारधाराओं की विविधता ध्यान में रखकर विविध मानदण्डों का प्रयोग करना स्वाभाविक ही है। वेदांत में धर्म और दर्शन का विभाजन कर्मकाण्डी और ज्ञानकाण्डी दृष्टिकोण के भेद पर आधारित प्रतीत होता है। पहला यज्ञ-सम्बन्धी क्रिया मात्र की व्याख्या प्रस्तुत करता है और इसलिए किसी संकीर्ण अर्थ में धार्मिक दर्शन कहा जा सकता है। दूसरा इसलिए 'दार्शनिक' दृष्टिकोण कहलायेगा कि उससे प्राप्त हुआ ज्ञान शुद्ध दार्शनिक विवेचन का परिणाम है। इसके अतिरिक्त उत्तर-मीमांसा में

वेद-पाठ की व्याख्या विविध वचनों की तर्क-संगतता पर निर्भर रहती है, पर पूर्वमीमांसा के सदृश यहाँ भी वेद को शब्द-प्रमाण माना जाता है। अद्वैत के मूल सिद्धान्त, अर्थात् ब्रह्म और आत्मा का तादात्म्य, की पुष्टि के लिए श्री शंकराचार्य औपनिषद् महावाक्यों को उद्धृत करते हैं। फिर, वे 'विवर्त-वाद' का इसलिए प्रतिपादन करते हैं कि वह निर्विकार ब्रह्म और उपादान कारण स्वरूप ब्रह्म सम्बन्धी वैदिक उक्तियों का सामंजस्य कर सके।

मध्यकालीन ईसाई विचारधारा में भी दर्शन, दार्शनिक प्रणाली का प्रयोग करते हुए भी, बाइबिल-श्रुति से सम्बन्ध रखता है। सृष्टिवाद का विस्तार करने के लिए स्कोलावादी[१] आचार्यों को उत्पत्ति-ग्रन्थ से प्रेरणा मिली। कालक्रम आदि या अनादि होने की समस्या भी बाइबिल की उक्ति, अर्थात् **आदि** में ईश्वर ने आकाश और पृथ्वी की सृष्टि की,[२] के संदर्भ में उत्पन्न हुई। फिर भी, काल-विषयक वाद-विवाद सिर्फ बौद्धिक तर्क के अनुसार किया जाता था। यहाँ तक कि संत थोमस बाइबिल-कथन के विरुद्ध ही स्वीकार करते हैं कि काल अनादि हुआ, इस बात का खण्डन नहीं किया जा सकता है। दूसरी ओर, यद्यपि वे दार्शनिक दृष्टिकोण से अनादि काल का सिद्धान्त अप्रमाणित नहीं कर सकते हैं लेकिन धार्मिक दृष्टिकोण से, अर्थात् बाइबिल के आधार पर, आदि काल को सच मानते हैं। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि ईसाई परम्परा में धर्म और दर्शन का भेद शब्द और प्रमाण पर आश्रित है, जबकि वेदांत में कर्मकाण्ड-ज्ञानकाण्डो का विरोध प्रचलित है।

अब हम यह प्रश्न उठाना चाहेंगे कि विचारधाराओं की विविधता न मानकर धर्म-दर्शन का भेद सामान्य रूप से निर्धारित किया जा सकता है। भेद का प्रस्तुत किया जाने वाला मानदण्ड सब परम्पराओं में प्रयोज्य होगा—ऐसा हमारा अभिप्राय है। धर्म-ग्रंथ के सन्दर्भ में किया हुआ चिन्तन तब तक दार्शनिक स्वरूप का नहीं होगा जब तक विचारक अमुक धर्म-ग्रन्थ को शब्द-प्रमाण के रूप में स्वीकार करता है। जो विचारक अपना सिद्धांत धर्म-ग्रन्थ के बल पर सिद्ध समझता है वह वास्तव में दार्शनिक कहला सकता है, इसमें सन्देह हो सकता है। इस बात का कारण ठीक यही है कि किसी धर्म-ग्रन्थ को सत्य मानना उसे स्वीकार करना ही है। फिर धर्म-ग्रंथ की स्वीकृति धार्मिक मनोभाव का परिणाम है। दार्शनिक जिस धर्म-ग्रंथ को अपने चिन्तन का विषय बनाता है उसे न तो सत्य मानता है, न असत्य ही। फिर भी किसी उक्ति को सत्य नहीं मानना उसे असत्य मानने के समान नहीं है। दार्शनिक दृष्टिकोण धर्म-निरपेक्ष मात्र है, नास्तिक नहीं। धर्म के संबंध में, अर्थात् उसकी सत्यता के प्रति, दार्शनिक दृष्टि अभावात्मक है, निषेधात्मक नहीं। किसी धर्म-ग्रंथ को मिथ्या मानने का परिणाम उसे अस्वीकार करना होगा। निषेधात्मक होते हुए भी यह अस्वीकृति फिर धार्मिक स्वभाव की (या धर्म-सम्बन्धी) क्रिया होगी। दार्शनिक धर्म या धर्म-ग्रंथ को न तो स्वीकार करता हैं, न अस्वीकार करता है, क्योंकि वह उनकी सत्यता का प्रश्न तक नहीं उठाता है।

(१) Scholastic
(२) उत्पत्ति-ग्रन्थ

दो प्रकार के प्रश्न

धर्म-ग्रन्थ के सन्दर्भ में जो दार्शनिक प्रश्न उठते हैं वे दो प्रकार के हो सकते हैं। पहला धर्म-दर्शन के दृष्टिकोण से यह पूछता है कि अमुक धर्म-ग्रन्थ में अभिव्यक्त धर्म किस स्वभाव का है? दूसरा इस बात का अनुसंधान करता है कि धर्म-ग्रंथ में अभिव्यक्त धर्म के कौन-कौन दार्शनिक निहितार्थ हैं, दूसरे शब्दों में कि इस अमुक धर्म का दार्शनिक आधार कौन सा है?* उदाहरण द्वारा हम इन दो प्रकार के प्रश्नों को स्पष्ट करें। किस धर्म-ग्रन्थ का विश्लेषण करके मैं इस धर्म का मूल-सिद्धान्त निर्धारित करने का प्रयत्न कर सकता हूँ: क्या उसका दृष्टिकोण ईश्वरवादी है या सर्वेश्वरवादी? इसके अतिरिक्त मैं एक और प्रश्न उठा सकता हूँ, अर्थात्, ईश्वरवाद या सर्वेश्वरवाद के भिन्न-भिन्न निहितार्थ कौन हैं? इस प्रसंग में धर्मानुयायी की मनोवृत्ति दार्शनिक अभिप्राय से बिल्कुल भिन्न है। ईश्वरवाद के उदाहरण में भक्त इष्टदेव की शरण लेकर उस पर अपना भरोसा रखता है। इसके विपरीत, दार्शनिक का उद्देश्य केवल इस धर्म का वर्गीकरण करना ही है। फिर एकेश्वरवादी, यदि वह सृष्टिवाद भी मानता है, जगत् में सृष्टिकर्त्ता का सान्निध्य पहचानेगा; दूसरी ओर दार्शनिक एकेश्वरवाद में निहित परमेश्वर की अन्तर्यामिता को परिभाषित करना चाहेगा। धार्मिक भावों से प्रभावित न होकर वह सिर्फ अनुमान और तर्कसंगति की चिन्ता करता है। संक्षेप में, धर्म-ग्रन्थ विषयक दार्शनिक प्रश्न दो प्रकार के हैं: धार्मिक प्रकार के और दार्शनिक प्रकार के।* अब हम इन दो प्रकार के प्रश्नों का विस्तार एक दो उदाहरणों द्वारा करेंगे। इससे हमारा धर्म-ग्रन्थों पर दार्शनिक चिन्तन करने का अभिप्राय अधिक स्पष्ट हो जायगा।

धर्म-प्रकार विषयक पहला प्रश्न

एकेश्वरवादी धर्म का उदाहरण लीजिए। शुरू से ही हमें इस ग़लती से सावधान रहना चाहिये जो एकेश्वरवादी धर्म को मात्र एकेश्वरवाद से अभिन्न मानने से उत्पन्न होती है। एकेश्वरवाद एक दार्शनिक सिद्धान्त ही है, जिसका प्रतिपादन किया जा सकता है, जिसे प्रमाणित या अप्रमाणित किया जा सकता है, इत्यादि। उपर्युक्त क्रियाएँ बौद्धिक स्वरूप की हैं, धार्मिक नहीं। इसके विपरीत एकेश्वरवादी एक ही परमेश्वर की उपासना करता है, उसी पर अपना सम्पूर्ण भरोसा रखता है, इत्यादि। दूसरे शब्दों में, एकेश्वरवादी की क्रियाएँ धार्मिक भावना से प्रेरित होती हैं। अनुषंगतः मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि धर्म का पूरा तात्पर्य भावना या अनुभव मात्र में निहित है। यदि हमारे पूर्वोक्त सुझाव के अनुसार धर्मग्रन्थों में दार्शनिक धारणाएँ भी अव्यक्त रूप से शामिल हैं, तो स्पष्टतः धर्म का विषय बोधगम्य बातें भी हो सकती हैं। फिर भी प्रस्तुत प्रसंग में यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि क्या धार्मिक भावना का विश्लेषण दार्शनिक अनुसन्धान का विषय हो सकता है? निषेधात्मक रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि प्रस्तुत विश्लेषण ऐतिहासिक अनुसन्धान नहीं है, मानो वह एकेश्वरवाद के क्रमिक विकास का वर्णन करता है। वह धर्म-सिद्धान्त की व्याख्या से भी भिन्न है, क्योंकि उसके अधार्मिक दृष्टिकोण में एक ही परमेश्वर पर विश्वास सत्य धर्म का

१. अर्थात् धर्म-निरपेक्ष, नास्तिक नहीं।

लक्षण नहीं माना जाता है। भावात्मक रूप से प्रस्तुत अनुसंधान रुडोल्फ़ आट्टो के अनुसार 'धार्मिक मनोभाव का वर्णन' (Phenomeno logy of Religion) कहा जा सकता है। इस वर्णन का दर्शन से सम्बन्ध इसी से स्पष्ट है कि भावना का विश्लेषण इस धर्म में निहित दार्शनिक सिद्धांतों की व्याख्या को सहायता दे सकता है, जैसाकि बाद में स्पष्ट हो जायगा।

इन प्रारंभिक विचारों के पश्चात् अब हम बाइबिल-ग्रन्थ से एकेश्वरवादी भावना को व्यक्त करने वाला उद्धरण लें। दश शील[1] के प्रसंग में परमेश्वर का पहला आदेश इस प्रकार है: "मैं प्रभु तुम्हारा ईश्वर हूं....मेरे सिवाय तुम्हारा कोई ईश्वर नहीं होगा"[2]। पहले-पहल यह बात हमारा ध्यान आकर्षित करती है कि एक ही परमेश्वर पर विश्वास अन्य देवताओं को अपवर्जित करता है। दूसरे देवता एकेश्वरवादी उपासना का विषय नहीं हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त, उनके अस्तित्त्व तक का निषेध किया जाता है। इस मान्यता के औचित्य के विषय में कुछ कहने से पहले उसका स्रोत देखना अच्छा ही होगा। यहूदी धर्म के अनुयायी अपने देवता को इसलिए एकमात्र परमेश्वर मानते थे क्योंकि उसी देवता की ओर से उन्हें सब कुछ प्राप्त हुआ: यहूदी प्रजा का अस्तित्त्व ही उन्हीं परमेश्वर पर निर्भर रहता था। यहूदी एकेश्वरवाद इस जाति के धार्मिक अनुभव का परिणाम है: यह देखकर कि उसी देवता की भक्ति से उन्हें मिस्र की गुलामी से स्वतंत्रता मिली थी, यहूदियों ने यह निष्कर्ष निकाला कि उस देवता की शक्ति किसी एक जाति तक सीमित नहीं, बल्कि सार्वभौम ही है। जिस देवता का पूर्ण सृष्टि पर अधिकार है उसे परमेश्वर ही मानना स्वाभाविक परिणाम था। उल्लेखनीय बात है कि एक ही परमेश्वर पर यहूदी विश्वास सिद्धांत मात्र नहीं, धार्मिक अनुभव से उत्पन्न आस्था है।

इस आस्था के अनुसार एकेश्वरवादी का मौलिक मनोभाव निरुपाधिक भक्ति है। जो सिर्फ एक ही परमेश्वर को स्वीकार करता है वह उसे अपने आपको पूर्ण रूप से समर्पित भी करेगा। बाइबिल की "निर्गमन-ग्रन्थ" नामक रचना में यह भावना इस प्रकार अभिव्यक्त की गई है: "हमारा प्रभु-ईश्वर एकमात्र प्रभु है। तुम अपने प्रभु-ईश्वर को अपने सारे हृदय, अपनी सारी आत्मा और अपनी सारी शक्ति से प्यार करो[3]"। इस संपूर्णता के लक्षण की अपेक्षा अन्य देवताओं की अस्वीकृति गौण प्रतीत होती है। धर्म प्रेम से कम अपवर्जक नहीं होता है: जैसे प्रेम में सिर्फ एक पति (या पत्नी) के लिए ही स्थान हो सकता है, वैसा ही भक्ति का विषय केवल एकमात्र ईश्वर ही हो सकता है।

तुलनात्मक रूप से, अब वेद-संहिता से "एकं सद्विप्रा बहुधा वदंति" सुप्रसिद्ध श्लोक का उद्धरण करें। हम इसे किसी सामान्य और अस्पष्ट "सर्वेश्वरवाद" की अभिव्यक्ति न मानकर इसका मौलिक और विशेष अभिप्राय निकालने का प्रयत्न करेंगे। कदाचित् पूर्वोक्त पद को एकेश्वरवाद की संकीर्णता के विपरीत उदारता का प्रमाण माना जाता है। ऋषि

1. Ten Commandments.
२. निर्गमन-ग्रंथ २०, १-२।
३. वही ६: ४-५।

इसमें एकेश्वरवाद का सामना करता है, यह संदेह की बात है। उसका 'एकम' का प्रतिपादन, एकेश्वरवादी निषेध के समान, दिव्य सत्ता के संदर्भ में अनेकता की अस्वीकृति जैसा लगता है। रचना का ऐतिहासिक वातावरण देखकर यह व्याख्या बहुत सम्भव प्रतीत होती है : समकालीन धर्म अनेकेश्वरवादी नहीं होते हुए भी विविध दिव्य शक्तियों की उपासना किया करता था, जैसे अग्नि, वायु, आदित्य की। इन परिस्थितियों में धार्मिक भाव में यह अन्तर्बोध उत्पन्न हुआ कि किसी भी पृथक् देवता में दिव्य सत्ता की संपूर्णता नहीं रह सकती है। देवताओं की समष्टि भी परम तत्त्व की अभिव्यक्ति नहीं कर सकती है बल्कि उनसे परे नामहीन सत्ता छिपी हुई है। फिर, जब कि मैं इस श्लोक पर चिंतन कर रहा हूं मुझे ठीक से मालूम है कि मैं सिर्फ बाहरी रूप से उस पर भाष्य कर सकता हूं। मुझ में इसका मर्म समझने के लिए अपेक्षित इस विशेष भावना का अभाव है जो वैदिक उपासक की थी। दार्शनिक शायद केवल अपने धर्म की भावना पर मनन कर सकता है। धार्मिक मनोभाव पर चिंतन विभिन्न धर्मानुयायी दार्शनिकों के सहयोग का क्षेत्र हो सकता है। कारण, भावना पर चिंतन की पहली शर्त है इस भावना की प्राप्ति।

पहले प्रकार के प्रश्न—अर्थात् अमुक धर्म का स्वरूप क्या है ? के फलस्वरूप हमें विशेष भावना के विश्लेषण के अतिरिक्त एक और बात प्राप्त हुई। धार्मिक मनोभाव के स्पष्टीकरण से उसके विषय का भी निर्धारण सहज हो गया। एकेश्वरवाद के उदाहरण में अपवर्जितता से बढ़कर भक्ति की संपूर्णता महत्त्व की प्रतीत हुई। इस भावना की संपूर्णता से उसके विषय की संपूर्णता का भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है : परमेश्वर क्योंकि निरुपाधिक भक्ति का विषय है, इसलिए स्वयं ही निरुपाधिक माना जाता है। ठीक उसी प्रकार वैदिक "एकम्" विभिन्न उपासकों का अज्ञात विषय होकर उनके विभिन्न देवताओं के गुणों की संपूर्णता अपने-आप में शामिल करता है। ऐसा हो तो पहले प्रश्न का फल दूसरे प्रश्न की भूमिका हो जाता है। जब किसी धर्म का विषय स्पष्ट रूप से निर्धारित किया गया है तो इसमें से दार्शनिक निहितार्थ निकालना भी (जो दूसरे प्रकार के प्रश्न का विषय है) सहज हो गया। किसी धर्म-सिद्धांत में से दार्शनिक और धार्मिक विचारक दोनों निहितार्थ निकाल सकते हैं, लेकिन अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार। जिस सिद्धांत को एक सच मानता है उसे दूसरा परिकल्पना मात्र समझता है। हो सकता है कि दार्शनिक को अपने अनुसंधान के फलस्वरूप अमुक धर्म-सिद्धांत को असत्य मानना पड़े। उसी हद तक दार्शनिक का दृष्टिकोण भी सत्य के विषय में होता है।

धर्मग्रन्थ में दार्शनिक निहितार्थ सम्बन्धी दूसरा प्रश्न

हमारे दूसरे प्रश्न का अभिप्राय है धर्म-ग्रन्थ के दार्शनिक निहितार्थ स्पष्ट करना। इस अनुसंधान का बाइबिल-ग्रन्थ उपयुक्त विषय है क्योंकि उसमें दार्शनिक सिद्धांत व्यक्त रूप से कम मात्रा में मिलते हैं। सांस्कृतिक वातावरण के अतिरिक्त इस बात का कारण बाइबिल-ग्रन्थ की शैली में पाया जा सकता है। पूर्वार्ध की रचनाएं या तो ऐतिहासिक या काव्यमय हैं, सैद्धांतिक नहीं। यद्यपि उपर्युक्त ग्रन्थों में 'प्रज्ञा' की चर्चा भी हो सकती

है, लेकिन—जैसे हमने ऊपर कहा है—यह तथाकथित प्रज्ञा मुख्यतः व्यावहारिक चाल-चलन के विषय में होती है। उत्तरार्ध में ईसा-मसीह के जीवन-चरित के अलावा प्रथम शिष्यों के दूसरे लेख भी मिलते हैं: जो धर्मोपदेश के रूप में चिंतन वहाँ मिलता है वह धार्मिक स्वरूप का है। फिर भी, व्यक्त दार्शनिक सिद्धांतों के अभाव में भी रचनाएं अव्यक्त रूप से दार्शनिक निहितार्थ का समावेश करती हैं।

यहूदियों के इस दृढ़ विश्वास का उदाहरण लीजिए कि इतिहास की घटनाओं में परमेश्वर का हस्तक्षेप होता है। उनका मिस्र की गुलामी से स्वतंत्रता प्राप्त करना उनकी दृष्टि में परमेश्वर की सहायता से हुआ था। इसलिए वे मुक्तिदाता स्वरूप परमेश्वर के सान्निध्य पर विश्वास करने लगे। इस आस्था में जो अव्यक्त रूप से दार्शनिक धारणा निहित है वह परमेश्वर की अंतर्यामिता की है। अपने यहूदी सजातीयों के ऐतिहासिक अनुभव का सामान्यीकरण करके भजनकार ने परमेश्वर की सर्वव्यापिता का इस प्रकार वर्णन किया: "मैं स्वर्ग में चढ़ जाऊं तो वहाँ है ही तू। पाताललोक में बिस्तर डालूं तो वहाँ भी तू ही है"[1]। सच, अभिव्यक्ति काव्यमय स्वभाव की है, लेकिन सर्वव्यापी परमेश्वर का प्रत्यय अनुपस्थित नहीं है। फिर, वह परमेश्वर के इस लोकातीतत्व का सम्पूरक विचार है जो स्वयं ही बाइबिल-दर्शन का निहितार्थ है। जो सिद्धांत व्यक्त रूप से मिलता है, उसके अनुसार परमेश्वर ने विश्व को सृष्ट किया। इसमें निहित निष्कर्ष यह है कि जिसने सब-कुछ की सृष्टि की वह स्वयं ही असृष्ट है—इसलिए अन्य सृष्ट तत्त्वों से परे, अर्थात् लोकातीत।

निहितार्थ की यथार्थता उसके परवर्ती स्पष्टीकरण द्वारा सिद्ध हो जाती है। बाद में बाइबिल वातावरण में विचार करके स्कूलवादी दार्शनिक[2] इस सर्वव्यापिता के लिए प्रमाण प्रस्तुत करने लगे, जिसका प्रतिपादन धर्म-ग्रंथ ने किया था। उदाहरणार्थ, संत थोमस इस समस्या का समाधान करने की कोशिश करते हैं: क्या वास्तव में परमेश्वर सब तत्त्वों में उपस्थित है? संक्षेप में उनकी तर्कना इस प्रकार है: परमेश्वर सब तत्त्वों का सृष्टिकर्त्ता है; फिर तत्त्वों का मर्म उनकी यथार्थता है जिनकी सृष्टि परमेश्वर ने की; इसलिए परमेश्वर न केवल सब तत्त्वों का अंतर्यामी है बल्कि घनिष्ठ रूप से है[3]। निहितार्थ को अभिव्यक्त करने की प्रक्रिया थोमस आचार्य के विचार में पूर्णता तक पहुंची है। वे न केवल सर्वव्यापिता को प्रमाणित करते हैं, दूसरे सिद्धांतों से, जैसे सृष्टि-वाद और सत्ता की तत्त्व-मीमांसा[4] से, उनका सामंजस्य भी करते हैं। लेकिन हम यह तथ्य न भूल जाएं कि इस दार्शनिक विचार को प्रारंभिक प्रेरणा धार्मिक अनुभव से मिली थी। धर्म का दर्शन पर प्रभाव पड़ा: इस सत्य का निषेध करना मुश्किल ही होगा। इस तथ्य से तुरंत ही यह निष्कर्ष निकलता है कि धर्म-ग्रंथों पर दार्शनिक दृष्टिकोण से विचार

१. स्तवो १२९ : ८
2 Scholastic Philosophers.
3. Summa Theologia, I, 8, 1.
4. Philosophy of Being.

करना वैकल्पिक बात नहीं, बल्कि आवश्यक ही है। कारण, किसी एक दर्शन को वास्तव में समझने के लिए उस धर्म की जानकारी भी अनिवार्य होगी जिसने चेतन या अचेतन रूप से अमुक दर्शन पर अपना प्रभाव डाला। अंतर्यामिता की दूसरी धारणा इस बात का स्पष्टीकरण प्रदान कर सकेगी।

उदाहरण अद्वैत-वेदांत से लिया गया है और प्रतिलोम रूप से प्रस्तुत किया जाएगा, अर्थात् सिद्धांत के विस्तृत प्रतिपादन से लेकर उसके धर्म-ग्रंथ में अव्यक्त रूप तक। निर्विवाद रूप से अद्वैत के अनुसार अंतर्यामिता की धारणा अपने उसके थोमसवादी[1] प्रतिरूप से बिल्कुल भिन्न है। संत थोमस के दृष्टिकोण में परमेश्वर का सान्निध्य कितना भी घनिष्ठ क्यों न हो, लेकिन वह सृष्टिकर्त्ता और सृष्ट तत्त्व की पृथक्ता कभी नहीं भंग करता है। इसके विपरीत शंकराचार्य ब्रह्म और आत्मा का तादात्म्य ही सिद्ध मानते हैं। दार्शनिक सिद्धांतों के इस स्पष्ट विरोध का मूल कारण भिन्न-भिन्न परम्पराओं के आधारभूत ग्रंथों में खोजना पड़ता है। ठीक संत थोमस के समान शंकराचार्य भी अपना मत तर्कना द्वारा प्रमाणित करते हैं। ईश्वर और जीवात्मा का भेद आभास मात्र होता है, अद्वैत ही यथार्थ है। इस तत्त्व-मीमांसा का आधार ज्ञान-शास्त्र का दो-तरफा दृष्टिकोण है : अविद्या के दृष्टिकोण से व्यावहारिक सत्य, विद्या के दृष्टिकोण से पारमार्थिक सत्य प्राप्त होता है। फिर भी इन तार्किक प्रमाणों की पुष्टि करने के लिए शंकराचार्य श्रुति से भी उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इससे स्पष्ट है कि उन्हें मालूम है कि उनके दर्शन का स्रोत धर्म-ग्रंथ ही है। उपनिषदों में काव्यमय रूप से मूल तत्त्व की सर्वव्यापिता और उसकी भिन्न-भिन्न तत्त्वों में एकरूपता प्रतिपादित की गई है। और "तत्त्वमसि" जैसे गूढ़ कथन में जिज्ञासु की आंतरिक सत्ता उस सर्वव्यापी तत्त्व से अभिन्न कही गई है। शंकराचार्य का विचार इस एकता के साक्षात् अनुभव पर निर्भर है, जैसा संत थोमस का विचार एकेश्वरवाद की अनुभूति पर आश्रित है। इन दो दर्शनों का भेद इन दोनों के पृथक्-पृथक् धार्मिक अनुभवों के आधार पर समझा जा सकता है।

उपसंहार

उपसंहार के रूप में हम पाठक का ध्यान दो-तीन बातों की ओर आकर्षित करना चाहेंगे। पहली यह : समान रूप से धर्म-ग्रंथों को दार्शनिक चिंतन का विषय बनाते हुए भी, हम विभिन्न धर्म-परम्पराओं को सब एक ही प्रकार की नहीं मानते हैं। वास्तव में उनके सिद्धांतों का सामान्य दार्शनिक शब्दावली में प्रतिपादन किया जा सकता है लेकिन एक ही अभिव्यक्ति का अर्थ भिन्न-भिन्न हो सकता है। धार्मिक स्रोत के अन्वेषण के फलस्वरूप द्व्यर्थकता का निराकरण किया जा सकता है। दूसरी बात हमारे एक पूर्वाग्रह के विषय में है, अर्थात् कि धर्म का दर्शन पर बहुत प्रभाव पड़ा है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी यदि हम इस तथ्य का ध्यान रखेंगे कि दर्शन अपने सांस्कृतिक वातावरण पर चिंतन है और धर्म संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंश ही है। धर्म के प्रभाव के फलस्वरूप दर्शन कम

1. Thomistic.

दार्शनिक नहीं बन जाता है : धार्मिक अनुभूति सामान्य अनुभव के सदृश दार्शनिक चिंतन का स्रोत होती है। तीसरी बात : अवश्य ही हम धर्म और दर्शन का भेद अनिवार्य मानते हैं। फिर भी, दोनों की पृथक्ता के बावजूद दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध भी है : न तो केवल धर्म-दर्शन पर अपना प्रभाव डालता है, बल्कि वह दर्शन का विषय भी हो सकता है। इससे प्रतीत होता है कि हमारा प्रारम्भिक प्रस्ताव, धर्म-ग्रंथों पर दार्शनिक चिंतन करने का, विस्तृत रूप से भी लिया जा सकता है : धर्म की संपूर्णता दार्शनिक अन्वेषण का विषय बनायी जा सकती है।

श्री अरविंद-दर्शन में परात्पर तत्त्व

अंजनीकुमार सिंह

परात्पर का प्रत्यय अनेक भ्रांतियों और विशिष्टताओं से युक्त है। आध्यात्मिक रूप से जगत् की रचना और उसके सम्बन्धों की व्याख्या करने वाले दर्शनों में सरलता से परात्पर के प्रत्यय को ढूंढा जा सकता है। जगत् की पृष्ठभूमि से आरम्भ करके जगदेतर सत्ताओं की पृष्ठभूमि तक सभी आध्यात्मिक तत्त्वज्ञानियों ने अक्षुण्ण, अविराम और अबाध रूप से विद्यमान एक परम सत् को स्वीकार किया है। वस्तुत: यही परात्पर तत्त्व परम तत्त्व है जो क्रमशः सृष्टि-क्रम में अभिव्यक्त होते हुए दार्शनिक और तात्त्विक दृष्टि से अन्तर और बाह्य तथा पर और अपर की व्याख्या करने में समर्थ है।

प्राय: दर्शन के प्रथम सिद्धांतों की व्याख्या में जगत् और ईश्वर के सम्बन्धों की द्वन्द्वात्मक व्याख्या का समाधान करना पड़ता है। इस दृष्टि से यदि ईश्वर को जगत्-बाह्य स्वीकार किया जाता है तो वह जगत् का कर्त्ता होते हुए भी जगत् का नियंता नहीं रह जाता और स्वयं एक निरपेक्ष स्वरूपविश्रान्त इकाई बन जाता है। इसके विपरीत यदि ईश्वर को जगत् में अन्तर्व्याप्त माना जाता है तो जगत् के समस्त गुण-दोष ईश्वर के गुण-दोष बन जाते हैं। इन दोनों ही स्थितियों के विरोधाभास और द्वन्द्व ने दार्शनिक जगत् में एक ऐसे विचार या प्रत्यय को जन्म दिया जिसके आधार पर जगत् और ईश्वर के सामंजस्य की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की गई। परात्पर का प्रत्यय ही वह दार्शनिक विचार है जो जगत् और ईश्वर के परस्पर द्वन्द्व की समस्या का परिहार करता है।

दार्शनिक विचार के इतिहास में प्रमुख रूप से सत्ता को समझने के तीन प्रयास हुए[1]। एकेश्वरवादी विचार इस दिशा में प्रथम प्रयास था। एकेश्वरवादी विचार एक परमेश्वर में आस्था रखता है। यह विविध देवी-देवताओं की उपासना और अस्तित्त्व में विश्वास नहीं करता[2] किन्तु यह विचार दार्शनिक और धार्मिक सत्यनिष्ठा को मिला देने से असंगतिपूर्ण हो जाता है। दार्शनिक रूप से एक परम सत्ता में विश्वास ठीक है किंतु धार्मिक रूप से उस परमसत्ता को वैयक्तिक ईश्वर मान लेने से अनेक दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। जगत् के सारे अशुभ लक्षणों का उत्तरदायित्व एकेश्वरवादी विचार-धारा में ईश्वर पर आ जाता है और फिर ईश्वर की मर्यादा और गरिमा के साथ जगत् के अशुभ कृत्यों की संगति बैठाने में दार्शनिक समस्याएँ सुलझने के स्थान पर उलझती

१. मैंने आगे सत्ता के सम्बन्ध में केवल उन्हीं तीन दृष्टिकोणों को लिया है जो मेरी दृष्टि में अब सत्ता की दार्शनिक व्याख्या में क्रम से एक के उपरान्त एक सर्वाधिक संगतिपूर्ण हैं।

2. Monotheism is the religious belief in one personal God. It rejects the polytheistic faith in many qods and qoddesses.

—Haridas Chaudhari, The Philosophy of Inteqralism, p. 22.

चली जाती हैं। इस एकेश्वरवादी विचारधारा की विसंगति के फलस्वरूप दर्शन-जगत् में सत्ता की व्याख्या अनेक दार्शनिक विसंगतियों को दूर करती है। प्राच्य और पाश्चात्य दार्शनिक जगत् में इस व्याख्या को मुख्य रूप से बौद्ध और शांकर वेदान्त तथा हेगल और नव्य हेगलवादी संप्रदायों ने विकसित किया है। उदाहरण के लिए शंकर अरूप, अनिर्धार्य को निर्गुण ब्रह्म के रूप पें सत्ता का सार मानते हैं। बौद्ध दार्शनिक इसी को अरूप, अव्याख्येय, 'शून्यता' या "तथता" मानते हैं। इस प्रकार दोनों ही दार्शनिक यह मानते हैं कि सत्ता अरूप और अनिर्धार्य है तथा यह बुद्धि की कोटियों से अतीत है। पाश्चात्य दार्शनिकों में हेगल, ब्रैडले, बोसांके प्रभृति चिंतकों ने भी एकेश्वरवादी और अनेकेश्वरवादी विचारधाराओं की त्रुटियों से बचने के लिए परमसत् को एक निरपेक्ष तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। फिर भी सत्ता के विचार से सम्बन्धित पाश्चात्य और पौर्वात्य ये दोनों अवधारणाएँ अपूर्ण हैं। यद्यपि इन विचारधाराओं में भी परात्पर के प्रत्यय का संधान किया जा सकता है तथापि इनमें परात्पर के प्रत्यय की व्याख्या वैश्व स्तर पर नहीं की जा सकती क्योंकि इन दर्शनों में जगत् के भावात्मक अस्तित्त्व को नहीं स्वीकार किया गया है। बौद्ध दार्शनिकों और शंकर ने जगत् को प्रपंच तथा माया माना है। हेगल, ब्रैडले और बोसांके ने जगत् को प्रत्यय, आभास तथा संवृत्ति सत्ता (फिनामिनल एग्ज़िस्टेंस) माना है। उन्हीं कठिनाइयों के कारण परात्पर का प्रत्यय इन चिंतकों की विचारधाराओं में विद्यमान होते हुए भी अनेक भ्रांतियों से युक्त है। इन विचारकों के चिंतन की अपूर्वता निश्चय ही असंदिग्ध है किंतु इनके दर्शनों में परात्पर के प्रत्यय का औचित्य सृष्टि-क्रम के सभी धरातलों पर एक समान प्रतिपादित नहीं किया जा सकता।

भारतीय दर्शन के संदर्भ में श्री अरविंद का पूर्ण अद्वैतवादी दर्शन (फिलासफी ऑफ इंटीग्रल नॉन-डुअलिज्म) सत्ता की व्याख्या में परात्पर के प्रत्वय को सृष्टि-क्रम के समस्त स्तरों पर स्पष्ट करता है। सत्ता की पूर्ण अद्वैतवादी व्याख्या दर्शन के इतिहास में अब तक की गई सत्ता की सर्वोत्कृष्ट व्याख्या है। यह परम सद्वस्तु के अनुभव की अधिमानसिक स्तर से की गई अनुभूति, चेतना और मन की त्रिवेणी के संगम पर योगलब्ध दृष्टि की निर्भ्रान्त व्याख्या है। श्री अरविंद-दर्शन में परात्पर के प्रत्यय से न केवल अरूप, अनिर्धार्य सत्ता ही स्पष्ट होती है अपितु उसके द्वारा सर्वतोभावेन यह भी प्रकट होता है कि किस प्रकार से सत्ता सभी रूपों और निर्धार्यों का स्रोत है। श्री अरविंद ने जिस प्रकार से अपने सर्वांग दर्शन को प्रस्तुत किया है उसमें परात्पर के प्रत्यय को व्यष्टि, समष्टि और उभयातीत स्तरों पर व्याख्यायित किया जा सकता है।

श्री अरविंद के अनुसार व्यक्ति और समष्टि, जड़ और चेतन सब एक ही दिव्य चित्-शक्ति की लीला का परिणाम है। यह चित्-शक्ति सर्वान्तरभूत होते हुए भी सर्वातीत है। इसकी ही क्रीड़ा व्यष्टि, समष्टि और परात्पर तीनों स्तरों पर व्याप्त है। श्री अरविंद-दर्शन में चित्-शक्ति किस प्रकार से व्यष्टि, समष्टि और सर्वातीत स्तर पर गतिशील होती है, इसे विवेचित करने के पूर्व श्री अरविंद-दर्शन में परम तत्त्व के प्रत्यय के रूप में चित्-शक्ति के स्वरूप, लक्ष्य और आधार का विवेचन करना आवश्यक होगा। इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि चित्-शक्ति परात्पर का मात्र गत्यात्मक सिद्धान्त ही नहीं है वरन् यह परम सत्ता का स्थित्यात्मक चेतन पक्ष भी है। जिस समय चेतना अपनी गति में अथवा

गति के एक विशेष दबाव में क्रिया के भीतर अपने आपको भूल जाती है तो वह आपाततः 'अचेतन' ऊर्जा बन जाती है। अतः आध्यात्मिक रूप से भौतिक पदार्थों में भी दिव्य चित्-शक्ति 'अचेतन' ऊर्जा के रूप में विद्यमान रहती है। जिसे अचेतन कहा जाता है वस्तुतः वह चेतना की एक ऐसी अन्तर्लीन अवस्था है जो शून्य के समान, यद्यपि भिन्न प्रकार से, समस्त पदार्थों को अपने भीतर निरुद्ध दशा में धारण किये रहती है जिससे कि ऊपर से या भीतर के दबाव पड़ने पर उससे सब विकसित हो सके। यह ऐसा निश्चेष्ट आत्मा है "जो निद्रा-चारी-शक्ति" से युक्त है।[1] मूल रूप से परात्पर का प्रत्यय (अन्यान्य दर्शनों में) गत्यात्मक पक्ष से सम्बन्धित होता है, किन्तु श्री अरविंद-दर्शन में गति और अगति दोनों ही परमसत्ता के दो पक्ष हैं और दिव्य चित्-शक्ति की ही दो दशाएँ हैं।

मानवीय अनुभूति के लिए परमार्थ तत्त्व का उच्चतम भावात्मक स्वरूप सच्चिदानन्द वह परम तत्त्व है जिसके तीन पक्ष हैं। उच्चतम अवस्था में ये तीन पक्ष नहीं हैं, अपितु एकही हैं—सत्ता चेतना है, चेतना आनन्द है और इस प्रकार ये अपृथक्करणीय हैं, केवल अपृक्करणीय ही नहीं हैं, अपितु इस प्रकार प्रत्येक दूसरा है कि उनमें लेशमात्र भी अन्तर नहीं किया जा सकता। श्री अरविंद के अनुसार सच्चिदानन्द का चेतना पक्ष ही चित्-शक्ति है। यह गत्यात्मक सर्जनाशक्ति है और मूलतः चेतन है। तार्किक दृष्टि से चेतना सभी अस्तित्वों और अनुभवों का आधारभूत तथ्य है। श्री अरविंद-दर्शन में परम चेतना को चेतना और शक्ति दोनों साथ-साथ इसलिए कहा गया है क्योंकि चित्-शक्ति ही परमार्थतत्त्व सच्चिदानन्द के आत्म-प्रकाशन और आत्म-गोपन की लीला को सम्भव बनाने वाला तत्त्व है। श्री अरविंद-दर्शन में परात्पर का प्रत्यय चित्-शक्ति के रूप में विकास-क्रम की अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था में निगूढ़ होता है। जड़ तत्त्व से लेकर परमार्थ तत्त्व सच्चिदानन्द तक चित्-शक्ति की परात्परता ही लक्षित होती है। यह परात्परता आरोह और अवरोह दोनों क्रमों में विद्यमान है। आरोह क्रम में चित्-शक्ति की परात्परता क्रमशः जड़-तत्त्व से प्राण, मन, अतिमन और सच्चिदानन्द तक एक-एक स्तर को पारकर ऊपर जाती है और अवरोह क्रम में चित्-शक्ति की परात्परता क्रमशः सच्चिदानन्द से अतिमन, मन, प्राण और जड़ तत्त्व तक एक-एक रूप को पार कर नीचे उतरती है। परात्पर के प्रत्यय को नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे दोनों अवस्थाओं में परिलक्षित किया जा सकता है। सृष्टि-प्रक्रिया के रूप में सच्चिदानन्द के इस समस्त आत्म-प्रकाश और आत्म-संकोच का प्रयोजन मात्र आनन्द है।[2] इसलिए समस्त प्रकाशित और अप्रकाशित सृष्टि में आरोह और अवरोह क्रम से चित्-शक्ति के रूप में परात्पर विद्यमान है। यह अपनी मूल प्रकृति के कारण प्रत्येक

1. "An inert soul with a somnambulist Force." Shri Aurobindo : Letters on Yoga, Cent. ed., Vol. 28, p. 235.

२. आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्
आनंदादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते
आनन्देन जातानि जीवन्ति
आनन्दं प्रत्यभिसंविशन्ति ।। —तैत्तिरीयोपनिषद, ३-६।

स्तर की सीमाओं को अधः और ऊर्ध्व क्रम में पार करता रहता है। सम्पूर्ण सृष्टि परमा चित्-शक्ति की ही रचना है और स्वयं यही चित्-शक्ति अपनी रचना के प्रत्येक स्तर को अपने ही शाश्वत चैतन्य और शक्ति के द्वारा सतत प्रेरित करती रहती है। इसीलिए यह कहा जाता है कि श्री अरविंद-दर्शन में विकास ब्रह्म का है, ब्रह्म में और ब्रह्म के लिए है। प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि चित्-शक्ति के रूप में परात्पर का स्वरूप ब्रह्म है, लक्ष्य ब्रह्म है और आधार ब्रह्म है। बौद्धिक दृष्टि की परिकल्पना में ही परम तत्त्व सच्चिदानन्द और जगत् में एक बाह्य दूरी परिलक्षित होती है किन्तु आध्यात्मिक नित्य-संकल्प की दृष्टि से सभी कुछ एक ही दिव्य आत्मचैतन्य की आन्तरिक क्रीड़ा है।

परमा चित्-शक्ति की कार्यविधि अनेक-रूपा है। उसकी गति को देखना-समझना अति क्षिप्र मन या सर्वथा विनिर्मुक्त परम व्यापक बुद्धि के लिए भी असम्भव है। किन्तु उसकी गति का कुछ आभास और अनुभव सृष्ट जगत् और जीवों के कार्य-व्यापारों से होता है क्योंकि इनके गुण और कर्म अधिक निर्दिष्ट और मर्यादित होने के कारण अधिक बोध-गम्य होते हैं। वास्तव में चित्-शक्ति की क्रीड़ा के अनेक रूप और रूपों में अनेक स्तर हैं किन्तु यहां मुख्य रूप से चित्-शक्ति के केवल तीन स्तरों : व्यष्टि, समष्टि और उभयातीत को स्पष्ट करते हुए परात्पर के प्रत्यय का वर्णन किया जायेगा। यहां यह एक तथ्य विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि अभिव्यक्ति के ये तीनों स्तर पृथक्-पृथक् नहीं हैं अपितु इनमें एक आन्तरिक तारतम्य है, जिसके फलस्वरूप प्रत्येक दूसरे में समाहित है।[1]

व्यष्टि चित्-शक्ति

चित्-शक्ति जीव के स्तर पर व्यष्टिरूपिणी है। मन, प्राण और शरीर में स्वतंत्रेच्छा से अवरुद्ध चित्-शक्ति भागवत सत्ता के अस्तित्व और आनन्द पक्ष का पार्थिव जगत् में सर्वाधिक प्रत्यक्ष विग्रह में प्रकाशन करती है। इस स्तर पर चित्-शक्ति निरन्तर मनुष्य की सीमित चेतना को प्रेरित करती हुई वैश्व चैतन्य की ओर प्रसरण करती रहती है।

5. Real Idea.
The Real-Idea is a "true order of the creative Divinity". Shri Aurobindo, Ideal and Progress, p. 3.
"This Real-Idea is a truth-perception which is self-effective; for it is the idea and will of the spirit in direct action and originates a movement of the substance of being which must inevitably effectuats itself in state and act of being."
Quoted from Sri Aurobindo's Life Divine by L. G. Chincholkar in his book 'A Critical Study of Aurobindo' on page 45.

1. There are three terms of the one existence, transcendent, universal and individual, and that each of these always contains secretly or overtly the two others. Sri Aurobindo, Life-Divine, Cent, ed. 1972, p. 386.

समष्टि चित्-शक्ति

वैश्य स्तर पर चित्-शक्ति समष्टि रूपिणी है। इस स्तर पर चित्-शक्ति समस्त जीव-जगतों की सृष्टि करते हुए, उनकी अनंत गतियों और शक्तियों को धारण करते हुए, उनमें अन्तर्हित रहकर, उन्हें पुष्ट और परिचालित करते हुए उनका अतिक्रमण करती रहती है।

परा चित्-शक्ति

इस स्तर पर चित्-शक्ति अतिमानस रूपिणी है। अतिमानस चित्-शक्ति का परा रूप है। चित्-शक्ति जब स्वयं को परम सच्चिदानन्द से प्रक्षेपित या प्रस्रवित करती है तब उसकी रचना का प्रथम लोक अतिमानस होता है। चित्-शक्ति के रूप में अतिमानस देश-काल में व्याप्त परम-तत्त्व का विशाल आत्म-विस्तार है। अतिमानस सच्चिदानन्द का ही प्रथम प्रतिरूप है। यद्यपि सत्, चित्, आनन्द का अस्तित्व अतिमानस में पृथक् पृथक् रहता है, तथापि इसकी मूल संस्कृति (एकता) विभाजित नहीं हुई रहती। अतिमानस तत्त्व के द्वारा ही जगत् की प्रक्रिया सम्भव होती है। अतिमानस को हम जगत् का आदि और अंत दोनों कह सकते हैं क्योंकि देश-काल अवच्छिन्न जगत् की सृष्टि सच्चिदानन्द के अतिमानस रूप से ही होती है और जगत् तथा जीवों के विकास का अंतिम लक्ष्य अतिमानस की प्राप्ति ही है।

श्री अरविंद ने अतिमन से उच्चतर मन के लोकों को परार्ध जगत् कहा है और मन से लेकर निश्चेतन तक के स्तर को अपरार्ध जगत्[1] कहा है। चित्-शक्ति का आरोहण या अवरोहण परार्ध जगत् में ज्ञान की ओर होता है, किन्तु अपरार्ध जगत् त्रिगुणात्मिका प्रकृति के बंधन में आबद्ध है। इसलिए इस जगत् की सारी क्रियाएं अष्टधा प्रकृति[२] की क्रियाओं से नियमित होती हैं। इसलिए गीता में कहा गया है—"निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन"। २/४५

गीता की परा-अपरा प्रकृति का विवेचन भी श्री अरविंद के परार्ध और अपरार्ध जगत् के विवेचन से अधिक साम्य रखता है। एक ही चेतना परा-अपरा प्रकृति के मूल में सन्निविष्ट है। परा प्रकृति ही समस्त जीव-भूतों में आविर्भूत होती है—"परा प्रकृति जीव भूता"।[3] जड़-चेतन सभी एक परम दिव्य चित्-शक्ति की लीला के परिणाम हैं। श्री अरविंद के अनुसार भी परार्ध जगत् में क्रियाशील चित्-शक्ति ही अतिमानस रूप से अपरार्ध जगत् में अवतरित होती है तथा सारी सृष्टि की रचना करती है। चित्-शक्ति परात्पर स्तर पर पहुंच कर निश्चेष्ट नहीं हो जाती अपितु वह परात्पर स्तर पर भी अनेक रूपों और स्तर वाले जगतों का निर्माण करती है और उनका अतिक्रमण करते हुए उन्हें उच्चतर ज्ञान में धारण किये रहती है। इस प्रकार चित्-शक्ति की परात्परता का स्वरूप सृष्टि के व्यष्टि, समष्टि तथा उभयातीत सभी स्तरों पर एक है।

1. Higher mind—(उच्चतर मन से अति मन के मध्य प्रकाशित मन, संबोधि मन तथा अधिमन के अन्य चेतना के लोक/आयाम हैं)।
२. अष्टधा प्रकृति : पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार। द्रष्टव्य : गीता ७/४.
३. गीता ७/५।

श्री अरविंद-दर्शन में परात्पर का प्रत्यय निम्नलिखित विशिष्टताओं से युक्त है :—

(१) परात्पर का प्रत्यय चित्-शक्ति के रूप में गत्यात्मक होने के साथ-साथ सर्जनात्मक भी है।

(२) परात्पर का प्रत्यय चित्-शक्ति के रूप में गत्यात्मक और स्थित्यात्मक दोनों है।

(३) परात्पर का प्रत्यय चित्-शक्ति के रूप में द्विमार्गी है। यह आरोह और अवरोह दोनों क्रमों से सत्ता या चेतना के प्रत्येक स्तर का अतिक्रमण करता है।

(४) श्री अरविंद-दर्शन में परात्पर के प्रत्यय का औचित्य चित्-शक्ति के रूप में सृष्टि-क्रम के सभी धरातलों—व्यष्टि, समष्टि और उभयतीत-पर समान रूप से प्रतिपादित किया जा सकता है।

(५) परात्पर के प्रत्यय का स्वरूप, लक्ष्य और आधार चित्-शक्ति के रूप में स्वयं परम सत् सच्चिदानन्द है।

गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

सम्पूर्ण क्रान्ति : एक अध्ययन

रामजीसिंह

क्रांति का मूल तत्त्व परिवर्त्तन है, लेकिन प्रत्येक परिवर्त्तन क्रांति नहीं है। विकास में भी परिवर्त्तन होता है लेकिन वह क्रमिक, मंथर एवं अलक्षित होता है, इसलिए विकास को हम क्रांति नहीं कह सकते। प्राचीन हिन्दू विचार में मानव-सभ्यता का विकास सतयुग, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग के क्रम से माना गया है। यह क्रम विकास है, क्रांति नहीं है। क्रांति की एक दूसरी विशेषता है कि यह स्वतः न होकर विचार एवं प्रयत्न-पूर्वक होती है जिसके मूल में कोई महान आन्तरिक प्रेरणा और सामाजिक परिस्थित्यंतर रहता है। अर्नाल्ड टायनबी ने बताया है कि किस प्रकार प्राचीन यहूदी विचार ही क्रमशः ऐहिक होकर मार्क्सवाद में रूपान्तरित हुआ। यहूदी विचार में जिसे चुने हुए लोग, सज्जन, दिशान्तर, स्वर्ग का राज्य आदि कहते हैं उसे ही मार्क्सवादी शब्दावली में क्रमशः सर्वहारा, बुर्जुआ, साम्यवादी क्रांति और राज्य का विलयन कहते हैं। इसी प्रकार वैदिक संस्कृति के विरुद्ध श्रमण क्रांति में बहुत सारे पुराने मूल्य रख लिये गए, जैसे पुराने शरीर में नया बल दिया जाय। इसलिए 'क्रांति' को यदि एक ओर 'विकास' से भिन्न करना होगा तो दूसरी ओर 'सुधार' से भी भिन्न करना होगा। "सुधार" में विचार भी है और पुरुषार्थ भी, किन्तु उसमें "आमूल" परिवर्त्तन नहीं होता, सामान्य एवं छिटपुट परिवर्त्तन होते हैं। इसलिए डिक्शनरी आफ फिलासफी (मास्को, १९६७) में सामाजिक क्रांति को सामाजिक जीवन का वह बिन्दु माना गया है जहाँ से "सम्पूर्ण" समाज में परिवर्त्तन प्रारम्भ होता है। यही कारण है कि क्रांतियों के दो प्रकार होते हैं—सर्वांगीण और विशिष्ट। वास्तव में परिवर्तन मानव-जीवन के समस्त पहलुओं पर असर नहीं डालता, यह "क्रांति" ही नहीं है। इसलिए केवल राजसत्ता में परिवर्त्तन को ही 'क्रांति' कहना ग़लत है।

२. **सम्पूर्ण क्रान्ति:**—समाज के समग्र जीवन में आमूल परिवर्तन का वैज्ञानिक अध्ययन मार्क्स के पहले शायद नहीं हुआ। दार्शनिकों ने आदर्श भविष्य की कल्पनाएँ तो कीं लेकिन सामाजिक परिप्रेक्ष्य में क्रान्ति का विज्ञान नहीं रक्खा। "रामराज्य", प्लेटो की 'रिपब्लिक", थॉमस मूर की "यूटोपिया" आदि इसी प्रकार के प्रयत्न हैं। इसीलिए मार्क्स को कहना पड़ा—"दार्शनिकों ने अब तक केवल विश्व की व्याख्या की है किन्तु समस्या है इसका परिवर्तन कैसे हो ?"। अतः दार्शनिकों के प्रयत्न दिशा-निर्देश के बिन्दु हो सकते हैं, यथार्थ के नहीं।

धर्म ने समाज-परिवर्तन का लक्ष्य अवश्य रखा किन्तु उसके लिए व्यक्ति को ही परम पुरुषार्थ मानकर उसे दिव्य बनाने की आध्यात्मिक साधना बतायी। धर्म का व्यक्तिगत जीवन के साथ सामाजिक साधना में भी कम महत्व नहीं है, किन्तु धर्म की दृष्टि

मूलत: व्यक्ति-केन्द्रित रही। विश्वास था कि यदि व्यक्ति अच्छे हो जायंगे तो समाज भी सुधर जायगा। लेकिन २५०० वर्षों के धर्म के इतिहास का यह अनुभव है कि धर्म ने **आदर्श व्यक्ति** बनाने में जितनी सफलता पायी है **आदर्श समाज** बनाने में वह उतना सफल नहीं रहा, वर्ना धर्म के नाम पर 'सौ वर्षों की लडाई', शोषण, प्रताड़ना आदि नहीं होते। यही कारण है कि मार्टिन लूथर, कबीर, दयानन्द, इकबाल आदि ने धर्म-सुधार के काम किये। स्वामी विवेकानन्द को तो व्यक्तिगत धर्म की जगह विश्व-धर्म की स्थापना पर जोर देना पड़ा और विनोबा जैसे अध्यात्मवादियों ने प्रचलित धर्म को अप्रासंगिक घोषित कर धर्म-क्रान्ति के लिए व्यक्तिगत भक्ति एवं व्यक्तिगत मुक्ति के बदले 'सामूहिक साधना' और 'सामूहिक मुक्ति' का विचार रक्खा।

जब धर्म की सप्राणता क्षीण होने लगी और धर्म के नाम पर शासकों की निरंकुशता, आर्थिक शोषण एवं सामाजिक विषमता बढ़ने लगी तो रूसो के "समता, स्वतंत्रता एवं भ्रातृत्व" के नारे पर फ्रांस में **राजनीतिक क्रान्ति** हुई और राजतन्त्र के बदले प्रजातन्त्र का उदय हुआ, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को शीर्ष स्थान मिला एवं संसदीय जनतन्त्र तथा निर्वाचन में बहुमत के आधार पर शासन का विधान आया। 'जनता के प्रतिनिधित्व के बिना जनता कर नहीं देगी—ऐसा विचार आया।

किन्तु आर्थिक समानता के बिना यह राजनीतिक समानता एक मखौल बन गयी। जनतन्त्र में भी वोट खरीदे एवं छीने जाने लगे। इस सत्य को मार्क्स ने उजागर कर "आर्थिक क्रांति" की बात रखी। पूंजीवादी प्रजातंत्र का लाभ केवल सुविधा-प्राप्त वर्ग को मिलता है, मिहनतकश लोगों को नहीं। उत्पादन के साधन और स्वामित्व जब तक व्यक्ति के हाथ में रहेंगे तब तक केवल प्रजातंत्र ही पाखंड नहीं बना रहेगा बल्कि सभ्यता, संस्कृति, धर्म और नैतिकता सबका ह्रास होता रहेगा। मानव का सबसे बड़ा अधिकार जीने और जीविका प्राप्त करने का है। इनके अभाव में पूंजीवादी संविधानों में प्रदत्त जनता के मौलिक अधिकारों में वाणी, विचार, संगठन आदि की स्वतंत्रताएँ प्रजातंत्र की शव-यात्रा के शृंगार होंगे। रूस की बोलशेविक क्रांति का मूलाधार यही है। यह अलग बात है कि उससे व्यक्ति की स्वतंत्रता छिन गयी।

चीन में भी इसी प्रकार की आर्थिक-क्रांति हुई लेकिन माओत्सेतुंग ने यह समझा कि केवल सत्ता-परिवर्तन और आर्थिक पद्धति बदलने से ही क्रांति पूर्ण नहीं होगी, इसके लिए नानाविध जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं, रूढ़ियों और मान्यताओं के विरुद्ध लड़ना होगा। इसी को सांस्कृतिक क्रांति कहते हैं। चीन में करोड़ों नौजवानों को "लाल रक्षकों" के रूप में संगठित कर, राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में लगाकर अद्भुत् चमत्कार किया गया। सदियों से चले आ रहे अफ़ीम, वेश्यावृत्ति, लड़कियों के पैर के बंधन समाप्त हो गये और प्रशासनिक भ्रष्टाचार के खिलाफ अभियान हुआ। यह अलग बात है कि यह जनता की स्वत:स्फूर्त क्रांति नहीं थी बल्कि राजसत्ता के द्वारा परिचालित हुई थी।

सांस्कृतिक क्रांति के अन्तर्गत अन्य सभी प्रकार की क्रांतियां आ जाती हैं जिनमें शैक्षिक क्रांति का विशेष स्थान है। चीन की सांस्कृतिक क्रांति में भी शिक्षा के प्रतिष्ठान बंद कर 'आधा काम एवं आधी पढ़ाई" की बात शुरू हुई। रूस में भी मैक्रेंको ने रूस की

शिक्षा-पद्धति का मूल्यांकन करते हुए कार्य पर ज़ोर दिया। मोंटेसरी और महात्मा गांधी, डिवी और पाल फ्रेरे आदि लोगों ने भी "शिक्षा में क्रांति" के चाहे जो भी आयाम प्रस्तुत किये हों, सब में 'उत्पादक श्रम', 'व्यावसायिक कौशल', एवं 'कार्यानुभव पर ही ज़ोर रहा, कार्य के माध्यम से शिक्षा की पद्धति ही श्रेष्ठ मानी गयी।

शिक्षा सांस्कृतिक क्रांति की बुनियाद है लेकिन शिक्षा समाज में ही होती है। समाज-परिवर्त्तन के बिना शिक्षा में परिवर्त्तन भी कठिन है। इसीलिए सांस्कृतिक ांति के लिए सामाजिक क्रांति भी अपेक्षित है। समाज के पुराने संस्कार जल्दी नहीं टूटते। जाति, वर्ण, सम्प्रदाय, धर्म आदि के भेदों के कारण मानवता खंडित और विभाजित है। भारत की "जाति-व्यवस्था" केवल "सामाजिक अन्याय" का ही मूल नहीं है बल्कि आर्थिक विषमता का भी कारण है। सामाजिक रूप से पिछड़ी जातियाँ वस्तुतः राजनीतिक एवं आर्थिक रूप से भी पिछड़ी हैं। इसी प्रकार समाज में न जाने तिलक-दहेज और नारियों की उपेक्षा आदि कितनी कुरीतियाँ हैं। इसलिए क्रांति अंशतः या खंडशः नहीं, सम्पूर्ण होना अपेक्षित है। इसीलिए मार्क्स और महात्मा गांधी दोनों ने "सम्पूर्ण क्रांति" की बातें रखीं। यह अलग बात है कि उनकी कल्पनाएँ भिन्न थीं। डा० राममनोहर लोहिया ने भी "सप्त-क्रांतियों" का विचार रक्खा जिसमें जन्मजात जाति की विषमता का नाश, (२) परदेशी गुलामों की समाप्ति और विश्वराज्य की स्थापना का प्रयास, (३) नरनारी की समानता, (४) चमड़ी के रंग पर आधारित असमानता का नाश, (५) निजी पूंजी की विषमताओं की समाप्ति और योजनाबद्ध रूप से पैदावार बढ़ाना, (६) निजी जीवन में अन्यायों का विरोध, (७) हिंसा और युद्ध का विरोध तथा सत्याग्रह को शामिल किया। कुछ वर्ष पूर्व से भारतीय जनसंघ ने भी "समग्र क्रांति" पर सोचना शुरू किया था। लेकिन बिहार आन्दोलन के गर्भ से "समग्र क्रांति" का मंत्र जब लोकनायक जयप्रकाश ने उच्चार किया तो वह अनेकों के लिए प्रेरणा और अनेकों के लिए विषाद का विषय बन गया। जहाँ कुछ लोग सम्पूर्ण क्रांति में क्रांति-शास्त्र के क्षेत्र में विश्व को भारत का अवदान और गाँधी विचार का "तेजस्वी पुनर्जन्म" देखते हैं, वहां दूसरे लोग इसे "सम्पूर्ण सर्वनाश" का पूर्वाभ्यास कह रहे हैं। सबसे बड़ी सैद्धान्तिक आलोचना यह है कि "सम्पूर्ण क्रांति" सम्पूर्ण रूप से अस्पष्ट है अतः यह क्राँति नहीं, भ्रांति है। अतः हमें सम्पूर्ण क्रांति के आधारभूत लक्षण के साथ उसकी दिशाएँ भी स्पष्ट करनी होंगी। किन्तु उसके भी पूर्व हमें क्रांति के मूल कारणों की भी खोज करनी होगी।

३. सम्पूर्ण क्रांति : आधारभूत कारण :—यह तो "सम्पूर्ण क्रांति" के नाम से प्रकट है कि सम्पूर्ण क्रांति का लक्ष्य "सम्पूर्ण मानव", का निर्माण करना है, और मानव क्योंकि समाज में ही रहता है अतः "सम्पूर्ण समाज" को बदलना अपेक्षित है। केवल राजनीतिक उथल-पुथल या विप्लव से क्राँतियाँ होतीं तो जैसा अरस्तु ने बताया, एथेंस में ११ बार ऐसी क्रांतियाँ हुई जिसके कारण निरंकुश राजसत्ता से प्रजातांत्रिक व्यवस्था और प्रजातांत्रिक व्यवस्था से निरंकुश राजसत्ता का परिवर्त्तन हुआ। रोम में भी नृपतंत्र से कुलीन तंत्र और फिर सीजर का साम्राज्यवाद स्थापित हुआ। मध्ययुग् में धर्म-गुरुओं एवं सामंतों की स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध अनेक नागरिक एवं कृषक-विप्लव हुए। आधुनिक युग में भी

विदेशी सत्ता और साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रवादी मुक्ति-संग्राम या सामन्तशाही के खिलाफ अनेक सफल एवं असफल विद्रोह हुए, लेकिन इनमें किसी को "सम्पूर्ण क्रांति" नहीं कहा जा सकता। प्राक्-बोलशेविक (मार्क्सीय) क्रांतियां न तो सुनियोजित होती थीं न संगठित ही। कठोर एवं निरंकुश सत्ता से उत्पन्न सामाजिक विशृंखलताओं के कारण जनता का अंध-आक्रोश यत्र-तत्र फूट पड़ता था जो कभी दबा दिया जाता था और कभी सफल भी होता था। मार्क्स ने क्रांति का शास्त्र बनाया। इसके अनुसार उत्पादन और उत्पादन के सम्बन्धों के कारण समाज में जो अन्तर्विरोध उमड़ता है वह वर्ग-संघर्ष को जन्म देता है और वर्ग-संघर्ष जब अत्यन्त तीव्र हो जाता है तब उसी को 'क्रांति' कहते हैं। उत्पादन की नयी विधि एवं उसके उपकरण के कारण नयी समाज-रचना बनती है, नये मानवीय सम्बन्ध बनते हैं और तब समाज के तत्त्वों का मनोविज्ञान बदलता है। इसके लिए उत्पादन का साधन एव स्वामित्व व्यक्ति के स्थान पर समाज को लाना होगा। फिर बुर्जुआ समाज की मान्यताएँ, नियम, नैतिकता, परम्पराएं, परिवार, सम्पत्ति एवं शासन सबका विनाश कर नया समाज बनाना होगा। संक्षेप में, मार्क्सवाद 'क्रांति' को तब तक "क्रांति" नहीं मानेगा जबतक समाज की प्रगति निश्चित और तीव्र गति से पूंजीवाद से समाजवाद की ओर न हो जाय।

यह विचार का प्रश्न है कि इतनी उदार कल्पनाओं के बावजूद मार्क्स की "क्रांति" "सम्पूर्ण मानव" की "सम्पूर्ण क्रांति" क्यों नहीं हो सकी? अक्तूबर महाक्रांति के बाद ही ट्राट्स्की और बुखारिन आदि को मार्क्सवाद में संशोधन क्यों करना पड़ा? आज भी अन्तर्राष्ट्रीयता में विश्वास रखने वाला साम्यवाद का खेमा इतना विभक्त क्यों है? सच्चा मार्क्सवादी कौन है या कोई नहीं है—यह कौन बतायेगा? मानव-मुक्ति का संदेश-दाता मार्क्सवाद अपनी यज्ञशाला में भी मानव को क्यों नहीं मुक्त कर सका? सर्वहारा की तानाशाही संक्रांति-काल के लिए न होकर स्थायी नहीं बनेगी, इसकी क्या गारंटी है? ठीक है, रोटी के बिना मनुष्य का जीवन ही सम्भव नहीं है, लेकिन रोटी ही तो उसे नहीं चाहिये? फ्रांसीसी क्रांति में वेस्टाइल-पतन के बाद राजनीति से सर्वथा दूर शुष्क तर्कजाल में उलझे रहने वाले दार्शनिक काँट की नसों में वृद्धावस्था में भी हरारत महसूस होने लगी और उसने कहा "हे प्रभो, अब अपने दास को शांति के साथ मरने दो, क्योंकि उसने मुक्ति की अनुभूति कर ली है" : इसी प्रकार कवि वर्ड्स्वर्थ भी क्रांति का अभिनन्दन करने के लिए मचल उठा : 'क्रांति के उषः काल में जीवित रहना अमृत के समान सुखमय है किन्तु तरुण होकर उसमें योगदान करना तो स्वर्गसुख के समान है"। रूसी क्रांति के समय आन्द्रे गाइड ने कहा था-"सोवियत संघ के प्रति मेरी सहानुभूति और समर्थन है और काफी समय तक जीवित रहकर इसकी दिव्य सफलताओं को देखना चाहूँगा।" यह दुर्भाग्य की बात है कि आंद्रे काफी समय तक जीवित तो रहे किन्तु रूस-यात्रा से लौटकर जब उन्होंने कुछ आलोचनाएँ कीं तो उन्हें "बुर्जुआ", "प्रतिक्रियावादी" आदि करार दिया गया। आज भी पैस्टरनाक एवं सोलन्स्टिन के प्रति रूस के व्यवहार के कारण यूरोप-अमरीका के बुद्धिजीवियों के लिए मार्क्सवाद का सांस्कृतिक मूल्य घटता जा रहा है। शायद यह भी एक कारण है कि इन देशों में उद्योगीकरण पर्याप्त होने के बावजूद साम्यवाद

पनप नहीं पा रहा है।

इसलिए क्रांति की भौतिक व्याख्या क्रांति के अर्थ को संकुचित करती है। भौतिक कारणों से भी अधिक क्रांतियों के मूल में क्रांतिकारी विचार एवं आदर्श रहे हैं। विचार-क्रांति के गर्भ से ही वास्तविक क्रांति का आविर्भाव होता है। जहाँ आर्थिक स्थिति बदतर से बदतर भी रहती है वहां भी क्रांतियां नहीं होतीं। इसके विपरीत जहाँ जनता की आर्थिक स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी रहती है किन्तु उसकी आकांक्षाओं, विचारों, आदर्शों एवं मूल्यों में परिवर्तन आने लगते हैं वहां क्रांति हो जाती है। असल में क्रांति के कई कारण हैं : (१) सामाजिक-असंतोष, (२) राजनीतिक दमन, (३) आध्यात्मिक असंतोष, (४) वैज्ञानिक आविष्कार, (५) ज्ञान-विस्तार, (६) भौगोलिक खोज, (७) देशांतर गमन, (८) विदेशि संस्कृति एवं शिक्षा, (९) अन्य जीवन-दर्शन का प्रभाव, (१०) शोषण एवं वर्ग-संघर्ष, (११) शासकों की आन्तरिक कलह, (१२) भ्रष्टाचार, (१३) मनोवैज्ञानिक कारण, जैसे आदर्श और व्यवहार में दूरी, प्रचलित मान्यता की अपर्याप्तता आदि। इसलिए क्रांति के केवल आर्थिक ही नहीं बल्कि वैचारिक, नैतिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक आदि भी कारण होते हैं। चार्ल्स प्रथम के समय इंग्लैंड की आर्थिक अवस्था हेनरी सप्तम या इलिजाबेथ के समय से अच्छी थी और वह इन दोनों से कम निरंकुश भी था। इसी प्रकार अमरीकी क्रांति या फ्रांसीसी क्रांतियों के समय पहले से आर्थिक स्थिति कोई खराब नहीं थी, यहाँ तक कि करेन्स्की के समय, लेनिन के ही शब्दों में, "रूस विश्व में सबसे स्वतंत्र देश" था। फिर भी क्रांतियां इसलिए हुईं कि विचारों में परिवर्त्तन हुए, जागरण हुआ। अतः क्रांतियों का केवल भौतिक एवं आर्थिक कारण बताना इतिहास के प्रतिकूल तो है ही, यह अवैज्ञानिक भी है।

५. **सम्पूर्ण क्रांति की दिशाएं** :—सम्पूर्ण क्रांति का ध्रुव तारा "मानव" है। मानव किस प्रकार पूर्ण बन सके इसके लिए समाज-परिवर्त्तन आवश्यक है क्योंकि वह सामाजिक जीव है। उसमें भी, उसके मस्तिष्क एवं हृदय है। अतः वह केवल शरीर से ही पुष्ट नहीं, बल्कि मस्तिष्क से सजग एवं हृदय से उद्‌बुद्ध होना चाहता है। इसलिए इतिहास की भौतिक व्याख्या इतिहास का खंडित सत्य तो है ही, यह मानव-जीवन का भी खंडित लक्ष्य है। इसलिए "सम्पूर्ण क्रांति" में समता के साथ स्वतंत्रता, रोटी के साथ आजादी और विज्ञान के साथ अध्यात्म का समन्वय आवश्यक है। समाजशास्त्र के संदर्भ में "जनतंत्र एवं समाजवाद" दोनों ही सम्पूर्ण क्रांति के प्राण हैं। एक की कीमत पर दूसरे की अनिश्चित प्राप्ति मृगमरीचिका है।

इसलिए मानव-हित ही हमारी सफलता का अंतिम मापदंड होगा। हमारी राजनीति, अर्थनीति, उद्योग, शिक्षा आदि सभी मानव-केन्द्रित होंगे। जो राजनीति आज पाखंड और झूठ की पर्याय बन गयी है उसे मानव-भ्रातृत्व का विज्ञान बनाने के लिए राजनीति का आध्यात्मीकरण करना होगा, या जिसे आज "नीतिमूलक राजनीति" कहते हैं उसके अभाव में तो राजनीति "धूर्त्तों का व्यवसाय" एवं "झूठे वायदों का विज्ञान" बन कर ही रह जायगी। इसी प्रकार अन्ध मुनाफ़ाखोरी एवं व्यक्तिगत लाभ-हानि के आधार पर बना हुआ अर्थ-शास्त्र अनर्थशास्त्र मात्र रह जायगा। आज शिक्षा भी एक व्यवसाय बन गयी है। सभ्यता

एवं संस्कृति का आधार भी 'सफलता हो गयी है। आज हमें "सम्पूर्ण क्रांति" के मूल में नैतिकता या धर्म (व्यापक अर्थ में) की प्रतिष्ठा करनी होगी। यह एक "नैतिक क्रांति" है इसलिए इसकी शुरुआत स्वयं व्यक्ति से होगी। यदि हमारे जीवन में शोषण, भ्रष्टाचार सिद्धान्त-व्यहार का अन्तर रहा तो हम "सम्पूर्ण क्रांति" में सम्पूर्ण रूप से छूट जायगे।

यह ठीक है कि व्यक्ति का आचरण बदलना आवश्यक है। लेकिन व्यक्ति के साथ-साथ व्यवस्था-परिवर्तन भी आवश्यक है। यहां लोग स्वाभाविक ही पूछ बैठते हैं कि "सम्पूर्ण क्रान्ति" में कैसी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व्यवस्था होगी ? उसका ब्लू प्रिंट क्या है ? हम इतना हो कहना चाहेंगे कि क्रान्ति का बना बनाया कोई "ब्लू प्रिंट" नहीं चल सकता। परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं और उसी के अनुसार सिद्धान्त एवं व्यवस्था को बदलना पड़ता है। सनातन काल के लिए या अगले १००–२०० वर्षों के लिए भी कोई कार्यक्रम देना दकियानूसी प्रवृत्ति है। मार्क्स का "युद्ध की अनिवार्यता का सिद्धान्त" आज इसलिए कालबाह्य हो गया है क्योंकि परमाणु-युद्ध का अर्थ है सम्पूर्ण विश्व का संहार, जिसमें पूंजीवाद एवं समाजवाद दोनों हैं। अतः इन दोनों का अस्तित्व अनिवार्य है। फिर जनक्रांति, जिसमें सब का सहभाग है, उसकी सारी छोटी-बड़ी बातें हम ही तय कर दें, क्या यह जनता की बुद्धि का अपमान एवं उसके प्रति विश्वासघात नहीं है ? हम तो केवल मोटी दिशाएँ ही प्रस्तुत कर सकते हैं और शेष जनता पर छोड़ देना होगा। इससे क्रान्ति के निर्माण-कार्य में जनता का अपेक्षित योगदान मिलेगा। इसीलिए हमारे लिए गांधी जी के शब्दों में, एक कदम काफी होगा।

सम्पूर्ण क्रान्ति मानव की मुक्ति की तस्वीर है जिसमें केवल रेखा ही होगी, रंग तो बाद में जनता की पसंदगी से ही भरे जायंगे। इसके बिना यह जनक्रान्ति नहीं जनता के ठेकेदारों की क्रान्ति होगी। नीचे से जनता की संघर्ष-समितियां बन रही हैं। वही अपने प्रतिनिधि चुनेंगी और अपनी योजनाएँ बनायेंगी। फिर भी महंगाई, बेकारी, भ्रष्टाचार एवं कुशिक्षा का अंत, कृषिमूलक उद्योग-प्रधान विकेन्द्रित अर्थनीति, चुनाव-कानून में संशोधन, भूमि-सुधार के कानूनों का कार्यान्वयन, मुनाफाखोरी-जमाखोरी के खिलाफ अभियान, शिक्षा में जनता का हस्त-कौशल-प्रधान शिक्षण, समाज में जाति-पांति, तिलक-दहेज का परित्याग, नारी-जागरण, शराब-बन्दी आदि ये सब इतने ठोस और व्यापक कार्यक्रम हैं कि यदि ये ठीक से लागू हो जांय तो उसी में हमारा उद्धार हो जाय। और भी बातें मिलजुल कर सोची जा रही हैं, थोपने का तो प्रश्न ही क्रांति-विरोधी है।

वास्तव में सम्पूर्ण क्रांति क्रांतिकरण में भी क्रान्ति कर रही है, इसलिए यह अस्पष्ट दीखती है। क्रान्ति के कर्त्ता किसी विशेष दल, सम्प्रदाय के लोग नहीं होंगे बल्कि इसके वाहक जन-साधारण एवं निहित स्वार्थों से सबसे अधिक मुक्त, जोखिम उठाने वाले, सृजनशील एवं समाज के बहुसंख्यक सक्रिय वर्ग छात्र एवं युवा होंगे। दल के दलदल में क्रान्ति अपना आत्मघात कर देती है। दल हावी हो जाता है, जनता पीछे छूट जाती है। दल के नेता अपनी तानाशाही एवं तिकड़म चलाते हैं एवं दलों का परस्पर संघर्ष अंततोगत्वा गृहयुद्ध की देहलीज तक हमें पहुँचा देता है। अतः सम्पूर्ण क्रान्ति दल-केन्द्रित नहीं होकर जनता-केन्द्रित होगी। दल सहयोग करेंगे लेकिन क्रान्ति का शोषण नहीं कर सकेंगे। यही

कारण है कि सम्पूर्ण क्रान्ति के संगठन जनता के स्तर पर बनते हैं जहाँ दल का सवाल नहीं रहता। छात्र-युवा-संघर्ष-वाहिनी, जो सम्पूर्ण क्रान्ति की प्राण-वाहिका बनेगी, वह भी दल-निरपेक्ष ही होगी।

यदि सम्पूर्ण क्रान्ति का लक्ष्य विचार और मूल्यों में आमूल परिवर्तन हो तो यह ज़ोर-ज़बरदस्ती से संभव नहीं है। विचार से हीं विचार बदलता है, मूल्य बदलता है, मान्यताएँ बदलती हैं। इसलिए क्रान्ति के लिए हिंसा या दबाव असंगत है। जबर्दस्ती से विचार या मूल्य बदलते नहीं, इसके विपरीत ज़ोर-जबर्दस्ती होने पर उल्टी प्रतिक्रिया होती है, फिर हिंसा एवं प्रतिहिंसा का दौर शुरू हो जाता है जिसका कहीं अन्त नहीं। दुनियाँ में बुद्ध, ईसा, सुकरात एवं गांधी आदि का असर सिकन्दर, चंगेज़खाँ, हिटलर से कहीं व्यापक और स्थायी है। तलवार केवल शरीर पर असर डालती है, लेकिन विचार और प्रेम केवल दिमाग को ही नहीं दिल को भी आश्वस्त कर स्थायी असर पैदा करते हैं। हिंसक क्रांति में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता छिन जाती है और अन्ततोगत्वा जनता के हाथ में सत्ता न जाकर किसी तानाशाह के पास जाती है। फ्राँस में लुई १४ की हत्या से नैपोलियन, इंगलैंड में चार्ल्स प्रथम के खून से क्रामवेल, रूस में ज़ार की कब्र से स्टालिन, पाकिस्तान में अयूब के निष्कासन से याहिया, इंडोनेशिया में सुकर्ण की जगह सुहार्तो जैसे तानाशाह आये। १८५७ का सिपाही-विद्रोह भी यदि सफल होता तो दिल्ली की गद्दी पर कोई हथियार-बंद बादशाह ही बैठता। हिंसक क्रान्ति में समाज अविश्वास, घृणा एवं संदेह के वातावरण से आक्रान्त रहता है। हिंसा हमें गृहयुद्ध के द्वार तक पहुँचा देती है। इसलिए जो सत्ता बन्दूक की नली से निकलेगी वह बन्दूक वाले की ही दासी रहेगी। व्यावहारिक रूप से भी आधुनिक युग में राज्य की प्रचण्ड हिंसा-शक्ति के सामने हिंसक विद्रोह तभी सफल हो सकते हैं जब कोई पड़ौसी शक्ति-शाली देश सहायता करे। लेकिन इसका भी क्या निश्चय कि वह अपना पारिश्रमिक वसूल नहीं करेगा और फिर वह विश्वयुद्ध को निमन्त्रण नहीं देगा? क्रान्ति यदि हिंसक हो जाती है तो सरकार को दमन का नैतिक अधिकार मिल जाता है। यदि क्रान्ति अहिंसक होती है और सरकार दमन करती है तो जनता का व्यापक समर्थन मिलता है और यदि दमन नहीं होता तो क्रान्ति बढ़ती जाती है। यदि जनता सरकार के साथ पूर्ण सहयोग कर दे, उसे कर देना बंद कर दे, उसके प्रशासन को ठप्प कर दे तो कोई सरकार चल नहीं सकती। अमरीका में शान्तिमय आन्दोलन के कारण ही वियतनाम का युद्ध-विराम एवं राष्ट्रपति जानसन का इस्तीफा हुआ। हिंसक क्रांति में प्रशिक्षित लोग ही सक्रिय हो सकते हैं किन्तु अहिंसक आन्दोलन में बच्चे-बूढ़े सब योगदान कर सकते हैं। अतः यह जनक्रान्ति बन जाती है। मूल बात तो यह कि यदि सम्पूर्ण क्रान्ति का उद्देश्य मैत्रीपूर्ण एवं शान्तिमय समाज व्यवस्था का निर्माण है तो यह शांतिमय साधनों से कैसे संभव है? जिस प्रकार पानी से मक्खन नहीं निकल सकता उसी प्रकार हिंसक क्रांति से शांतिमय समाज का निर्माण असंभव है। हिंसा से विचार एवं आदर्श नहीं बदल सकते और न सुन्दर समाज ही बन सकता है। अतः सम्पूर्ण क्रांति शांतिमय साधनों से ही सफल हो सकती है।

सम्पूर्ण क्रांति और समग्र क्रांति ये दोनों प्रायः पर्यायवांची रूप में व्यवहार किये जाते हैं, लेकिन दोनों में एक सूक्ष्म किन्तु स्पष्ट अन्तर है। समग्र क्रान्ति जीवन और समाज की

समग्रता से सम्बन्ध रखती है। इन्द्रधनुष की तरह इसके सात रंग होंगे, अधिक भी हो सकते हैं। समग्र क्रान्ति सम्पूर्ण भी हो सकती है और असम्पूर्ण भी। इसलिए जो समग्र क्रांति पूर्ण होगी उसे ही हम सम्पूर्ण क्रांति कहेंगे। वस्तुतः सम्पूर्ण क्रांति एक आदर्श है और उसका कहीं अन्त नहीं होता। वह सतत काल तक चलती रहती है।

९२, साउथ एवेन्यू, नयी दिल्ली

संपादक की अलविदा

इस अंक के साथ दार्शनिक के मेरे सम्पादन-कार्य का अवसान हो रहा है। १९५४ में परिषद् के समान ही इस पत्रिका को आरम्भ करने का निमित्त भी मैं ही बना था और तब से, बीच के दो व्यवधानों को छोड़कर, मैं ही इसका संपादन-कार्य देखता रहा हूँ। पहले दो बार इस कार्य को दूसरे सहयोगियों को सौंपते हुए भी 'अवसान होने का भाव' मन में नहीं आया था, यद्यपि दूसरी बार, १९७० में, मैंने इसके संपादन-कार्य से अवकाश बहुत प्रयत्न करके प्राप्त किया था। किन्तु आज अवसान का भाव है। इस बार सब कुछ सहज में ही हुआ। इस बार मेरी अवकाश पाने की इच्छा में आग्रह नहीं था, क्योंकि अब इस कार्य को करने में ही कोई उत्साह शेष नहीं रहा था, और न पहले की तरह दूसरों की ओर से ही कोई आग्रह था कि मैं यह कार्य अभी नहीं छोड़ूँ, जैसे अब यह मुझे छोड़ ही देना चाहिए था। अवश्य ही कुछ मित्रों ने मुझे लिखा कि यह ठीक नहीं हुआ, किन्तु मेरे लिए अब इसमें कोई सार नहीं था, अब बात समाप्त हो गयी थी। इसलिए इस अंक के साथ दार्शनिक त्रैमासिक के पाठकों से अलविदा माँगता हूँ, और इसके नये संपादक, विख्यात विचारक डॉ० देवराज जी को अपनी शुभकामनाएँ देता हूँ।

परिषद् और दार्शनिक का आरम्भ एक युक्तिसंगत लक्ष्य की सिद्धि के लिए, अथवा कहें अयुक्तिसंगत परिस्थिति के निवारण के लिए, किया गया था। यह लक्ष्य था भारतीय भाषाओं के विरुद्ध भारतीयों के पूर्वाग्रहों को दूर करना और इस प्रयोजन से हिन्दी को शास्त्रों और विज्ञानों के समृद्ध माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित करना, जिससे यह इस देश की राष्ट्रभाषा होने के योग्य हो सके। उस समय तक देश में इस दिशा में कोई निश्चित कार्य आरम्भ नहीं हुआ था। मेरे इस प्रयत्न के सम्बन्ध में मुझे आदरणीय डॉ० सम्पूर्णानन्द जी ने लिखा था कि परिषद् और दार्शनिक का सफल होना सम्भव नहीं है। उन्होंने यह अपने अनुभव के आधार पर ही लिखा था और वे सही भी थे, जैसा कि अब मैं देखता हूँ। पूछा जा सकता है कि यह मैं इनकी सफलता के बाद भी कैसे कह रहा हूँ? इसका उत्तर है कि परिषद् और दार्शनिक की सफलता इस रूप में तो अवश्य कही जा सकती है कि इनका अस्तित्व बना रहा है, किन्तु अन्यथा इनसे वस्तुस्थिति में कोई अंतर नहीं पड़ा है। परिषद् की स्थापना के आरम्भिक दिनों में मैंने अपने एक मित्र को 'दार्शनिक' के लिए लेख देने को कहा तो उन्होंने उत्तर दिया था कि 'हिन्दी में लिखने से कोई लाभ नहीं है, क्योंकि उससे कोई प्रतिष्ठा नहीं मिलती, उसे कोई महत्त्व नहीं देता।' आज २४ वर्षों के बाद भी उनका वही विचार है, और उनका यह विचार जितना तब साधार था उतना ही आज भी साधार है। और यह इसके बावजूद कि इन वर्षों में सरकारी अभिकरणों के माध्यम से शास्त्रीय और वैज्ञानिक विषयों में काफी मात्रा में साहित्य रचना हिन्दी में हो चुकी है और हो रही है। किन्तु वास्तव में अभी तक यह निष्प्राण देह का विस्तार मात्र है,

क्योंकि हमारी असंस्कृति के (इसे संस्कृति कैसे कहूँ ?) अग्रणी वर्ग की अभी तक यही मान्यता है कि अंग्रेज़ी में लिखना, अंग्रेज़ों से (यूरोपीयों से) स्वीकृत होना ही उत्कृष्ट होने का प्रमाण है। इसके पीछे एक दूसरी, और अधिक भयावह, धारणा निहित है कि आज यूरोप ही सत्य, ज्ञान और विभुता का संवाहक है। इस प्रकार हमारे 'अग्रणी वर्ग' ने सहज ही दासता स्वीकार करली हुई है और वह केवल उन्हीं को स्वीकृति देने को तैयार है जो उसके समान ही इस दासता को स्वीकार करते हैं। यह स्थिति अंततः समाप्त होगी, इसमें मुझे सन्देह नहीं है, किन्तु अभी इस ओर कोई प्रगति दिखायी नहीं दे रही है। इस दृष्टि से मैं समझता हूँ कि संपूर्णानन्द जी की बात सत्य सिद्ध हुई है और इस बात ने मुझे निराश और खिन्न बना दिया है। किन्तु यह निराशावाद केवल इस परिस्थिति के कारण ही नहीं है, यह वास्तव में व्यापकतर अनुभव के कारण भी है और इस प्रकार बहुत व्यापकतर है।

किन्तु तब भी यह कामना तो है ही कि यह निराशा निराधार हो, 'दार्शनिक त्रैमासिक' युक्तिसंगतता के संदेश का वाहक बने और इस प्रकार पूर्वाग्रह और जड़ता का निराकरण करे, कम से कम उसकी ध्वजा उठाये रख सके।

यशदेव शल्य

आवश्यक सूचना

परिषद् के नव-निर्वाचित पदाधिकारियों के नाम दार्शनिक त्रैमासिक के पिछले अंक में घोषित कर दिये गए थे। तदनुसार भविष्य में परिषद् सम्बन्धी समस्त पत्र-व्यवहार कृपया डा० रामजी सिंह, संसतसदस्य, ९२ साउथ एवेन्यू, नयी दिल्ली-११ से करें, दार्शनिक त्रैमासिक में प्रकाशनार्थ लेख डा० नं० कि० देवराज, आचार्य दर्शन विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर (म० प्र०) से करें और परिषद् का सदस्यता शुल्क तथा दार्शनिक का शुल्क कोषाध्यक्ष डा० सागरमल जैन, ८३/५२-१२५०, टी० टी० नगर, भोपाल को भिजवाएं।

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के प्रकाशन

१.	अनुभववाद	स. यशदेव शल्य	७.००
२.	समकालीन दार्शनिक समस्याएँ	सं. यशदेव शल्य	२०.००
३.	दार्शनिक विश्लेषण	ले. यशदेव शल्य	२०.००
४.	विषय और आत्म	ले. यशदेव शल्य	२०.००
५.	समकालीन भारतीय दर्शन	सं. सच्चिदानन्द मूर्ति	२०.००
६.	भारतीय मनोविज्ञान	सं. नायणशास्त्री द्राविड़	२०.००
७.	अपोहसिद्धि, अनुवाद एवं व्याख्या	गोविन्दचद्र पाण्डे	३.००
८.	न्यायबिन्दु, अनुवाद एवं व्याख्या	गोविन्दचन्द्र पाण्डे	८.००
९.	नृतत्त्व तथा समाजदर्शन (९ खंड)	सं. दयाकृष्ण, गोविन्दचन्द्र पाण्डे, यशदेव शल्य	५८.००

श्री यशदेव शल्य द्वारा अखिल भारतीय दर्शन परिषद के लिए डी. ३१, बापूनगर जयपुर में संपादित्त तथा प्रकाशित एवं जयपुर मान प्रिंटर्स, चौड़ा रास्ता, जयपुर से मुद्रित ।